मौद्रिक अर्थशास्त्र

(Monetary Economics)

लेखक :

कालकाप्रसाद भटनागर

एम. ए., डी. लिट्., एल-एल. बी.

भूतपूर्व उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय

एवं

जगदीशप्रताप सिंह

एम. ए., पी. एच-डी.

सहायक प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग

दयानन्द महाविद्यालय

कानपुर

प्रकाशक :

किशोर पब्लिशिंग हाउस

परेड, कानपुर

मूल्य १० रुपया

प्रकाशक :
तेजबहादुर सिंह चन्देल,
किशोर पब्लिशिंग हाउस,
परेड, कानपुर

प्रथम संस्करण १९६६

मूल्य १० रुपया

मुद्रक :
बाजपेयी प्रेस
एवं
अमलतास प्रेस,
परेड, कानपुर

भूमिका

अब सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है कि आज के आर्थिक जीवन में मौद्रिक नीतियाँ काफी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। प्रत्येक देश की आर्थिक प्रगति काफी अंशों में इस बात पर निर्भर करती है कि उस देश में किस प्रकार की मौद्रिक नीति अपनाई जाती है। पर मौद्रिक नीति को किस सीमा तक आर्थिक विकास के साधन के रूप में प्रयोग किया जा सकता है, यह अल्प-विकसित देशों की एक प्रमुख समस्या बन गई है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् तीव्र आर्थिक विकास का जो भारत ने नया धर्म अपनाया है, उसके सन्दर्भ में इन बातों का जानना तथा समझना और भी आवश्यक हो गया है। दुर्भाग्य से इस विषय पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव है जिनसे अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों को मौद्रिकशास्त्र के उन मौलिक सिद्धान्तों का सामान्य ज्ञान प्राप्त हो सके जिनका देश के आर्थिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है तथा जो उसके विशिष्ट अध्ययन का आधार बन सकें। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह पुस्तक पाठकों के सम्मुख रखी जा रही है।

प्रस्तुत पुस्तक अनेक विश्वविद्यालयों, विशेषकर आगरा विश्वविद्यालय, के स्नातकोत्तर कक्षाओं के 'अर्थशास्त्र' विषय के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। मौद्रिक-अर्थशास्त्र पर, जो प्रायः उनके पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय है, मौलिक ग्रन्थों एवं सन्दर्भ पुस्तकों की कमी नहीं है। पर अधिकतर वे या तो अंग्रेजी में हैं और या पाठ्यक्रमानुसार नहीं है। इस पुस्तक का उद्देश्य ऐसे विद्यार्थियों के लिये प्रारम्भिक ज्ञान का आधार उपलब्ध कराना भी है जिससे वे विषय सम्बन्धी मौलिक-ग्रन्थों से पर्याप्त लाभ उठा सकें।

पुस्तक में किसी मौलिक एवं वास्तविक अंशदान का दावा नहीं किया जा सकता। यह केवल पाठ्य पुस्तक के रूप में विद्यार्थियों के लिये प्रस्तुत की जा रही है। अतः हम उन सभी लेखकों एवं प्रकाशकों के आभारी हैं जिनके मौलिक-ग्रन्थों का हमें सहारा लेना पड़ा है। पुस्तक को रुचिकर बनाने के लिये सरल एवं सुबोध भाषा का प्रयोग किया गया है और नित्य जीवन से सम्बन्धित उदाहरणों का उल्लेख किया गया है। इसके लिये हम श्री नानक चन्द्र एम० ए० के विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होंने इस दिशा में हमारी पर्याप्त सहायता की है। हम उन अध्यापक-बन्धुओं के भी आभारी हैं जिनकी शुभ कामनायें हमारे साथ हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में पुस्तक लिखने का हमारा यह प्रयास सफल होगा।

—लेखक

विषय-सूची

अध्याय १

मुद्रा की परिभाषा एवं उसका महत्व

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा एक ऐसा आर्थिक साधन है जिसको प्रत्येक मनुष्य नित्य व्यापार एवं व्यक्तिगत लेन देन में और मूल्यांकन की इकाई के रूप में प्रयोग करता है। आज कुछ इने-गिने पिछड़े समाजों को छोड़ कर लगभग सारे विश्व की अर्थ-व्यवस्था इतना जटिल रूप धारण कर चुकी है कि अब वह विनिमय के अभाव में कार्य नहीं कर सकती। ज्ञान की वृद्धि के साथ साथ उत्पादन के क्षेत्र में विशिष्टीकरण (specialisation) इतना अधिक है कि प्राय: प्रत्येक व्यक्ति कुछ सीमित कार्यों को ही सम्पादित करता है और विनिमय प्रणाली की सहायता से अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है। अस्तु वर्तमान युग में विनिमय वह केन्द्र बिन्दु बन गया है जिस पर सारी अर्थ-व्यवस्था आधारित है। यद्यपि अपनी प्रारम्भिक अवस्था में विनिमय का रूप वस्तुओं के अदल-बदल का था परन्तु आज यह मुद्रा के माध्यम द्वारा ही सम्पन्न होता है। इसके निरन्तर प्रयोग से लोग इसके महत्व से तो परिचित हो गए हैं, पर व्यापक रूप में सब से कम समझे गए सामान्यत: प्रयोग किए जाने वाले आर्थिक उपकरणों में से यह भी एक है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि मुद्रा के महत्व का प्रत्येक मनुष्य अनुभव करता है, फिर भी ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम होगी जो इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे कि 'मुद्रा क्या है'।

विनिमय का प्रथम रूप—वस्तु-विनिमय (First Form of Exchange—Barter) : मुद्रा (अथवा द्रव्य) की परिभाषा देने का कार्य इसके विकास—इतिहास से सम्बन्धित करने से भली भांति प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रागैतिहासिक काल (period of primitive societies) में मानव जीवन आज की तरह जटिल नहीं था और लोग अपनी सीमित आवश्यकताओं को अपने ही प्रयत्न द्वारा सन्तुष्ट करते थे। उस समय आर्थिक क्रियाओं के केवल दो रूप थे—उपभोग एवं उत्पत्ति। पर जैसे जैसे ज्ञान में वृद्धि होती गई और मनुष्य की आवश्यकताएं बढ़ती गईं, उसे इस बात का आभास होने लगा कि बढ़ती हुई आवश्यकताओं को स्वयं या अपने परिवार के लोगों के द्वारा ही सन्तुष्टि कर सकना सम्भव नहीं है। अतएव उसने 'विनिमय' को अपनाया और इस प्रकार उसकी आत्मनिर्भरता का युग समाप्त हो गया। विनिमय की परिभाषा देते हुये जेवन्स ने लिखा है कि "तुलनात्मक अतिरेक वस्तु का, तुलनात्मक आवश्यक वस्तु के साथ आदान-प्रदान ही 'विनिमय' होता है।[1] दूसरे शब्दों में **दो पक्षों के मध्य पारस्परिक, वैधानिक एवं ऐच्छिक हस्तांतरण ही विनिमय**

1. "Exchange is the barter of the comparatively superflous with the comparatively necessary".

कहलाता है। परन्तु विनिमय का प्रारम्भिक रूप वस्तु-विनिमय अथवा अदल-बदल (Barter) का था, जिसको आत्मनिर्भरता-युग के समाप्त होने पर अपनाया गया। टामस (Thomas) के अनुसार **"एक वस्तु से दूसरे वस्तु के प्रत्यक्ष विनिमय को ही वस्तु-विनिमय या अदल-बदल की संज्ञा दी जाती है"** ।[1] उस समय श्रम विभाजन का अभाव था तथा विनिमय बहुत ही सरल अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक था। यदि एक व्यक्ति के पास आवश्यकता से अधिक गेहूं और दूसरे के पास आवश्यकता से अधिक चावल होता था, तो वे सहज ही वस्तुओं का आदान-प्रदान, एक दूसरे के चाहने पर, कर सकते थे। इस प्रकार का विनिमय सरल होता था। किन्तु विनिमय की इस प्रकार की प्रणाली विकसित अर्थ–व्यवस्था में, जहां अगणित वस्तुओं का उत्पादन होता हो तथा जहां मानवीय आवश्यकताओं की कोई सीमा न हो, सफलता पूर्वक प्रयोग में नहीं लाई जा सकती है। यही कारण है कि सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास के साथ-साथ मनुष्य की आवश्यकताओं में बृद्धि होती गई और शनैः शनैः वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों एवं दोषों का अनुभव किया जाने लगा।

वस्तु-विनिमय अथवा अदल-बदल प्रणाली के दोष (Defects of Barter System) :

१—आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव (Lack of double coincidence of wants) : अदल-बदल प्रणाली की सब से बड़ी कठिनाई यह थी कि इस रीति के अन्तर्गत प्रत्येक विनिमयकर्त्ता को ऐसा व्यक्ति ढूंढना पड़ता था जिसको उसकी वस्तु की आवश्यकता हो और जो ऐसी वस्तु को बदले में देने को तैयार हो जिसकी पहले व्यक्ति को आवश्यकता हो। उदाहरणस्वरूप यदि अ के पास गेहूं है और वह अपने गेहूं के बदले कपड़ा चाहता है। विनिमय कार्य केवल इसी बात से नहीं हो पावेगा कि अ को कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए जिसके पास कपड़ा हो। हो सकता है कि ब जिसके पास कपड़ा हो, गेहूं न चाहता हो और स जो गेहूं चाहता हो, उसके पास बदले में देने को कपड़ा न हो। यद्यपि ऐसा हो सकता है कि अ अपने गेहूंके बदले कपड़ा पाने के लिये पहले अपने गेहूं को अन्य किसी वस्तु से बदले और तत्पश्चात् उस वस्तु से कपड़ा पा जाय। पर इस प्रकार के सौदे विनिमय को और भी जटिल बना देते। समाज के छोटे, स्वालम्बी एवं पिछड़े होने की दशाओं में लोगों की आवश्यकताएं बहुत कम थीं और प्रायः ऐसे दोहरे संयोग मिल जाते थे। पर जैसे जैसे मनुष्य सभ्य होता गया वैसे वैसे आवश्यकताओं के इस प्रकार के दोहरे संयोग कठिन हो गए और वस्तु-विनिमय प्रणाली जटिल होती गई।

२—मूल्यों के सामान्य माप दण्ड का अभाव (Lack of common measure of value) : वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत दूसरी कठिनाई वस्तुओं

---

1. "......direct exchange of one commodity for another is termed barter."

के मूल्यों के मापने के लिए उचित माप-दण्ड के अभाव की थी। इस कठिनाई के कारण सौदों की शर्तों के तय होने में असुविधा होती थी। विनिमय की केवल यही समस्या नहीं होती कि ऐसे दो व्यक्ति मिल जाएं जिनको एक दूसरे के वस्तु की आवश्यकता हो, पर यह भी आवश्यक है कि उनके मूल्य उचित ही हों। मूल्यों के मापक के अभाव के कारण प्रत्येक विनिमयकर्त्ता अपनी वस्तु के बदले में दूसरे वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा पाने की कोशिश करेगा। ऊपर दिये गए उदाहरण में यदि, अ जो अपने गेहूं के बदले में कपड़ा चाहता है और ब जो गेहूं के बदले में कपड़ा देने को तैयार है, दोनों ही अपनी अपनी वस्तु के बदले में दूसरे की वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा चाहते हों तो विनिमय कैसे सम्भव हो सकेगा। यही नहीं, प्रत्येक वस्तु के उतने ही मूल्य होंगे जितने वस्तुओं से उसका विनिमय सम्भव होगा। किसी भी मनुष्य के लिये विनिमय मूल्यों की पूर्ण सूची, जिसमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य प्रत्येक अन्य वस्तु की विभिन्न मात्राओं के रूप में दिया हो, याद रखना असम्भव है। यदि चलन में कोई ऐसी वस्तु अपना ली जाए जो मूल्य-मापक का कार्य करे, तो उसके द्वारा मापे गए मूल्यों के आधार पर अनेक वस्तुओं के बीच विनिमय की शर्तें तय होंने में कोई असुविधा न होगी। सत्य तो यह है कि विनिमय दो सम-मूल्यों की वस्तुओं का आदान-प्रदान है जो मूल्यांकन के आधार के अभाव में सम्भव न हो सकेगा। जार्ज हाम (George Halm) ने ठीक ही लिखा है कि "यह विशेष रूप से आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में लगभग असम्भव सा है कि वस्तु-विनिमय करने वाले व्यक्तियों की सभी इच्छाओं का वस्तुओं की श्रेणी, गुण-मात्रा एवं मूल्य के विषय में संयोग बैठ जावे।"

३—विभाजन की कठिनाई (Difficulty of division) : मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाइ जाने वाली प्रत्येक वस्तु में विभाजकता का गुण नहीं होता। ऐसी वस्तुओं के विनिमय किए जाने में दो बातों की सम्भावनाएं होती हैं, प्रथम तो यह कि ऐसी वस्तु बदलने वाले व्यक्ति को अपनी कुछ आवश्यकताएं असन्तुष्ट रखना पड़ता है और द्वितीय यह कि ऐसी वस्तु के विभाजित अंशों की कुल उपयोगिता अविभाज्य वस्तु की उपयोगिता से काफी कम रहती है। मान लीजिए की वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत एक व्यक्ति अपनी गाय के विनिमय से गेहूं और कपड़े की आवश्यकता को पूरा करना चाहता है। पर उसे गाय के बदले दो में से केवल एक ही वस्तु मिल सकेगी क्योंकि गाय का विभाजन नहीं हो सकता और इस प्रकार वह दूसरी वस्तु की आवश्यकता की सन्तुष्टि न कर सकेगा। इसी प्रकार यदि वह व्यक्ति अपनी गाय के बदले घोड़ा चाहता हो और दोनों पक्ष इस बात पर सहमत भी हों कि गाय का मूल्य घोड़े के मूल्य से आधा है तो भी विनिमय सम्भव न होगा क्योंकि गाय के बदले में दिए गए १/२ घोड़े के टुकड़े का कोई मूल्य न होगा। वह केवल मांस

का एक ढेर होगा। इस प्रकार अधिक मूल्य वाली अविभाज्य वस्तुओं का विनिमय अदल-बदल प्रणाली में कम मूल्यवान वस्तुओं के साथ असम्भव होता है।

४—मूल्य के स्थानान्तरण की कठिनाई (Difficulty in transfer of value) : वस्तु-विनिमय प्रणाली में समस्त मूल्यों (values) को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाना असम्भव होता है, क्योंकि यह अनेक वस्तुओं के रूप में ही पाए जाते हैं। यदि एक व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है तो उसके लिये यह आवश्यक होता है कि वह अपने धन को, चाहे वह वस्तुओं के रूप में हो और चाहे वह अचल सम्पत्ति के रूप में हो, वहीं पर छोड़ दे; क्योंकि उनको साथ ले जाना उसके लिए असम्भव होता है। मूल्यों के स्थानान्तरण के अभाव के कारण सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ती थी।

५—मूल्यों के संचय की कठिनाई (Difficulty in store of value) : वस्तुओं के रूप में मूल्यों (values) के संचित करने में मूल्यों के ह्रास का सदैव डर बना रहता है। अदल-बदल प्रणाली में लोगों के पास प्राय:ऐसी ही वस्तुएं रहती थीं जो शीघ्र नष्ट हो जाती थीं—जैसे दूध, मांस, फल, अनाज इत्यादि। यदि मूल्यों को पशुओं के रूप में रक्खा जाता था, तो पशुओं को बनाए रखने के लिए परिश्रम करना पड़ता था और साथ ही यह भय भी बना रहता था कि कहीं पशु मर न जाएं। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के मूल्यों में तुल्नात्मक रूप से स्थायित्व का अभाव रहता था। इन कारणों से मूल्यों के संचय में काफी कठिनाई होती थी।

६—स्थगित भुगतानों में कठिनाई (Difficulty in deffered payments) : वस्तु-विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत एक यह भी कठिनाई होती है कि स्थगित भुगतानों के लिये कोई ऐसा मान नहीं रहता है जिसका मूल्य (value) स्थिर रहता हो। यही कारण है कि उस समय इस तरह से भुगतान करनेकी प्रणाली नहीं प्रचलित थी।

मुद्रा-विनिमय—मुद्रा की उत्पत्ति (Money Exchange—Growth of Money) :

वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) की यह कठिनाइयां एक साधारण समुदाय—जिसमें समाज पिछड़ा और आवश्यकताएं सीमित हों, विनिमय का क्षेत्र छोटा हो, यातायात की सुविधाओं का अभाव हो, तथा वस्तुओं की मात्राओं एवं कीमतों की अनिश्चितता हो—में बहुत अंशों तक हल की जा सकती हैं। लेकिन प्रत्येक नवीन व्यवसायिक विकास के साथ, प्रत्येक नवीन श्रम विभाजन के साथ तथा व्यापार में वस्तुओं की सूची में प्रत्येक प्रसार के साथ अदल-बदल प्रणाली अधिकाधिक जटिल एवं असुविधापूर्ण होती गई। फल स्वरूप विनिमय के दूसरे रूप को, जिसको क्रय-विक्रय (Purchase & Sale) अथवा मुद्रा-विनिमय (Money Exchange) कहते हैं, अपनाया गया। **मुद्रा-विनिमय के अन्तर्गत वस्तुओं का आदान प्रदान प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से 'मुद्रा' के माध्यम द्वारा होता है।** यदि एक व्यक्ति के

पास गेहूं है जिसके बदले में वह कपड़ा चाहता है, तो इस प्रकार की प्रणाली में पहले वह अपने गेहूं को मुद्रा में बदलेगा और फिर इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुद्रा को कपड़े में बदल लेगा। वस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों एवं असुविधाओं के फल स्वरूप तथा बिनिमय को सुगम करने के लिए विशेषज्ञों के प्रगतिशील समुदायों ने अनेक वस्तुओं को 'मुद्रा' के रूप में प्रयोग करने के लिए चुनना प्रारम्भ किया, जिससे उन 'वस्तुओं' के माध्यम द्वारा विनिमय की नई प्रणाली को अपनाया जा सका। आखेट के युग (Hunting Stage) में पशुओं की खालों, हड्डी, और बालों को द्रव्य के रूप में प्रयोग किया गया। चरागाह के युग (Pastoral Stage) में पशुओं-विशेष कर गाय, बैल, बकरी आदि—को मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। मुद्रा के रूप में बस्तुएं स्थान व समय के अनुसार बदलती रहीं। उदाहरणार्थ यूनान में बैल, अफ्रीका के प्रदेशों में कौड़ी, तिब्बत में चाय इत्यादि एक ही समय चलते हुए पाये गए हैं। धातुओं का पता लग जाने पर लोगों ने इन्हीं को मुद्रा (विनिमय माध्यम) के रूप में प्रयोग करना शुरू कर दिया। लोहा, पीतल, तांबा, रजत, स्वर्ण सभी धातुओं के टुकड़े विनिमय माध्यम के रूप में चले। समय के उपरान्त इनका टकणं शुरू हुआ और यह सिक्कों के रूप में चलन में आने लगे। शनैः शनैः पत्र मुद्रा का प्रयोग 'मुद्रा' के रूप में किया जाने लगा जो आज के युग में 'मुद्रा' का एक महत्वपूर्ण अङ्ग होता है।

इस प्रकार 'मुद्रा' का प्रयोग वस्तु-विनिमय (अदल-बदल) प्रणाली की असुविधाओं एवं कठिनाइयों के फलस्वरूप प्रारम्भ हुआ। मुद्रा के रूप में कार्य करने वाली वस्तुओं ने विनिमय मूल्यों के सामान्य मापक, विनिमय माध्यम तथा मूल्यों के विभाजक के रूप में कार्य करके ही बस्तु-विनिमय प्रणाली की कठिनाइयों पर विजय पाई। इस प्रकार एक श्रम विभाजित समुदाय में अच्छी मौद्रिक प्रणाली (Monetary System) उत्पादकों और उपभोक्ताओं के मध्य विनिमय को सुगम करके विशिष्टीकरण को और बढ़ाने को उसी प्रकार प्रोत्साहन देती है जिस प्रकार यातायात की अच्छी प्रणाली विभिन्न प्रदेशों व देशों के बीच विनिमय को सुगम करके व्यापारिक क्षेत्र का प्रसार एवं प्रादेशिक विशिष्टीकरण में वृद्धि करती है।

मुद्रा की परिभाषा

कीन्स (Keynes) का अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में सर्वविदित कथन, कि यह अपनी परिभाषाओं में फंसा हुआ है, मुद्रा के सम्बन्ध में पूरी तरह लागू होता है। बरबरा ऊटन (Barbara Wootten) ने ठीक ही कहा है कि जहां कहीं ६ अर्थ शास्त्री एकत्रित होते हैं, तो वे ७ मत देते हैं। बहुत से लेखकों ने मुद्रा की परिभाषा, विभिन्न पहलुओं पर जोर डालते हुए, विभिन्न प्रकार से की है। ऐली (Ely) के अनुसार "कोई बस्तु जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास विनिमय माध्यम के रूप में स्वतन्त्रा पूर्वक चली जाती है और ऋणों के अन्तिम भुगतान में सामान्यतः

स्वीकार की जाती है, मुद्रा कहलाती है।"[1] मार्शल के अनुसार, "वे सभी वस्तुयें जो किसी विशेष समय अथवा स्थान में, बिना सन्देह अथवा विशेष जांच पड़ताल के, वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदने और खर्चे चुकाने के साधन के रूप में साधारणतया प्रचलित होती हैं, मुद्रा कहलाती हैं।"[2] कोल का विचार है कि, "मुद्रा क्रयशक्ति है—ऐसी वस्तु जो वस्तुओं का क्रय करती है।"[3] राबर्टसन के शब्दों में, "मुद्रा वह वस्तु है जो वस्तुओं के मूल्य भुगतान एवं अन्य दायित्वों को चुकाने में विस्तृत रूप से स्वीकार की जाती है।"[4] प्रसिद्ध मुद्राशास्त्री जे० एम० कीन्स के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसकी सुपुर्दगी देकर ऋण और मूल्य सम्बन्धी अनुबन्धों को पूर्ण किया जा सकता है और जिसमें सामान्य क्रय शक्ति संचित की जाती है।"[5] मुद्रा की सबसे अधिक प्रिय परिभाषा क्राउथर द्वारा दी गई है जो इस प्रकार है: "मुद्रा वह वस्तु है जिसे विनिमय के एक साधन (अर्थात् ऋणों के भुगतान के साधन) के रूप में सामान्यत: स्वीकार किया जाता है तथा साथ ही जो मूल्य के एक मापक और संचय का कार्य करती है।"[6] ये सभी परिभाषायें किसी न किसी रूप में मुद्रा के विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित अनेक पहलुओं को महत्व प्रदान करती हैं। मुख्य रूप से इनमें 'विनिमय के माध्यम' (Medium of Exchange) अथवा 'मूल्य मापक' (Measure of Value) के रूप में मुद्रा का महत्व बतलाया गया है। वास्तव में **मुद्रा वह वस्तु है जिसे किसी प्रथा अथवा विधान द्वारा बिना किसी जांच पड़ताल के सामान्य रूप से वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य भुगतान तथा ऋणों के अन्तिम भुगतान के लिये स्वीकार किया जाता है।**

यह अनेक परिभाषायें उन विभिन्न कार्यों की ओर भी संकेत करती हैं जो मुद्रा द्वारा किसी न किसी रूप में सम्पन्न किये जाते हैं। वास्तव में मुद्रा की परिभाषाओं की धारणायें एवं उसके कार्यों को एक दूसरे से प्रथक नहीं किया जा सकता। हाट्रे के अनुसार, "मुद्रा उन धारणाओं में से एक है जो एक चम्मच अथवा एक छाते की तरह, न कि भूचाल अथवा पुष्प की तरह, उसके

---

1. Anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts is Money. —Ely.

2. All those things which are generally current without any special inquiry as a means of purchasing commodities and services is money.—Marshall A.

3. Money is the purchasing power—something which buys things. —Cole, G. H.

4. A commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payments for goods or in discharge of other kinds of business obligations.—Robertson.

5. Money is that by the delivery of which debts contracts and price contracts are discharged and in the shape of which general purchasing power is held.—J. M. Keynes.

6. For most purposes money can be defined as everything that is generally receiptable as a means of exchange—as a means of settling debts—and that at the same time acts as a measure and as a store of value.—Crowther.

कार्यों के आधार पर परिभाषित की जा सकती है।"[1] वाकर ने मुद्रा की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की है; "मुद्रा वह वस्तु है जो मुद्रा का कार्य करे।"[2] इसलिए मुद्रा की एक उचित परिभाषा वही होगी जो मुद्रा के सभी कार्यों पर महत्व डाले। इस दृष्टिकोण के आधार पर क्राउथर की परिभाषा काफी हद तक हमारी आशाओं को पूर्ण करने में समर्थ है।

उपर्युक्त परिभाषाओं द्वारा प्रस्तुत विचारों के आधार पर इन परिभाषाओं का एक वर्गीकरण किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे परिभाषायें सम्मिलित की जा सकती हैं जो 'सामान्य स्वीकृति' (General acceptability) मुद्रा की एक विशेषता, पर आधारित हैं। इसके अन्तर्गत वाकर (Walker), मार्शल (Marshall), रार्बटसन (Robertson), जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole), एली (Ely) तथा केण्ट (Kent) आदि की परिभाषायें आती हैं। दूसरी श्रेणी की परिभाषायें मुद्रा के व्यवहारिक एवं वैधानिक स्वरूप (Practical & Legal aspect) को महत्व देती हैं। तीसरी श्रेणी में हम उन परिभाषाओं को ले सकते हैं जो मुद्रा के 'कार्यों' (Functions) की व्याख्या को महत्व देती हैं। हमारी उपरोक्त मुद्रा की परिभाषा इसी श्रेणी में आती है। इस प्रकार मुद्रा की वास्तविक एवं सर्वोत्तम परिभाषा वही है जो उन विभिन्न कार्यों की ओर संकेत करती है, जो कि मुद्रा सम्पन्न करती है।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)

आजकल अधिकतर उत्पादन बाजार के लिए होता है। उत्पादन का विक्रय कर दिया जाता है और उत्पादन में लगे अनेक साधन एवं उत्पादक अपनी इच्छित वस्तुयें इस से मिली हुई मुद्रा के द्वारा खरीद लेते हैं। इस प्रकार एक संगठित समाज तभी अस्तित्व रख सकता है जब कि वह मुद्रा का प्रयोग करे। एक अधुनिक समुदाय की एक काल्पनिक समुदाय से, जो कि हर बात में उसके समान है लेकिन मुद्रा का प्रयोग नहीं करता, तुलना करना बिल्कुल अवास्तविक होगा क्योंकि ऐसा समुदाय सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मुद्रा द्वारा किये जाने वाले कुछ विशेष कार्यों में विभेद करना तर्कहीन तथा अनुचित होता है। मुद्रा के यह सब कार्य साधारणतया भिन्न हैं परन्तु इस तथ्य से सम्बन्धित हैं कि द्रव्य का प्रयोग एक ऐसे समुदाय के लिए आवश्यक है जो श्रम और विनिमय के संयुक्त विभाजन पर आधारित रहता है। ऐसा होने पर भी यही उचित होगा कि हम अपने विवेचन में परम्परागत मार्ग का अनुसरण करें।

---

1. Money is one of those concepts which like a teaspoon or an umbrella, but unlike an earthquake or a butter cup, are definable primarily by the use of purposes which they serve.—Hawtrey.

2. Money is as money does, that which does the money work is the moneything.—Walker.

मुद्रा द्वारा किये जाने वाले कार्य तीन विस्तृत वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं : प्रथम, वे मौलिक कार्य (Primary Functions) जो कभी-कभी 'मूलभूत कार्य' (Fundamental Functions), 'प्रारम्भिक कार्य' (Original Functions) या 'आवश्यक कार्य' (Essential Functions) कहकर पुकारे जाते हैं। ये ऐसे कार्य हैं जो कि मुद्रा द्वारा अपने विकास की बिभिन्न स्थितियों में सम्पन्न किये गये हैं। विभिन्न कालों में विभिन्न वस्तुओं ने मुद्रा का कार्य किया है, परन्तु उन सबने अपने कार्यों को इसी श्रेणी में रहकर किया है। द्वितीय श्रेणी में, वे कार्य हैं जो कभी-कभी 'उद्भूत कार्य' (Derived Functions) कहे जाते हैं। ये कार्य मौलिक कार्यों पर निर्भर रहते हैं और तब किये जाते हैं जब कि समाज आर्थिक उद्विकास की एकविशिष्ट अवस्था पर पहुँच जाता है। वर्तमान समय में ये कार्य मुद्रा के मौलिक कार्यों में ही सम्मिलित किये जाते हैं। तृतीय श्रेणी में, वे अनिश्चित (आकस्मिक) (contingent) कार्य हैं जिनका वर्णन प्रो० किनले (Prof. Kinley) द्वारा किया गया है। उनके अनुसार उपर्युक्त दो प्रकार के कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक आर्थिक समाज में मुद्रा अन्य कार्य भी करती है। जैसे-जैसे समाज उन्नति करता है, ऐसे कार्यों का महत्व अधिक स्पष्ट होता जाता है। मुद्रा के मौलिक कार्यों में 'विनिमय के माध्यम' (Medium of Exchange) और 'मूल्य के मापन' (Measure of Value) के कार्य आते हैं। द्वैतीय कार्यों में 'स्थगित भुगतानों के मानक' (Standard of deferred Payments) तथा 'मूल्य संचय के साधन' (Store of Value) के कार्य आते हैं। इन विभिन्न कार्यों के विषय में अंग्रेजी में दो पंक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की जाती हैं :—

Money is a matter of functions four,
A medium, a measure, a standard, a store.

इनके अतिरिक्त मुद्रा के आकस्मिक कार्य, राष्ट्रीय आय का वितरण करना, सीमान्त उपयोगिता, पूंजी व धन को उत्पादकता का गुण प्रदान करना इत्यादि होते हैं। मुद्रा के विभिन्न कार्यों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :—

१—मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में (Money as a medium of Exchange):

मुद्रा का सर्व प्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य विनिमय माध्यम का कार्य है। एक वस्तु जो मुद्रा का कार्य करे उसे विनिमय-माध्यम या चलन मुद्रा के रूप में कार्य करना आवश्यक होता है जिससे कि व्यापार का कार्य चलाया जा सके। प्रत्येक देश को एक गणना की इकाई तथा एक विनिमय माध्यम की आवश्यकता होती है। मूल्य गणना को इकाइयों में बतलाया जाता है लेकिन वस्तुओं और सेवाओं का विनिमय मुद्रा से होता है। मुद्रा एक सामान्य विनिमय माध्यम या भुगतान के साधन की तरह प्रयुक्त होकर अदल-बदल की कठिनाइयों को दूर करती

है। अदल-बदल की मुख्य कठिनाई, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, आवश्यकताओं के दोहरे संयोग की होती है इस प्रणाली के अन्तर्गत एक मनुष्य को दूसरा ऐसा मनुष्य खोजना पड़ता है जिसे उसकी वस्तु की आवश्यकता होती है। इस प्रणाली की एक और कठिनाई यह है कि कुछ वस्तुयें बिना उनकी उपयोगिता नष्ट किये भागों में विभाजित नहीं की जा सकतीं। इसलिये ऐसी वस्तु का स्वामी इस वस्तु के एक भाग का विनिमय दूसरे मनुष्य की वस्तु के एक भाग से नहीं कर पाता। मुद्रा एक ऐसी वस्तु होती है जिसे प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं या सेवाओं के विनिमय में स्वीकार करने को तैयार रहता है। **"एक मनुष्य मुद्रा को भुगतान में स्वीकार इसलिये नहीं करता कि उसे आवश्यक रूप से अपने लिये उसकी आवश्यकता होती है वरन् इसलिये कि वह यह जानता है दूसरे लोग उन वस्तुओं और सेवाओं के बदले में, जिनकी कि उसे आवश्यकता है, इसे स्वीकार कर लेंगे।"** इसीलिये कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की परिभाषा 'सामान्य स्वीकार क्रय शक्ति' के आधार पर की है। जब मुद्रा के इस पक्ष पर विचार किया जाता है तो मुद्रा चलन इकाई मुद्रा की इकाई कही जाती है, क्योंकि यह हस्तान्तरित होती रहती है। इस विषय में रावर्टसन (Robertson) का विचार है कि, "वे वस्तुयें जो कि मुद्रा होने का उद्देश्य रखती हैं—उदाहरणार्थ विभिन्न सरकारों की पत्र-चलन-मुद्रायें—ऋणों के भुगतानों में सामान्यत: स्वीकार नहीं की जातीं तो वे मुद्रा का कार्य करना बन्द कर देंगी। दूसरी ओर वे वस्तुयें जो मुद्रा नहीं समझी जातीं—जैसे तम्बाकू, पशु अथवा मांस के बन्द डिब्बे—जब ऋणों के भुगतान में स्वीकार की जाने लगती हैं, तो वे मुद्रा का कार्य करने लगती हैं।"[1] इस प्रकार **मुद्रा का प्रयोग विनिमय को सुलभ बनाता है और समय की बचत कर प्रतियोगिता पूर्ण बाजार की कीमतों को बतलाता है।**

२—मुद्रा-मूल्य मापक के रूप में (Money as a measure of value) :

जब कोई वस्तु सामान्यत: विनिमय माध्यम (General medium of exchange) के रूप में स्वीकार की जाती है तो यह आवश्यक है कि वह वस्तु मूल्य प्रदर्शन करने, प्रसंविदे बनाने तथा हिसाब-किताब रखने के योग्य हो। इसका लाभ केवल यही नहीं होता है कि इसके आधार पर प्रत्येक वस्तु की एक कीमत होती है जो उस वस्तु का मूल्य मुद्रा के रूप में होती है। ऐसा न होने पर प्रत्येक वस्तु की उन अनेक वस्तुओं में विभिन्न मूल्य होंगे जिससे कि वह बदली जायगी। वस्तु विनमय प्रणाली की एक बहुत बड़ी कठिनाई 'शर्तों का निश्चित होना' थी,

---

1. If thing which are intended to be money—the notes of certain Government for instance—ceased to be widely accepted in discharge of obligation, they cease to function as money. On the otherhand, if thing which have not been hitherto cnsidered as money, such as tobacco or cattle or tins of beaf, bacame widely accepted in discharge of obligations, they became money.

—Robertson.

क्योंकि यह प्रणाली मूल्यों का दूसरी वस्तुओं के रूप में एक सर्वमान्य मापक बनाने में असमर्थ थी। इसके अन्तर्गत वस्तुयें स्वच्छन्दता (Arbitrarily) से प्रदर्शित (represented) की एवं बेच दी जाती थीं। मूल्य मापक के रूप में मुद्रा का प्रयोग आर्थिक गणना में सहायता पहुंचाता है। एक निश्चित मौद्रिक आय के साथ एक उपभोक्ता को अनेक मुद्रा मूल्यों का सामना करना पड़ता है, और उससे वह यह निश्चय करता है कि बस्तुयें एवं सेवायें उसे किस क्रम में खरीदनी चाहिये। उपभोक्ताओं की मांग में परिवर्तन, मूल्यों पर प्रभाव डालते हैं और इस प्रकार साहसी (उत्पादक) को उन बस्तुओं का उत्पादन करने को प्रोत्साहित करते हैं जिनकी कि मांग बढ़ जाती है; तथा जिनकी मांग घट जाती है उनके उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं। **प्रत्येक साहसी को उत्पादन-सम्बन्धी वस्तु का बाजार—मूल्य (कीमत)—ज्ञात रहता है जिसके फलस्वरूप वह अपने संस्थान की स्थिति, उत्पत्ति की मात्रा एवं उत्पत्ति की रीति का इस प्रकार नियोजन करता है कि उसे अधिकतम लाभ होता है।** इसका अर्थ यह है कि बिभिन्न तत्वों को इस प्रकार उपयोग में लगाया जाता है जिससे कि उनके उत्पादन का उच्चतम मूल्य हो। ये गणनायें उस समय कठिन एवं जटिल होतीं यदि मूल्यों और लागतों का कोई सामान्य मापक न होता। ऐसी दशाओं में "मूल्य निर्धारण की क्रिया" केवल रुक्षता एवं भद्देपन से होती, जैसा कि बस्तु-बिनिमय काल में होता था।

३—मुद्रा—स्थगित भुगतानों के रूप में (Money as a standard of deferred payment) :

प्रसंविदे (Contracts) जिनमें ऋण भी सम्मिलित होते हैं, सामान्यतया मुद्रा के रूप में किये जाते हैं। ऐसा इस लिये होता है क्योंकि लोगों का यह विश्वास होता है कि प्रसंविदा काल में मुद्रा का मूल्य अथवा उसकी क्रय शक्ति अधिक परिवर्तित नहीं होती। यदि लोगों को मुद्रा के मूल्य में काफी परिवर्तन का भय रहता है, तो प्रसंविदे करने में उनकी प्रवृत्ति ऐसी वस्तु के अपनाने की रहती है जिसके मूल्य की प्रवृत्ति उनकी आशानुकूल स्थिर रहने की होती है। **यदि मुद्रा न होती तो प्रत्येक प्रकार के उधार सौदे इस भय के कारण बहुत कम हो जाते कि कहीं उस बस्तु का मूल्य, जिसमें ऋण दिया गया है, अधिक परिवर्तित न हो जाय।** तर्क के दृष्टि कोण से मुद्रा के इस कार्य को उसके 'मूल्य के मापक' के कार्य से अलग बर्णन करना बहुत कम दोषविहीन है। इस सत्य को राबर्टसन ने भली प्रकार समझा, और इसलिये उन्होंने मुद्रा के कार्यों का विवेचन करते समय इसे कोई अलग स्थान नहीं दिया।

४—मुद्रा—मूल्य संचय के साधन के रूप में (Money as store of value) :

क्योंकि मुद्रा सामान्य विनिमय के माध्यम के रूप में कार्य करती है तथा इसके द्वारा किसी भी आर्थिक भुगतान को किया जा सकता है, इसलिये प्रत्येक

व्यक्ति एवं संस्था मुद्रा की एक न्यूनतम मात्रा अपने पास रखना पसन्द करता है। मुद्रा को भविष्य के भुगतानों के लिये संचित रखने की क्रिया, मुद्रा को भुगतान के साधन के रूप में प्रयोग करने की क्रिया के समान है। भुगतानों के लिये रखी गई मुद्रा द्वारा भविष्य के निश्चित भुगतानों को किया जा सकता है। ऐसे भुगतानों के साथ साथ, जिनकी कि हमें पहले से आशंका होती है, कुछ ऐसे भी होते हैं जिनसे हमें सावधान रहना पड़ता है और जो पूर्व-दृष्टिगोचर नहीं होते। ऐसे भुगतानों के कारण आशा के विपरीत अस्तव्यस्तता, सम्बन्धियों द्वारा मुद्रा की एकाएक मांग अथवा हमारे ऋण दाताओं के धैर्य का ग़लत अनुमान आदि हो सकते हैं। **इन कारणों से हम मुद्रा को क्रयशक्ति के एक संचित कोष के रूप में अपने पास रखने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार मुद्रा अपने स्वामी को मूल्य संचित रखने में सहायता करती है।** अन्य वस्तुओं का मूल्य उतना स्थिर नहीं होता जितना मुद्रा का होता है। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जब हम मूल्यों के मुद्रा में संचित होने की बात करते हैं तब हमारा तात्पर्य यह नहीं होता कि मूल्य यथार्थ में कोई ऐसी वस्तु है जो कि मुद्रा में है वरन् हमारा तात्पर्य यह होता है कि मुद्रा एक टिकाऊ (स्थिर) वस्तु होती है तथा यह हमेशा विक्रय योग्य होती है।

उपरोक्त चार कार्यों के अतिरिक्त आज के आधुनिक युग में मुद्रा चार अन्य कार्य भी करती है जिन्हें प्रो० किन्ले ने "आकस्मिक कार्य" कहकर बतलाया है। ये इस प्रकार हैं—

(अ) मुद्रा राष्ट्रीय आय (National Income) के वितरण को सम्भव बनाती है। आज के आर्थिक जगत में उत्पादन क्रियायें साधारणतः प्रत्यक्ष उपभोग के लिये नहीं किया जाता बल्कि उत्पादित वस्तुओं को बाजार में बेचने के लिये किया जाता है। इसके अतिरिक्त आधुनिक उत्पादन एक संयुक्त रीति से होता है। जो कुछ भी उत्पादन होता है वह एक व्यक्ति विशेष का न होकर सम्पूर्ण समाज का होता है, और इसलिये वितरण की आवश्यकता होती है। मुद्रा इस सम्मिलित उत्पादन का समाज के सदस्यों में वितरण सम्भव बनाती है। विदित रहे कि मुद्रा ऐसा इसलिये कर पाती है क्योंकि यह समाज की प्रत्येक वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य-मापक का कार्य करती है।

(ब) सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) तथा सीमान्त उत्पादकता (Marginl productivity) को बराबर करने में मुद्रा सहायता करती है। मुद्रा के प्रयोग के कारण, प्रत्येक उत्पादक उत्पादन के विभिन्न साधनों पर अपने उत्पादन व्यय को इस प्रकार बांट पाता है कि प्रत्येक साधन से मिलने वाली सीमान्त उत्पादकता लगभग बराबर हो जाती है। यह अधिकतम उत्पादन की स्थिति होती है। इसी प्रकार मुद्रा के प्रयोग से प्रत्येक उपभोक्ता व्यय की विभिन्न मदों पर अपनी आय को इस प्रकार विभाजित करता है कि प्रत्येक मद से प्राप्त

होने वाली सीमान्त उपयोगिता कम या अधिक (लगभग) रूप में बराबर हो जाती है। यह अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति होती है। मुद्रा यह कार्य भी इसलिये करती है क्योंकि इसीके द्वारा वस्तुओं के मूल्य मापे जाते हैं।

(स) आज के आर्थिक जीवन में साख (Credit) का बहुत अधिक महत्व हो गया है। हर प्रकार का आर्थिक विकास एक सर्वथा संगठित साख द्वारा ही सम्भव होता है। लेकिन वह साख जो बैंकों व अन्य संस्थाओं द्वारा उत्पन्न की जाती है, मुद्रा पर आधारित रहती है। नकद मुद्रा के संचित कोष के आधार पर ही साख का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार मुद्रा उस नींव की भांति होती है जिस पर विभिन्न प्रकार के आर्थिक विकास आधारित रहते हैं।

(द) अन्त में, जब पूंजी और सम्पत्ति मुद्रा के रूप में रखी जाती है तो उनमें तरलता एवं गतिशीलता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उनका अधिकतम लाभकारी प्रयोग सम्भव हो जाता है।

वस्तुतः मुद्रा के अनेक 'आकस्मिक कार्य' उपरोक्त चारों कार्यों से 'उद्भूत कार्य' (Derived functions) हैं, यद्यपि यह अध्ययन के महत्वपूर्ण अंग है। इन कार्यों के अतिरिक्त इस विषय के विभिन्न लेखकों—जैसे केन्ट (Kent)—ने अन्य कार्यों का भी वर्णन किया है जैसे 'हैसियत की जमानत का कार्य', 'तरल सम्पत्ति का कार्य', ऋण चुकाने योग्य कार्य (Bearer of Option) इत्यादि। वास्तव में ये कार्य भी उपरोक्त कार्यों के 'उद्भूत कार्य' हैं और इसलिये इस विवेचन में इन्हें अलग अलग स्थान देने की आवश्यकता नहीं है।

विभिन्न प्रणालियों में मुद्रा का स्थान (Place of money in different economic system)

प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन में मुद्रा का अत्यधिक महत्व होता है। चाहे वह पूंजीवादी अर्थव्यवस्था हो, समाजवादी अर्थव्यवस्था हो अथवा नियोजित अर्थव्यवस्था हो, प्रत्येक रूप में मुद्रा ही व्यवस्था को बनाये रखती है। अधिकांश आर्थिक क्रियायें मौद्रिक आय प्राप्त करने के लिये की जाती हैं जिससे प्रत्येक व्यक्ति की उपभोग की वस्तुओं की मांग पूरी की जा सके तथा सम्पूर्ण उत्पादन-व्यवस्था को ऐसी ही वस्तुओं के उत्पादन की ओर प्रेरित किया जा सके। इस प्रकार, प्रत्येक व्यवस्था में जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं बचा है जिसको विनिमय प्रणाली अथवा मौद्रिक प्रणाली ने प्रभावित न किया हो।

पूंजीवादी व्यवस्था में मुद्रा का स्थान (Money in capitalistic socity) :

वास्तव में इसका अनुमान लगाना कठिन है कि अधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था बिना मुद्रा के कैसे कार्य कर सकती है। उपभोग, उत्पादन, विनिमय तथा वितरण सभी असम्भव होते यदि मुद्रा आर्थिक क्रियाओं को निर्विघ्न संचालन के लिये न होती। सम्पूर्ण उत्पादन का एक बहुत बड़ा भाग बाजार के लिये होता

है जिसमें उत्पादक एवं वितरक क्रियाओं की एक लम्बी शृंखला इसमें कार्य करती है। प्रत्येक उत्पादन क्रिया विशेषज्ञों द्वारा की जाती है जो कि विभिन्न कुशलता से संगठित रूप में एक देश के प्राकृतिक साधनों पर कार्य करते हैं। उत्पादन के साधनों के प्रत्येक सदस्य को उस सहायता अंश के लिये, जो वह उत्पादन में करता है, मुद्रा में भुगतान किया जाता है। मजदूरियों, ब्याज, किराया तथा लाभ का भुगतान मुद्रा में होता है। मुद्रा की अनुपस्थिति में यह सब भुगतान ऐसी वस्तु द्वारा किये जाते थे जिससे बहुत अधिक हानि व असुविधा होती थी। इसके अतिरिक्त किसी अर्थपूर्ण पैमाने पर तभी विशेषता प्राप्त की जा सकती है जब कि विभिन्न समुदायों के विशेष उत्पादनों के विनिमय का कोई उचित साधन उपलब्ध हो। मुद्रा का उपयोग ऐसा ही साधन उपलब्ध करता है। दूसरे शब्दों में मुद्रा उत्पादन के विभिन्न साधनों में राष्ट्रीय आय के वितरण को संभव करके तथा श्रम-विभाजन को विस्तृत करके उत्पादन को बढ़ाता है। पुन: आधुनिक उत्पादन व्यक्तियों की उस बचत पर अत्यधिक निर्भर करती है जिसे उन लोगों के लिये सुलभ कर दिया जाता है जो उसका विनियोग उत्पादन में कर सकते हैं। मुद्रा की बचत करने वाले मुद्रा की कीमत भविष्य में मुद्रा में ही पाने की आशा करते हैं। इसलिये, मुद्रा की उपस्थिति साख अर्थ व्यवस्था के विकास के पूर्व की स्थिति होती है, जो पूँजीवादी उत्पादन का आधार होता है। उपभोग के क्षेत्र में भी मुद्रा का कार्य कम महत्व पूर्ण नहीं है। रावर्टसन के अनुसार, 'यह उपभोक्ता के रूप में मनुष्य को अपनी क्रय शक्ति को सामान्य रूप देने योग्य बनाती है और समाज से उसे उचित रूप में प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करती है।' दूसरे शब्दों में उपभोक्ता का प्रभुत्व केवल इसलिये बना हुआ है क्योंकि अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उसके पास मुद्रा होती है। उपभोग की स्वतन्त्रता का तो प्रश्न ही न उठता यदि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति के सामान्य करने के लिये मुद्रा न होती।

समाजवादी व्यवस्था में मुद्रा का स्थान (Money in socialistic economy) :—समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा अपना सर्वोंमुखी कार्य निरन्तर करती रहती है। एक समाजवादी सरकार भूमि और पूँजी का राष्ट्रीय करण कर सकती है और इस प्रकार किराये तथा ब्याज के व्यक्तिगत भुगतानों का उन्मूलन कर सकती है। परन्तु एक समाजवादी राज्य को भी साधनों की कमी पड़ सकती है, जिसके कारण बाध्य होकर उसको प्रतियोगिता पूर्ण माँगों में अपने साधनों को बुद्धिमत्ता व मितव्ययता से बाँट देना पड़ता है। उसे गणना के एक उपकरण की भी आवश्यकता होती है। एक उचित एवं संतोषजनक गणना की विधि प्रदान करके मुद्रा मूल्यांकन विधि के आधार स्वरूप कार्य करती है और इस प्रकार अर्थव्यवस्था का पथ प्रदर्शन करती है। ट्राटस्की के शब्दों में, 'कार्यालयों द्वारा तैयार किये गये आकारों को व्यापारिक गणनाओं द्वारा अपनी उपयोगिता दिखानी चाहिये। बिना एक निश्चित मौद्रिक इकाई के व्यावहारिक हिसाब-किताब केवल अस्त-व्यस्तता बढ़ायेगा।'

जब तक मुद्रा का उपकरण गणना करने के लिये उपलब्ध न हो तब तक कोई भी अर्थ व्यवस्था किन्हीं भी अंशों तक दक्षता से कार्य नहीं कर सकती। इसलिये एक समाजवादी **अर्थव्यवस्था** की भी एक **मौद्रिक** अर्थ व्यवस्था होनी चाहिये।

नियोजित व्यवस्था में मुद्रा का स्थान (Money in planned econcmy): नियोजित अर्थ–व्यवस्था के अन्तर्गत मुद्रा को सौंपे गये कार्य, मुद्रा के परम्परावादी विचार की अपेक्षा वणिकवादी विचारधारा के दृष्टिकोण वाले कार्यों के अधिक समान हैं। परन्तु इसमें एक अन्तर है: नियोजित अर्थव्यवस्था में पत्र मुद्रा धातु का स्थान ले लेती है। वणिक वादी (mercantilists) व्यापार का नियमन इस अभिप्राय से करते थे जिससे कि देश में सोने व चान्दी का प्रवाह बढ़े। परन्तु आधुनिक नियोजित अर्थव्यवस्था रोजगार की दशाओं को बढ़ाने के लिये दूसरे देशों से सोने व चान्दी का आगमन आवश्यक नहीं मानती। इस उद्देश्य के लिये मुद्रा का निर्माण पत्र-चलन-मुद्रा (करेन्सी नोट)या बैंक साख के रूप में किया जा सकता है। प्राचीन विचारकों की यह धारणा सही नहीं थी कि सोना व चान्दी मानव को कार्य करने की प्रेरणा देती है अथवा सोने व चान्दी की आवश्यकता लोगों को कार्य करने को उत्साहित करने के लिये होती है। यह कार्य पत्र-मुद्रा भी उसी कुशलता से कर सकती तथा ऐसा सिद्ध भी किया जा चुका है। मुद्रा अपने प्रत्येक रूप में नियोजित अर्थ-व्यवस्था के सर्वोमुखी विकास के लिए एक अतिआवश्यक वस्तु सिद्धि होती है।

मुद्रा सामाजिक सुधार का एक साधन (Money as means of social reform) मुद्रा सामाजिक सुधार का एक आवश्यक साधन भी सिद्ध हुई है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि किस प्रकार रीति-रिवाजों एवं ऊँच-नीच को स्थानापन्न करके अनुबन्ध एवं प्रतिस्पर्धा की स्वतन्त्रता का जन्म हुआ तथा मुद्रा ने किस प्रकार मध्य युग की प्रथा-पीड़ित मानवता को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक गुलामी से मुक्ति दिलाई। जब उत्पादन के साधनों का प्रतिफल वस्तुओं के रूप में वितरित की जाती थी तो इनको, विशेषकर मजदूरों को, बड़ी हानि होती थी और एक प्रकार से यह भूस्वामियों, व्यापारियों एवं पूँजीपतियों के दास बने रहते थे। पर मुद्रा के रूप में प्रतिफल के वितरण से यह स्वतन्त्र रहते हैं तथा अपने कठिन परिश्रम का फल प्राप्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। वास्तव में आर्थिक व राजनैतिक रूप से विकसित होता हुआ समाज इस बात की मांग करता है कि उसकी आर्थिक पद्धति को उसकी बढ़ती हुई तथा परिवर्तनशील आवश्यकताओं के अनुसार बनाया जाय। निसन्देह एक देश की आर्थिक पद्धतियों का विकास उसकी सभ्यता के विकास का सूचक होता है। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने मुद्रा की सेवाओं की तुलना सड़क एवं अन्य यातायात साधनों की सेवाओं से की है। जिस प्रकार राजपथ एक स्थान की वस्तु को गतिशील बना कर दूसरे स्थानों पर ले जाते हैं उसी प्रकार देश में चलने वाली मौद्रिक प्रणाली सारे समाज को एक स्तर से दूसरे उच्च स्तर को ले जाती है।

मुद्रा का महत्त्व (Importance of Money)

मुद्रा की अनेक आवश्यकताओं पर विचार करते हुए यह बतलाया जा चुका है कि मुद्रा किसी भी प्रकार के अर्थ-व्यवस्था में, चाहे वह पूँजीवादी हो अथवा समाजवादी हो, कितनी आवश्यक होती है। बदलते हुए विश्व में मुद्रा प्रणाली का चलता रहना इस बात का सूचक है कि इस मानव निर्मित साधन (मुद्रा) का समाज के लिए बड़ा महत्व होता है, भले ही समाज की अर्थ-व्यवस्था का संगठन समाजवादी ढंग पर किया गया हो या पूँजीवादी आधार पर। इस महत्व को जानने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में मुद्रा के कार्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है :—

१. मुद्रा एवं आर्थिक उन्नति :—

(क) उत्पादन क्षेत्र : मुद्रा का उपयोग बाजार को क्रेताओं व विक्रेताओं में विभाजित कर देता है और इस प्रकार वस्तु-विनिमय (अदल-बदल) प्रणाली को बाजार की पूर्ति व मांग में परिवर्तित कर पृथक कर देता है। पूर्ति एवं मांग की अलग-अलग शक्तियाँ बाजार में कीमतों का निर्धारण कराती हैं जो मुद्रा के विनिमय मूल्य में स्पष्ट होता है। प्राय: उत्पादन की दशा वर्तमान एवं भावी कीमतों के आधार पर नियमित की जाती है। उत्पादन लागत (साधनों की कीमत तथा व्यवसाइयों के अन्य व्यय) एवं निर्मित वस्तुओं की कीमतों के मध्य अन्तर ही उत्पादक का लाभ व उसकी हानि होती है तथा इसी अन्तर की सम्भावनाओं पर उत्पादन की मात्रा निर्भर करती है।

(ख) विनिमय क्षेत्र : साख बाजार के विकास के लिए मुद्रा का उपयोग आवश्यक होता है। वस्तु-विनिमय अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसे आश्वासनों पर वस्तुएं उधार पाई जा सकती हैं कि एक निश्चित समय बाद वही वस्तुएं या उनके वास्तविक मूल्य के बराबर अन्य वस्तुएं बदले में दी जायेंगी। ऐसी दशा में समुदाय में उतने ही साख-बाजार होगे जितनी प्रकार की वस्तुओं को उधार प्राप्त किया जा सकता है। मुद्रा के विकास का होना 'समान सेवा के लिए समान कीमत' स्थापित कराने की सबसे पहली आवश्यकता होती है। साख-व्यापार का यही उद्देश्य होता है। ऋणों का सबसे अच्छा प्रदर्शन मुद्रा के रूप में किया जा सकता है जो केवल मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव होता है क्योंकि ऋण देने योग्य धन का मूल्य (प्रयोग किये जाने के बदले) ब्याज दर के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(ग) मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था : मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक उपभोक्ता निश्चित सीमाओं में स्वतन्त्र रूप से उपभोग वस्तुओं को चुन पाता है तथा यह अनुभव कर सकता है कि उसकी इच्छानुसार वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जो वस्तु-विनियोग प्रणाली के अन्तर्गत सम्भव नहीं होता है। स्वतन्त्र उपयोग के लिए मुद्रा आवश्यक साधन होता है क्योंकि उपभोग के लिए स्वतन्त्र चुनाव तथा उपभोग का आवश्यक सीमांकन केवल तभी तक किया जा सकता है जब तक कि उपभोक्ता की क्रय

शक्ति वैकल्पिक रीति तथा वस्तुओं के अनेक समूहों में व्यय करने योग्य हो। निसन्देह यह वस्तुओं के मुद्रा-मूल्य (कीमतों), जो उन वस्तुओं को पाने के लिए देना पड़ेगा, द्वारा सीमित होता है। एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था, जिसमें मुद्रा का प्रयोग न होता हो, उपभोग के लिए चुनाव की स्वतन्त्रता को समाप्त कर देगी।

(घ) मुद्रा को व्यक्तियों की आवश्यकताओं का माप, इस मान्यता पर समझा जा सकता है कि किसी वस्तु पर व्यय की जाने वाली क्रय शक्ति की मात्रा उपभोक्ता के लिए उस वस्तु से मिलने वाली सन्तुष्टि का माप होती है।

(ङ) **वितरण क्षेत्र** : कीमत स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन, जो साधारणतया चलन मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने के कारण होते हैं, समाज के विभिन्न वर्गों के बीच राष्ट्रीय सम्पत्ति के विभाजन पर विभिन्न आर्थिक प्रभाव डालते हैं। मुद्रा मात्रा सम्बन्धी नियन्त्रण अथवा उसके चलन के नियन्त्रण इन प्रभावों द्वारा समाज में आय के वितरण में इच्छित परिवर्तन ला सकते हैं। मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के आर्थिक एवं सामाजिक दुष्परिणाम अन्यत्र वर्णित किये गये हैं।

(च) **विकास क्षेत्र** : मुद्रा देश के आर्थिक विकास की अवस्थाओं को जानने में लगभग उसी प्रकार सहायता करता है जिस प्रकार पुस्तक की अनुक्रमणिका उसके विषय को जानने में सहायता करती है। मानवीय क्रियाओं के विकास का इतिहास मुद्रा के विकास इतिहास से काफी सम्बन्धित है। मुद्रा का रूप एवं उसके उद्‌विकास की प्रवृत्ति देश के आर्थिक विकास की प्रवृत्तियों को बतलाती है। इस प्रकार आज के विश्व के आर्थिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए मुद्रा अत्यन्त आवश्यक है।

(छ) प्रत्येक समाज में उत्पादन मात्रा में वृद्धि विनिमय के विकास एवं विशिष्टीकरण द्वारा की जा सकती है। परन्तु किसी भी देश में विनिमय विकास एवं विशिष्टीकरण वहाँ पर श्रम विभाजन की पद्धति पर आधारित रहता है। श्रम विभाजन में वृद्धि एवं विनिमय में विकास तभी सम्भव हो सकता है जब आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा मूल्य मापक का कार्य करती है।

२. मुद्रा एवं सामाजिक सुधार :—

(ज) मुद्रा सामाजिक स्वतन्त्रता की स्थिति भी प्रदान करती है। जिस समय मुद्रा का प्रयोग नहीं होता था तो सभी प्रकार के भुगतान वस्तुओं व सेवाओं के रूप में किये जाते थे। इस प्रथा के कारण उत्पादन के कुछ साधन (जैसे श्रम) पूर्णतया दूसरे साधनों (पूँजी व भूमि) पर निर्भर रहते थे। श्रमिक अपनी इच्छानुसार अपना स्थान एवं व्यवसाय नहीं बदल पाते थे। इस प्रकार मुद्रा के प्रयोग ने उत्पादन के साधनों को स्वतन्त्र बना दिया है एवं सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी है।

इस प्रकार मुद्रा का महत्व एवं इसकी विशेषतायें न केवल एक देश के आर्थिकोन्नत से सम्बन्धित हैं परन्तु सारे संसार की सभ्यता का आवश्यक अंग है। चाहे वह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था हो या समाजवादी अथवा नियोजित अर्थ-व्यवस्था, 'मुद्रा प्रत्येक अवस्था में एक धुरी के समान रहती है जिसके चारों ओर आर्थिक विज्ञान चक्कर लगाता है।'[1] यह उत्पादन तथा वितरण की वास्तविक आर्थिक प्रक्रिया के मशीन में तेल का कार्य करती है तथा सामाजिक न्याय प्राप्त कराने का साधन होता है।[2]

मुद्रा के दोष

मुद्रा के महत्व में उसके गुणों के साथ-साथ उसकी बुराइयों का भी अंश है तथा उपरोक्त विवेचन में चित्र के केवल एक पहलू पर ही प्रकाश डाला गया है। मुद्रा, जो इतने अधिक लाभों का स्रोत है, कठिनाइयाँ एवं दुख की अवस्थायें भी ला सकती है और इस प्रकार उन उद्देश्यों को भी नष्ट कर सकती है जिसके लिए इसका निर्माण हुआ था।

मुद्रा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसके मूल्य में सदैव परिवर्तन होते रहते हैं जिसके कारण समाज में उत्पादन एवं रोजगार की दशाओं तथा आय के वितरण में परिवर्तन हो जाते हैं। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में धन की जो असमानताएं पाई जाती हैं, उसके लिये मुद्रा ही प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी है। मुद्रा के मूल्य का अर्थ उसके क्रय शक्ति से होता है जो मुद्रा की मात्रा, उसके चलन गति, उत्पादन-मात्रा, कुल आय–विनियोग-बचत-व्यय के बीच सम्बन्ध इत्यादि जैसे कारणों पर निर्भर करती है। वास्तविक जीवन में यह अनेक कारण स्वयं मुद्रा की मात्रा पर निर्भर करते हैं। वास्तविक आय के न्यायपूर्ण वितरण के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा की मात्रा एवं उसकी गति पर उचित नियन्त्रण रखा जाय। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों का प्रभाव आय के वितरण पर ही नहीं पड़ता, वरन् यह आय के उत्पादन को भी प्रभावित करते हैं। आय के वितरण की असमानताओं के कारण एक वर्ग की हानि दूसरे का लाभ बन जायेगी, परन्तु कीमतों के अस्थिर होने से आर्थिक व्यवस्था पर चक्रीय उच्चावचन (Cyclical fluctuations) पड़ने लगते हैं। इसका देश के व्यापार एवं उद्योग पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इन परिवर्तनों के कारण मनुष्यों की बचत एवं उधार देने की प्रकृति समाप्त होती जाती है और मौद्रिक प्रणाली पर एक प्रकार के फालिज (Paralysis) का आक्रमण हो जाता है। यदि हम महायुद्धों के मध्यकाल

1. "Money is the pivot around which the economic science clusters".
—Marshall.

2. "It acts as a lubricant of real economic processes of production and distribution of goods and services and a means of attaining social justice."
—Crowther.

के आर्थिक इतिहास का अवलोकन करें तो हमें यह पता चल जायेगा कि अत्यधिक मुद्रा-प्रसार के कारण वे सारे लोग जिन्होंने अपनी बचतों को निश्चित ब्याज वाली प्रतिभूतियों में लगा रखा था किस प्रकार बर्बाद हो गये । इसके साथ ही किस प्रकार महामन्दी की अवस्था के साथ बेरोजगारी की दशा का सामना करना पड़ा। अतः मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों के कारण होने वाले उत्पादन, रोज़गार व वितरण के क्षेत्र सम्बन्धी कुप्रभावों से आर्थिक व्यवस्था को बचाने के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा की मात्रा पर उचित नियन्त्रण रखा जाय । राबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही लिखा है कि "मुद्रा, जो मानव के लिए अनेक वरदानों का साधन है, अनियन्त्रित दशा में आपत्ति एवं भ्रम का साधन भी बन सकती है।"[1]

मुद्रा का दूसरा दोष यह है कि इसके कारण भ्रष्टाचार एवं राजनैतिक संघर्षों को प्रोत्साहन मिलता है। रस्किन (Ruskin) के अनुसार 'मुद्रा के शैतान ने मानव की आत्माओं को अपने पूर्ण नियन्त्रण में ले लिया है। किसी भी धर्म एवं दर्शनशास्त्र में इतनी शक्ति नहीं है कि वह इसे बाहर निकाल दे।' इसने सिर्फ राजनैतिक संस्थाओं को ही भ्रष्टाचारी नहीं बनाया, साथ ही युद्धों का कारण भी बनी है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि मुद्रा के महत्तव के कारण हम सब का ध्यान उद्देश्यों की अपेक्षा साधनों की ओर आकर्षित हो गया है। इसके कारण हम अपने जीवन के मूल्यों को भूल गए हैं और भौतिकवादी बन गए हैं। परन्तु इससे वास्तविक सुख की कमी हो गई है।

इस प्रकार मुद्रा के अनेक लाभों के साथ उसकी अपनी हानियां भी हैं। पर इनके कारण इसके महत्तव को नहीं भुलाया जा सकता। वास्तव में किसी देश की आर्थिक व्यवस्था पर किसी भी सरकारी आर्थिक नीति का इतना गह्न प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि मौद्रिक एवं बैंक सम्बन्धी नीतियों का पड़ता है।[2]

निर्देश पुस्तकें

George N. Halm—Monetary Theory—Ch. I

D. H. Robertson—Money—Ch. I

W. A. L. Coulbourn—An Introduction to Money—Ch. I to III

F. A. Walker—Money—Ch. I

---

1. Money which is a source of so many blessings to mankind becomes also, unless we control it, a source of peril and confusion.—Robertson.

2. No other group of governmental economic policies exert a more profound influence on an economy than those in the monetary and banking fields".

अध्याय २

मुद्रा के स्वरूप

आर्थिक जीवन के विकास के इतिहास से पता चलता है कि मनुष्य ने अनेक वस्तुओं को मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाने के लिये चुना है। आखेट के युग में मनुष्य ने पशुओं की खालों, हड्डी और बालों को विनिमय-माध्यम (medium of exchange) के रूप में प्रयोग किया। चारागाह के युग में साधारणतया पशुओं को ही 'धन' में सम्मिलित किया जाता था और इसलिए उस समय उनको ही, विशेषकर गाय, बैल, बकरी इत्यादि, मुद्रा के रूप में प्रयोग किया गया। देश और काल के साथ-साथ मुद्रा का रूप बदलता गया। जैसे-जैसे मुद्रा के रूप में प्रयोग की जाने वाली वस्तुओ की त्रुटियों का अनुभव किया जाने लगा और दूसरी वस्तुयें इस कार्य को करने के लिये मिलती गईं, मुद्रा का रूप बदलता गया। प्राचीन यूनान में बैल, अफ्रीका में कौड़ी, तिब्बत में चाय के जमे हुए टुकडे, जापान में चावल, न्यू साउथ बेल्स में रम तथा योरोप के कुछ बाजारों में सिग्रेट विनिमय माध्यम के रूप चलते हुये पाये गये हैं। धातुओं का पता लग जाने पर इनके टुकड़ों को विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। निःसंदेह इनका प्रयोग इस रूप में इस लिये नहीं हुआ क्योंकि उनका कुछ वास्तविक मूल्य था, अपितु इसलिये कि वे दुर्लभ थे। कालान्तर में मनुष्य ने अनुभव किया कि लोहा, पीतल, ताँबा आदि धातुओं में स्वल्पता का गुण नहीं है और इसलिए सोना व चांदी के टुकड़े ही मुद्रा के रूप में प्रयोग किये जाने लगे। धातुओं के टुकड़ों के चलन में असुविधाओं के कारण सिक्कों का विकास हुआ। ईसा से ग्यारहवीं शताब्दी पूर्व चीन में, सातवीं शताब्दी पूर्व एशिया माइनर में तथा चौथी शताब्दी पूर्व भारत में सिक्कों का चलन था। सांकेतिक सिक्कों का प्रारम्भ टंकण कला में काफी विकास हो जाने पर हुआ। पत्र-मुद्रा का प्रयोग वर्तमान युग की ही निधि नही है, प्राचीन काल से इसका प्रयोग होता आया है और इसका विकास शनै-शनै हुआ है।

इस प्रकार मुद्रा ने अपने जन्मकाल से वर्तमान काल तक अनेक रूप धारण किये हैं और आज भी संसार के विभिन्न स्थानों में विभिन्न प्रकार की मुद्राओं का चलन पाया जाता है। इन सभी प्रकार के मुद्राओं का विस्तारपूर्वक यहाँ वर्णन करना एक असम्भव कार्य होने के साथ-साथ हमारे अध्ययन से बाहर भी होगा। मुद्रा के वर्गीकरण का अध्ययन करने के लिये हम मुद्रा के महत्वपूर्ण रूपों का ही वर्णन करेंगे।

मुद्रा के वर्गीकरण का आधार (Bases of Clasification of Money)

मुद्रा के वर्गीकरण का विचार निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है :–

(i) प्रकृति के आधार पर वर्गीकरण
(ii) वैधानिकता के आधार पर वर्गीकरण
(iii) मुद्रा-पदार्थ के आधार पर वर्गीकरण

१–प्रकृति के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण (Classification on the basis of nature) :—

लार्ड कीन्स (Keynes) ने अपनी पुस्तक 'मुद्रा पर निबन्ध' (Treatise on Money) में मुद्रा को दो रूपों में बांटा है : मुद्रा, मुख्य मुद्रा अथवा वास्तविक मुद्रा (Money, Money Proper or Actual Money) एवं लेखे की मुद्रा (Money of Account)। वास्तविक मुद्रा (Actual Money) से उनका अभिप्राय देश की उस मुद्रा से था जो वास्तविक रूप में चलन में होती है, जिसका प्रयोग वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय हेतु माध्यम के रूप में होता हो तथा जिसके द्वारा देश के अन्दर भुगतान एवं क्रय शक्ति का संचय किया जाता हो। भारतवर्ष में एक नए पैसे से एक रुपये तक के सिक्के तथा एक रुपए के करेंसी नोट से लेकर १०० रुपये के बैंक नोट तक प्रत्येक नोट वास्तविक मुद्रा है क्योंकि इनका प्रयोग यथार्थ में भुगतान करने के लिये किया जाता है। लेखे की मुद्रा अथवा हिसाब की मुद्रा (Money of Account) से ताप्पर्य उस मुद्रा से होता है जिसमें वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय सम्बन्धी सौदे किए जाते हैं। इस मुद्रा के द्वारा ही हिसाब-किताब (Accounts) रखा जाता है और ऋण, मूल्य तथा सामान्य क्रय-शक्ति को स्पष्ट किया जाता है। कीन्स ने वास्तविक मुद्रा एवं लेखे की मुद्रा का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है; कि **'लेखे की मुद्रा विवरण या अधिकार को सूचित करती है एवं वास्तविक मुद्रा इस विवरण या अधिकार का प्रत्युत्तर होती है।**[1] साधारणतया वास्तविक मुद्रा ही हिसाब की मुद्रा होती है, पर ऐसा सदा आवश्यक नहीं है। मुद्रा के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब वास्तविक मुद्रा एवं हिसाब की मुद्रा में भिन्नताएं पाई गई हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद १९२३ में जर्मनी में विनिमय माध्यम के रूप में मार्क (Mark) का चलन होता था पर मूल्य-मापक के रूप में एवं हिसाब रखने के लिये फ्रैंक (Frank) अथवा स्विस डालर का प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हंगरी में पेन्गास (Pengos) विनिमय माध्यम के रूप में स्वीकार किए जाते थे पर

1. "The money of account is the description or title and the money (or money proper) is the thing which answers to the description."

Keynes—A Treatise on Money, Vol. I p. 3

हिसाब की मुद्रा स्टर्लिंग थी। चीन में भी एक समय वास्तविक मुद्रा चीनी डालर पर हिसाब की मुद्रा अमेरिकन डालर रही है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण भारत में ही मिलता है जब हिसाब की मुद्रा-इकाई पाई (Pie) भी थी पर वास्तविक मुद्रा-इकाई इसके स्थान पर पैसा था। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण कीन्स ने मुद्रा का इस प्रकार वर्गीकरण किया; यद्यपि आज प्रत्येक देश में वास्तविक मुद्रा और हिसाब की मुद्रा एक ही हैं। सेलिगमैन (Seligman) ने इस वर्गीकरण को वास्तविक मुद्रा एवं आदर्श मुद्रा (Actual Money and Ideal Money) के रूप में तथा बेनहम (Benham) ने इसको 'चलन-इकाई' एवं 'लेखा-इकाई' (Unit of Curreney and Unit of Account) के रूप में किया है।

कीन्स के अनुसार वास्तविक मुद्रा (Actual Money) का उपविभाजन वस्तु मुद्रा (Commodity Money) एवं प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money) में किया जा सकता है। वस्तु मुद्रा से उनका अभिप्राय पूर्णकाय मुद्रा (Standard or Full bodied Money) से था। **पूर्णकाय मुद्रा धातु की बनी हुई उस मुद्रा को कहते हैं जिसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य के बराबर होता है।** धातु का वस्तु के रूप में मूल्य होने के कारण धातु-मुद्रा वस्तु-मुद्रा की श्रेणी में आती है। पूर्णकाय मुद्रा विनिमय के माध्यम का कार्य सम्पादित करने के साथ-साथ क्रय-शक्ति के संचय (Store of value) के कार्य को भी भली भांति करने में सामर्थ होती है। यहाँ पर यह बतला देना उचित होगा कि पत्र-मुद्रा का वस्तु के रूप में कोई मूल्य नहीं होता, अत: उसको कीन्स द्वारा बतलाए हुए वस्तु मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर प्रतिनिधि मुद्रा (Representative money) वह मुद्रा होती है जिसका वस्तु के रूप में कोई मूल्य नहीं होता किन्तु जिसका चलन इस कारण होता है कि वह मूल्य अथवा क्रय-शक्ति की प्रतिनिधि होती है। इसका स्वयं कुछ महत्तव नहीं होता पर जिस मुख्य मुद्रा का यह प्रतिनिधित्व करती है उसके महत्तव के कारण इसको महत्व मिल जाता है। यह दो प्रकार की होती है :—(१) वह पत्र मुद्रा जो सरकार द्वारा पूर्णकाय मुद्रा के सहायक के रूप में चलने के लिए निर्मित की जाती है जिसे पत्र-चलन-मुद्रा (paper currency) कहते हैं तथा (२) वह पत्र मुद्रा जो बैंक द्वारा निर्मित की जाती है और चलन मुद्रा (Currency) में परिवर्तनशील होती है। **प्रतिनिधि मुद्रा मुख्य मुद्रा-वस्तु मुद्रा-में परिवर्तनशील होती है। पूर्णकाय मुद्रा में परिवर्तनशील होने के कारण यह धातु में परिवर्तनशील हो जाती है और इसी कारण यह परिवर्तनशील पत्र मुद्रा** (Convertible paper money) **की श्रेणी में आ जाती है।** विशेष परिस्थितियों में जब पूर्णकाय मुद्रा का चलन बन्द हो जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रतिनिधि पत्र मुद्रा की परिवर्तनशीलता बन्द हो जाती है, अथवा मुद्रा एवं धातु का सम्बन्ध समाप्त कर दिया जाता है, तो पत्र-चलन-मुद्रा (paper currency) प्राद्रिष्ट मुद्रा (Fiat money) कहलाने

लगती है। स्पष्ट है कि ऐसी मुद्रा अपने आंतरिक मूल्य (Intrinsic value) के कारण मुद्रा न मानी जाकर आदेश (Command) के कारण मुद्रा मानी जाती है। कीन्स के अनुसार "प्रादिष्ट मुद्रा (अर्थात् ऐसी मुद्रा जिसका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य से भिन्न रहता है) का निर्माण छोटे-छोटे आकारों को छोड़ कर, कागज द्वारा ही किया जाता है; इसका निर्गम राज्य द्वारा किया जाता है; पर यह स्वयं के अलावा किसी अन्य वस्तु में परिवर्तनशील नहीं होती एवं इसका उद्देश्यगत प्रमाण (Objective standard) के संबंध में कोई निश्चित मूल्य नहीं होता।"[1] कीन्स द्वारा बतलाये गये मुद्रा के वर्गीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

- मुद्रा
  - वास्तविक मुद्रा
    - वस्तु-मुद्रा (पूर्णकाय मुद्रा)
    - प्रतिनिधि-मुद्रा (पत्र-चलन-मुद्रा तथा बैंक मुद्रा)
      - परिवर्तनशील मुद्रा
      - प्रादिष्ट मुद्रा (केवल विशेष परिस्थितियों में)
  - लेखे (हिसाब) की मुद्रा

२—वैधानिकता के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण (Classification on the basis of Legality) :—

इस आधार पर राबर्टसन (Robertson) ने मुद्रा का वर्गीकरण करते हुए मुद्रा को साधारण मुद्रा (Common money) और बैंक मुद्रा (Bank money) में विभक्त किया है। **साधारण मुद्रा से उनका तात्पर्य उस मुद्रा से है जिसे एक राजनैतिक क्षेत्र के भीतर सर्वस्वीकृति प्राप्त हो।** दूसरी ओर **बैंक मुद्रा वह ऐच्छिक मुद्रा कही जा सकती है, जिसको स्वीकार करना अथवा न करना भुगतान पाने वाले व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा पर निर्भर करता है।** ऐसी मुद्रा की प्रकृति इस प्रकार की होती है कि इसे स्वीकार करने से पूर्व भुगतान पाने वाला व्यक्ति भुगतान करने वाले की साख का परिचय चाहता है। इसीलिये कुछ अर्थशास्त्रियों ने इनको विधिग्राह्य-मुद्रा (Legal tender money) एवं ऐच्छिक मुद्रा (Optional money) के नाम से सम्बोधित किया है। साधारण मुद्रा अथवा **विधिग्राह्य-मुद्रा**

---

1. "Fiat money is representative money, something the intrinsic value of the material substance of which is divorced from its monetary face value, now generally made of paper except in the case of small denominations which is created and issued by the State but not convertible by law into anything either than itself, and has no fixed value in terms of an objective standard."

Keynes—A Treatise on Money, Vol. I p. 7

वह मुद्रा होती है जिसके द्वारा कानूनानुसार भुगतान किया जा सकता है, जिसे ऋण के भुगतान तथा वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य से स्वीकार करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति बाध्य होता है। कोई भी व्यक्ति इसको लेने से इन्कार नहीं कर सकता है। भारतवर्ष में १ रुपये के नोट व उसके सिक्के एवं अनेक छोटे सिक्के इस वर्ग में सम्मिलित किए जा सकते हैं। इसके विपरीत **ऐच्छिक-मुद्रा की सीमा के अन्तर्गत मौद्रिक चलन की वह विशाल मात्रा सम्मिलित रहती है; जो विधिग्राह्य न होते हुये भी सामान्यता ऋणों के भुगतान एवं वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्य के बदले में स्वीकार की जाती है।** इस मुद्रा के अन्तर्गत साख मुद्रा (Credit money), जैसे चेक (Cheque), हुन्डी (Hundi), विनिमय बिल (Bill of Exchange) इत्यादि एवं बैंक नोटस (Bank notes) को सम्मिलित किया जाता है। यहाँ यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि भारतवर्ष में रिजर्व बैंक द्वारा निर्मित नोट इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं यद्यपि उनका चलन विधिग्राह्य-मुद्रा के रूप में होता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उनकी निकासी देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा होती है।

साधारण मुद्रा अथवा विधिग्राह्य-मुद्रा का उपविभाजन धात्विक मुद्रा (Metallic money) एवं कागजी मुद्रा (paper money) में किया जा सकता है। धात्विक-मुद्रा से अभिप्राय धातु के बने हुए सिक्कों—पूर्णकाय सिक्के (Full bodied coins) तथा सांकेतिक सिक्कों (Token coins)—से तथा कागजी मुद्रा से देश के करेंसी नोट (Currency notes) से होता है। पूर्णकाय सिक्कों का अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य के बराबर होता है पर सांकेतिक सिक्कों का आंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। पूर्णकाय सिक्कों का चलन प्राय: उस समय होता है जब सरकार मुद्रा और धातु का सम्बन्ध स्थापित कर देती है तथा एक निश्चित अनुपात में एक दूसरे को बदलने का आश्वासन देती है। विधिग्राह्य मुद्रा दो प्रकार की—अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा (Unlimited legal tender money) अथवा परिमित विधिग्राह्य मुद्रा (Limited legal tender money)—हो सकती है। अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा की श्रेणी में वे सभी धात्विक सिक्के तथा करेंसी नोट आते हैं जिनमें असीमित राशि का भुगतान कर सकना विधान के अनुसार सम्भव होता है। परन्तु परिमित विधिग्राह्य मुद्रा छोटे भुगतानों को करने के लिए धात्विक सिक्कों के रूप में चलाई जाती है और इसे एक निश्चित सीमा तक ही भुगतान में ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। इसी वर्गीकरण के आधार पर वान मीज़िज (Von Mises) ने मुद्रा को तीन रूपों में बांटा है : वस्तु मुद्रा (Commodity money), आज्ञा प्राप्त मुद्रा (paper money) तथा साख मुद्रा (Credit money)। वस्तु-मुद्रा से उनका आशय पूर्णकाय (full-bodied) धात्विक मुद्रा से था। उनके अनुसार आज्ञा प्राप्त मुद्रा (paper money) उस मुद्रा को कहते हैं जब मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में इस कारण प्रचलित होती है कि वह कुछ

वैधानिक विशेषताओं से युक्त होती है, और व्यापारिक वस्तु के रूप में इसका कोई मूल्य नहीं होता। यह परिवर्तनीय (convertible) अथवा अपरिवर्तनीय (inconvertible) दोनों ही प्रकार की हो सकती है। साख मुद्रा से उनका अभिप्राय उन पत्रों से है जो चेक, बैंक-ड्राफ्ट, प्रतिज्ञा-पत्र, विनिमय बिल इत्यादि के नाम से जाने जाते हैं। यथार्थ में राबर्टसन तथा वान मीज़िज द्वारा किये गये मुद्रा के वर्गीकरण में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, केवल वान मज़िज की 'साख मुद्रा' राबर्टसन की 'बैंक मुद्रा' से कम व्यापक है।

३—मुद्रा पदार्थ के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण (Classification on the basis of money-matter) :—

इस आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण चैन्डलर (Chandeler) ने किया है, तथा इसी को मुद्रा के वर्गीकरण का प्रमुख एवं महत्वपूर्ण आधार माना जा सकता है। इस आधार पर मुद्रा को दो भागों में बाँटा जा सकता है : धातु मुद्रा (metallic money) तथा पत्र मुद्रा (paper money)। धातु मुद्रा के अन्तर्गत धातुओं के टुकड़े (जो सिक्कों के विकास के पूर्व विनिमय माध्यम के रूप में अनेक देशों में प्रचलित थे) तथा धात्विक सिक्के सम्मिलित किए जाते हैं। धात्विक टुकडों के मूल्य में कमी (मुद्रा-ह्रास'—काट छांट कर (Clipping), मिश्रण द्वारा अन्श खींच कर (Se-eating) और उत्कावन द्वारा (Abbraison)-करने की अधिक सम्भावनाओं के कारण ही सिक्कों को अपनाया गया। धात्विक सिक्के अथवा धातु मुद्रा दो प्रकार की हो सकती हैं—पूर्णकाय अथवा प्रामाणिक सिक्के (Standard or full bodied coins) तथा सांकेतिक सिक्के (Token coins)।

प्रामाणिक अथवा पूर्णकाय मुद्रा देश का प्रधान सिक्का होता है; जिसका आंतरिक मूल्य (Intrinsic value) **उसके अंकित मूल्य के बराबर होता है। ऐसी मुद्रा सदैव असीमित विधिग्राह्य मुद्रा होती है तथा जनता को अधिकार होता है कि वह किसी भी टंकशाला से आवश्यक धातु देकर ऐसे सिक्के प्राप्त कर ले।** १९३१ से पूर्व इंगलैण्ड का सावेरन (Sovereign) इस प्रकार की मुद्रा का सब से अच्छा उदाहरण है। भारत का १८९३ तक प्रचलित रजत रुपया भी इसी प्रकार की मुद्रा थी। दूसरी ओर **सांकेतिक अथवा प्रतीक सिक्का प्रमाणिक मुद्रा का विरोधी होता है। ऐसे सिक्के गौण-मुद्रा** (Subsidiary money) **के रूप में छोटे भुगतानों के लिए चलाए जाते हैं। इसका अंकित मूल्य इनके वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। यह सीमित विधिग्राह्य भी होते हैं तथा इनका टंकण जनता के लिए खुला नहीं होता।** भारत में धातु के बने हुए रुपये के सिक्कों के विषय में भ्रममूलक दृष्टिकोंण अपनाया गया है। भारतीय रुपये को प्रमाणिक मुद्रा का स्थान इसलिए दिया जाता है क्योंकि यह देश की प्रधान तथा अपरिमित विधिग्राह्य मुद्रा है। पर साथ ही साथ धातुरूप में इसका केवल नाममात्र मूल्य है तथा इसका टंकण भी

सीमित (limited) है। अतः इसको सांकेतिक-प्रमाणिक सिक्का (Token-standard coin) कहना अधिक उचित होगा।

पत्र मुद्रा को दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है : पत्र–चलन–मुद्रा (paper currency) तथा बैंक मुद्रा। पत्र–चलन–मुद्रा (paper currency) पत्र मुद्रा का वह भाग है जो सरकार की ओर से चलाई जाती है और देश की प्रधान मुद्रा के रूप में चलती हुई सदैव धातु के बने हुए प्रधान मुद्रा में बदली जा सकती है। **पत्र–चलन–मुद्रा ४ प्रकार की हो सकती हैं : १-प्रतिनिधि पत्र मुद्रा; २-परिवर्तनशील पत्र मुद्रा; ३-अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा तथा ४-प्रादिष्ट पत्र मुद्रा। १-प्रतिनिधि पत्र मुद्रा** (Representive paper money) **प्रणाली के अन्तर्गत जितने मूल्य की पत्र–चलन–मुद्रा की निकासी होती हैं उतने ही मूल्य के धातु (स्वर्ण या रजत) को कोष में रक्खा जाता है।** ऐसा इसलिए किया जाता है जिससे प्रत्येक व्यक्ति के मांगने पर उसे नोटों के बदले में सोना या चांदी दिया जा सके। स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था के समय सरकार पत्र-चलन-मुद्रा को एक निश्चित दर पर धातु में बदलने की गारण्टी देती है। इस प्रकार पत्र मुद्रा बहुमूल्य धातुओं का यथार्थ में प्रतिनिधित्व करती है। अमरीका में निर्गमित किये गये स्वर्ण तथा रजत प्रमाण पत्र (gold and silver certificates) इस प्रकार की मुद्रा के सब से अच्छे उदाहरण हैं। भारत में हिल्टन यंग कमीशन ने स्वर्ण धातुमान को चलाने के लिये स्वर्ण धातु प्रमाण पत्र (gold bullion certificates) के चलाये जाने की सिफारिश की थी। इस प्रकार की मुद्रा से मुद्राप्रसार होने की सम्भावनाएं नहीं रहतीं, जनता का विश्वास अधिक होता है तथा मुद्रा प्रणाली मितव्ययी होती है। **२–परिवर्तनशील पत्र मुद्रा** (Convertible paper money) प्रतिनिधि पत्र मुद्रा का एक परिवर्तित रूप है जिसे प्रथम प्रणाली के दोषों को दूर करने के अभिप्राय से अपनाया गया। **इस प्रकार की भी पत्र–चलन-मुद्रा** (paper currency) **को एक निश्चित दर पर धातु में बदलने का सरकार आश्वासन देती है; यद्यपि ऐसी मुद्रा के पीछे कोष में १००% धातु न रखकर** (जैसा कि प्रतिनिधि पत्र मुद्रा के सम्बन्ध में होता है) **एक निश्चित प्रतिशत**–प्राय: २५% से ४०%–**मूल्य के बराबर ही धातु रक्खा जाता है।** शेष मुद्रा के पीछे प्रमाणिक प्रतिभूतियों (approved securities) को रखा जाता है। देश में साधारणतया पूर्णकाय सिक्कों (standard coins) का चलन होता है। अतः स्वाभाविक है कि इसके कारण पत्र–चलन–मुद्रा की परिवर्तनशीलता बनी रहती है। पर ऐसा भी हो सकता है कि सांकेतिक सिक्कों का ही देश में चलन हो। परिवर्तनशीलता के कारण ऐसी मुद्रा में जनता का विश्वास बना रहता है, बचे हुए धातु को अन्य कार्यों में लगाया जाता है तथा मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण बन जाती है। इंग्लैण्ड में १९१४ से पूर्व प्रतिनिधि पत्र मुद्रा का चलन था। प्रथम **महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर पौण्ड की स्वर्ण तथा** रजत में परिवर्तनशीलता समाप्त

कर दी गई तथा पूर्णकाय सिक्कों को चलन से वापस कर लिया गया और उनकी जगह सांकेतिक सिक्कों का चलन प्रारम्भ कर दिया गया। परिवर्तनशील पत्र मुद्रा के रूप में पत्र-मुद्रा चलन में आगई तथा सांकेतिक सिक्कों का चलन चलता रहा। किन्तु १९३१ में स्वर्णमान के त्याग देने पर इंगलैण्ड ने पौण्ड की परिवर्तनशीलता सदैव के लिये समाप्त कर दी। ऐसा ही फ्रांस में हुआ। १९२७ में भारत ने इसी प्रकार की पत्र-मुद्रा का चलन प्रारम्भ किया जब कि सरकार ने स्वर्ण की कीमत २१ रु० ७ आना १० पाई प्रति तोला निश्चित कर दी। सरकार ने इसी दर पर कम से कम ४० तोले सोने की परिवर्तनशीलता का आश्वासन दे दिया। १९३१ में इस आश्वासन के समाप्त होने पर इस प्रकार की मुद्रा का भी अन्त हो गया। **३–अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा** (inconvertible paper money) वर्तमान युग के पत्र–चलन–मुद्रा (paper currency) का एकमात्र रूप है जो प्रत्येक देश में पाई जाती है। **जब सरकार किसी भी प्रकार का चलन मुद्रा** (currency) **और धातु का कोई सम्बन्ध नहीं रखती अथवा नोटों और सिक्कों के बदले किसी दर पर धातु के बदलने का आश्वासन नहीं देती तो इस प्रकार की पत्र मुद्रा का चलन होता है।** इस प्रकार की पत्र-मुद्रा के पीछे केवल सरकारी प्रतिभूतियों एवं कोषागार विपत्रों का कोष रक्खा जाता है। विदेशी व्यापार की सुविधा के लिये सरकार देश की मुद्रा का विदेशी विनिमय कर निश्चित कर देती है। ऐसे नोट सदैव असीमित विधिग्राह्य होते हैं। **स्पष्ट है कि इस प्रकार की मुद्रा पर जनता का विश्वास सरकार की साख तथा स्थिरता पर निर्भर करती है।** इस प्रकार की मुद्रा का चलन मितव्ययिता, लोच एवं व्यवहारिकता पर आधारित है, यद्यपि इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा प्रसार का भय तथा प्रणाली के स्वचालित न होने की सम्भावनाएं रहती हैं। **४–प्रादिष्ट पत्र मुद्रा** (Fiat money), **अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा का ही एक रूप है जिसके पीछे किसी भी प्रकार का धातु कोष नहीं रक्खा जाता।** इस प्रकार की मुद्रा का पदार्थ के रूप में भी मूल्य नहीं होता और ऐसी किसी वस्तु में परिवर्तित करने का आश्वासन नहीं दिया जाता, जिसका कोई मूल्य हो। स्पष्ट है कि ऐसी मुद्रा का चलन सरकार के आदेश अनुसार होता है, यद्यपि इस पर जनता का विश्वास नहीं के बराबर होता है। ऐसी मुद्रा का चलन साधारणतया संकट काल में ही किया जाता है और इसीलिये कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे संकट-कालीन पत्र मुद्रा भी कहा है। जब संकट कालीन स्थिति में सरकार को एक ओर तो धातु की और दूसरी ओर अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती है, तो सरकार धात्विक सिक्कों का चलन बन्द करने के साथ-साथ मुद्रा और धातु का सम्बन्ध समाप्त कर देती है। ऐसी स्थिति में परिवर्तनशील मुद्रा अपरिवर्तनशील बन जाती है तथा पत्र-चलन–मुद्रा (paper currency) प्रादिष्ट पत्र मुद्रा कहलाने लगती है। इस प्रकार की मुद्रा के प्रमुख उदाहरण फ्रांस के नोट, एशियाई नोट, अमरीकी क्रांतिकाल में कांटीनेंटल नोट, अमरीकी गृह युद्ध काल के ग्रीन बैंक नोट इत्यादि हैं। भारतीय

पत्र-चलन-मुद्रा अथवा एक रुपये के नोट को भी इसी प्रकार की मुद्रा माना जा सकता है।

बैंक मुद्रा (Bank money) : कागजी मुद्रा का वह भाग होता है जो **बैंक नोट** तथा **साख मुद्रा** के रूप में विनिमय-माध्यम का कार्य करती हुई पाई जाती है। **बैंक नोट बैंक की ओर से जारी किए हुए एक प्रकार के प्रतिज्ञा पत्र होते हैं जिस पर लिखी हुई धनराशि (चलन मुद्रा में) उसके स्वामी को माँगने पर दिए जाने का आश्वासन होता है।** यह नोट सदैव परिवर्तनशील होते हैं, पर इनकी परिवर्तनशीलता चलन-मुद्रा (currency) में होती है जिसका सरकार वैधानिक विनिमय-माध्यम के रूप में प्रचलन करती है। प्रथम विश्व महायुद्ध के पहले इस प्रकार के नोटों की निकासी अनेक बैंक सरकारी अधिकृत पर किया करती थीं। यह नोट उन नोटों से, जो पत्र-चलन-मुद्रा (Paper Currency) के रूप में सरकार की ओर से केन्द्रीय बैंक निकालती है, भिन्न होते हैं।[1] आज कल प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक दो प्रकार के नोटों की निकासी एवं उनको नियमित करती हैं : एक तो वे नोट जो देश की चलन-मुद्रा (currency) के रूप में सरकार की ओर से प्रचलन में लाई जाती है और दूसरे वे नोट जो बैंक अपनी ओर से निकालती हैं और जिनको देश की चलन-मुद्रा (currency) में माँगे जाने पर, परिवर्तन करने का आश्वासन देती है। निःसन्देह इन नोटों को उसी प्रकार स्वीकार किया जाता है जिस प्रकार पत्र-चलन-मुद्रा (paper currency) वाले नोटों को, तथा इसीलिये व्यवहारिक जीवन में इनमें कोई भेद नहीं पाया जाता। भारतीय प्रणाली इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यहाँ की रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, जो देश की केन्द्रीय बैंक है, १ रुपये के नोट भारतीय सरकार की ओर से तथा अन्य नोट अपनी ओर से निकालती एवं उनको नियमित करती है। १ रुपये के नोट पर भारतीय सरकार के अधिकारी तथा शेष नोटों पर रिजर्व बैंक के अधिकारी के हस्ताक्षर होते हैं। रिजर्व बैंक अपने नोटों को देश की चलन-मुद्रा (Currency)—रुपया, जिसका प्रचलन सिक्कों व नोटों के रूप में होता है—में सदैव बदलने का आश्वासन देती है जिसके फलस्वरूप वे स्वयं चलन मुद्रा का रूप चलते हैं। पर इससे उनके बीच भिन्नता को मिटाया नहीं जा सकता।

साख मुद्रा बैंक मुद्रा का वह रूप है जिसका सृजन निक्षेप (Deposits) के आधार पर बैंक करती है। यह प्रायः व्यक्तिगत-ऋण की स्वीकृति होती है जिसे चलन-मुद्रा में व्यक्त किया जाता है, और जो एक दूसरे के बीच विनिमय-दायित्व (exchange liability) को सुलझाने के लिए वास्तविक मुद्रा के स्थान पर प्रयोग की जाती है। साख, (Credit) जो लैटिन शब्द 'क्रेडो' के बना है, से हमारा आशय विलम्बित अथवा स्थगित विनिमय होता है—अर्थात् ऐसा विनिमय कार्य जो कुछ

---

[1] विषय के लेखकों ने प्रायः इन दोनों प्रकार के नोटों में कोई भेद नहीं माना है जो उचित नहीं है।

समय बाद (भुगतान कर देने पर) पूरा होता है। ट्रकर के शब्दों में साख किसी बहुमूल्य वस्तु के दूसरे व्यक्ति को, इस विश्वास पर कि भविष्य में वह उसके मूल्य के बराबर बदले में मूल्य देने योग्य तथा देने को इच्छुक होगा, हस्तांतरण को कहते हैं। क्योंकि साख के अन्तर्गं भविष्य में मूल्य चुकाने की प्रतिज्ञा होती है, ऋणी द्वारा ऋणदाता को इस सम्बन्ध में दिया हुआ प्रतिज्ञा पत्र कुछ सीमा तक मुद्रा के रूप में ऋणों के भुगतान करने के लिये प्रयोग किया जाता है। यह लिखित प्रमाण 'साख पत्र' कहलाते हैं, जिनमें प्रतिज्ञा पत्र (Promissory note), चेक (Cheque), बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) विनिमय-बिल (Bill of exchange) अथवा हुंडी तथा पुस्तकीय-साख (Book Credit) सम्मिलित किये जाते हैं। जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) ने साख मुद्रा को वह क्रय-शक्ति बतलाता है जो आय से प्राप्त नहीं होती, अपितु वित्तीय संस्थाओं के द्वारा निक्षेपधारियों की बैंकों में जमा निष्क्रिय आय को सक्रिय बनाकर अथवा कुछ क्रय शक्ति में वास्तविक वृद्धि कर इसका निर्माण किया जाता है।" यह कौन नहीं जानता कि आधुनिक बैंक न केवल अपनी अंश पूँजी तथा निक्षेपधारियों की जमा राशि को ही ऋण पर देता है, पर वह इन दोनों की कुल मात्रा से भी अधिक ऋण देता है जो साख के निर्माण द्वारा संभव हो पाता है। यही अधिक मात्रा साख मुद्रा कहलाती है। (अध्याय १३ देखिये)

साखपत्र (Credit Instruments)

नोटों की तरह बैंकों के निक्षेप, उनके भुगतान चुकाने की प्रतिज्ञा होती है। अन्तर इतना होता है कि इन नोटों की प्रतिज्ञाएँ कागज के टुकड़ों पर लिखी हुई होती हैं पर निक्षेप केवल बैंकों की किताबों में जमा रहते हैं। यह निक्षेप दो प्रकार के होते हैं : मौलिक (primary) तथा गौण (derivative)। मौलिक निक्षेप बैंक में नक़द धन जमा करने से बनते हैं और जिसे चेक द्वारा कभी भी निकाला जा सकता है। गौण निक्षेपों का सृजन बैंक अपनी कार्य प्रणाली द्वारा—ऋण देकर, हिसाब से अधिक राशि निकालने की सुविधा देकर, बिलों को बट्टे पर भुनाकर अथवा ऋण पत्रों का क्रय कर—करती हैं। इस प्रकार के निक्षेपों द्वारा जो साख निर्माण होता है उसको साख मुद्रा कहते हैं, तथा जिसके द्वारा यह मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती है साख पत्र कहलाते हैं। यह साख-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं :—

प्रतिज्ञा पत्र (Promissory notes) : यह एक प्रमाण पत्र होता है जिसमें लिखी राशि को निश्चित तथा लिखे समय पर बिना किसी शर्त के देने की प्रतिज्ञा होती है। यह सब से सरल और सम्भवत: सबसे पुराना साख पत्र है, जो प्रयोग में लाया गया है।

चेक (Cheque) : यह साख पत्र का सबसे महत्व पूर्ण रूप है। यह बैंक के खातेदार (रुपया जमा करने वाले) का अपनी बैंक के लिये, उसके खाते में से आदेशानुसार अंकित रुपया मांगने पर देने का, एक लिखित आदेश होता है। चेक कई प्रकार के होते हैं :—वाहक चेक (Bearer Cheque), आदेश चेक (Order

Cheque) तथा क्रास चेक (Cross Cheque)। वाहक चेक पर अंकित किया हुआ धन किसी व्यक्ति को, जो चेक भुनाने के लिये जाता है, आदेश दिया जाता है। आदेश चेक पर अंकित धन को उसपर लिखे हुए सही व्यक्ति को देने का उत्तरदायित्व बैंक पर होता है। क्रास चेक पर लिखे हुए धन को नकद न देकर उस व्यक्ति के खाते पर जमा कर दिया जाता है, जिसके नाम आदेश होता है।

बैंक ड्राफ्ट (Bank Draft) : यह भी एक प्रकार का आदेश होता है जो एक बैंक दूसरे बैंक को, चाहे वह देश में या विदेश में, अंकित धन किसी व्यक्ति को देने को देती है। विदेशी बैंक इस प्रकार का भुगतान विदेशी मुद्रा में करती हैं।

विनिमय-बिल (Bill of Exchange) : यह ऋणदाता की ओर से ऋणी को एक लिखित पत्र होता है जिससे एक निश्चित समय पश्चात् लिखी धनराशि को किसी व्यक्ति अथवा उसके आदेशानुसार या उस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को देने की प्रतिज्ञा होती है। इसके पहले कि ऐसी प्रतिज्ञा साख-पत्र का रूप ले ऋणी से उस पर 'स्वीकृति' लिखानी पड़ती है। यह एक विख्यात साख-पत्र होता है, जिसे व्यापारिक कार्यों में, प्रायः देशीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में, प्रयोग किया जाता है। विनिमय बिलों का चलन, केवल साख की फर्मों के बीच ही होता है, जिससे उन्हें माल खरीदते समय नकदी में तुरंत भुगतान नहीं करना पड़ता। बिल की परिपक्वता की अवधि तक माल को बेचकर धन प्राप्त किया जा सकता है और फिर माल की कीमत का बिल द्वारा भुगतान किया जा सकता है। दूसरी ओर माल के विक्रेता को यदि बिल की परिपक्वता से पहले धन की आवश्यकता पड़ती है, तो वह उसे बैंक से बट्टे पर भुना लेता है। भारत में विनिमय-विपत्र (Bill of Exchange) हुंडियों के रूप में प्रयोग होते हैं। ये हुंडिया स्थानीय भाषा में लिखी जाती है और अंतर्देशीय व्यापार के वित्तीय साधनों के रूप में प्रयोग में लाई जाती हैं। हुंडी दो प्रकार की होती हैं:—
(१) दर्शनी हुंडी, जिसका भुगतान मांगे जाने पर तुरन्त किया जाता है; तथा
(२) मुद्दती हुंडी, जिसका भुगतान लिखे हुए एक निश्चित समय के बाद होता है।

पुस्तकीय-साख (Book Credit) : यह भी व्यापारिक लेन-देन में साख मुद्रा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा है। जब कोई व्यापारी उधार माल बेचता है अथवा जब कोई बैंक ऋण देता है, तो विक्रेता या ऋणदाता अपनी बही (Book) में माल की किस्म, उसकी दर, माल की मात्रा तथा विक्रय की तिथि को लिख लेता है। इसमें यह आवश्यक नहीं होता है कि ऋणी के हस्ताक्षर हों। इस प्रकार के खातों के हिसाब को वैधानिक रूप में उधार मान लिया जाता है और यथा समय उनका भुगतान किया जाता है।

आधुनिक वित्तीय आवश्यकताओं को देखते हुऐ हम कह सकते हैं कि साख मुद्रा का व्यापार एवं उद्योग में एक महत्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रयोग से बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है। यह उद्योगों की आर्थिक सहायता में साधक होता है, पूँजी की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करती है तथा भुगतानों को सुविधाजनक बना

देती है। चलन-मुद्रा की भाँति साख-मुद्रा का भी देश की आर्थिक व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। अत: किसी देश की मौद्रिक नीति का सम्बन्ध चलन-मुद्रा की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं रखना चाहिये, वरन् उसे साख-मुद्रा की व्यवस्था से भी रखना चाहिये।

अपने इस विवेचन के आधार पर हम मुद्रा का वर्गीकरण इस प्रकार देंगे :—

मुद्रा

- वास्तविक मुद्रा (Actual money)
  - धात्विक मुद्रा (Metallic money)
    - पूर्णकाय सिक्के (Standard coins)
    - सांकेतिक सिक्के (Token coins)
      - असीमित विधि ग्राह्य (Unlimited L. Tender)
      - सीमित विधि ग्राह्य Limited L. Tender)
  - पत्र मुद्रा (Paper money)
    - पत्र-चलन मुद्रा (Paper currency)
      - प्रतिनिधि-मुद्रा (Representative)
      - परिवर्त्तनशील मुद्रा (Convertible)
      - अपरिवर्त्तनशील मुद्रा (Inconvertible)
      - प्रदिष्ट मुद्रा (Fiat)
    - बैंक मुद्रा (Bank money)
      - बैंक नोट (Bank notes)
      - साख नोट (Credit money)
- हिसाब की मुद्रा (Money of account)

(यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राय: पत्र-मुद्रा का अभिप्राय पत्र-चलन-मुद्रा से होता है जिसमें सरकार एवं केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाले हुये नोटों को सम्मिलित किया जाता है, तथा बैंक मुद्रा का अभिप्राय साख-मुद्रा से होता है।)

मुद्रा के वर्गीकरण सम्बन्धी विशेष बातें :—

टंकण (Coinage)

धातु के टुकड़ों को इस प्रकार परिवर्तित करने की क्रिया को, जिससे कि उनका रंग, रूप, गुण, वजन आदि समान हो जाये तथा उस पर उसके मूल्य के साथ राज्य का अपना विशेष चिह्न हो जाये जिससे कि समाज उन्हें विनिमय माध्यम तथा मूल्य माप के लिये चुन ले, टंकण कहते हैं। आरम्भ में धातु मुद्रा का रूप बहुमूल्य धातुओं

के टुकड़ों के रूप में था। किन्तु इस प्रकार के टुकड़ों के भार तथा शुद्धता को प्रत्येक भुगतान के समय निश्चित करना पड़ता था। इससे जनता को बड़ी असुविधा होती थी। अस्तु जनता को इस कठिनाई से बचाने के लिये शासको ने अपने कोष से निश्चित भार वाले धातु के टुकड़ों, जिन पर शासक का अपना कोई निश्चित चिह्न होता था, प्रचलित किये और इन्हीं को सिक्कों की संज्ञा दी गई। ईसा से ग्यारहवीं शताब्दी पूर्व चीन में, सातवीं शताब्दी पूर्व एशिया माइनर में तथा चौथी शताब्दी पूर्व भारत में सिक्कों के प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं।

टंकण के उद्देश्य (Aims of Coinage) : एक अच्छी टंकण प्रणाली अपनाने के कई उद्देश्य होते हैं:—(१) सिक्कों को समान भार एवं समान शुद्धता का एक सदृश तैयार करना जिससे उनमें परिचयता का गुण उत्पन्न हो सके; (२) सिक्कों पर राज्य की ओर से निश्चित चिह्न अंकित करना तथा सिक्कों को टंकण द्वारा ऐसा रूप देना जिससे कि नकली सिक्कों का निर्माण न हो सके तथा उन्हें गला कर अथवा काट कर निकृष्ट न किया जा सके; तथा (३) सिक्कों के लिये धातु का एक ऐसा मिलावट तैयार करना जिससे धातु कठोर हो जाय और चलन में घिसावट द्वारा धातु का अपव्यय न हो सके। प्रारम्भ में सिक्कों का टंकण बहुत साधारण होता था, इसलिए उनका निकृष्टीकरण (Debasement) सरल था। धीरे-धीरे टंकण कला का विकास हुआ। आज इन्हें इस प्रकार ढाला जाता है जिससे कि यह पर्याप्त मात्रा में सुन्दर, सुदृढ़ एवं समरूप बन कर अपने कार्यों को पूरा करें।

मुद्रा के इतिहास में सिक्कों के टंकण की अनेक प्रणालियाँ मिलती हैं—(१) **स्वतंत्र टंकण**—(अ) निःशुल्क टंकण (Gratuitous coinage), (ब) सशुल्क टंकण (Brassage), (स) अधिशुल्क टंकण (Seigniorage), तथा (२) **सीमित टंकण**। जब टंकण सम्बन्धी विधान के द्वारा देश की जनता को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह टंकशाला पर धातु ले जाकर उसके बदले में सिक्के प्राप्त कर ले, तो उसे स्वतंत्र टंकण प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत जब किसी देश में जनता से टंकण पर आने वाला व्यय शुल्क-रूप में वसूल नहीं किया जाता तो उसे निःशुल्क टंकण (Gratuitous coinage) कहा जाता है। अमरीका तथा इंग्लैंड में प्रमाणिक सिक्कों के निर्माण हेतु इसी प्रणाली का प्रयोग किया गया था। परन्तु जब सरकार टंकण कार्य के बदले सिक्के ढलवानेवाले व्यक्ति से केवल उतना ही शुल्क लेती है जितना सिक्के के ढालने में व्यय आता है तो इसको सशुल्क टंकण (Brassage) प्रणाली कहा जाता है। और जब सरकार जनता से टंकण कार्य करने के निमित्त आने वाले व्यय से कुछ अधिक शुल्क वसूल करती है और इस प्रकार कुछ लाभ अर्जित करती है तो इसको अधिशुल्क टंकण (Seigniorage) प्रणाली कहते हैं। दूसरी ओर सीमित टंकण प्रणाली में, सिक्कों के निर्माण को दृष्टिकोण में रख कर, जनता को यह अधिकार नहीं दिया जाता कि वह टंकशाला के पास बहुमूल्य धातु को ले जाकर उसके बदले सिक्कों को प्राप्त कर सके। भारत ने १८९३ से इसी प्रणाली को अपनाया है।

सिक्कों की निकृष्टता (Debasement of Coins)

सिक्कों में बहुमूल्य धातु की मात्रा विधान के अनुसार अपेक्षित मात्रा से कम हो जाने पर सिक्कों का निकृष्टीकरण (Debasement) कहा जाता है। इसके फलस्वरूप सिक्कों का धातु-मूल्य (bullion value) अथवा वास्तविक मूल्य (Intrinsic value) कम हो जाता है। यह निकृष्टीकरण दो प्रकार से हो सकता है–वैधानिक रूप से तथा अवैध रूप से। जब किसी देश में प्रामाणिक मुद्रा का निर्यात धातु के रूप में होने लगता है तथा देश में धातु के अभाव के कारण मुद्रा की मांग को बढ़ाया जाना सम्भव नहीं होता तो सरकार सिक्को में बहुमूल्य धातु का अनुपात कम करके सिक्कों की मात्रा बढ़ा देती है। भारत में टंकण विधान १९०६ के अनुसार भारतीय रुपया १६५ ग्रेन शुद्ध चांदी एवं १५ ग्रेन मिश्रित धातु का होता था। किन्तु सन् १९४० में रुपये में सरकार ने विशुद्ध चांदी का भाग केवल आधा कर दिया। इससे भारतीय सिक्कों का निकृष्टीकरण हो गया। कभी-कभी जनता बेइमानी से विभिन्न ढंगों द्वारा सिक्कों में से धातु कम कर देती है जिससे सिक्कों का निकृष्टीकरण हो जाता है। इन ढंगों में खरोच (Clipping), अंशखीचना (Sweating) तथा उत्काचन (Abrasion) मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त कभी-कभी जब सिक्के दीर्घकाल तक चलन में रहते हैं तो उनमें घिसावट के कारण मुद्रा–ह्रास हो जाता है तो इस प्रकार भी सिक्कों का निकृष्टीकरण हो जाता है।

आधुनिक काल में अतीत की तुलना में टंकण-कला काफी प्रगति कर चुकी है, किन्तु फिर भी लोग नकली सिक्कों का निर्माण करने एवं सिक्कों के निकृष्टीकरण करने में सफल हो जाते हैं। हर युग में तथा हर देश में इस प्रकार से अवैध सिक्कों का निर्माण तथा उनका निकृष्टीकरण हुआ है, यद्यपि प्रत्येक देश में अवैध टंकण एवं निकृष्टीकरण सरकार की ओर से दण्डनीय है।

अच्छी मुद्रा के गुण (Qualities of Good Money)

मुद्रा द्वारा देश के आर्थिक जीवन के संचालन हेतु बहुत से महत्पूर्ण कार्य किये जाते हैं। इन कार्यों को करने के लिए मुद्रा में उन गुणों का समावेश होना चाहिये जिनसे कि वह अच्छी मुद्रा की श्रेणी में रक्खी जा सके। जेवेन्स (Jevons) ने अच्छी मुद्रा पदार्थ के विभिन्न गुणों की विवेचना की है, जो इस प्रकार है :–

(१) **सामान्य स्वीकृति** (General acceptability) : अच्छे मुद्रा पदार्थ के लिए आवश्यक है कि वस्तु में सर्वमान्य स्वीकृति का गुण हो। यदि कोई वस्तु ऐसी है जिसकी उपयोगिता मुद्रा के अतिरिक्त दूसरे कार्यों के लिए भी बहुत है उसको सभी व्यक्ति सहर्ष स्वीकार कर लेंगे। लोग वस्तु को उसी दशा में स्वीकार करते हैं, जब कि वे यह जानते हैं कि अन्य व्यक्ति भी उसे बिना संकोच स्वीकार कर लेंगे। अथवा जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि वस्तु विशेष के अन्य लाभदायक उपयोग हो

सकते हैं। इस दृष्टिकोण से सोना और चांदी अच्छे मुद्रा पदार्थ हैं, क्योंकि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति लेने को तैयार रहता है।

(२) **परिचयता** (Cognisibility) : मुद्रा इस प्रकार की होनी चाहिये जिसे प्रत्येक व्यक्ति आसानी से पहचान सके, अन्यथा उसकी वास्तविकता को सिद्ध करने के लिए समय और शक्ति को नष्ट करना पड़ेगा जिसके कारण व्यापार और वाणिज्य तथा देश की आर्थिक प्रगति में बाधा पड़ेगी। वर्तमान युग में सभी सिक्कों और सभी प्रकार की पत्र मुद्रा में इस गुण को बनाये रखने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(३) **वहनीयता** (Portability) : एक अच्छे मुद्रा पदार्थ में वहनीयता का भी गुण होना चाहिये जिससे वह सहज ही एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना किसी कठिनाई के ले जाई जा सके। इसके लिए वस्तु में दो गुणों का होना आवश्यक है—प्रथम थोड़े बोझ में अधिक मूल्य का होना और दूसरे टिकाऊपन का होना। लोहा, पत्थर तथा लकड़ी के रूप में यदि पूर्ण-कार्य मुद्रा का निर्माण किया जाय तो उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए काफी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। इस दृष्टि से कागज अच्छा पदार्थ सिद्ध हुआ है।

(४) **विभाज्यता** (Divisibility) : वस्तु विनिमय की एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि कुछ वस्तुओं को टुकड़ों में बांटने से उनकी कीमत में भारी कमी आ जाती है। मुद्रा पदार्थ इस प्रकार का होना चाहिये कि उसके अनेक टुकड़े कर देने पर भी पदार्थ की कुछ हानि न हो। इस दृष्टि से पशुओं अथवा हीरा आदि को टुकड़ों में विभाजित कर दिया जाता है तो छोटे टुकड़ों का संयुक्त मूल्य पूर्व से काफी कम हो जाता है। इसके विपरीत सोना, चांदी, ताँबा, गिलट जैसी धातुओं में विभाज्यता का गुण विद्यमान होता है और इसलिए उन्हें अच्छे मुद्रा पदार्थ की श्रेणी में रक्खा जा सकता है।

(५) **टिकाऊपन** (Durability) : एक अच्छे मुद्रा पदार्थ में टिकाऊपन का भी गुण होना आवश्यक है, क्योंकि मुद्रा मूल्य के संचय का भी कार्य करती है। प्राचीन काल की वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत इसी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। स्वर्ण तथा चांदी में अन्य गुणों के अतिरिक्त यह गुण भी विद्यमान होता है जो दूसरी वस्तुओं में नहीं पाया जाता।

(६) **मूल्य में स्थिरता** (Stability): मुद्रा के मूल्य में स्थिरता लाने के लिए यह आवश्यक है कि मुद्रा पदार्थ में भी स्थिरता हो। मूल्य के मापन, उसके संचय तथा स्थगित भुगतानों के आधार के रूप में मुद्रा कार्य करती है और ये कार्य तभी सफलतापूर्वक संचालित हो सकते हैं जब कि मुद्रा पदार्थ के रूप में स्वयं स्थिरता हो। अनेक देशों का मुद्रा इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मुद्रा पदार्थ के मूल्यों में परिवर्तनों के कारण ही लोग मुद्रा को गलाना, संचित करना अथवा निर्यात करना

प्रारम्भ कर देते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से चांदी और सोना दो ही ऐसे पदार्थ हैं जिनका मूल्य अन्य वस्तुओं से अधिक स्थिर रहता है।

(७) **एकरूपता** (Homogenity) : अच्छे मुद्रा पदार्थ के लिए यह आवश्यक है कि उसकी सभी इकाइयाँ एकरूप हों तथा उनके मूल्य समान हों। ऐसा न होने से उनके मूल्य में अन्तर होगा और वे मुद्रा के रूप में भलीभांति कार्य करने में असमर्थ रहेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुमूल्य धातुओं की एकरूपता के ही कारण जाली सिक्कों को प्रचलन से अलग किया जा सकता है।

इन अनेक गुणों को ध्यान में रख कर यह कह सकना कठिन है कि कौन सा मुद्रा पदार्थ उपर्युक्त गुणों से युक्त है। स्वर्ण तथा रजत दोनों ही उपयोगी मूल्यवान पदार्थ हैं : एकरूपता, परिचयता तथा अक्षयशीलता दोनों में ही लगभग बराबर होती है, परन्तु स्वर्ण में रजत से वहनीयता का गुण अधिक होता है और रजत में स्वर्ण से अधिक विभाजकता का गुण होता है। मूल्य में स्थिरता दोनों में लगभग बराबर ही है। आधुनिक काल में कागज की मुद्रा का प्रचार बढ़ रहा है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें सर्वश्रेष्ठ मुद्रा पदार्थ के सभी गुण विद्यमान हैं। अतः यह स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया जा सकता कि मुद्रा के लिए सबसे अच्छा पदार्थ कौन सा है। यह समय, स्थान और आवश्यकता के अनुसार सदैव बदलता रहा है और भविष्य में भी बदलता रहेगा।

ग्रेशम का नियम (Gresham's Law)

अच्छी एवं हीन मुद्रा के सम्बन्ध में मुद्राशास्त्र में एक नियम है जो 'ग्रेशम के नियम' के नाम से विख्यात है। इग्लैंड की महारानी एलिजाबेथ (प्रथम) के पिता हेनरी अष्ठम के समय से ही देश की चलन-मुद्रा (करेन्सी) निकृष्ट (debase) हो गई थी। महारानी के शासनकाल (१५५८-१६०३) में अंग्रेजी मुद्रा निकृष्ट सिक्कों के कारण बड़ी अस्त-व्यस्त अवस्था में थी। ऐलिज़ाबेथ निकृष्ट सिक्कों के स्थान पर अच्छी मुद्रा (पूर्णकाय सिक्कों) को चलन में लाना चाहती थीं और उसने इसी अभिप्राय से नवीन सिक्के ढलवाकर प्रचलन में करवा दिए। उनका विचार था कि लोग नये सिक्कों को विनिमय-माध्यम के रूप में रखकर पुराने सिक्कों को हटा लेंगे। पर हुआ ठीक इसके विपरीत। महारानी ने इसके लिए कई बार प्रयास किया, पर जब भी नये सिक्के चलन में दिए जाते थे पुराने सिक्कों के स्थान पर नये सिक्के ही चलन से बाहर हो जाते थे। इस परिस्थिति पर खेद तथा विस्मय के साथ महारानी ने टामस ग्रेशम के सामने इस समस्या को सुलझाने के लिए रक्खा। टामस ग्रेशम, जो महारानी के आर्थिक सलाहकार थे, को इस बात की जांच करने के लिए नियुक्त किया गया कि क्यों अच्छी मुद्रा चलन से बाहर हो जाती है। सर टामस ने सहज ही अपने विचारों को यह बता कर स्पष्ट कर दिया कि "हीन मुद्रा उत्तम मुद्रा को प्रचलन से

बाहर कर देती है"[1]। मारशल के अनुसार "ग्रेशम का नियम यह है कि एक हीन मुद्रा, यदि परिमाण में सीमित नही है तो, उत्तम मुद्रा को प्रचलन से निकाल देगी।"[2] यहाँ पर 'उत्तम' और 'हीन' शब्दों का प्रयोग सापेक्षिक है। मुद्रा की वह इकाई (अथवा वह माध्यम) जो दूसरी इकाई (अथवा स्वरूप) से भार, शुद्धता तथा परिवर्तनशीलता में अच्छी है, उत्तम मुद्रा कहलायगी। उत्तम मुद्रा और हीन मुद्रा के साथ-साथ प्रचलन होने पर उत्तम मुद्रा का लोग संचय कर (भविष्य के लिए) या लाभ की भावना से गलाकर (धातु के सिक्कों को) या विदेशी भुगतानों में देकर उसका प्रचलन बन्द कर देते हैं :—

नियम के लागू होने की दशायें : ग्रेशम का नियम निम्नलिखित स्थितियों पर लागू होता है :

(क) जब पूर्णकाय (standard) सिक्कों तथा घिसे अथवा निकृष्ट सिक्कों का एक साथ प्रचलन होता है;

(ख) जब पूर्णकाय सिक्कों तथा पत्र-चलन-मुद्रा (paper currency) का एक साथ प्रचलन होता है;

(ग) जब विभिन्न धातुओं के बने हुए प्रमाणिक सिक्कों का, जिनका एक अनुपात में प्रतिनिधित्व होता हो, प्रचलन एक साथ होता है।

पहली स्थिति के अन्तर्गत देश में एक ही धातु के बने प्रमाणिक सिक्कों का, जिनमें विभिन्न वास्तविक-मूल्यों के एक ही अङ्कित मूल्य पर चलने वाले सिक्के होते हैं, प्रचलन होता है। ऐसी दशा में कुछ सिक्के अवमूल्यित (under-valued) तथा कुछ अधिमूल्यित (over-valued) हो जाते है। स्वाभाविक है कि लोग अधिमूल्यित मुद्रा का या तो भविष्य में प्रयोग किये जाने के अभिप्राय से संग्रह करने लगेंगे, या लाभ उठाने के अभिप्राय से गलाने अथवा निर्यात करने लगेंगे। ऐसी ही प्रवृत्तियाँ उस समय भी हो जाती हैं जब किसी देश में पूर्णकाय सिक्कों तथा पत्र-चलन-मुद्रा (paper currency) का प्रचलन एक साथ होता है और चलन-मुद्रा एवं धातु के बीच वैधानिक एवं वास्तविक अनुपात में भिन्नता आ जाती है। उदाहरणार्थ, यदि इंगलैण्ड की मुद्रा (जो धात्विक तथा कागजी दोनों हो) का स्वर्ण में मूल्य १ औंस के बराबर निर्धारित कर दिया जाता है; पर £ के सिक्के का वास्तविक मूल्य १.४ औंस रहता है, तो £ का धात्विक सिक्का अधिमूल्यित हो जायेगा तथा वह प्रचलन के बाहर होकर केवल कागजी मुद्रा को प्रचलन में रहने देगा। इन सिक्कों को गलाकर या विदेशी भुगतानों में देकर प्रति सिक्का .४ औंस का लाभ उठाया जायगा। जब एक से अधिक धातु के बने हुए प्रमाणिक सिक्कों का प्रचलन होता है, तो इस नियम के लागू होने की सम्भावनायें और भी बढ़ जाती हैं। यदि इन धातुओं की पूर्ति में परिवर्तन समान अनुपात में नहीं होते तो उनके

1. 'Bad money drives good money out of circulation'.
Marshall A—Money Currency & Credit—p. 154.

अनुपातिक मूल्य में परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसी दशा में किसी भी समय उनके बीच बाजारू कीमत का अनुपात टक्साली कीमत के अनुपात से भिन्न हो सकता है। परिणामस्वरूप एक धातु के सिक्कों का अवमूल्यन और दूसरे धातु के सिक्कों का अतिमूल्यन हो जायगा तथा अवमूल्यित मुद्रा अतिमूल्यित मुद्रा को प्रचलन से बाहर निकाल देगी। इसको भी एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिये किसी देश में सोने और चाँदी के सिक्के, जिनके बीच टक्साली अनुपात १ : २० है, चल रहे हैं। किसी समय बाजार में चाँदी की पूर्ति सोने से अधिक हो जाने पर दोनों का मूल्य असमान रूप से इस प्रकार गिर जाता है कि बाजार में दोनों के बीच अनुपात १ : २१ हो जाता है। ऐसी दशा में लोग सोने के सिक्कों को गलाकर चाँदी में बदलने की चेष्टा करेंगे और इस प्रकार सोने के सिक्कों का चलन बन्द हो जायगा।

नियम की सीमायें :—इसमें सन्देह नहीं कि ग्रेशम का यह नियम सार्वभौमिक है, परन्तु यह कुछ विशेष परिस्थितियों में ही लागू होता है : (क) यदि देश में मुद्रा की कुल पूर्ति (सभी प्रकार की मुद्राओं को मिलाकर) माँग की अपेक्षा कम है, तो यह नियम लागू न होगा। किसी भी समय एक देश में वाणिज्य तथा व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मुद्रा की न्यूनतम मात्रा का होना आवश्यक होता है। यदि देश में उत्तम तथा हीन मुद्राओं की पूर्ति माँग की तुलना में कम है तो यह नियम लागू न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में अच्छी मुद्रा का प्रचलन में रहना आवश्यक हो जायगा। (ख) इसके अतिरिक्त यदि जनता स्वयं हीन मुद्रा को विनिमय माध्यम के रूप में स्वीकार करना बन्द कर दे तो अच्छी मुद्रा प्रचलन के बाहर न होगी और उसी को ही विनिमय-माध्यम के रूप में कार्य करना पड़ेगा। अमेरिका में जब अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा चालू की गई तो कैलीफोर्नियाँ के निवासियों ने उसको विनिमय माध्यम के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया, जिसके फलस्वरूप वहां सिक्कों का ही प्रचलन होता रहा, यद्यपि उसको बाद में वहाँ उन सिक्कों को निकृष्ट कर दिया गया।

वर्तमान युग में सभी देशों में अपरिवर्तनशील चलन-मुद्रा (Inconvertible currency) का प्रचलन है, जिसका स्थायित्व सरकारों पर विश्वास के कारण हैं। अतः ग्रेशम के नियम लागू होने की दशायें अब नहीं के बराबर हैं।

निर्देश पुस्तकें

G. Crowther—An Outline of Money. Ch. I

G. N Halm–Monetary Theory. Ch. I.

W.A.L. Coulbourn—An Introduction to Money. Ch. I, II, III

Steiner & Shapiro—Money and Banking. Ch. I.

D. H. Robertson—Money. Ch. I

अध्याय ३

मुद्रा का मूल्य एवं उसका मापन

मौद्रिक एवं अधिकोषण सम्बन्धी विचारों में से 'मुद्रा के मूल्य' का विचार सबसे महत्वपूर्ण है। इसका महत्व इसलिए और भी अधिक है, क्योंकि इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मत पढ़ने को मिलते हैं। उदाहरणार्थ कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा के मूल्य का अर्थ विदेशी विनिमय दर से, कुछ ब्याज की दर से तथा कुछ मुद्रा की स्वर्ण अथवा रजत क्रय करने की शक्ति से लगाते हैं। वास्तव में मुद्रा एक वस्तु है, और अनेक वस्तुओं की भांति उसका भी मूल्य होता है, पर जब कि सभी प्रकार की वस्तुओं के दो मूल्य होते हैं—(i) उपयोग का मूल्य तथा (ii) विनिमय मूल्य—मुद्रा का केवल विनिमय-मूल्य होता है। प्रत्येक वस्तु का उत्पादन आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिये ही किया जाता है, अतः उनकी आवश्यकता संतुष्टि करने की शक्ति—उपयोगिता—उस वस्तु का उपयोग मूल्य कहलाएगी। पर उनके बदले में मिलने वाली अन्य वस्तुओं की विभिन्न मात्राएं उनका विनिमय मूल्य होंगी। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु से प्राप्त हो सकने वाली उपयोगिता उस वस्तु का उपयोग-मूल्य तथा जितने त्याग से उस वस्तु को पाया जाता है उस वस्तु का विनिमय-मूल्य कहलायेंगी। मुद्रा का केवल विनिमय-मूल्य होता है, क्योंकि मुद्रा को कोई भी इसलिए नहीं चाहता कि उसमें वास्तविक (intrinsic) मूल्य है, पर इसलिए कि उसके द्वारा वस्तुएं एवं सेवाएं प्राप्त की जा सकती हैं। हैम (Halm) ने ठीक ही लिखा है कि "यदि विनिमय का माध्यम एक उपयोग की जाने वाली अथवा उत्पादक वस्तु है तो इसका उपयोग मूल्य (उपयोगिता) होगा, किन्तु जब उसका प्रयोग मुद्रा के रूप में किया जाता हैं उस वस्तु का यह गुण समाप्त हो जाता है अथवा, कम से कम उस काल में अर्थहीन रहता है, क्योंकि मुद्रा के रूप में यह मानवीय आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट नहीं करती।"[1] अतः **मुद्रा के मूल्य से हमारा तात्पर्य मुद्रा के विनिमय-मूल्य से होता है।**

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, किसी वस्तु के विनिमय-मूल्य (exchange value) से हमारा अभिप्राय विभिन्न वस्तुओं की उन अनेक मात्राओं

1 "If the medium of exchange is a commodity (a consumer's or a producer's goods) it does of course have value in use. But it looses this quality or, atleast, the quality is not relevent for the time during which it is used as money. For as money, it does not directly satisfy human wants."—Halm, Monetary Theory, p. 14.

से होता है जो उस अमुक वस्तु के बदले में पाई जा सकती हैं। इसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी अनेक वस्तुओं की उन मात्राओं में स्पष्ट किया जा सकता है जिनको उसके बदले में पाया जा सकता है। साधारणतया वस्तुओं के मूल्यों (values) को मुद्रा में स्पष्ट किया जाता है, जो कीमत (price) के नाम से जाना जाता है। पर मुद्रा का मूल्य मुद्रा में नहीं स्पष्ट किया जा सकता। इसके मूल्य से हमारा अभिप्राय **मुद्रा की क्रय शक्ति (purchasing power), अर्थात् मुद्रा की इकाई की वह क्षमता जिसके द्वारा वह विनिमय क्षेत्र में वस्तुओं एवं सेवाओं की एक निश्चित मात्रा पर अधिकार प्राप्त कर लेती है,** से होता है। उदाहरणार्थ यदि दो किलो गेहूं की कीमत एक रुपया है, तो इसका अर्थ यह होगा कि दो किलो गेहूं की कीमत एक रुपया अथवा एक किलो गेहूं का मूल्य पचास नये पैसे है। परन्तु इसी सम्बन्ध में मुद्रा की एक इकाई का अधिकार दो किलो गेहूं पर है। अथवा मुद्रा की एक इकाई की क्रय शक्ति (purchasing power) गेहूं के दो किलो के बराबर है। कीमतों और मुद्रा की क्रय शक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध होता है तथा एक दूसरे के साथ घटते-बढ़ते हैं। यदि दो किलो गेहूं की कीमत एक रुपये से बढ़कर दो रुपया अथवा एक किलो गेहूं की कीमत एक रुपया हो जाय तो इसको कीमत का बढ़ना कहेंगे। पर दूसरी ओर मुद्रा का मूल्य दो किलो गेहूं से कम होकर १ किलो हो जायगा। **अत: कीमतों के बढ़ने के साथ मुद्रा का मूल्य घटता है और कीमतों के घटने के साथ मुद्रा का मूल्य बढ़ता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य एवं कीमतों का घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, यद्यपि यह सम्बन्ध विपरीत दिशा में होता है।**

मुद्रा का यह मूल्य किसी एक वस्तु के सम्बन्ध में स्पष्ट किया गया है। नि:सन्देह मुद्रा के उतने ही मूल्य होंगे जितनी वस्तुओं से उसका विनिमय हो सकता है। विनिमय-माध्यम के रूप में कार्य करने के कारण मुद्रा के असंख्य मूल्य होंगे, जिससे सही मूल्य का पता चलना कठिन हो जायगा। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुद्रा के 'सामान्य मूल्य' (general value) का विचार प्रस्तुत किया गया है, जिसका अर्थ मुद्रा की 'सामान्य क्रय शक्ति' (general purchasing power) से होता है—मुद्रा का सामान्य वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार। पर कुछ अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के 'सामान्य-मूल्य' (general value) के विचार की कड़ी आलोचना की है। उनके विचार से व्यवहारिक जीवन में, किसी एक समय प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं और सेवाओं के केवल एक संग्रह (assessment) से ही सम्बन्धित होता है और उसके लिये मुद्रा का मूल्य उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं के सम्बन्ध में स्पष्ट होना चाहिये। हेक (Hayek) के अनुसार "जब हम कीमतों पर मुद्रा के अनेक प्रभावों का, बिना इस बात को ध्यान में रक्खे हुये कि उनका प्रभाव कीमत स्तर पर क्या पड़ता है, पता लगाते हैं तब हमें शीघ्र ही पता चल जाता है कि मुद्रा के 'सामान्य मूल्य' की अभिव्यंजना—जो सामान्य कीमत स्तर के विपरीत दिशा में समझी जाती है—

कितनी अव्यवहारिक तथा अनावश्यक है।"[1] कीन्स (Keynes) ने भी लिखा है कि, किसी संदर्भ में मुद्रा की क्रय शक्ति उन अनेक वस्तुओं और सेवाओं पर निर्भर करती है जिसको मुद्रा की एक इकाई विनिमय में पा सकती है। अत: किसी भी क्षण एक व्यक्ति का सम्बन्ध वस्तुओं और सेवाओं के एक संग्रह से होता है जो उसके लिये उपयोगी हैं और उस व्यक्ति के लिये मुद्रा के मूल्य को इन्हीं वस्तुओं और सेवाओं के संदर्भ में समझना चाहिये।"[2] इस विवाद से बचने के लिये ही क्राउथर(Crowther) ने मुद्रा के मूल्य के मापन के लिये तीन मान बतलाये हैं :—(अ) वस्तुओं और सेवाओं के थोक कीमतों (wholesale prices) के सम्बन्ध में मूल्य, (ब) वस्तुओं और सेवाओं की फुटकर कीमतों (retail prices) के सम्बन्ध में मूल्य, तथा (स) श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी की दरों (rates of wages) के सम्बन्ध में मूल्य। फिर भी इन मानों (standards) की विभिन्नताओं के कारण मुद्रा के सामान्य मूल्य की कठिनाई पूरी तरह दूर नहीं की जा सकती। पर इसके साथ मुद्रा के सामान्य-मूल्य के विचार के महत्व को भुलाया भी नहीं जा सकता। कीमतों में परिवर्तन **व्यक्तिगत प्रभाव** (particular influences) तथा **सामान्य प्रभाव** (general influences) के कारण होते हैं। व्यक्तिगत प्रभाव वस्तु विशेष की मांग तथा पूर्ति से, तथा सामान्य प्रभाव राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक एवं आर्थिक कारणों से सम्बन्धित होते हैं। मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में हमारा अभिप्राय सामान्य प्रभावों से होता है। यदि अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के परिवर्तनों के संदर्भ में मुद्रा के मूल्य का अध्ययन किया जाय तो मुद्रा के मूल्य के 'सामान्य परिवर्तनों' (general changes) का पता लग जायेगा। यह कौन नहीं जानता कि पिछले दस वर्षों में भारतीय रुपये का सामान्य मूल्य नीचे गिरा है। अत: **हमारा अभिप्राय मुद्रा के 'सामान्य मूल्य' से ही होता है यद्यपि इसको विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत करने की आवश्यकता पड़ती है।**

नि: सन्देह मूल्य का विचार सामान्य कीमतों के विचार से अलग नहीं किया जा सकता। यदि कीमतें बढ़ती हैं तो उसका अभिप्राय मुद्रा के मूल्य के गिरने से, और यदि कीमतें घटती हैं तो मुद्रा के मूल्य बढ़ने से होता है। यहां पर यह बतला

---

1 "When we investigate into all influences of money on individual prices, quite irrespective of whether they are or are not accompanied by a change of the price level, it is long before we begin to realise the superfluity of the concept of the general value of money conceived as the reverse of general price level."
—Hayek, Price & Production, p. 29.

2 "Since the purchasing power of money in a given context depends on the quantity of goods and services which a unit of money will purchase it, follows that it can be measures by the price of a composite commodity made up of the various individual goods and services in proportion corresponding to their importance as objects of expenditure."—Keynes, A Treatise on Money Vol. I p. 15.

देना आवश्यक है कि यह कहना कि 'मूल्यों में सामान्य वृद्धि हो रही है', जिसका यह अर्थ होगा कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो रही है, त्रुटिपूर्ण होता है। मूल्य का विचार 'सापेक्षिक' (relative) है, जिसका यह अर्थ होता है कि एक वस्तु की एक मात्रा दूसरी वस्तुओं की अनेक मात्राओं के बराबर है। अतः यदि एक वस्तु का मूल्य बढ़ता है, तो दूसरी वस्तु (सापेक्षिक) का मूल्य घटेगा। यदि वस्तुओं के एक संग्रह का मूल्य मुद्रा में गिरता है (कीमतें गिरती हैं) तो इसका अर्थ यह होगा कि मुद्रा का उन वस्तुओं के सम्बन्ध में मूल्य बढ़ गया है। अतएव मुद्रा के मूल्य शब्द का प्रयोग साधारण रूप में न करके बड़ी सावधानी से करना चाहिये।

मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन (Changs in the vlaue of money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ बतलाने के पश्चात् इसके मापन की कठिनाई सामने आती है। रुपये का थोक मूल्य क्या है? अथवा रुपये का फुटकर मूल्य क्या है? किसी एक वस्तु के सम्बन्ध में तो इसका उत्तर दिया जा सकता है, परन्तु मुद्रा के मूल्य का मान एक वस्तु से नहीं होता और अनेक वस्तुओं के सम्बन्ब में मुद्रा के मूल्य को बतलाना असम्भव है। वास्तव में मुद्रा के सामान्य मूल्य का प्रत्यक्ष मापन (measurement) नहीं हो सकता। **साथ ही हमारा अभिप्राय भी मुद्रा के मूल्यों में परिवर्त्तनों; जो विभिन्न रुपयों के बीच होते हैं; के ही जानने का होता है।** सैद्धांतिक रूप से किसी एक वस्तु जैसे स्वर्ण के मूल्य का कोई महत्व नहीं होता क्योंकि कोई भी इस बात को जानने की इच्छा नहीं रखता कि उस वस्तु की कीमतें अधिक हैं या कम, परन्तु वह यह जानने की इच्छा अवश्य रखता है कि कीमतों के साधारण स्तर पर उतार और चढ़ाव किस प्रकार के हो रहे हैं। सैद्धांतिक रूप से इसका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा यदि सभी कीमतें एक साथ ही बढ़ती या घटती हैं। तब उससे किसी को एक दूसरे से अधिक हानि न होगी। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। **अतएव हमारा अभिप्राय मुद्रा के मूल्य को जानने का नहीं वरन् उसके परिवर्तनों के जानने का होता है। ऐसा इसलिए होता है कि मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन समाज के उत्पादन, रोजगार एवं आय के वितरण पर प्रभाव (अच्छे व बुरे) डालते हैं।** अतएव मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों की माप की विधियों का अध्ययन करने के पहले, मूल्य परिवर्तनों के प्रभावों का ज्ञान करना आवश्यक है।

मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तनों का प्रभाव (Effects of changes in the value of money) :

आधुनिक युग में कल्याणवादी अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के विकास होने का प्रभाव आर्थिक और मौद्रिक नीतियों के लक्ष्यों पर भी हुआ है। आज के सभी आर्थिक नीतियों का लक्ष्य अधिकाधिक उत्पादन, रोजगार एवं आय का समान वितरण होता है। अत मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तनों के प्रभावों का अध्ययय इन्हीं लक्ष्यों के संदर्भ में करना उचित होगा।

१. मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तनों का उत्पादन एवं रोजगार पर प्रभाव (Effects of change in the value of money on production employment) :

आधुनिक उत्पादन प्रणाली जटिल श्रम विभाजन और तकनीकी पद्धति पर आधारित है, जिसके फलस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन और उनके उपयोग किये जाने के मध्य काफी समय लग जाता है। जब कोई उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ करता है, तो वह पहले से ही भविष्य की मांगों को ध्यान में रखकर उत्पादन के अनेक साधनों पर अपनी पूँजी इस आशा से लगाता है कि भविष्य में वह लाभ अर्जित कर सके। **उत्पादन क्रिया के समय मुद्रा का मूल्य** (value of money) **गिरने पर (कीमतें बढ़ने पर)** उसकी उत्पादन लागत और मिलने वाली कीमत के बीच आधिक्य (surplus) बढ़ जाता है, जिससे उसके लाभ की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। बढ़ते हुए लाभ की सम्भावनायें उत्पादकों को उस वस्तु के उत्पादन के बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करेंगी। इससे **समाज का कुल उत्पादन बढ़ेगा जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होगी**। पर दूसरी ओर **यदि मुद्रा का मूल्य बढ़ता है (कीमतें गिरती हैं) तो** उत्पादकों की लाभ की सम्भावनायें कम हो जायेंगी। **प्रत्येक उत्पादक अपने उत्पादन मात्रा को कम करने का प्रयत्न करेगा**। इस प्रवृत्ति से समाज का उत्पादन घटेगा **और राष्ट्रीय आय कम होने लगेगी**। वास्तव में उत्पादन के बढ़ाने या घटाने की प्रवृत्तियाँ कीमतों के परिवर्तनों के बाद ही अपनाई जायेगी। व्यवहारिक जीवन में उत्पादक अपने उत्पादन में कीमतों के परिवर्तनों की सम्भावनाओं पर ही उत्पादन मात्रा में परिवर्तन लाने का प्रयत्न करने लगेंगे। कभी कभी तो कीमतों के परिवर्तनों के कारण जब ये प्रवृत्तियाँ काफी बढ़ जाती हैं तो आर्थिक व्यवस्था पर सट्टे (speculation) का प्रभाव पढ़ने लगता है जिसके कारण रोजगार को क्षति पहुंचती है।

रोजगार (employment) की दशाओं पर भी मुद्रा के मूल्यों के परिवर्तनों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। **मुद्रा के मूल्य में कमी (कीमतों की वृद्धि)** उत्पादन क्रिया को प्रोत्साहित करती है **जिसके फलस्वरूप रोजगार की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं**। इसके विपरीत अर्थात् **मुद्रा के मूल्यों में प्रत्येक वृद्धि (कीमतों की कमी)** उत्पादन क्रिया की प्रवृत्तियों को रोकती हैं **जिसके फलस्वरूप रोजगार की सम्भावनायें कम हो जाती हैं।**

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मूल्यों के परिवर्तनों का सदैव ही ऐसा प्रभाव उत्पादन और रोजगार पर नहीं पड़ता। आर्थिक जीवन को प्रभावित करने वाली बहुत सी मान्यतायें होती हैं जिनके कारण कभी २ परिणाम सही नहीं निकलते।

२. **मुद्रा के परिवर्तनों का आय के वितरण पर प्रभाव** (Effects of changes in the value of money on distribution of income) :—

कीमतों के परिवर्तनों का प्रभाव उत्पादन और रोजगार के ही क्षेत्रों तक सीमित नहीं रहता। इसका प्रभाव राष्ट्रीय आय के पुन: वितरण पर भी पड़ता है जिससे मौद्रिक आय जनता के एक वर्ग से दूसरे वर्ग को चली जाती है। इन प्रभावों के अध्ययन करने के लिए हम समाज को पाँच वर्गों में विभक्त करेंगे : (अ) उत्पादक वर्ग (ब) विनियोगी वर्ग (स) वेतन भोगी वर्ग (द) उपभोक्ता वर्ग (क) ऋणी व ऋणदाता वर्ग। यह वर्गीकरण सदैव सही नहीं होता। ऐसा हो सकता है कि एक ही व्यक्ति अनेक वर्गों में आ जाए (जैसे कोई व्यक्ति उत्पादक होने के साथ साथ विनियोग कर्त्ता अथवा उपभोक्ता हो)। अत: समाज को केवल अध्ययन हेतु अनेक वर्गों में बांटा गया है।

(अ) **उत्पादक वर्ग** (Producer's class) : इस श्रेणी में कृषक (Agriculturists,), उद्योगपति (Industrialists), व्यापारी (Businessmen) आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। कीमतों की वृद्धि होते ही इस वर्ग को लाभ होने लगता है। कीमतों के बढ़ने पर उत्पादित माल, जिसकी उत्पादन-लागत कीमतों के स्तर की तुलना में कम होती है, शीघ्र ही बिक जाता है। उत्पादन क्रिया में कुछ समय लगता है और इसके पहले कीमतों के बढ़ने के कारण उत्पादन-लागत भी बढ़े, इस वर्ग का लाभ बढ़ जाता है। व्यापारी भविष्य की सम्भावनाओं पर माल पहले से ही खरीदता है। कीमतों के बढ़ जाने से उसका लाभ बढ़ जाता है। **अत: मुद्रा मूल्य में ह्रास उत्पादक वर्ग के लिये वरदान सा बन जाता है, पर विपरीत दिशा में इस वर्ग को हानि होती है।**

(ब) **विनियोगी वर्ग** (Investor's class) : इस वर्ग के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो अपनी पूंजी को उद्योग और व्यवसाय में दीर्घकाल (Long period) के लिए लगाते हैं। इसमें से कुछ लोगों की आय उनके विनियोगों से निश्चित होती है तथा कुछ लोगों की आय कीमतों में परिवर्तनों द्वारा प्रभावित होती है। **निश्चित विनियोग कर्त्ताओं को कीमतों के बढ़ने पर हानि होती है।** कारण यह है कि इनकी मौद्रिक आय सदा निश्चित रहती है। इस वर्ग में ऋणपत्रधारी (Debenture-Holders) तथा बॉड्स आदि के क्रेताओं को सम्मिलित किया जाता है। **परिवर्तनीय आय वाले विनियोग कर्त्ताओं की श्रेणी में** अंशधारियों को सम्मिलित किया जाता है। **कीमतों के बढ़ने पर** कम्पनियों के लाभ कीमतों के अनुपात में अधिक तेजी से बढ़ते हैं जिसके फलस्वरूप इस वर्ग की **मौद्रिक आय बढ़ती है यद्यपि उसकी क्रयशक्ति गिर जाती है।** कीमतों के गिरने पर दशा इसके विपरीत होगी।

(स) **वेतनभोगी वर्ग** (Salaried class) : इस वर्ग के अन्तर्गत वे सभी लोग सम्मिलित किये जा सकते हैं जो अपने श्रम, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, का विक्रय कर जीविकोपार्जन (earn living) करते हैं। साधारणतया मजदूरी

और वेतन में, कीमत स्तर की अपेक्षा, मन्दगति से ऊपर उठने की प्रवृत्ति होती है। कीमतों के बढ़ने पर मजदूरी में तो कुछ वृद्धि होती है (जिससे श्रमिकों को कुछ लाभ होता है) पर मुद्रा की क्रयशक्ति अपेक्षाकृत कम हो जाने के कारण वास्तविक मजदूरी कम रह जाती है। **कीमतों के बढ़ने के कारण इस वर्ग का,** जिसको 'समाज की रीढ़' माना जाता है, **जीवन स्तर गिरने लगता है। कीमतों के घटने (मुद्रा के मूल्य बढ़ने) पर यह वर्ग प्रसन्न होता है।**

(द) **उपभोक्ता वर्ग** (Consumer's class) : वैसे तो समाज का प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है और यदि उनकी आय पर ध्यान न दिया जाय तो कीमतों के बढ़ने का प्रत्येक व्यक्ति पर बुरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है। परन्तु **जो उपभोक्ता परिवर्तनीय आय वाले विनियोग कर्त्ता अथवा उत्पादन वर्ग में सम्मिलित किये जा सकते हैं वे प्राय: कीमतों के बढ़ने पर सुखी देखे जाते हैं। इसके विपरीत वेतन भोगी तथा निश्चित आय वाले वर्ग को काफी कष्ट रहता है** क्योंकि कीमतों के बढ़ने के कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है और ये लोग पहले की तुलना में कम वस्तुयें क्रय कर पाते हैं।

(क) **ऋणी और ऋणदाता वर्ग** (Creditors & Debtors class) : कीमतों के परिवर्तनों का ऋणी और ऋणदाता दोनों ही वर्गों पर प्रभाव पड़ता है। कीमतों के बढ़ने पर मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है परन्तु ब्याज की दर यथास्थिर रहती है। ऋणदाताओं को पूर्व निश्चित ब्याज मिलने पर वास्तविक क्रय शक्ति पहले की अपेक्षा कम प्राप्त होती है। यही नहीं मूलधन के वापस करने पर भी उसको हानि होती है। पर दूसरी ओर ऋणी के लिये यह लाभप्रद सिद्ध होती है। नि:सन्देह कीमतों के बढ़ने पर ब्याज की दर भी बढ़ जाती है जिससे यह कहा जा सकता है कि ऋणदाता को कोई हानि नहीं होती। पर ऐसा एक निश्चित समय के पश्चात् ही सम्भव हो पाता है। कीमतों के घटने पर ठीक उलटा प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन (अथवा कीमतों में परिवर्तन) समाज के अनेक वर्गों के बीच आय एवं वस्तुओं के वितरण में परिवर्तन ले आते हैं जिसका सामाजिक कल्याण पर प्रभाव पड़ता है। अतएव मुद्रा के परिवर्तनों का अध्ययन समाज के आर्थिक जीवन में बड़े महत्व का विषय है।

निर्देशांक (Index Numbers)

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों को कीमतों के परिवर्तनों द्वारा, जो **व्यक्तिगत प्रभाव** जैसे जलवायु, उत्पादन, तकनीकी इत्यादि, जिनके कारण वस्तु विशेष की कीमतों में परिवर्तन तथा **साधारण प्रभाव** जिनके कारण सभी वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन होते हैं, जाना जा सकता है। प्राय: हमारा अभिप्राय उन साधारण प्रभावों के जानने से होता है जिनके कारण सामान्य कीमतों में परिवर्तन होते हैं और जिनको निर्देशांक द्वारा मापा जा सकता है।

सूचनांक एक तालिका के रूप में क्रमबद्ध की गई कीमत स्तरों की संख्यायें होती हैं जो मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन दिखाने के उद्देश्य से वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों में परिवर्तन प्रगट करती है। दूसरे शब्दों में **निर्देशांक सामान्य कीमत स्तर के परिवर्तनों का सूचक होता है। इसके द्वारा कीमत स्तर में होने वाले परिवर्तनों को एक ही दृष्टि में जानने के लिए अंक में प्रकट कर दिया जाता है और इस प्रकार यह मूल्य में होने वाले परिवर्तनों को बतलाने में सफल होते हैं।** यह नहीं भूलना चाहिये कि ये अंक मुद्रा मूल्य के पूर्ण या निरपेक्ष मापक नहीं है वरन् मूल्य के परिवर्तनों को तुलनात्मक रूप से दिखलाते हैं।

निर्देशांकों की निर्माण विधि (Method of construction of Index Numbers) : निर्देशांक बनाते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होती है :—

१. **निर्देशांक का उद्देश्य** (purposes of Index Nos.) : निर्देशांक अनेक प्रकार के होते हैं और जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यह भिन्न भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इसलिये इनके बनाने से पहले इनके उद्देश्य के बारे में निश्चित हो लेना चाहिये। उदाहरण के लिए थोक कीमतों का निर्देशांक उत्पादकों की क्रय शक्ति में परिवर्तनों के अध्ययन के लिए उपयुक्त हो सकता है। परन्तु इसके आधार पर श्रमिक अथवा मध्यम वर्ग के जीवन निर्वाह व्यय के संदर्भ में कीमतों के परिवर्तनों को नहीं जाना जा सकता। इसके लिए उसी वर्ग द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की फुटकर कीमतों के आधार पर निर्देशांक बनाने की आवश्यकता होगी। हैबर्लर (Harberlar) ने ठीक ही लिखा है कि "सामान्य कीमत स्तर कोई दिया हुआ स्वत: सिद्ध तथ्य नहीं होता। यह ऐसा वैज्ञानिक यन्त्र है, जिसके द्वारा अनेक वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक उद्देश्यों की पूर्ति करनी होती है। एक कीमत स्तर की आर्थिक दृष्टि से उपयोगी परिभाषा हमारे मस्तिष्क में उद्देश्य से स्वतन्त्र नहीं हो सकती और प्रत्येक देश के लिए एक भिन्न प्रकार के निर्देशांक तैयार करने की आवश्यकता पड़ती है।"[1]

२. **मदों (वस्तुओं और सेवाओं) का चुनाव** (Selection of items) : निर्देशांक का उद्देश्य निर्णय कर लेने के बाद वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव की समस्या सामने आती है। समाज में मुद्रा द्वारा अनेकों वस्तुओं और सेवाओं का क्रय विक्रय होता है। अत: प्रत्येक वस्तु व सेवा की कीमत का विचार करना कठिन तथा असम्भव हो जाता है। इस कठिनाई से बचने के लिये ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव किया जाता है जो अन्य वस्तुओं व सेवाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। अर्थात् यदि चुनी हुई वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें बढ़ती हैं तो अन्य वस्तुओं की सेवाओं और कीमतों की कीमतें भी बढ़ती हैं। दूसरे शब्दों में हमें उन्हीं वस्तुओं का

---

1. An economically relevant definition of price level cannot be independent of purpose in mind and for each pupose a seperate index number must be computed.
Quarterly General of Economics 1928—Pages 435-36.

चुनाव करना होता है जिनका उपयोग करने के लिये एक श्रेणी के लोग आदी ही जाते हैं। इसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि इनकी संख्या न तो इतनी कम हो कि वह कीमतों की सामान्य प्रवृत्ति बतला सकने में असमर्थ रहें और न ही इतनी अधिक कि उन्हें उचित रूप से संभाल पाना कठिन हो जाय।

३. **आधार वर्ष का चुनाव** (Selection of base) : निर्देशांकों के निर्माण के लिये एक आधार वर्ष के चुनाव की आवश्यकता होती है क्यों कि इसी आधार की तुलना में ही प्रचलित कीमतों के परिवर्तनों का माप किया जाता है। आधार वर्ष का अभिप्राय उस वर्ष से होता है जिसमें औसत कीमत को अन्य वर्षों की कीमतों का आधार माना जा सकता है। अतः इनको एक सामान्य वर्ष—न तो बढ़ती हुई और न गिरती हुई कीमतों का तथा न मुद्रा प्रसार अथवा मुद्रा संकुचन का और न राजनैतिक अशांति का—होना चाहिये। अकाल, महायुद्ध तथा दंगे-फसाद जैसी घटनायें वर्ष को असामान्य बना देती हैं।

४. **वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों का चुनाव** (Selection of prices) : निर्देशांक बनाने के लिये कीमतों के चुनाव में भी सतर्कता बरतने की बड़ी आवश्यकता होती है। वस्तुओं के मूल्य अनेक प्रकार के—थोक, फुटकर, नियंत्रित एवं अवैधानिक—होते हैं। अतः यह निश्चित करना पड़ता है कि निर्देशांक के लिये कौन सी कीमतों से काम लिया जाय, जो निर्देशांक के उद्देश्य पर निर्भर करेगा। मुद्रा के सामान्य मूल्य में उत्पादकों की दृष्टि से परिवर्तनों को जानने के लिये थोक कीमतें अधिक उपयुक्त होती हैं। किन्तु रहन-सहन के व्यय में होने वाले परिवर्तनों को जानने के उद्देश्य से निर्देशांक बनाये जाते हैं तो फुटकर कीमतों का चुनाव ही उपयुक्त होता है। इसके अन्तर्गत हमें यह भी निर्णय करना होता है कि कीमतें किस समय की ली जांय—दैनिक हों या सामूहिक हों अथवा मासिक।

५. **औसत निकालना** (Averages of prices) : इसके पश्चात् आधार वर्ष की सब कीमतों को १०० मानकर जिस वर्ष की कीमतों का निर्देशांक बनाना है, उसकी कीमतों को आधार वर्ष की कीमतों के प्रतिशत अनुपात में निकाला जाता है। उदाहरण के लिये यदि गेहूं की आधार वर्ष में कीमत १० रु० प्रति क्विन्टल है और यदि निर्देशांक बनाने वाले वर्ष में गेहूं का मूल्य २० रु० प्रति क्विन्टल हो तो प्रतिशत के रूप में यह आधार वर्ष में १०० और निर्देशांक वर्ष में २०० होगा। इसी प्रकार सभी प्रकार की वस्तुओं का प्रतिशत निकाला जाता है और अन्त में आधार वर्ष तथा निर्देशांक वर्ष की कीमतों के प्रतिशतों का औसत निकाला जाता है। इस प्रकार आधार वर्ष का औसत तो १०० ही रहेगा लेकिन दूसरे वर्ष का औसत १०० से कम या अधिक हो सकता है। यही औसत निर्देशांक कहलाते हैं। यहाँ पर यह बात बतला देना आवश्यक है कि औसत कई प्रकार के होते हैं किन्तु निर्देशांक बनाने में समानान्तर माध्यम (Arithmetic average) तथा गुणोत्तर माध्यम (Geometric average)

का ही प्रयोग किया जाता है। इन दो में भी समानान्तर माध्य सुगम होने के कारण सब से अधिक लोकप्रिय है। परन्तु जब विभिन्न मदों के मध्य अन्तर अधिक होता है, तो उस समय गुणोत्तर माध्य अधिक उपयुक्त निष्कर्ष देता है।

निर्देशांक का एक उदाहरण :

यदि आधार वर्ष १९५० के संदर्भ में १९६३ की थोक कीमतों का निर्देशांक बनाना है जिसके लिये हम छः वस्तुयें, जैसा कि तालिका में दी हुई हैं, चुनते हैं। इनकी आधार वर्ष की कीमतें तथा उनके प्रतिशत (जो १०० मान लिया गया है) क्रमानुसार लिख लिया गया है। १९६३ की कीमतें और उसके आधार पर निकाले गये प्रतिशत भी लिख लिये गये हैं। चालू वर्ष के सम्पूर्ण कीमत प्रतिशतों का योग करने के उपरांत उन्हें वस्तुओं की संख्या से विभाजित करने पर चालू वर्ष का निर्देशांक प्राप्त हो जाता है।

अक्टूबर १९६३ का निर्देशांक
(आधार-अक्टूबर १९५०)

वस्तु संख्या	वस्तुयें	सन् १९५०		सन् १९६३	
		कीमतें	निर्देशांक	कीमतें	निर्देशांक
१	गेहूं	१० रु० प्रति क्विन्टल	१००	१८ रु० प्रति क्विन्टल	१८०
२	चावल	२० रु० प्रति ,,	१००	३५ रु० प्रति ,,	१७५
३	दाल	१२ रु० प्रति ,,	१००	३० रु० प्रति ,,	२५०
४	कपड़ा	१ रु० प्रति मीटर	१००	३ रु० प्रति मीटर	३००
५	घी	१५० रु० प्रति क्विन्टल	१००	२१० रु० प्रति क्विन्टल	१४०
६	चीनी	२५ रु० प्रति ,,	१००	४५ रु० प्रति ,,	१८०
		योग	= ६००	योग	= १२२५
		निर्देशांक	=१००	निर्देशांक	=२०४·२६६

इस उदाहरण में निर्देशांक साधारण औसत द्वारा प्राप्त किया गया है, इसलिये इसे साधारण निर्देशांक कहते हैं। इसकी निर्माण क्रिया सरल होने पर भी इसे संतोषजनक नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें प्रत्येक वस्तु को समान महत्व दिया जाता है। परंतु वास्तविक जीवन में सभी वस्तुओं का महत्व समान नहीं होता। जैसे कि एक पिन की

कीमत में बहुत वृद्धि हो जाने का उतना महत्व नहीं होता जितना कि अनाज की कीमत में थोड़ी सी भी वृद्धि काहोताहै । इसलिये शुद्ध निर्देशांक प्राप्त करने के लिये प्रत्येक वस्तु का उसके महत्व के अनुसार भार दिया जाना अधिक सही होता है । इस प्रकार निर्मित निर्देशांक को 'सभार निर्देशांक' (weighted index number) कहते हैं । वस्तु का महत्व जानने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि व्यक्तियों का वर्ग विशेष उस वस्तु के लिये आय का कितना भाग खर्च करता है । आय का जितना अधिक भाग जिस वस्तु के लिये खर्च किया जायगा उसका महत्व उतना ही अधिक होगा । इस प्रकार भार देने के लिये प्रत्येक वस्तु का प्रतिशत व्यय मालूम कर लिया जाता है और उसी के अनुसार भार निश्चित किया जाता है । यदि हम अपने पूर्व उदाहरण में गेहूं, चावल, दाल, कपड़ा, घी तथा चीनी के लिये ६, २, १, ३, ४, १ भार निश्चित करते हैं, तो सभार निर्देशांक का निर्माण निम्न तालिका से जाना जा सकता है ।

अक्टूबर १९६३ का साभार निर्देशांक

(आधार-अक्टूबर १९५०)

वस्तु संख्या	वस्तुयें	भार	१९५०		१९६३		
			कीमतें	सभार निर्देशांक	कीमतें	निर्देशांक	सभार निर्देशांक
१	गेहूं	६	१०) क्वि०	१००×६	१८) क्विन्टल	१८०	१०८०
२	चावल	२	२०) ,,	१००×२	३५) ,,	१७५	३५०
३	दाल	१	१२) ,,	१००×१	३०) ,,	२५०	३५०
४	कपड़ा	३	१) मीटर	१००×३	३) मीटर	३००	९००
५	घी	४	१५०) क्वि०	१००×४	२१०) क्विन्टल	१४०	५६०
६	चीनी	१	२५) ,,	१००×१	४५) ,,	१८०	१८०
			योग =१७००		योग = ३३२०		
			निर्देशांक=१७००/१७ =१००		निर्देशांक=३३२०/१७ =१९५·३		

इस तालिका में भारयुक्त निर्देशांक १९५·३ है जिससे प्रगट होता है कि १९५० के वर्ष की अपेक्षा १९६३ के वर्ष में कीमत स्तर ९५·३ प्रतिशत अधिक हो गई है ।

निर्देशांक बनाने की कठिनाइयां (Difficulties in the construction of index numbers) :—एक उपयुक्त एवं सही निर्देशांक बनाने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिसके कारण पूरी सतर्कता बरतने पर भी निर्देशांक प्राय: पूर्णतया सही नहीं होते। सबसे पहले सामान्य वर्ष का खोज पाना सहज नहीं होता। व्यापार चक्रों के कारण सामान्य वर्ष का चुनाव काफी कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त लोगों के बदलते हुये जीवन स्तर तथा रुचि परिवर्तन के कारण प्रतिनिधि वस्तुओं और सेवाओं के चुनाव में काफी मतभेद होने की सम्भावनायें रहती हैं। निर्देशांक निर्माण के लिये कौन सी कीमतों को अपनाना चाहिये इस सम्बन्ध में काफी मतभेद है। रावर्टसन तथा क्राउथर के अनुसार थोक कीमतों के आधार पर तथा कीन्स के अनुसार फुटकर कीमतों के आधार पर ही जीवन निर्वाह लागत निर्देशांक बनाना चाहिये। अन्त में विभिन्न बस्तुओं के उपयोग पर होने वाले व्यय के आधार पर भार प्रदान करना भी बड़ा कठिन होता है। प्राय: वस्तुओं को जो भार प्रदान किये जाते हैं वे अनुमान जनक ही होते हैं और यथार्थ से भिन्न हो सकते हैं। इन कठिनाइयों के कारण ही सही २ निर्देशांक बनाना सम्भव नहीं होता है। मार्शल ने ठीक ही कहा है, "मूल्य के परिवर्तनों का बिल्कुल सही माप कठिन नहीं वरन् असम्भव भी है।" इसी प्रकार रावर्टसन के अनुसार "मुद्रा के मूल्य के होने वाले परिवर्तनों को सही २ माप कर सकना न तो व्यवहार में और कदाचित् न सिद्धांत में सम्भव है।"

फिर भी निर्देशांकों के महत्व को आर्थिक प्रवृतियों को बतलाने के लिये भुलाया नहीं जा सकता। यह सत्य है कि इनसे केवल अनुमान-जनक-प्रवृत्तियों का ही पता चलता है। परन्तु जीवन स्तर के घटने बढ़ने की सूचना देने, बिक्री तथा कीमत सम्बन्धी जानकारी, विदेशी व्यापार सम्बन्धी ज्ञान, उत्पति सम्बन्धी जानकारी तथा मौद्रिक नीति के सम्बन्ध में इनके सहयोग से काफी लाभ उठाया जा सकता है।

निर्देश पुस्तकें

G. Crowther—An outline of Money—ch. III
G. D. H. Robertson—Money—ch. III & IV
Irwing Fisher—The Making of Index Numbers
Ghosh & Choudhry—Elements of Statistics.

अध्याय ४

मौद्रिक मान—धातुमान

'मान' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है : मूल्यमान तथा मौद्रिक-मान। मूल्यमान वह माप-दण्ड है जिसमें देश की वस्तुओं तथा सेवाओं के मूल्यों को मापा जाता है। अथवा इससे हमारा अभिप्राय देश की मुद्रा इकाई से होता है। परन्तु **मुद्रामान से हमारा अभिप्राय मुद्रा सम्बन्धी उन नियमों से होता है जो मुद्रा की व्यवस्था के लिये अपनाये जाते हैं**। विनिमय माध्यम तथा लेखे की इकाई के रूप में मुद्रा दो प्रकार के कार्य सम्पादन करती है। इन दोनों कार्यों को सम्पन्न करने के लिये उसको मूल्यांकन का भी कार्य करना पड़ता है। ऐसा करने के लिये एक मूल्यमान को स्थापित करना होता है जिसके अनेक प्रकार के ढंग होते हैं। विभिन्न तरीकों पर आधारित अनेक प्रकार के मौद्रिकमान स्थापित किये जा सकते हैं। यह मौद्रिकमान देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं व्यापारिक उन्नति में सहायक होते हैं और जब उसमें दोष उत्पन्न हो जाते हैं तो देश की अवनति का कारण भी बन जाते हैं। किसी भी मुद्रामान के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं : प्रथम, देश में चलन-मुद्रा की मात्रा को इस प्रकार नियन्त्रित करना, जिससे कि सामान्य कीमत स्तर में होने वाले भयंकर परिवर्तनों को रोका जा सके; तथा द्वितीय, विदेशी विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखना, जिससे विदेशी व्यापार में किसी प्रकार की असुविधा न हो। अतः उन व्यवस्थाओं, नीतियों एवं नियमों का अध्ययन, जिनके द्वारा देश की मौद्रिक प्रणाली को नियन्त्रित रक्खा जाता है, मौद्रिक अर्थशास्त्र में बड़े महत्व का विषय है।

मौद्रिकमान दो प्रकार के होते हैं : धातुमान (metallic standard) तथा पत्रमुद्रामान (paper standard)। धातुमान में मूल्यमान (standard of value) 'धातु' होती है जब कि पत्र मुद्रामान में किसी भी प्रकार का कोई मूल्यमान नहीं होता तथा पत्र-मुद्रा, जो देश की प्रधान मुद्रा होती है, का नियमन करके उसमें 'मूल्यमान' के गुण पैदा कर दिया जाता है।

धातुमान के रूप (Forms of Metallic Standard)

धातुमान से हमारा अभिप्राय मुद्रामान के उस रूप से होता है जिसमें धातु मूल्यमान के रूप में कार्य करती है तथा देश की चलन-मुद्रा से उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध कर दिया जाता है। इससे मुद्रा को एक मान प्राप्त हो जाता है जिसके आधार पर वह मूल्य मापक के रूप में कार्य करने लगती है। संसार के विभिन्न भागों

के मौद्रिक इतिहास से यह पता चलता है कि अनेक प्रकार के धातुमान अपनाये जा चुके हैं। इनमें मुख्य रूप से एक धातुमान (Monometallism) तथा द्विधातु मान (Bimetallism) हैं, यद्यपि सिद्धान्त के रूप में इसके और भी रूप बतलाये गये हैं।

एकधातु मान (Mono-metallism) :—**जब किसी देश में विनिमय माध्यम एवं मूल्य मापन के लिये केवल एक ही धातु (स्वर्ण या चांदी) प्रयोग में लाई जाती है तो उस मौद्रिक प्रणाली को एकधातु मान. कहते हैं।** यह या तो उस धातु की एक निश्चित मात्रा एवं किस्म के सिक्के बनाकर, या चलन-मुद्रा की धातु से निश्चित दर पर परिवर्तनशीलता स्थापित करके किया जाता है। इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली में जब सम्बन्ध सोने से होता है तो उसे स्वर्णमान (Gold standard), और जब चांदी से होता है तो उसे रजतमान (Silver standard) कहते हैं।

मौद्रिक प्रणाली (monetary system) के रूप में एकधातु मान के अनेक लाभ होते हैं। **सर्वप्रथम**, इस प्रकार की प्रणाली अत्यन्त सरल होती है तथा इसमें जनता का विश्वास अधिक रहता है क्योंकि चलन प्रणाली को वह अच्छी प्रकार से समझ लेती है। **दूसरे**, इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत 'ग्रेशम-नियम' के क्रियाशील होने की सम्भावनायें बहुत कम होती हैं, क्योंकि केवल एक ही धातु मूल्यमान का कार्य करती है जिसके कारण अवमूल्यन तथा अधिमूल्यन के अवसर कम आते हैं। **अन्त में**, इस मान पर आधारित देशों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुलभ हो जाता है, क्योंकि देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण टंकसमता (mint-par) के आधार पर सरलता से किया जा सकता है। एकधातुमान की इन्हीं अच्छाइयों के कारण कुछ लोग इसे अन्तर्राष्ट्रीयमान भी कहते हैं।

इन अच्छाइयों के होते हुये भी एकधातु मान की अपनी स्वयं कमियाँ भी हैं। सर्वप्रथम, एकधातुमान ऐसी चलन प्रणाली नहीं हो सकती जिसको सभी देश एक साथ अपना सकें। चाहे जिस धातु में यह अपनाई जाय, सभी देशों के इस प्रकार के मान को अपनाने पर धातु की आवश्यकता उसकी पूर्ति से काफी अधिक रहेगी। फलस्वरूप जिन देशों में इसकी मात्रा आवश्यकता से कम होगी वे इस मान को अवश्य त्याग देंगे। स्वर्णमान के सम्बन्ध में यही अनुभव किया गया और अन्त में अनेक देशों को वह मान त्यागना पड़ा। दूसरे, एकधातुमान के अन्तर्गत कीमतें स्थिर नहीं रहतीं। इसका मुख्य कारण यह है कि मुद्रा की धातु की पूर्ति में परिवर्तन होने पर उस धातु की बाजारू कीमत में उच्चावचन (fluctuations) होने लगते हैं। धातु के मूल्य में उच्चावचन मुद्रा के मूल्य में उच्चावचन ले आते हैं जिसके फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर में भी परिवर्तन होने लगते हैं। कीमतों के परिवर्तन से देश का आर्थिक ढांचा अस्तव्यस्त हो जाता है। मौद्रिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि धातुओं से लदे जहाजों के डूब जाने पर केवल उन धातुओं से सम्बन्धित देशों में ही आर्थिक परिवर्तन नहीं हुये वरन् संसार के सभी देशों की आर्थिक व्यवस्था पर इसका प्रभाव

पड़ा। अन्त में, इस प्रकार के मुद्रामान के अन्तर्गत मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण नहीं हो पाती है। चलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि तथा ह्रास देश की आवश्यकताओं पर निर्भर न होकर धातु की मात्रा पर निर्भर करती है। परिणामस्वरूप मौद्रिक नीति पर अनावश्यक प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

इन कमियों के होते हुये भी स्वर्णमान के रूप में एकधातुमान काफी प्रिय रहा है और सभी प्रकार के मौद्रिक प्रणालियों में उसका इतिहास काफी विस्तृत है।

द्वि-धातुमान (Bi-metallism) :—**मौद्रिक प्रणाली का वह रूप, जिसके अन्तर्गत दो धातुयें, एक निश्चित दर पर, मूल्यमान का कार्य करती हैं, द्विधातुमान कहलाता है।** इस प्रकार के धातुमान में दो धातुओं के सिक्कों, जिनका एक निश्चित दर पर अनुपात स्थापित कर दिया जाता है, का चलन होता है या चलन-मुद्रा दोनों धातुओं अथवा एक धातु में परिवर्तनीय होती है। इस प्रकार इस मान के अन्तर्गत, (साधारणतया स्वर्ण और चांदी) दोनों मानों को एक साथ ही अपनाया जाता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रणाली में दो प्रकार की धातुओं के सिक्के वैधानिक रूप से चलन में होते हैं, दोनों के बीच पारस्परिक विनिमय दर निश्चित होती है तथा दोनों का टंकन स्वतन्त्र होता है। जब टंकन एक धातु के सम्बन्ध में सीमित कर दिया जाता है तो वह 'पंगु द्विधातुमान' (Limping Bi-metallism) कहलाने लगता है।

द्विधातुमान को इसलिये अपनाया जाता है क्यों कि इस प्रकार की मुद्रा-प्रणाली में अनेक गुण होते हैं। **सर्वप्रथम,** इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत दो प्रकार की धातुओं का चलन एक साथ होता है जिससे एक का दूसरे पर क्षति पूरक प्रभाव (Compensatory Action) रहता है और कीमतों में सन्तुलन बना रहता है। उदाहरणार्थ किसी एक धातु के उत्पादन में वृद्धि या ह्रास दूसरी धातु के उत्पादन में ह्रास या वृद्धि की पूरक बन जायगी जिसका प्रभाव यह पड़ेगा कि दोनों धातुओं का कुल उत्पादन यथा स्थिर रहेगा और मुद्रा का मूल्य एकधातुमान की अपेक्षा द्विधातुमान के अन्तर्गत अधिक सन्तुलित रहेगा। जेवन्स (Jevons) ने इस क्रिया को 'समानीकरण क्रिया' (Equilibratory Action) बतलाया है। उनके अनुसार "दो ऐसे जलकोषों को लीजिये जिनकी मांग एवं पूर्ति की आकृतियां पूर्ण स्वतन्त्र हों। उनके बीच नली के अभाव की स्थिति में प्रत्येक का जलस्तर केवल अपने ही उच्चावचन तक सीमित रहेगा। पर यदि इन दोनों के बीच एक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय तो दोनों जलकोषों में जल एक निश्चित स्तर प्राप्त कर लेगा। तब अत्यधिक मांग या पूर्ति का प्रभाव दोनों जलकोषों के सम्पूर्ण क्षेत्र में बांटा जा सकेगा।"[1] **दूसरे,** धातु की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में निश्चित रहती है क्योंकि किसी

1. "Imagine two reservoirs of water, each subject to independent variations of supply and demand. In the absence of any connecting pipe, the level of water in each will be subject to its own fluctuations only. But if we open a connection, the water in both will assume a certain mean level and the effects of any excessive supply or demand will be distributed over the whole area of both reservoirs." —Money and Mechanism of Exchange; Page 140.

समय दोनों धातुओं की पूर्ति में कमी न हो सकेगी। **तीसरे**, द्विधातुमान के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विकसित होता है क्योंकि इस प्रकार के मान पर आधारित राष्ट्र दो प्रकार की धातुओं पर आधारित मान वाले देशों से सरलता के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इसके द्वारा विनिमय दर को स्थायी रक्खा जा सकता है क्योंकि विनिमय दरों में उस समय विशाल उच्चावचन होने की सम्भावना रहती है जब कि स्वर्णमान देश में चांदी के बाजारू मूल्य में परिवर्तन हो जाता है। **अन्त में**, द्विधातुमान के अन्तर्गत सरकारें नकदी की आवश्यकताओं को आसानी से पूरा कर सकती हैं जो कि एक धातुमान के अन्तर्गत सम्भव नहीं हो पाता।

इन लाभों के साथ मौद्रिक मान के रूप में द्विधातुमान कमियों से परे नहीं है। सर्वप्रथम, इस प्रकार के द्विधातुमान के अन्तर्गत ग्रेशम के नियम के क्रियाशील होने की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। द्विधातुमान व्यवहार में द्विधातुमान के रूप में कार्यरत न होकर एकधातुमान के ही रूप में क्रियाशील रहता है जिसके कारण एक धातु दूसरी धातु को एक समय चलन से बाहर कर देती हैं। टंकशाला द्वारा निर्धारित धातुओं के मूल्यों एवं इनके बाजार-मूल्य में अन्तर उत्पन्न होने पर अधिक मूल्य वाली धातु मुद्रा का कार्य करना छोड़ देती है। ए०वी० गेयर (A. V. Gayer) ने ठीक ही लिखा है कि जब यह वास्तविक रूप में चलन में कार्यशील होता है, तो इसमें अनेक मानों की निकृष्ट विशेषतायें सम्मिलित होती हैं और तब यह एक धातु मान बन जाने की प्रवृत्ति प्रदर्शित करने लगता है।[1] दूसरे कुछ लोगों का कहना है कि दो धातुओं के बीच सदैव के लिये एक निश्चित अनुपात निर्धारित नहीं किया जा सकता क्यों कि उनका बाजार-मूल्य, उनकी मांग और पूर्ति की दशाओं पर निर्भर करता है जो वास्तविकता में भिन्न होती है। किसी भी समय पूर्ति में परिवर्तन के कारण अवमूल्यन या अधिमूल्यन हो सकता है। द्विधातुमान उसी दशा में अधिक सफलता प्राप्त करता है जब कि सारा संसार इसे अपना लेता है। परन्तु इस दशा में भी दोनों धातुओं के मध्य निर्धारित निश्चित अनुपात किसी भी समय एक धातु की अपेक्षा दूसरी धातु को रखना अधिक लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। अन्त में, द्विधातुमान के स्थान पर एकधातुमान को अधिक स्थिर धातुमान समझा जाता है। इस सम्बन्ध में यह उदाहरण दिया जाता है कि एक संयमी व्यक्ति दो नशेबाज दोस्तों से जिनके हाथ परस्पर बंधे हुये हों, अधिक तेजी से दौड़ लगा सकता है।[2]

अन्य प्रकार के धातुमान:—धातुमान के अन्तर्गत द्विधातुमान एवं एकधातुमान के अतिरिक्त पंगु-द्विधातुमान (Limping-Bimetallism), बहुधातुमान (Multi-

---

1. "Bimetallism combines the worst features of both the gold and paper standards while it is actually in operation and tends in practice to become gold or silver monometallism."

2. "One sober person will be able to walk much more steadily than two tipsy fellows with their arms interlocked."

metallism), मिश्रित-धातुमान (Symmetallism) को भी सम्मिलित किया जाता है। यद्यपि व्यवहारिक रूप में इनका कोई महत्व नहीं है, परन्तु सैद्धान्तिक रूप में इनको समझना अच्छा ही होगा। **पंगु द्विधातुमान** (Limping bimetallism) के अन्तर्गत शुद्ध द्विधातुमान की तरह दो प्रकार के धातु के सिक्कों का चलन होता है जिनके बीच विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है। दोनों ही धातुओं के सिक्के प्रामाणिक सिक्के होते हैं। परन्तु जहां तक स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई का प्रश्न है वह एक धातु की मुद्रा को ही प्राप्त होती है। इस प्रकार इस प्रणाली में एक धातु का सिक्का पूर्ण-प्रामाणिक और दूसरी धातु का सिक्का अपूर्ण-प्रामाणिक होता है। इस प्रणाली को फ्रांस, अमेरिका तथा लैटिन संघीय देशों ने उस समय अपनाया था जब ग्रेशम का नियम लागू होने के कारण शुद्ध द्विधातुमान में दोनों ही धातुओं की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई को बनाये रखना कठिन हो गया था। **बहुधातुमान** (Multimetallism) मुद्रामान का वह रूप है जिसके अन्तर्गत अनेक धातुओं के सिक्के प्रामाणिक मुद्रा के रूप में प्रचलित होते हैं। सभी धातुओं के सिक्कों के बीच एक टकसाली अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है जिसके आधार पर वे एक दूसरे से बदले जा सकते हैं। इस प्रकार की प्रणाली को व्यवहार रूप में नहीं लाया गया। अत: इसका केवल सैद्धान्तिक महत्व है। **मिश्रित धातुमान** (Symmetallism), जिसका सुझाव १८७४ में मार्शल ने दिया था, द्विधातुमान के गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त रहता है। मार्शल का विचार था कि दो धातुओं के अलग-अलग प्रामाणिक सिक्कों को एक साथ चलाने के स्थान पर यदि मिश्रित धातु के सिक्कों को चलाया जाय तो ग्रेशम का नियम लागू नहीं होगा। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश की मुद्रा, धातुओं में परिवर्तनीय न होकर एक निश्चित अनुपात पर उनकी मिश्रित धातु में परिवर्तनीय हो जायगी। इस प्रणाली का भी महत्व केवल सैद्धान्तिक रूप में ही है।

अब हम द्विधातुमान तथा एकधातुमान का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

द्विधातुमान (Bimetallism)

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, **जिस मुद्रा प्रणाली में दो धातुयें प्रामाणिक मुद्राओं के रूप में चलन में होती हैं और सरकार द्वारा दोनों ही धातुओं के मध्य अनुपात निर्धारित कर दिया जाता है, उसे द्विधातुमान कहते हैं।** हैंम (Halm) के अनुसार "यदि धातुओं का स्वतन्त्र रूप से प्रामाणिक मुद्रा के रूप में टंकण हो सकता है और यदि दोनों ही धातुओं के मूल्य में अनुपात लेखे की इकाई के रूप में विधान द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है जिससे केवल एक प्रामाणिक इकाई हो और कीमतों की केवल एक ही व्यवस्था हो, तो यह द्विधातुमान या दोहरा मान होता है।"[1] साधारणतया इस प्रकार के मुद्रामान के लिये सोना और चांदी को ही मूल्यमान के रूप में प्रयोग किया जाता है।

1. "If two metals can be coined freely as standard money and if the ratio between the value of the two metals in terms of the units of account is fixed by law, so that there is only one standard unit and only one system of prices, then we have bimetallic standard or double standard."

मुद्रा के इतिहास में १९वीं शताब्दी को द्विधातुमान का युग कहा जाता है। सबसे पहले अमेरिका ने इस प्रकार के मान को १७९२ में अपनाया, जब कि सरकार ने एक औंस स्वर्ण का मूल्य १५ औंस चांदी निर्धारित कर दिया। योरप में इस प्रकार का मान फ्रांस ने १८०३ में अपनाया, जब कि वहां पर भी स्वर्ण और चांदी का अनुपात १:१५ रक्खा गया। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सोने का मूल्य बढ़ जाने के कारण सन् १८३४ में अमरीका ने टकसाली दर १:१६ कर दिया। परन्तु सोने की खानों का पता लग जाने के कारण १९वीं शताब्दी के मध्य में स्वर्ण की पूर्ति बढ़ गई तथा चाँदी में उसका मूल्य कम हो गया। बाजारू अनुपात में परिवर्तन न होने के कारण ग्रेशम का नियम लागू होने लगा और चांदी के सिक्के चलन से बाहर होने लगे। अमेरिका ने चांदी के सिक्कों का स्वतन्त्र टंकण समाप्त कर पंगु-द्विधातुमान अपना लिया। फ्रांस को भी अपनी विनिमय दर में परिवर्तन करना पड़ा। सन्तुलन बनाये रखने के लिये १८६५ में फ्रांस, इटली, बेल्जियम तथा स्विटजरलैंड ने एक संघ बनाया जिसमें ग्रीस, रूमानिया, साइबेरिया तथा दक्षिणी अमेरिका भी बाद में शामिल हुये। चांदी के उत्पादन में वृद्धि हो जाने तथा विनिमय अनुपात में परिवर्तन होने के कारण १८७४ में सिक्कों का स्वतन्त्र टंकण समाप्त कर दिया गया और द्विधातुमान को पंगु कर दिया गया। १८९२ में फ्रांस ने अनेक देशों को द्विधातुमान अपनाने के लिये समझाया परन्तु ग्रेशम के नियम के भय के कारण इस प्रकार के मान को अपनाया न जा सका। सन् १९२९-३० में अमरीका ने पुनः द्विधातुमान चलाने का प्रयत्न किया परन्तु इस दिशा में उसको भी सफलता न मिल सकी।

भारतवर्ष में रजतमान के रूप में एकधातुमान १८३५ के विधान के अनुसार स्थापित किया गया, जब कि १८० ग्रेन (११/१२ शुद्ध) चांदी के भारतीय रुपये का स्वतन्त्र टंकण होने लगा। परन्तु सोना अदृश्य न हुआ। खजानों में सरकारी ऋण के भुगतान में सोने की मोहरें १:१५ की दर पर स्वीकार की जाती थीं। कैलीफोर्नियां और आस्ट्रेलिया में स्वर्ण की पूर्ति बढ़ने से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में स्वर्ण का मूल्य गिरने लगा जिसके फलस्वरूप भारत सरकार ने १८५३ में सोने के सिक्कों को स्वीकार करना बन्द कर दिया। स्वर्ण के अवमूल्यन के कारण रुपये का विदेशी मुद्रा में मूल्य गिरने लगा, क्योंकि रुपये का सम्बन्ध इंगलैण्ड के पाउण्ड से कर दिया गया था जिसका स्वयं प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वर्ण से था। हर्शल (Herschell) कमेटी की सिफारिशों के आधार पर भारत में १८९३ में स्वतन्त्र टंकन बन्द कर दिया गया। ऐसा इसलिये किया गया था जिससे कि रुपये का स्वर्ण में मूल्य न गिरे तथा रुपये एवं पाउण्ड के बीच विनिमय दर में सन्तुलन बना रहे। साथ ही भारतीय जनता को सोने के मौद्रिक प्रयोगों का अनुभव कराना जरूरी समझा गया क्योंकि सरकार यहां पर स्वर्णमान अपनाना चाहती थी और रुपये को सांकेतिक सिक्के का स्थान देना चाहती थी। इस प्रकार १८९३ तक सैद्धान्तिक रूप में भारतीय मौद्रिक प्रणाली एकधातुमान के रूप

द्विधातुमान के अनेक लाभों के होते हुये भी इस मान को कुछ ही देश थोड़े समय के लिये अपना पाये। इसका मुख्य कारण यह था कि इस प्रकार के मुद्रामान के संचालन के लिये इसका अन्तर्राष्ट्रीय मान होना आवश्यक है जो वास्तव में न हो सका। धातुओं की पूर्ति में परिवर्तनों के कारण धातुओं के मूल्य में भी परिवर्तन होते रहे जिसके फलस्वरूप ग्रेशम के नियम का लागू होना आसान हो गया। अब द्विधातुमान केवल इतिहास की धरोहर है और इसके पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये तर्कों का कोई व्यवहारिक महत्व नहीं है तथा निकट भविष्य में इसके अपनाये जाने की कोई सम्भावना भी नहीं है।

द्विधातुमान को अपनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र में सच्चा सहयोग मौजूद होना आवश्यक था। १८६५ में योरुप के अनेक देशों द्वारा इस प्रकार के मान को अपनाने की चेष्टा इसका प्रतीक है, यद्यपि कुछ विचारकों के अनुसार द्विधातुमान को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कभी नहीं अपनाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान के पक्ष में लिखते हुवे नोगारो (B. Nogaro) ने यह बतलाया है कि यह मान स्वर्णमान और रजतमान दोनों प्रणालियों के देशों के हित में कार्य करता है। संसार के देशों की सरकारों का १८७३ ई० का निर्णय इस बात का सूचक है कि अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान को यदि संसार के सभी देशों ने अपनाया होता तो यह मान अवश्य ही बिना किसी प्रकार की कठिनाई के संसार में जीवित रहा होता।[1]

एकधातुमान (Monometallism)

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, **एकधातुमान से हमारा अभिप्राय मुद्रा प्रणाली के उस रूप से होता है जिसमें एक ही धातु, साधारणतया चांदी या सोना, मूल्यमान का कार्य करती है।** इसके अन्तर्गत मुद्रा का सम्बन्ध धातु से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कर दिया जाता है। जब मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से किया जाता है तो मुद्रामान 'स्वर्णमान' कहलाता है और जब मुद्रा का सम्बन्ध चांदी से कर दिया जाता है तो मुद्रामान 'रजतमान' कहलाने लगता है।

रजतमान (Silver Standard)

रजतमान के अन्तर्गत मुद्रा की इकाई का मूल्य चांदी में निर्धारित कर दिया जाता है। यह निश्चित भार के बने हुये चांदी के सिक्कों को प्रचलन में लाकर एवं

1. "Bimetallism, caught between gold and silver standard countries, works to the profit of both by suffering depletion alternatively of the metal which is most in demand, and receiving in exchange the one which is unwanted. The thanklessness and the danger of this task explained the decision taken in 1873 by the Governments of the countries which had adopted this system. But this explanation, which is self-evident, also leads logically to the conclusion that bimetallism could easily have subsisted if it had been universally adopted."

—Modern Monetary Systems p. 256

कागजी-चलन-मुद्रा को निर्धारित दर पर चांदी में परिवर्तित करने का आश्वासन देकर स्थापित किया जाता है। देश में स्वतन्त्र टंकन प्रणाली अपनाई जाती है जिससे मुद्रा की मात्रा में ह्रास और विस्तार धातु के घटने या बढ़ने के अनुसार स्वयं हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा का मूल्य धातु से प्रत्यक्ष रूप में सम्बन्धित होता है।

रजतमान अपनाने वाले मुख्य देश भारतवर्ष और चीन हैं। जैसा कि बतलाया जा चुका है भारतवर्ष में यह मान १८३५ में अपनाया गया जब कि १८० ग्रेन चांदी (११/१२ शुद्ध) के रुपये को मुख्य मुद्रा के रूप में प्रचलन में लाया गया। १८९३ तक इसका स्वतन्त्र मुद्रण होता रहा। चांदी तथा सोने के अनुपात में परिवर्तन के कारण रुपये तथा पाउण्ड की विनिमय दर भी परिवर्तित होती रही। इसी को रोकने के लिये हर्शल कमेटी की सिफारिश पर स्वतन्त्र टंकन १८९३ में बन्द कर दिया गया। चीन में इस प्रकार का मुद्रामान बहुत दिनों तक चला जिसे अन्त में १९३५ में त्याग दिया गया।

स्वर्णमान (Gold Standard)

एकधातुमान का सबसे महत्वपूर्ण तथा प्रचलित रूप स्वर्णमान है। इसके अन्तर्गत सोना मूल्यमान का कार्य करता है और देश की करेंसी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वर्ण से कर दिया जाता है। स्वर्णमान की परिभाषायें अनेक मुद्राशास्त्रियों ने भिन्न रूप से की हैं। हैबर्लर (Haberler) के अनुसार, "स्वर्णमान, संकीर्ण अर्थ में, ऐसी मुद्राप्रणाली है जिसमें प्रामाणिक स्वरूप वाले सिक्के अथवा स्वर्णपत्र, जिनके पीछे १००% स्वर्णकोष हों, चलन में होते हैं।"[1] यह परिभाषा उचित नहीं है क्योंकि इसमें स्वर्णमान के एक विशेष रूप का ही वर्णन है तथा उसकी अनेक विशेषतायें सम्मिलित नहीं की गई हैं। राबर्टसन (Robertson) के अनुसार, "स्वर्णमान वह स्थिति है जिसमें कोई एक देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य तथा स्वर्ण की एक निर्धारित मात्रा का मूल्य एक दूसरे के बराबर रखता है।"[2] इसी प्रकार क्राउथर (Crowther) का विचार है कि स्वर्णमान एक ऐसा तरीका है जिससे विनिमय अनुपातों में सन्तुलन बनाये रक्खा जा सकता है।"[3] मुद्राशास्त्री केमरर (Kremmerer) स्वर्णमान की परिभाषा करते हुये लिखते हैं कि, "स्वर्णमान वह मौद्रिक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत मूल्यमापन की इकाई, जिसमें कीमतों, मजदूरियों तथा ऋणों को व्यक्त एवं उनका भुगतान किया जाता है, स्वतन्त्र स्वर्ण-

1. "A gold standard, in narrower sense, signifies monetary system under which gold coins of standard specifications or gold certificates with 100% gold backing form the circulation medium."

2. "Gold standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold often in equality with one another."
—Money: p. 97

3. "Gold standard can best be regarded as a device for maintaining the stability of the exchange rates."
—An outline of Money: p. 311

बाजार में स्वर्ण की एक राशि के बराबर होती है।[1] इन सभी परिभाषाओं के विश्लेषण करने पर यह तथ्य निकलता है कि स्वर्णमान वह मुद्रा प्रणाली है जिससे प्रधान मुद्रा विधान द्वारा स्वर्ण में परिभाषित होती है, और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्पूर्ण मुद्रा स्वर्ण में निश्चित दर पर परिवर्तनीय होती है। अतः **किसी एक देश में स्वर्णमान उस समय होता है जब (क) वह अपनी मौद्रिक इकाई की क्रयशक्ति अथवा मूल्य स्वर्ण के निश्चित भार के बराबर घोषित करती है, तथा (ख) मौद्रिक अधिकारी देश की मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने का विधान द्वारा आश्वासन देता है।** इस प्रकार का स्वर्णमान, जिसके दो प्रमुख कार्य—मुद्रा के आन्तरिक मूल्य को स्थिरता प्रदान करना तथा विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखना—होते हैं, निम्नलिखित तरीकों द्वारा स्थापित किया जा सकता है—

१—जब मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में घोषित किया जाता है—जिसको दो प्रकार से किया जा सकता है : या तो मौद्रिक इकाई में स्वर्ण की मात्रा घोषित करके (जैसा कि इंगलैण्ड में १९१४ के पहले था) या मुद्रा का स्वर्ण में टकसाली मूल्य घोषित करके (जैसा कि वहां पर १९२५ में किया गया)।

२—इस दर पर (साधारणतया) सरकार सोना खरीदने को और बेचने को तैयार रहती है।

३—पत्र-चलन-मुद्रा सदैव धातु में परिवर्तनशील होती है।

४—मुद्रा की प्रत्येक इकाई असीमित विधिग्राह्य होती है।

५—स्वर्ण के आयात और निर्यात पर साधारणतया कोई नियंत्रण नहीं लगाया जाता।

इन विभिन्नताओं के कारण स्वर्णमान के मुख्यतः तीन रूप स्वीकार किये गए हैं। स्वर्ण चलनमान (gold currency standard), स्वर्णपाटमान (gold bullion standard) तथा स्वर्ण विनिमयमान (gold exchange standard)।

स्वर्णचलनमान : (Gold Currency Standard)

स्वर्णमान का सबसे पुराना रूप, जिसको प्रथम महायुद्ध से पूर्व संयुक्तराज्य अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी तथा योरप के अन्य देशों ने अपना रक्खा था,

---

1. Gold standard is a monetary system where the limit of value in terms of which price, wages & debts are customarily expressed and paid, consists of a fixed quantity of gold in a large international market which is substaintially free.

Gold & Gold Standard p. 135–6

स्वर्ण चलनमान के नाम से विख्यात है। इस प्रणाली को 'स्वर्ण टंकणमान', 'पूर्ण स्वर्णमान', 'प्राचीन स्वर्णमान' 'परंपरागत स्वर्णमान' इत्यादि नामों से भी जाना जाता है। क्राउथर ने इसे 'पूर्ण स्वर्णमान' बतलाया है। **इस प्रकार के स्वर्णमान में देश की प्रधान मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित होती है अर्थात प्रधान मुद्रा स्वर्ण** के एक **निश्चित भार के बराबर घोषित कर दी जाती है तथा स्वर्ण के पूर्णकार्य प्रामाणिक सिक्कों** (Standard Coins) **को प्रचलन में कर दिया जाता है।** इनका टंकण स्वतंत्र होता है और इनमें असीमित विधि ग्राह्यता का गुण होता है। देश में सांकेतिक सिक्कों (Token Coins) तथा पत्र-चलन-मुद्रा (Paper Currency) का भी प्रचलन होता है जो स्वर्ण के प्रामाणिक सिक्कों में परिवर्तनीय होने के कारण स्वर्ण धातु में भी परिवर्तनीय हो जाते हैं। सरकार एक निश्चित दर पर (जिस दर पर प्रधान मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित होती है) स्वर्ण का क्रय विक्रय करती है। पत्र मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तित करने के लिए सरकार स्वर्णकोष रखती है जिनके विस्तार और संकुचन के साथ मुद्रा की मात्रा में विस्तार और संकुचन होता है। इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात और निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं लगाया जाता जिसके फलस्वरूप अनेक देशों के बीच स्वर्ण के मूल्य में परिवर्तनों के कारण सोना एक स्थान से दूसरे स्थान को सरलता से पहुंच जाता है।

इस प्रकार के मुद्रामान को इंगलैण्ड में १९१४ तक और अमेरिका में १९३३ तक अपनाया गया। इंगलैण्ड की प्रधान मुद्रा 'सावरेन', जिसका भार १२२·२७४४७ ग्रेन (११/१२ भाग शुद्ध) सोना अर्थात् २५·८ ग्रेन स्वर्ण के बराबर तथा अमेरिका में 'डालर' जिसका भार २५·८ ग्रेन (९/१० भाग शुद्ध) सोना अर्थात् २३·२२ ग्रेन स्वर्ण के बराबर रक्खा गया था। बैंक आफ इंगलैण्ड प्रत्येक एक औंस स्वर्ण के बदले ३ पौण्ड १७ शिलिंग ९ पेंस देता था और ३ पौंड १७ शि० १०½ पेंस लेता था। सरकार द्वारा घोषित यह दर 'सावरेन' (Sovereign) के वास्तविक मूल्य के आधार पर ही आंकी गई थी। इन दरों पर अमरीका और इंगलैण्ड की सरकारें सांकेतिक सिक्कों तथा पत्र-चलन-मुद्रा को स्वर्ण में परिवर्तन करने का आश्वासन देती थीं, तथा जिसके लिए स्वर्ण कोषों की व्यवस्था करती थीं।

यद्यपि वर्तमान युग में इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली के समर्थक बहुत कम मिलेंगे फिर भी इस प्रणाली से होने वाले अनेक लाभों का उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम, **इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली अन्य रूपों की अपेक्षा सरल होती है** जिसके कारण इसे जनता का विश्वास अधिक प्राप्त होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति मुद्रा की प्रत्येक इकाई के वास्तविक मूल्य को जानता है। दूसरे

इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली स्वंचालित होती है क्योंकि इसमें अधिकारियों द्वारा मुद्रा की मात्रा को व्यवस्थित करने की कोई नीति नहीं अपनाई जाती। देश में मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषों के विस्तार और सँकुचन के साथ साथ परिवर्तित होती रहती है। उदाहरणार्थ यदि किसी स्वर्ण चलन वाले देश में, प्रचलन में रहने वाली मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो इसे कम करने के लिए मौद्रिक, संस्था को कुछ भी नहीं करना पड़ता। मुद्रा की मात्रा बढ़ने से मुद्रा के मूल्य में ह्रास हो जाता है, कीमतें बढ़ने लगती हैं, आयात अधिक और निर्यात कम होने लगते हैं, स्वर्ण का निर्यात होने लगता है, देश में स्वर्ण कोषों में कमी हो जाती है जिसके फलस्वरूप मुद्रा की मात्रा में भी कमी हो जाती है। तीसरे, **इस प्रकार के स्वयं सामंजस्य के कारण देश के भीतर कीमत स्तर में संतुलन बना रहता है,** क्योंकि स्वर्ण एक ऐसा दुर्लभ पदार्थ है जिसकी पूर्ति में अल्पकाल में परिवर्तन नहीं होते। मुद्रा के मूल्य में स्थिरता कीमत स्तर में स्थिरता लाने में सफल होती है। अंत में, **इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली से विनिमय दरों में भी स्थिरता बनी रहती है** जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में काफी वृद्धि हो जाती है। स्वर्ण के स्वतंत्र आयात और निर्यात के कारण यदि किसी देश में मांग और पूर्ति के परिवर्तनों के फलस्वरूप स्वर्ण के मूल्य में भी परिवर्तन हो जाते हैं तो आवश्यकतानुसार स्वर्ण की पूर्ति घट या बढ़ जाती है जो विनिमय दरों में स्थिरता ले आती है।

इन अच्छाइयों के साथ-साथ स्वर्णचलन मान में अनेक दोष भी पाये जाते हैं जो विशेषतः प्रथम महायुद्ध तथा उसके पश्चात प्रकट हुये। इस प्रणाली के अंतर्गत मौद्रिक नीति का अभाव होता है, क्योंकि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन स्वर्ण कोषों के विस्तार और संकुचन पर ही निर्भर करते हैं। आधुनिक विचारधारा इस दृष्टिकोण के साथ है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था को ध्यान में रखकर करना चाहिए जो स्वर्ण चलनमान में संभव नहीं होता। एक पिछड़ा देश पिछड़ा ही रहेगा यदि उसमें स्वर्ण कोषों के विस्तार होने के कारण मुद्रा की मात्रा में विस्तार न किया गया। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अंतर्गत सहयोग (अनेक देशों के बीच) का बड़ा महत्व है। स्वर्ण का आयात निर्यात, मुद्रा की परिवर्तनशीलता, स्वर्णकोषों के साथ मुद्रा का विस्तार एवं संकुचन तभी संभव हो सकता है जब प्रत्येक देश एक दूसरे पर विश्वास रखकर स्वतंत्रता के सिद्धान्त को मानता है। युद्धोत्तर काल में स्वर्णमान के सही संचालन में इसी बात की कठिनाई प्रतीत हुई जिसके फलस्वरूप धीरे धीरे एक के बाद दूसरे देश को स्वर्णमान छोड़ना पड़ा।

स्वर्णपाटमान : (Gold Bullion Standard)

चलन नहीं होता। अर्थात् स्वर्ण केवल मूल्यमापक के रूप में ही रहता है परन्तु विनिमय माध्यम के रूप में पत्र-चलन-मुद्रा एवं सांकेतिक सिक्कों का प्रयोग होता है। सरकार स्वर्ण का मूल्य देश की मुद्रा में निर्धारित कर देती है और इस दर पर मौद्रिक संस्था अपरिमित मात्रा में स्वर्ण को खरीदने एवं बेचने का आश्वासन देती है। कभी कभी विशेष परिस्थितियों के कारण स्वर्ण की एक न्यूनतम मात्रा भी निर्धारित कर दी जाती है जिससे अधिक मात्रा होने पर ही सरकार स्वर्ण का क्रय तथा विक्रय करती है। स्पष्ट है कि इस मुद्रामान के अंतर्गत पत्र-चलन-मुद्रा के पीछे शतप्रतिशत मूल्य के बराबर स्वर्ण कोष नहीं रक्खे जाते। इस प्रणाली के अंतर्गत भी स्वर्ण के आयात और निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जाता और सरकार बात इस पर सतर्क रहती है कि विदेशी भुगतानों के लिए मुद्रा की परिवर्तनशीलता में कोई परेशानी न हो। क्राउथर (Crowther) ने स्वर्णपाटमान की परिभाषा देते हुए लिखा है कि "कि जब स्वर्ण के सिक्के चलन में नहीं होते, किन्तु केन्द्रीय बैंक पर निश्चित कीमत पर चलन के बदले स्वर्ण का परिमित मात्रा में क्रय-विक्रय करने का वैधानिक उत्तरदायित्व होता है तो इसे स्वर्णपाटमान कहते हैं,क्योंकि चलन मुद्रा स्वर्णपाट में परिवर्तित होती है न कि स्वर्ण के सिक्कों में।[1]

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उन देशों ने, जहां स्वर्ण के पर्याप्त कोष उपलब्ध थे, इस मान को अपनाया। महायुद्ध की समाप्ति पर जब उन देशों ने जिन्होंने युद्धकाल में स्वर्णमान को त्याग दिया था पुनः स्वर्णचलनमान को अपनाने का निश्चय किया तो उनके सामने कई व्यवहारिक कठिनाइयाँ आईं। युद्धकाल में सभी देशों में पत्रमुद्रा के प्रसार के कारण मुद्रा की कुल मात्रा तथा स्वर्णकोष में काफी असाम्य हो गया था। स्वर्ण चलनमान अपनाने में या तो पत्र मुद्रा की मात्रा कम की जाती या स्वर्ण-कोषों को बढ़ाया जाता अथवा मुद्रा तथा स्वर्णकोषों के बीच नई विनिमय दर स्थापित कर दी जाती। इन कठिनाइयों के फलस्वरूप स्वर्णमान के इस नये रूप को अपनाया गया जिसके अंतर्गत देशों ने अपनी कुल मुद्रा को उस समय के स्वर्णकोषों के आधार पर परिवर्तनशील कर दिया। सन् १९२५ में इंगलैण्ड ने और सन् १९२८ में फ्रांस ने यह मान युद्ध पूर्व की मुद्रा एवं स्वर्ण-दर पर अपनाया। भारत में यह मान १९२७ में अपनाया गया जब सरकार ने २१ रुपये १० आना ७ पाई प्रति तोला की दर से सोना

---

1. When gold coins do not circulate, but the Central Bank is nevertheless under legal obligation to buy and sell gold in exchange for currency at a fixed price and in unlimited amounts (sometimes with a minimum amount fixed but never a maximum) it is known as the gold bullion standard, as the currency is then convertible not into gold coins but into gold bullion.

—An Outline of Money—p 280.

बदलने का आश्वासन दिया। परन्तु यहां पर न्यूनतम मात्रा ४० तोले सोने की कर दी, गई थी जिस प्रकार इंगलैण्ड में बैंक नोटों का स्वर्ण में परिवर्तन ४०० औंस वाली सोने की पाटों में किया जाता था। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार के मान की स्थापना का सुझाव रिकार्डो ने सन् १८१६ में ही दिया था।

यद्यपि स्वर्णपाटमान कठिन परिस्थितियों में अपनाया गया परन्तु इसके गुणों को नहीं भुलाया जा सकता। सर्वप्रथम, **इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली के अंतर्गत स्वर्ण की बचत होती हैं क्योंकि चलन-मुद्रा कागज के नोटों के रूप में होती** है अतः सिक्कों की घिसावट से स्वर्ण ह्रास का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे **स्वर्ण कोषों का सार्वजनिक हित में प्रयोग होता है** तथा जनता का मुद्रा पर विश्वास बना रहता है। तीसरे **मुद्रामान की यह प्रणाली लोचपूर्ण भी होती है** क्योंकि स्वर्ण कोषों की मात्रा में थोड़ा परिवर्तन करके मुद्रा की मात्रा में भारी परिवर्तन लाये जा सकते हैं। अन्त में, **प्रणाली के स्वयंचालिता गुण के कारण विनिमय दरों तथा कीमतों में स्थिरता** लाई जा सकती है।

इसके साथ ही साथ यह प्रणाली त्रुटियों से परे भी नहीं है। सर्वप्रथम, इस प्रकार का मुद्रामान संकट काल के लिए उपयुक्त नहीं होता क्योंकि इस पर जनता का विश्वास कम हो जाता है और बड़े अनुपात में पत्र-चलन-मुद्रा को परिवर्तित कराने की प्रवृत्ति पाई जाने लगती है। दूसरे, इस प्रकार की प्रणाली के अंतर्गत सरकारी हस्तक्षेप की संभावनायें बढ़ जाती हैं, जिसके फलस्वरूप एक देश का विश्वास दूसरे देश पर कम होने लगता है। और अंत में, परिवर्तनशीलता बनाये रखने के लिए स्वर्ण कोषों के निर्माण से काफी क्षतिपूर्ण व्यय होता है।

स्वर्ण विनिमयमान : (Gold Exchange Standard) :

स्वर्ण विनिमयमान स्वर्णमान का एक ऐसा रूप होता है जिसके अन्तर्गत स्वर्ण न तो विनिमय का माध्यम होता है और न प्रत्यक्ष रूप से मूल्यमापन का ही कार्य करता है। देश की मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण पर आधारित किसी अन्य देश की मुद्रा से कर दिया जाता है जिससे स्वर्ण का परोक्ष रूप में प्रभाव पड़ने लगता है। देश में अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा तथा साँकेतिक सिक्कों का प्रचलन होता है। देश की मुद्रा एक निश्चित दर पर ऐसे देश की मुद्रा में, जो स्वर्णचलनमान अथवा स्वर्णपाटमान पर आधारित होता है, परिवर्तनीय घोषित कर दी जाती है। सैद्धान्तिक रूप से विदेशी भुगतान करने के लिए मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा द्वारा स्वर्ण प्राप्त किया जा सकता है परन्तु व्यवहार में विदेशी मुद्रा ही दी जाती है। विदेशों से भुगतान स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा में स्वीकार किये जाते हैं। स्वर्ण का राष्ट्रीय बाजार स्वतंत्र होता है परन्तु आयात एवं निर्यात स्वतंत्र नहीं होते। क्राउथर के अनुसार "स्वर्ण विनिमयमान

में केन्द्रीय बैंक पर चलन को स्वर्ण में परिवर्तित करने का कोई वैधानिक उत्तरदायित्व नहीं होता, परन्तु किसी अन्य चलन में, जो स्वयं स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है परिवर्तनशीलता रखनी होती है।"[1] इस प्रणाली के अंतर्गत मुद्रा के पीछे स्वर्ण के स्थान पर विदेशी विनिमय कोष रक्खा जाता है। विदेशी विनिमय को देशी मुद्रा के बदले क्रय-विक्रय किया जाता है और इस प्रकार देश में मुद्रा की चलन मात्रा विदेशी व्यापार तथा विदेशी पूंजी के आयात और निर्यात द्वारा प्रभावित होती है। देश अपनी स्वर्ण संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन देशों के स्वर्ण कोषों पर निर्भर रहता है जिनमें उसकी मुद्रा परिवर्तनशील होती है। इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली का नाम उस मुद्रा से संबंधित कर दिया जाता है जिससे उस देश की मुद्रा संबंधित होती है जैसे स्टर्लिंग विनिमयमान अथवा डालर विनिमयमान।

इस मान को सर्वप्रथम हालैण्ड ने १८७७ में अपनाया। सन् १८९२ में रूस, आस्ट्रेलिया तथा हंगरी ने अपनाया। रूस सरकार अपने रुबल को २.२० मार्क के बदले बेचती तथा २·१८ मार्क के बदले खरीदती थी। सन् १८९८ में भारत में 'लंदन स्वर्ण कोष' की स्थापना की गई तथा १९०० में रुपयों को लंदन बिलों में बदलना आरम्भ किया गया। १९०७–८ में भारत ने इस मान को अपनाया जब कि स्टर्लिंग की विनिमय दर १ पौंड = १५ रुपया निर्धारित की गई। इस मुद्रा प्रणाली के अंतर्गत एक कोष इंगलैण्ड में तथा दूसरा कोष भारत में रखा जाता था। यह मुद्रा मान भारत में सन् १९१७ तक चलता रहा जब कि युद्ध के कारण विनिमय दर में अस्थिरता उत्पन्न होने लगी। युद्ध के पश्चात इस प्रणाली को भारत ने पुनः अपना लिया परन्तु विनिमय दरों में बराबर परिवर्तन होते रहे। अन्त में, सन् १९२६ में स्वर्णपाटमान को अपनाने के लिए इस मान को त्याग दिया गया। स्वर्ण विनिमय मान किसी न किसी रूप में डेनमार्क, चिली, पोलैण्ड, जर्मनी, इक्वेडर, आस्ट्रेलिया तथा मेक्सिको आदि देशों ने भी अपनाया।

स्वर्ण विनिमय मान मितव्ययी होता है क्योंकि इसमें सिक्कों (स्वर्ण के) का चलन नहीं होता तथा स्वर्ण के विशाल कोष की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार निर्धन देश भी स्वर्ण मान के सभी लाभ उठा पाते हैं। **इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली लोच पूर्ण होती है,** क्योंकि मुद्रा की मात्रा के विस्तार एवं संकुचन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। **विदेशों में स्वर्ण का विनियोग कर सरकार लाभ प्राप्त करती है** तथा अंतर-राष्ट्रीय भुगतानों को सुगम बनाती है।

---

1. A third form is the 'gold exchange standard,' under which the legal obligation resting upon the Central Bank is to redeem the currency not in gold itself but in some other currency which is itself convertible into gold.

An outline of Money—p 280.

इसके साथ ही इस प्रकार के स्वर्णमान के अनेक दोष भी हैं। स्वर्ण विनिमय मान में मुद्रा का आधार सोना नहीं होता और इसलिए जनता का विश्वास कम रहता है। इसको वास्तविक रूप में स्वंचालित मान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रणाली में पूर्ण स्वर्ण मान की विशेषताओं का अभाव रहता है। जिस देश की मुद्रा के साथ स्वर्ण विनिमय मान वाले देश अपनी मुद्रा का सम्बन्ध रखते हैं उनकी मौद्रिक व्यवस्थाओं के ऊपर ही देश की आर्थिक व्यवस्था निर्भर करती है। अंत में इस मान के अन्तर्गत अनेक कोष रखने पड़ते हैं जिनकी व्यवस्था करना कभी कभी बहुत कठिन हो जाता है।

स्वर्णमान के अन्य रूप :

कुछ लेखकों ने स्वर्ण मान के और भी रूपों–स्वर्ण कोष मान तथा स्वर्ण समता मान का वर्णन किया है। इन लेखकों के अनुसार स्वर्ण पाटमान की समाप्ति के बाद द्वितीय विश्वयुद्ध तक जिस मौद्रिक प्रणाली को बेल्जियम, फ्रांस, इंगलैण्ड, हालैण्ड, स्विटज़रलैण्ड एवं अमेरिका ने समझौते द्वारा अपनाया **'स्वर्णकोष मान'**(Gold Reserve Standard) कहा जा सकता है। इस समझौते के अन्तर्गत स्वर्ण का विनिमय एक विशेष प्रकार के कोषों द्वारा किया जाता था जिनको 'विनिमय समता कोष' (Exchange Equilisation Fund) कहा गया। यह 'विनिमय समता कोष' संबन्धित देशों के खजानों का एक विभाग था जिसका निर्माण स्वर्ण एवं अपने देश की मुद्रा द्वारा किया जाता था। विभिन्न देशों को यह मुद्रा विदेशी विनिमय प्राप्त करने में सहायक होती थी जो राशि के निश्चित अनुपात तक विनिमय बाजारों में, विनिमय दरों में स्थिरता रखने के लिए विदेशी विनिमय करती एवं स्वर्ण बेचती और खरीदती थी। अतएव स्वर्ण मान होते हुए भी एक देश दूसरे देश को स्वर्ण के आवागमन द्वारा जो, गुप्त रक्खा जाता था, अनेक देशों के बीच विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रक्खी जाती थी। इसी प्रकार इनके अनुसार 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' (International Monetary Fund) की सहायता से अनेक देशों ने जिस मान को अपनाया वह भी स्वर्णमान का एक रूप है जिसको **'स्वर्ण समता मान'**(Gold Parity Standard) का नाम दिया जाता है। इस मान के अंतर्गत भी आंतरिक मुद्रा नोटों एवं अन्य धातुओं के सिक्कों की होती है तथा स्वर्ण का प्रयोग इस दृष्टि से होता है कि चलन अधिकारी मुद्रा की विनिमय दर में स्थिरता स्वर्ण की निश्चित मात्रा के संदर्भ में बनाये रक्खे। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को अपनी मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित करनी पड़ती है, जिसके आधार पर देशों के बीच विनिमय दरों का निर्धारण होता है। यद्यपि इन मुद्रा प्रणालियों के अंतर्गत मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से किया जाता है, चाहे वह सम्बन्ध सैद्धांतिक रूप में हो या व्यावहारिक रूप में, परन्तु इनको हम स्वर्ण मान के अनेक रूपों का स्थान नहीं दे सकते। इसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा।

स्वर्ण मान के उद्देश्य (Objectives of Gold Standard)–**राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान :**

स्वर्ण मान के उद्देश्यों का विवरण दो क्षेत्रों के संबन्ध में दिया जा सकता है–आंतरिक अथवा राष्ट्रीय क्षेत्र तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र । **आंतरिक क्षेत्र में स्वर्णमान का उद्देश्य देश की मुद्रा की मात्रा को स्वर्ण की मात्रा से सम्बन्धित एवं नियमन करना होता है** । ऐसा 'स्वचालकता' (automatic) की विशेषता के कारण होता है । "आंतरिक क्षेत्र में स्वर्णमान मुद्रा की मात्रा को स्थिर नहीं रखता परन्तु उसमें उच्यावचन होने देता है; यह केवल मुद्रा की मात्रा एवं स्वर्ण कोषों के बीच संबन्ध को संतुलित रखता है ।"[1] ऐसा करने के लिए यह कानूनी व्यवस्था की जाती है कि जारी की जाने वाली करेंसी की कुल मात्रा का एक निश्चित प्रतिशत करेंसी की आड़ स्वरूप स्वर्ण-कोष (Gold reserve) के रूप में रक्खा जाय । यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि स्वर्णमान स्वभावत: एक स्वतंत्र मान (leissez faire standard) होता है अथवा अपने आप संचालित होता है और इसमें सरकार को या मुद्रा अधिकारियों को कम से कम हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है ।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका कार्य विनिमय दरों में स्थिरता लाना होता है जिससे कि उन देशों में कीमतों तथा आयों के स्तरों पर संतुलन बना रहे । अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्णमान का अर्थ केवल ऐसी व्यवस्थाओं का ही हो सकता है, जो कि साथ साथ अनेक देशों में विद्यमान हों और जिनके द्वारा उनमें से प्रत्येक देश में एक निश्चित दर पर स्थानीय चलन-मुद्रा का स्वर्ण में और स्वर्ण का स्थानीय मुद्रा में परिवर्तन हो सकता है और जिनके द्वारा इन देशों के बीच स्वर्ण के आयात और निर्यात को पूर्ण स्वतंत्रता होती है । स्वर्ण के आयात-निर्यात से मूल्य स्तर में भी वृद्धि या कमी होती रहती है, जिससे विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में संतुलन स्थापित हो जाता है और कोई भी देश बहुत अधिक समय तक अपने निम्न मूल्य स्तर के कारण लाभ नहीं उठा सकता ।

नि:संदेह आँतरिक क्षेत्र में मुद्रा की मात्रा एवं स्वर्ण की मात्रा में सम्बन्ध देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा पर निर्भर करेगा । इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशा का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों तथा विनिमय दरों द्वारा होगा । अत: स्वर्ण

---

1. "The domestic gold standard does not stabilise the volume of currency, but forces it to fluctuate. It merely stabilises the relation between the volume of gold and the volume of currency."

2. Gold standard is essentially a leissez faire standard.

मान का उद्देश्य विनिमम दरों में (निश्चित सीमाओं के भीतर) स्थिरता बनाये रखने का होता है, जो स्वर्ण के एक देश से दूसरे देश को आयात तथा निर्यात द्वारा प्रभावित होते हैं। स्वर्णमान का द्वितीय उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में संतुलन बनाये रखने का होता है। स्वर्णमान आँतरिक क्षेत्र में मुद्रा की मात्रा में संतुलन नहीं लाता परन्तु यह उसको परिवर्तनीय बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकतानुसार स्वर्ण की मात्रा से संतुलित करता है।[1] इसको इसकी कार्य प्रणाली से ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

स्वर्णमान की कार्य प्रणाली : (Mechanism of Gold Standard)

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है **आँतरिक क्षेत्र में स्वर्णमान का उद्देश्य स्वर्ण की मात्रानुसार मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन लाना तथा कीमतों को प्रभावित करने का होता है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह एक प्रकार की कार्य प्रणाली प्रस्तुत करता है जिससे विनिमय दरों में स्थिरता लाकर अनेक देशों के बीच कीमत तथा आयों के बीच संतुलन लाया जाता है।** स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर 'टंकण के समता सिद्धांत' (Mint Par Theory) पर आधारित होता है तथा निश्चित सीमाओं के भीतर परिवर्तित होता है। विनिमय दरों के असंतुलन स्वर्ण के आयात तथा निर्यात द्वारा अपने आप ठीक हो जाते हैं। स्वर्ण की स्थिति-परिवर्तन से प्रभावित होने वाले देशों की आय तथा कीमतों पर परिवर्तन मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों द्वारा हो जाते हैं, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी परिवर्तन हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप असाम्य अथवा असंतुलन की दशा ठीक हो जाती है। यदि अन्य कारणों से भी किसी देश में आय और कीमतों के स्तर में परिवर्तन हो जाते हैं तो इनके असंतुलन से विभिन्न विनिमय दर में भी परिवर्तन हो जायेंगे तथा इस प्रकार होने वाली स्वर्ण की स्थिति-परिवर्तन में साम्य की दशा आ जायगी अथवा कीमतों और आयों के असंतुलन ठीक हो जायेंगे। इसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—

मान लीजिये कि y और x दो ऐसे स्वर्णमान वाले देश हैं जिनके बीच विनिमय दर १£=५$ है। इसका अर्थ यह होगा कि दोनों देशों के बीच स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतंत्र है तथा ५ डालर के बदले जितना सोना उसके अपने देश x में मिल सकता है उतना ही सोना १£ से उसके देश y में मिल सकता है। मान लीजिये किसी समय y

1. The cardinal point in the Domestic gold standard is clearly the proportion of volume enforced by law between the gold reserve and the currency. The essence of the International gold standard is the convertibility of the currency in to gold-that is the fixed proportion of value between a unit of gold and a unit of the currency.

Crowther : An Outline of Money—p.284.

देश का भुगतान शेष (Balance of Payment) प्रतिकूल है तथा X देश का अनुकूल हो जाता है तो y देश में डालर की मांग बढ़ जायगी क्योंकि वहां के लोगों को X देश में अपने ऋण दाताओं को अधिक भुगतान करना होगा। इसके विपरीत X देश में लोग $ के बदले £ की मांग कम करेंगे अथवा £ की मांग कम हो जायगी। $ की मांग बढ़ जाने के कारण उसके मूल्य में भी वृद्धि हो जायगी तथा १ £ के बदले ५$ से कम का विनिमय होने लगेगा। परन्तु यह एक सीमा तक ही होगा। यदि y देश के लोग जिनको X देश में भुगतान करना है अपने देश के मौद्रिक अधिकारी से £ के बदले सोना लेकर X देश में अपने ऋणदाताओं को भेज दें जहां पर उतने ही सोने को ५ डालर में बदला जा सकता है, तो इससे भुगतान किया जा सकता है। परन्तु इस प्रकार लागत का प्रश्न उठेगा। यदि भुगतान में एक £ के मूल्य के सोने के स्थानांतरण में .०१ £ अतिरिक्त लागत आती है तो y देश के प्रत्येक व्यक्ति को X देश में सोना भेजने पर ५ $ के लिए १.०१ £ (अथवा १ £ = ४·९६ $) व्यय करना पड़ेगा। यदि वास्तविक विनिमय दर १ £=४·९६ $ से कम हो जाती है तो लोग स्वर्ण का निर्यात y देश से X देश को करना प्रारंभ कर देंगे ऐसा न करने से उनको अधिक हानि होगी। इसके विपरीत यदि किसी समय X देश का भुगतानशेष प्रतिकूल हो जाय और y देश का अनुकूल हो जाय, जिसके फलस्वरूप £ की मांग $ से अधिक हो जाय तो £ का अधिमूल्यन हो जायगा। यदि इसी प्रकार X देश के लोग y देश में अपने ऋणदाताओं को भुगतान करने के लिए प्रति £ के मूल्य का सोना भेजने को निश्चय करें तथा उस स्थानांतरण करने की लागत ·०५ $ का भार सहें तो उनको £ की प्रति इकाई का भुगतान करने में ५+·०५=५·०५ $ व्यय करने पड़ेंगे। यदि विनिमय दर १£=५·०५ $ से अधिक हो जाती है तो स्वर्ण का निर्यात X देश से y देश को होना प्रारंभ हो जायगा।

यदि एक देश से दूसरे देश को सोना जाना प्रारंभ हो जाता है तो स्वर्णमान की स्वचालित प्रणाली इस प्रवृत्ति को स्वयं रोक देगी। उसी उदाहरण में यदि X से सोना y देश को जाने लगता है तो X देश में मुद्रा की मात्रा कम हो जायगी तथा y देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ जायगी। X देश में बैंक-कोषों में भी परिवर्तन होने लगेगा क्योंकि लोग अपनी जमा को कम करने की प्रवृत्ति अपना लेंगे। कोषों के अनुपात को बनाये रखने के लिए यहाँ के बैंक अपने साख-विस्तार का संकुचन करेंगे। यह देश की केन्द्रीय बैंक द्वारा हो पायेगा। अतः X देश में चलन-मुद्रा तथा साख-मुद्रा की मात्रा में संकुचन होगा जिसके फलस्वरूप कीमतें गिरने लगेंगी। दूसरी ओर y देश में मुद्रा की चलन मात्रा तथा साख-मुद्रा में विस्तार होगा और कीमतें बढ़ने लगेंगी। X देश में आय, कीमतें व आर्थिक क्रियायें कम हो जायेंगी और व्याज की दर ऊंची हो जायगी; जबकि y देश में आय, कीमतें तथा आर्थिक क्रियायें बढ़ने लगेंगी और व्याज

की दर कम हो जायगी। इन परिवर्तनों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी परिवर्तन हो जायेंगे। x देश में निर्यात बढ़ेंगे और y देश में आयात। इस प्रकार भुगतानशेषों तथा अनेक देशों के कीमत स्तर में असंतुलन स्वर्णमान के 'स्वचालित' गुण द्वारा ठीक हो जाते हैं।

इस सारी कार्यविधि से समाज में अस्त-व्यस्तता फैल जाती है। जिस देश में स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाती है उसमें मुद्रा प्रसार के अनेक प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं–कीमतें बढ़ने लगती हैं तथा आय के वितरण में परिवर्तन होने लगते हैं। इसके विपरीत जिस देश में स्वर्ण की मात्रा कम होने लगती है उसमें मुद्रा संकुचन के प्रभाव दिखलाई पड़ने लमते हैं–उत्पादन में ह्रास होने लगता है, आय में कमी एवं बेरोजगारी में वृद्धि होने लगती है।

स्वर्णमान के नियम : (Rules of Gold Standard)

साधारण रूप में ऐसा समझ में आता है कि स्वर्णमान के अंतर्गत निश्चित उद्देश्यों को उसकी कार्य-प्रणाली द्वारा पूरा किया जा सकता है। वास्तव में यह तभी संभव हो पाता है जब कि मौद्रिक अधिकारी इसकी कार्यविधि पर ठीक से नियंत्रण रखता है। प्राय: स्वर्णमान की तुलना एक 'खेल' से की जाती है। जब तक कि उस खेल के नियमों का पालन नहीं किया जाता अच्छा खेल संभव नहीं हो सकता; उसी प्रकार से यदि स्वर्णमान के अनेक नियमों का पालन नहीं किया जाता तो उसकी कार्य प्रणाली द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती। क्राउथर (Crowther) ने लिखा है कि "स्वर्णमान 'ईर्ष्यालु देव' है, यह तभी कार्य करता है जब एक मात्र उसकी साधना की जाती है।"[1] इसके पहले कि हम उन नियमों का विवेचन करें यह अच्छा होगा कि उन कारणों का हम अध्ययन कर लें जिनके फलस्वरूप स्वर्ण एक देश से दूसरे देश को जाने लगता है, क्योंकि स्वर्ण की यह स्वतंत्र गति स्वर्णमान की मुख्य विशेषता है। बेनहम (Benham) के विचारानुसार सात कारणों से सोना एक देश से दूसरे देश को जाने लगता है : (क) यदि एक देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और दूसरे देश में ऐसा नहीं होता, तो उस देश में कीमतें दूसरे देश की अपेक्षा बढ़ जायेंगी। इससे निर्यात कम हो जायेंगे तथा आयात बढ़ जायेंगे। स्वर्णमान के अंतर्गत ऐसे देश से सोना दूसरे देश को जाने लगेगा। (ख) यदि एक देश दूसरे देश में पूंजी लगाने लगता है या दूसरे देशों को ऋण देने लगता है तो उस देश का भुगतान शेष (Balance of Payment) प्रतिकूल हो जाता है जिससे सोना उस देश से दूसरे देशों को जाने लगता है। (ग) एक देश के, जिसकी वस्तुओं और सेवाओं की मांग दूसरे

---

1. "Gold standard is a jealous god. It will work provided it is given exclusive devotion." Outline of Money—page 306

देशों की अपेक्षा अधिक हो जाती है, व्यापारशेष (Balance of Trade) अनुकूल हो जाता है और देश में सोना आना आरम्भ हो जाता है। विपरीत अवस्था में सोना दूसरे देशों को जाने लगेगा। (घ) यदि किसी देश में जन संख्या में वृद्धि हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मुद्रा की मांग में भी वृद्धि हो जाती है, मुद्रा का मूल्य बढ़ जायेगा और कीमतें गिर जायेंगी। इससे सोना उस देश में आने लगेगा। (ङ) यदि किसी देश में बचत की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे पूंजी की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है, तो उससे उत्पादन बढ़ने लगेगा, कीमतें गिरने लगेंगी, वस्तुओं के निर्यात तथा सोने का आयात बढ़ जायगा। इसी प्रकार से देश में यदि तकनीकी (Technical) उन्नति के कारण उत्पादन लागत कम होने लगती है तो वस्तुओं के आयात कम हो जायेंगे। और निर्यात बढ़ जायेंगे, फलतः सोना देश में आना शुरू हो जायगा।

यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह परिवर्तन सापेक्षिक है और देशों की व्यवस्था में सापेक्षिक परिवर्तनों के कारण ही स्वर्ण का एक देश से दूसरे देश को जाना प्रारंभ हो जाता है। इस संदर्भ के साथ अब हम स्वर्णमान के निम्नलिखित तीन नियमों का अध्ययन करेंगे :—

१—स्वर्ण-कोषों के अनुपात में साख तथा मुद्रा का विस्तार एवं संकुचन करना (expansion & contraction of currency & credit in proportion to gold) : स्वर्णमान के अंतर्गत सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण नियम यह है कि स्वर्ण की स्थिति-परिवर्तन के कारण होने वाले कीमतों के परिवर्तनों को रोकने के लिए किसी भी प्रकार का कोई नियंत्रण नहीं लगाना चाहिए। जब देश में स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाय तो मुद्रा की मात्रा को बढ़ने देना चाहिए तथा सोने की मात्रा के कम होने पर मुद्रा की मात्रा को घटने देना चाहिए। कम सोने वाले देश में कीमतें गिरने देना चाहिये तथा अधिक सोने वाले देश में कीमतें बढ़ने देना चाहिये। यह तभी हो सकता है जब कि मुद्रा अधिकारी स्वर्ण-कोषों के अनुपात में ही मुद्रा का विस्तार एवं संकुचन करे। स्वर्ण का आना-जाना मुद्रा अधिकारियों को सूचक के रूप में समझना चाहिये और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि तथा ह्रास स्वर्ण-कोषों के विस्तार व संकुचन के साथ साथ करना चाहिये। सन् १९१४ के पहले मौद्रिक अधिकारी मुद्रा की मात्रा में इस प्रकार का परिर्वतन प्रायः बैंक दर के परिवर्तन द्वारा ही करते थे। बैंक-दर की वृद्धि से साख का संकुचन होता था तथा उसकी गिरावट से साख का विस्तार होता था और इस प्रकार देश में मुद्रा प्रसार व मुद्रा संकुचन के गुण विद्यमान हो जाते थे। युद्धोत्तर काल में केन्द्रीय बैंक की 'खुले बाजार प्रणाली' ही साख के विस्तार और संकुचन की प्रमुख रीति बन गई तथा इसी से कीमतों को प्रभावित किया जाने लगा और स्वर्ण के आयात तथा निर्यात के प्रभावों को अपनाया जाने लगा। अस्तु, स्वर्ण-कोषों की वृद्धि

तथा ह्रास के अनुपात में ही मुद्रा तथा साख की मात्रा में परिवर्तन करना आवश्यक होता है क्योंकि इसी से व्यापारशेष में स्वयं संतुलन आ जाता है। क्राउथर ने ठीक ही कहा है कि "स्वर्णमान का स्वर्ण नियम है, कि जब देश में स्वर्ण आ रहा हो तो साख का विस्तार और जब स्वर्ण का निर्यात हो रहा हो तब साख का संकुचन करना चाहिये।"

२–स्वतंत्र व्यापार नीति का पालन (observance of free-trade policy) स्वर्ण का दूसरा नियम यह है कि व्यापार में संतुलन की स्थिति प्राप्त करने के लिये व्यापार को स्वतंत्र रखना चाहिये तथा उसमें किसी प्रकार का कोई भी नियंत्रण न लगाना चाहिये। यदि किसी देश की सरकार अपने उद्योगों को संरक्षण देने के लिये आयात की जाने वाली वस्तुओं पर नियंत्रण लगाती है तो भुगतान शेष संतुलित नहीं रह पायेगा। किन्तु जब किसी देश का भुगतान शेष प्रतिकूल होता है और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतंत्र होता है तो वह स्थिति स्वतः ही ठीक हो जाती है। देश का व्यापार प्रतिकूल होने के कारण देश से स्वर्ण का निर्यात होगा और पहले नियम का पालन करते हुये मुद्रा की मात्रा कम की जायेगी जिससे देश में कीमतें गिरेंगी, आयात कम होंगे और निर्यात बढ़ेंगे। परिणाम यह होगा कि स्वर्ण का निर्यात कम हो जायगा और आयात बढ़ जायगा।

३–देश की अर्थ-व्यवस्था में पर्याप्त लोच होना आवश्यक है (presence of elasticity in the economic system) :–स्वर्णमान के सफलतापूर्वक संचालन के लिये मुद्रा प्रणाली में पर्याप्त लोच होना आवश्यक है। यदि देश में स्वर्ण के आयात के कारण मुद्रा में होने वाली वृद्धि के साथ कीमतों तथा मज़दूरी की दर बढ़ती है और देश के स्वर्ण निर्यात के साथ मुद्रा की मात्रा घटने पर कीमतें तथा मज़दूरी की दर घटती है तो अर्थ व्यवस्था लोचदार कही जाती है। इसके विपरीत यदि देश में स्वर्ण का आयात हो रहा हो और मुद्राधिकारी उस बढ़ते हुए स्वर्ण के साथ साथ मुद्रा की मात्रा भी बढ़ा रहे हों किन्तु कीमतें फिर भी न बढ़ रही हों तो स्वर्ण का आयात होता रहेगा और स्वर्णमान इसे रोकने में असमर्थ रहेगा।

इस प्रकार स्वर्ण एवं मुद्रा की मात्रा में घनिष्ट सम्बन्ध, मूल्य व्यवस्था में पर्याप्त लोच, व्यापार नियंत्रणों का न होना इत्यादि ऐसे कारण हैं जो स्वर्णमान के नियमों के अंतर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। यहां पर यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि स्वर्णमान के नियमों के पालन से देश के कीमत स्तर को सामान्य स्थिति पर स्थिर होना अनिवार्य नहीं है। इन नियमों के पालन करने पर अंतराष्ट्रीय कीमतों में समानता ही स्थापित होती है। क्राउथर ने लिखा है "कि स्वर्ण नियम कीमत स्तर की गम्भीरता बनाये रखने की पद्धति नहीं है, परन्तु इसके अंतर्गत इस बात की व्यवस्था रहती है कि प्रत्येक देश का कीमत स्तर सामान्य रूप से नशे में चूर रहेगा।"

स्वर्णमान के उद्देश्य, कार्य प्रणाली तथा नियमों के इस अध्ययन के पश्चात हम यह कह सकते हैं कि स्वर्ण कोषमान तथा स्वर्ण समतामान (Gold Reserve Standard & Gold Parity Standard) को स्वर्णमान के अंतर्गत सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

स्वर्णमान के लाभ तथा दोष (Advantages and Disadvantages of Gold Standard)

स्वर्णमान के समर्थक स्वर्णमान को पुन: अपनाने के अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि व्यवस्थित मुद्रा प्रणाली के सफलता पूर्वक कार्य करने से इस बात पर कोई महत्व नहीं देता कि स्वर्णमान पुन: अपनाया जाय, फिर भी स्वर्णमान के उन लाभों का वर्णन करना उपयुक्त होगा जिनके कारण इसके समर्थक इसके गुण की बात करते हैं। सर्वप्रथम **स्वर्णमान उन सभी देशों की विनिमय दर में स्थिरता प्रदान करता है जो इस प्रकार के मुद्रा मान को अपना लेते हैं।** विनिमय दरों की स्थिरता के कारण स्वर्णमान के अंतर्गत पूंजी एवं वस्तुओं की गतिशीलता बढ़ जाती है जिससे सभी देशों में आर्थिक उन्नति साथ साथ होती है। दूसरे, **स्वर्णमान एक सरल मौद्रिक प्रणाली होती है जिस पर लोगों का विश्वास सबसे अधिक होता है।** तीसरे, **स्वर्णमान संतुलित मान भी कहा जाता है क्योंकि इसके अंतर्गत स्वर्ण मूल्यों में संलतुन बनाये रखा जाता है।** ऐसा इसलिए होता है कि स्वर्ण की पूर्ति में परिवर्तन उसकी कुल राशि के थोड़े अनुपात में होता है। जिसके कारण मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन बहुत थोड़े अनुपात में होता है। चौथे, **स्वर्णमाम में स्वयंचालकता (Automatic) का गुण होता है** और इसलिये मौद्रिक अधिकारी की ओर से किसी भी प्रकार से नियंत्रण की आवश्यकता ही नहीं रहती। पांचवें, **स्वर्णमान के अंतर्गत सरकार अपनी इच्छानुसार मौद्रिक प्रणाली में परिवर्तन नहीं कर सकती** क्योंकि उनकी यह प्रवृत्ति सोने की मात्रा से बंधी हुई होती है। छठवें, **इस मान के अंतर्गत किसी एक देश से सोना दीर्घ काल के लिये बाहर नहीं रह सकता।** कुछ समय बाद वह अपने आप उस देश के अन्दर आ जायगा। यह सोने का आना और जाना मुद्रास्फीति की संभावनाओं को कम करता है और आर्थिक व्यवस्था को उनके हानिपूर्ण प्रभावों से बचाता है। सातवें, **राष्ट्रीय मौद्रिक नीति स्वतंत्र रूप से काम करती है** और किसी भी अंतर्राष्ट्रीय संस्था से संबन्धित नहीं होती और अंत में **स्वर्ण के कोष अंतर्राष्ट्रीय तरलता के परिवर्तनों से बचाते हैं।**

यह बतलाया जा चुका है कि व्यवस्थित मुद्रा प्रणाली के सफलता पूर्ण इतिहास ने स्वर्णमान के इन लाभों के महत्व को बहुत कम कर दिया है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा दूसरी अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के स्थापित होने के साथ स्वर्ण

मान की विशेषताओं का महत्व बिल्कुल ही समाप्त हो गया है। स्वर्णमान के अनेक दोषों का उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते हैं : सर्वप्रथम, इस मान के अंतर्गत स्वर्ण कोषों को रक्खा जाता है परन्तु उनको प्रयोग में नहीं लाया जाता जिससे यह प्रणाली व्ययपूर्ण बन जाती है। दूसरे, स्वर्णमान विशेष परिस्थितियों में ही अपनी कार्यविधि द्वारा अपने उद्देश्यों को पूरा कर पाता है। ये विशेष परिस्थितियां अनेक दशाओं पर निर्भर करती हैं जिनका होना कठिन सा होता है। तीसरे, आज के युग में, जब कि प्रत्येक देश का उद्देश्य पूर्ण वृत्ति की अवस्था तक पहुंचना है, स्वर्णमान बेकार सा प्रतीत होता है। सभी देश इस बात से सहमत हैं कि पूर्ण वृत्ति की स्थिति को पाने के लिये अपनी मौद्रिक नीति में आवश्यक परिवर्तन करते रहना चाहिये। चौथे, स्वर्ण-मान के प्रभाव अवसादपूर्ण होते हैं जिसके अंतर्गत बेरोज़गारी बढ़ती रहती है। ऐसा इसलिए होता है कि साख का संकुचन तो सरल होता है परन्तु उसका विस्तार कठिन हो जाता है। पांचवें, यह मान उसी समय सफल होता है जब प्रत्येक देश इसके नियमों का पालन करता है। पर प्रत्येक देश अपनी आर्थिक दशाओं को ध्यान में रख कर स्वर्ण-मान को स्वतंत्र रूप से अपनाने में संकोच करता है। छठवें, स्वर्णमान का स्वचालिता का गुण व्यवहारिक जीवन में कठिनता से ही प्रतीत होता है। स्वर्ण का मूल्य केन्द्रीय बैंक की आर्थिक नीति पर निर्भर करता है और इसलिये अब किसी भी प्रकार से व्यवस्थित मुद्रा प्रणाली से बचत नहीं हो सकती। अन्त में, स्वर्णमान के अंतर्गत मौद्रिक प्रणाली में लोच नहीं रहता, क्योंकि इसमें विस्तार अथवा संकुचन व्यवसाय के आधार पर नहीं किया जाता।

स्वर्णमान की अनेक अच्छाइयों के उपारन्त भी स्वर्णमान अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक मान न बन सका तथा धीरे धीरे प्रत्येक देश को यह मान त्यागना पड़ा। इसका विस्तृत अध्ययन हम अगले अध्याय में करेंगे।

निर्देश पुस्तकें

G. Crowther—An outline of Money–Ch. IX
R. G. Hawtrey–The Gold Standard in Theory & Practice–Ch. II & IV
T. E. Gregory–The Gold Standard and its Future
G. N. Halm–Monetary Theroy–Ch. XII
Hanson–Money Theory and Practice.

अध्याय ५

स्वर्णमान का इतिहास

स्वर्णमान के इतिहास का प्रारंभ १९वीं शताब्दी में सन् १८१६ से माना जा सकता है, जब इंगलैण्ड ने इस रूप में अपने मौद्रिक मान को अपनाया। १८१६ से १८७० तक अनेक देशों ने द्विधातुमान मुद्रा प्रणाली को अपनाने के प्रयत्न किये परन्तु स्वर्ण में चांदी के मूल्यों के परिवर्तन के कारण ऐसा न कर सके। ये उच्चावचन इतने होने लगे कि अनेक देशों को रजतमान भी बनाये रखने में कठिनाई प्रतीत होने लगी। इसके फलस्वरूप अनेक देशों ने, जिसमें जर्मनी, फ्रांस एवं अमरीका भी सम्मिलित थे, स्वर्णमान को अपनाया। प्रथम महायुद्ध के समय लगभग सभी देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया। युद्ध के पश्चात् इस मान का पुनर्स्थापन किया गया, पर युद्धोत्तर काल का स्वर्णमान युद्ध पूर्व काल के स्वर्णमान से भिन्न था। यही नहीं परन्तु युद्धोत्तर काल की आर्थिक एवं वित्तीय परिस्थितियां पहले से इतनी बदल गईं थीं कि स्वर्णमान का धीरे धीरे परित्याग कर दिया गया। इसका विस्तृत अध्ययन हम यहां करेंगे।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व स्वर्णमान : (Gold Standard before the First War)

प्रथम महायुद्ध के पहले स्वर्ण चलनमान के रूप में स्वर्णमान को अपनाया गया, जिसके अंतर्गत स्वर्ण मूल्यांकन के अतिरिक्त विनिमय माध्यम के रूप में भी कार्य करता था। स्वर्ण के आयात तथा निर्यात पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं था। मुद्रा की मात्रा तथा उसका मूल्य स्वर्ण की मात्रा पर निर्धारित रहता था, तथा सरकार मुद्रा को स्वर्ण से एक निश्चित दर पर बदलने का आश्वासन देती थी। १८१६ में इंगलैण्ड में 'सावरेन' (Sovereign) को ऐसा सिक्का घोषित किया गया जिसमें १२३·२७४४७ ग्रेन (११/१२ भाग शुद्ध) सोना होता था। 'बैंक आफ इंगलैण्ड' (Bank of England), जो देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता था, ३ पौण्ड १७ शि० ९ पेंस प्रति औंस की दर पर सोना खरीदता था और ३ पौण्ड १७ शि० १० $\frac{1}{2}$ पेन्स प्रति औंस की दर पर सोना बेचता था। प्रति औंस १॥ पेन्स के शेष सोने को मुद्रण के लागत को पूरा करने के लिये लिया जाता था। इसी प्रकार से दूसरे देशों ने भी स्वर्णमान को अपना रखा था। जर्मनी ने १८७१ ई० में स्वर्णमान को अपना

लिया था। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में भी १८७३ ई० में बनाये गये अधिनियम के अनुसार रजत की स्वतंत्र सिक्का ढलाई समाप्त कर दी गई थी तथा इस प्रकार स्वर्ण डालर को देश की प्रामाणिक मुद्रा स्वीकार किया गया था। डालर का मूल्य २३·२२ ग्रेन स्वर्ण निश्चित किया गया था। १८६५ में हुए फ्रांस, बेल्जियम, स्विटजरलैंड, इटली और ग्रीस के बीच एक समझौते के अनुसार १८७८ में इन देशों ने रजतमान छोड़ दिया और स्वर्णमान को अपना लिया। १८७३ में नार्वे और स्वीडन ने भी स्वर्णमान अपना लिया, और अनेक देशों की भांति स्वर्ण के सिक्कों को प्रचलन में डाल दिया। १८७५ में हालैन्ड ने और १८७९ में अमेरिका ने (विधानानुसार) भी स्वर्णमान अपना लिया। रूस ने अनेक कठिनाइयों के पश्चात १८९७ में स्वर्णमान स्थापित किया। इस प्रकार १८१६ से १९१४ तक योरुप और अमेरिका के अधिकतर देशों ने इस प्रकार के मुद्रामान को अपना लिया था। अनेक देशों द्वारा स्वर्णमान के अपनाने के वर्षों का ज्ञान निम्न तालिका से हो सकता है :[1]

देश	वर्ष	देश	वर्ष
ग्रेट ब्रिटेन	१८१६	यूराग्वे	१८७६
जर्मनी	१८७१	यू. एस. ए.	१८७९
स्वेडन	,,	आस्ट्रिया	१८९२
नारवे	१८७३	भारत	१८९३, १९०७
डेनमार्क	,,	चिली	१८९५
बेल्जियम	,,	जापान	१८९७
स्विटजरलैण्ड	१८७४	रूस	१८९८
इटली	,,	डोमिनिका रि.	१९०१
		पनामा	१९०४
फ्रांस	,,	मेक्सीको	१९०५
हालैंड	१८७५		

अधिकतर देशों ने स्वर्णमान के उसी रूप को अपनाया जिसको सर्वप्रथम इंगलैण्ड ने अपनाया था। इस काल में अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्णमान के अंतर्गत विभिन्न देशों के बीच विनिमय दरों में स्थिरता बनी रही और यह स्थिरता उस समय भी रही जब कि सोने की खानों का पता लग जाने के कारण सोने की पूर्ति में परिवर्तन हो गये। इंगलैण्ड की सत्ता का अनुभव सभी ने किया और यहां के लोगों ने अपनी पूंजी अनेक देशों में लगाई। इसके साथ ही आंतरिक क्षेत्र में प्रत्येक देश में उत्पादन तथा रोजगार की दशाओं में विस्तार हुआ। पौण्ड एवं लंदन वित्त बाजार की

1. League of Nations Report

दशाओं में स्थायित्व, आंतरिक व्यवस्थाओं में संतुलन तथा आय और कीमत स्तर में लोच का होना स्वर्णमान के सफलता पूर्वक कार्य करने के प्रमुख कारण थे।

इसी काल में कुछ देशों ने स्वर्णमान के एक परिवर्तित रूप को अपनाया जिसको 'स्वर्ण विनिमय मान' कहा जाता है। उन देशों ने इस प्रकार के मान को अपनाया जिनके पास 'स्वर्ण चलन मान' को अपनाने के लिये स्वर्ण की मात्रा कम थी, परन्तु जो स्वर्णमान के अनेक लाभों को उठाना चाहते थे। इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली के अंतर्गत यद्यपि स्वर्ण के सिक्कों का चलन नहीं होता था परन्तु देश की मुद्रा का सम्बन्ध ऐसे देश की मुद्रा से कर दिया जाता था जिसने 'स्वर्णमान' अपना रक्खा हो। इस प्रकार देश की करेंसी दूसरे देश की करेंसी के माध्यम से स्वर्ण में परिवर्तनीय हो जाती थी और अपनी मुद्रा के मूल्य में स्थिरता बनाये रखती थी। परिवर्तन के उत्तरदायित्व को निभाने के लिये सरकार विदेशी मुद्रा एवं स्वर्ण के एक कोष को बनाये रखती थी। इस प्रकार की प्रणाली को भारत, जावा, हालेण्ड, डेनमार्क आस्ट्रिया, तथा हंगरी ने अपनाया। भारत में यह मान १९०७[1] में अपनाया गया जबकि देशीय कार्यों के लिए चांदी के सिक्कों को मुद्रा का मुख्य रूप दे दिया गया परन्तु अंतर्राष्ट्रीय व्यापार विदेशी मुद्रा के आधार पर, जिसकी विनिमय दर १ शि० ४ पे० स्थापित कर दी गई थी, संचालित होता थी।

इस प्रकार प्रथम युद्ध के पूर्व विश्व की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि इसमें स्वर्णमान का संचालन बहुत अच्छी तरह हुआ। इस काल में विनिमय दरों के बीच स्थायित्व कायम रखने के लिये तनिक भी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। फलत: ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्णमान स्वत: प्रचलित मान है। उन दिनों विश्व के विभिन्न देशों की आर्थिक व्यवस्था एक समान नहीं थी, किन्तु अंतर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की युक्ति से ये विभिन्न आर्थिक व्यवस्थायें एक सूत्र में इस प्रकार बंध गई कि यह अंतर्राष्ट्रीयता का आभास दे रही थीं। प्रत्येक देश की मुद्रा एक अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा (स्वर्ण का ही एक रूप) जान पड़ती थी।

प्रथम युद्धकाल में स्वर्ण निर्माण : (Gold Standard during the Ist War)

१९१४ में युद्ध की घोषणा के पश्चात स्वर्ण के स्वतंत्र आयात तथा निर्यात पर नियंत्रण लगा दिया गया और इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मान के रूप में स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया। युद्ध आरंभ होने के पहले ही सप्ताह में इंगलैण्ड ने स्वर्णमान छोड़ दिया तथा स्वर्ण के सिक्कों को वापस करने की मांग की तथा उनके

१—व्यवहारिक रूप में भारत में स्वर्ण—विनिमय मान १८९३ में अपनाया गया, पर सैद्धान्तिक रूप में यह मान १९०७ में ही अपनाया गया।

स्थान पर अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रा को प्रचलन में डाल दिया। कुछ ही समय में स्वर्ण के सिक्के खजाने में जमा हो गये और लोगों के पास अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में कार्य करने के लिये रह गई। इसी प्रकार अन्य देशों ने भी स्वर्ण के सिक्कों का चलन बन्द कर दिया तथा परिवर्तन सम्बन्धी सुविधा को हटा लिया। ऐसा इसलिये किया गया क्योंकि युद्धकाल में स्वर्णमान के आधार पर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण नहीं किया जा सकता। सरकार को युद्ध सम्बन्धी सामग्री को अनेक देशों से खरीदने के लिये स्वर्ण की तथा देश में खरीदने के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती है, तथा सरकार को सोने को शत्रु देशों में जाने से बचाना होता है। स्वर्ण मान के परित्याग से देशों में मुद्रा स्फीत की अवस्था उत्पन्न हो गई, मुद्रा का अवमूल्यन होता गया, कीमतें बढ़ती गईं और विनिमय दरों में परिवर्तन होते गये। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत क्षति पहुंचा। निम्न तालिका[1] से विभिन्न देशों में हुये मुद्रा स्फीति के परिणाम स्वरूप कीमतों में वृद्धि का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है:—

देश	[स्फीति का शिखर वर्ष]	थोक कीमत निर्देशांक (आधार-१९१३ = १००)
यू. एस. ए.	१९२०	२२६
इंगलैण्ड	,,	२८३
कनाडा	,,	२४४
जापान	,,	२५९
हालैण्ड	१९१८	३७६
स्वेडन	१९२०	३५९
जेकोस्लोवाकिया	१९२१	१६५३
फ्रांस	१९२६	८५४
इटली	,,	६५४
बेल्जियम	१९२७	८४७
जर्मनी	१९२३	कई महा संख

स्वर्णमान का पुनर्स्थापन : (Restoration of Gold Standard)

युद्धोत्तर काल में भी कीमतों के परिवर्तनों के कारण विनिमय दरों में परिवर्तन होते रहे। सभी राष्ट्रों में इस प्रकार की धारणा काम करने लगी कि मौद्रिक व्यवस्था को दूर करने का एक मात्र उपाय स्वर्णमान का पुर्नस्थापन ही था। इस धारणा पर विचार करने के लिए १९२० में ब्रुसेल्स के अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन की व्यवस्था की गई। सम्मेलन में विचार दो समस्याओं पर किया गया : प्रथम,

1 League of Nations Report

स्वर्णमान का पुनर्स्थापन किया जाय या उसके स्थान पर दूसरे प्रकार के मुद्रामान को अपनाया जाय; द्वितीय, यदि स्वर्णमान का पुनर्स्थापन किया जाय तो किस दर पर स्वर्ण और मुद्रा का संबन्ध स्थापित किया जाय–युद्ध पूर्व की दर पर या नवीन दर पर।

पुनर्स्थापन की समस्या (Problem of Restoration)

स्वर्णमान को फिर से स्थापित किये जाने पर मतभेद मौद्रिक नीति के उद्देश्य पर आधारित था कुछ लोगों के अनुसार मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य आंतरिक कीमतों में संतुलन बनाये रखना होता है। जबकि दूसरे लोगों के विचार में मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय दरों में संतुलन बनाये रखना होता है। वे लोग जिनके विचार में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों में संतुलन बनाये रखना होता है, स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने के पक्ष में थे जबकि उन लोगों ने, जिनके विचार में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य कीमतों में संतुलन बनाये रखने का होता है, स्वर्णमान के स्थान पर दूसरे मान को स्थापित करने पर जोर देने लगे। पहले वर्ग के लोगों का तर्क स्वर्णमान की स्वचालित विशेषता पर आधारित था। उनका विचार था कि स्वर्णमान के अंतर्गत विनिमय दरों में उच्चावचन एक निश्चित सीमा तक ही होते हैं और यह उच्चावचन अपने आप सोने के आयात तथा निर्यात द्वारा ठीक हो जाते हैं। उनके विचार में यदि यह मान लिया जाय कि विनिमय दर में उच्चावचन के कारण किसी एक समय एक देश से सोना दूसरे देश को जाने लगता है तो जिस देश में सोना जा रहा होता है वहां पर सोने की मात्रा में वृद्धि हो जायेगी तथा जिस देश से सोना जा रहा होता है उस देश में स्वर्ण की मात्रा में ह्रास हो जायगा। जिस देश में सोने की मात्रा में वृद्धि होगी वहां पर मुद्रा की मात्रा और कीमतों में वृद्धि हो जायगी; तथा जिस देश में सोने की मात्रा में ह्रास होता है वहां पर मुद्रा की मात्रा एवं कीमतों में ह्रास हो जायगा। इसका फल यह होगा कि सोने की वृद्धि वाले देश में आयात बढ़ जायेंगे और सोने के ह्रास वाले देश में निर्यात बढ़ जायेंगे। पहले देश में दूसरे देश की मुद्रा की मांग बढ़ जायगी तथा दूसरे देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा और विनिमय दर में संतुलन आ जायगा। इस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के बहाव द्वारा हुए विनिमय दरों के संतुलन विभिन्न देशों में कीमतों में स्थिरता बनाये रखते हैं। इससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विचार था कि स्वर्णमान मुद्रा स्फीत की सम्भावनाओं को रोकती है जिसके बुरे प्रभावों का युद्धकाल में सभी देशों ने अनुभव किया था। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि मुद्रा की परिवर्तनशीलता प्रत्येक देश के मौद्रिक अधिकारी को मुद्रा की मात्रा बढ़ाने से रोकती है। दूसरी ओर दूसरे वर्ग के लोगों के विचार स्वर्णमान को फिर से अपनाने के विरोध में थे। उनके अनुसार किसी

भी देश का मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य आंतरिक कीमत स्तर पर संतुलन बनाये रखने का होता है और स्वर्णमान अतिरिक्त संतुलन (कीमत स्थिरता) के स्थान पर विनिमय दरों में स्थिरता लाता है। यदि किसी प्रकार विनिमय दर में परिवर्तन हो जाते हैं तो यह देश की आंतरिक व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर देते हैं। प्रत्येक देश के यह हित में होता है कि उनके कीमत स्तर की अवस्था के अनुसार विनिमय दर में सामंजस्य होता रहे। यही नहीं उनकी यह भी दलील थी कि यदि युद्ध-पूर्व स्वर्णमान के अंतर्गत विनिमय दरों में स्थिरता बनी रही तो इससे यह निश्चय नहीं कि भविष्य में भी स्थिरता बनी रहेगी तथा स्वर्णमान उसी प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति कर पायेगा। उनका यह तर्क इस कारण था कि युद्ध के पश्चात् प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन हो रहे थे जिसके फलस्वरूप (क) स्वर्णमान अपनी भविष्य की बढ़ती हुई मांग को पूरा न कर पायेगा, (ख) स्वर्ण का मूल्य अमेरिका की नीति पर ही निर्भर करेगा क्योंकि अमेरिका में स्वर्ण की मात्रा काफी बढ़ गई थी और वह स्वर्ण की पूर्ति में परिवर्तन कर स्वर्ण के मूल्य को काफी अंशों तक प्रभावित कर सकता था, तथा (ग) अंतर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की सम्भावनायें, जिस पर स्वर्णमान सफलता पूर्वक कार्य करता है, नष्ट हो चुकीं थीं। युद्धोत्तरकाल में राष्ट्रवाद, व्यापार, विनियोग एवं व्यवसाय के संबन्ध में सरकारी हस्तक्षेप एवं केन्द्रीय बैंकों का महत्व काफी बढ़ रहा था। कीन्स, जो कि स्वर्णमान के मुख्य समर्थक थे, ने युद्ध-पूर्व नियमों पर स्वर्णमान को स्थापित किये जाने को अस्वीकार किया। उनका विचार था कि कीमत, साख एवं रोजगार में संतुलन प्रत्येक देश के लिये सबसे महत्वपूर्ण होता है तथा स्वर्णमान का प्राचीन रूप उस संतुलन को बनाये रखने में उतना सफल नहीं हो सकता था जितना कि वह युद्ध-पूर्व काल में हुआ। उन्होंने यह भी विचार प्रकट किया कि कागजी एवं साख मुद्रा के युग में व्यवस्थित पत्र-मुद्रा के महत्व को नहीं भुलाया जा सकता; स्वर्ण में परिवर्तनशीलता इस बात को नहीं बदलेगी कि स्वर्ण का स्वयं मूल्य केन्द्रीय बैंकों की नीति पर निर्भर करे।

समता की समस्या (Problem of Parity) स्वर्णमान को फिर से स्थापित किये जाने के सम्बन्ध में जो विवाद था, उसका महत्वपूर्ण दृष्टिकोण समता की समस्या थी। इंगलैण्ड जैसे कुछ देशों का विचार था कि स्वर्णमान को युद्धपूर्व समता दर (चलनमुद्रा एवं स्वर्ण में सम्बन्ध) पर फिर से स्थापित किया जाय, जब कि दूसरे देशों का यह विचार था कि स्वर्णमान को नई समता दरों पर फिर से अपनाया जाय। उन देशों में, जो प्रत्यक्ष रूप से युद्ध से प्रभावित हुये थे, स्वर्ण की मात्रा कम हो गई

थी क्योंकि उनको युद्धकाल में उसके बदले युद्ध-सामग्री का क्रय करना पड़ा था। उनके यहाँ स्वर्ण का अन्य वस्तुओं में मूल्य काफी गिर चुका था अथवा कीमतें बढ़ गई थीं। स्वर्ण की पूर्ति को स्थिर मान कर यदि युद्ध-पूर्व के समता दर पर स्वर्णमान का पुनस्थापन किया जाता तो इसके फलस्वरूप आंतरिक कार्यों के लिए मुद्रा संकुचन तथा विदेशी कार्यों के लिये अधि-मूल्यन होता। मुद्रा संकुचन से कीमतें गिरने लगतीं, आय गिरने लगती, उत्पादन कम होने लगता तथा बेरोज़गारी बढ़ जाती। मुद्रा के मूल्य को वास्तविक मूल्य से ऊँचे स्तर पर निश्चित करने पर मुद्रा का अधिमूल्यन हो जाता। इसके फलस्वरूप निर्यात कम हो जाते, आयात बढ़ जाते भुगतान शेष प्रतिकूल हो जाता और स्वर्ण का बाहर जाना प्रारम्भ हो जाता। इन दुष्परिणामों से ही बचने के लिये कुछ लोगों का विचार स्वर्णमान को उस समय की वास्तविक समता दर पर फिर से स्थापित करने का था। परन्तु इस कार्य को कुछ देश अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे और साथ ही इससे ऋणी और ऋणदाताओं के बीच दीर्घकालीन सौदों में परिवर्तन हो जाते। ऐसा विचार मुख्य रूप से इंगलैण्ड का था जो युद्ध के पूर्व संसार का सबसे अधिक ऋण देने वाला देश था।

अत: युद्धोत्तर काल, युद्धपूर्व काल से बिल्कुल भिन्न था, जिसके कारण विचारों में परिवर्तन हो गये थे और संसार के मौद्रिक इतिहास में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय हित से राष्ट्रीय हित अलग प्रतीत होने लगे थे। इसीलिए १९२२ के जेनेवा सम्मेलन (Geneva Conference) ने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये मुद्रा के मूल्यों में संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता पर जोर डाला। इन विवादी तर्कों के कारण सम्मेलन ने स्वर्णमान को युद्धपूर्व के स्वर्णमान के रूप से भिन्न रूप को –Gold Bullion Standard– अपनाने की सिफारिश की। इस प्रकार के स्वर्णमान के स्थापित किये जाने में अमेरिका का मुख्य स्थान था। वहाँ पर जून १९१९ में सोने के आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध हटा लिया गया और इस प्रकार स्वर्णमान पुनः स्थापित कर लिया गया। उसके बाद ३० देशों ने १९२८ तक इस मान को अपनाया। आस्ट्रिया ने १९२३ में, जर्मनी ने १९२४ में, इंगलैण्ड ने १९२५ में, १९२६ में बेल्जियम, चिली, मेक्सीको, बोल्विया, कनाडा में, १९२७ में इटली, डेनमार्क, अर्जेन्टाइना में और फ्रांस ने १९२८ में इस मान को अपनाया। हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) की सिफारिशों पर इस प्रकार का मौद्रिकमान भारत में भी अपनाया गया। इंगलैण्ड में स्वर्णधातुमान को अपनाने के पश्चात देश की प्रमाणिक मुद्रा-पत्र-चलन मुद्रा हो गई अथवा सोने के बने हुये सिक्कों का प्रचलन बन्द कर दिया गया। कागज़ी नोट स्वर्ण में परिवर्तनीय घोषित कर दिये गये। 'बैंक आफ इंगलैण्ड' इन नोटों के बदले ४०० औंस के सोने की राशि

एक बार में बदलता था। इंगलैण्ड ने स्वर्णमान के पुनर्स्थापिन में स्वर्ण एवं पाउण्ड के बीच वही दर घोषित की जो १९१४ के पहले प्रचलित थी—१ औंस स्वर्ण= ३ पौण्ड १७ शिलिंग १०$\frac{1}{2}$ पेंस अथवा एक पौण्ड=४·८६६६ डालर। कुछ देशों ने इस काल में भी स्वर्ण विनिमयमान के ही रूप में स्वर्णमान को अपनाया। इन देशों के पास स्वर्ण के इतने कोष नहीं थे जिससे कि स्वर्णधातुमान को अपनाया जा सकता था। इन रूपों में स्वर्णमान का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों तथा भुगतानों को चुकाने में स्वर्ण कोषों को प्रयोग करना था। इस कार्य के लिये स्वर्ण कोषों को जनता के हाथ में न रखकर सरकार या केन्द्रीय बैंकों में ही सुरक्षित रखना अधिक अच्छा समझा गया।

युद्धोत्तर काल के स्वर्णमान की कार्य विधि :

युद्धोत्तर काल में जो स्वर्णमान के रूप में परिवर्तन हुये उससे भी अधिक महत्वपूर्ण वे दशायें थीं जिसके अन्तर्गत नवीन स्वर्णमान को कार्य करना पड़ा। देशों की आर्थिक दशा में काफी परिवर्तन हो चुके थे। सर्वप्रथम, मौद्रिक नीति के आंतरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य एक दूसरे के विरोधी बन गये थे। युद्धपूर्व काल में अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य के संदर्भ में स्वर्णमान की मौद्रिक नीति के अन्तर्गत ऐसी मुद्रा प्रणाली को अपनाया गया था जिससे स्वर्ण की मात्रा के परिवर्तनों के अनुसार आय और कीमतों में परिवर्तन होते रहें। परन्तु युद्धोत्तर काल में मौद्रिक नीति का उद्देश्य आंतरिक क्षेत्र में कीमतों और आय में स्थिरता बनाये रखना समझा जाने लगा। इस अभिप्राय से सरकार का कार्य व्यवस्थित मौद्रिक नीति द्वारा स्वर्ण की मात्रा के परिवर्तनों का कीमतों और लागतों पर प्रभाव को कम करना बन गया था। दूसरे शब्दों में जब देश से सोना बाहर जाता था तो साख का विस्तार और जब देश में सोना आता था तो साख का संकुचन केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता था। दूसरे, अनेक देशों में दीर्घकालीन विनियोगों को प्रभावित करने के लिये वित्तीय नीति की अपेक्षा राजनैतिक नीति अधिक प्रभावशाली बन गई। युद्ध से पूर्व इंगलैण्ड के ऋण देने की नीति 'उत्पादकता' के सिद्धान्त पर आधारित थी। परन्तु युद्धोत्तर काल में अमरीका (मुख्य ऋणदाता) तथा फ्रांस की नीति आर्थिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं रह गईं। राजनैतिक आवश्यकतानुसार ये देश अपनी विनियोग की नीति को अपनाते थे। तीसरे, युद्धोत्तर काल में प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करने को वहाँ की सरकार का हस्तक्षेप काफी बढ़ गया जिसके फलस्वरूप लोगों की आय और कीमतों के आधार पर भुगतानशेषों में व्यवहारिक रूप से समता बनाये रखना कठिन हो गया था। चौथे, युद्ध के पश्चात संसार के सभी देशों ने अपने उद्योगों के विकास के लिए संरक्षण की नीति अपनाई तथा

विदेशी वस्तुओं के आयात पर नियंत्रण लगाना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार की नीति को अमरीका और फ्रांस जैसे ऋण-दाता देशों ने अपनाया जिससे युद्धकालीन ऋणों के भुगतान में जटिलता आ गई। ऋणी देश निर्यात द्वारा अपने ऋणों का भुगतान करना चाहते थे, परन्तु नियन्त्रणों के कारण ऋणदाता उनको ऐसा न करने देते थे। अन्त में, युद्ध के पश्चात संसार के विभिन्न देशों के बीच वह एकता नहीं रह गई थी जैसी एकता उनके बीच युद्ध के पहले थी जिसके कारण उस समय मौद्रिक प्रणाली सफलता पूर्वक कार्य करती थी। यही नहीं अनेक देशों के सामने स्वर्णमान के पुनर्स्थापन के सम्बन्ध में और भी अनेक कठिनाइयाँ थीं। अमरीका में कीमतें अधिक नहीं बढ़ीं थी परन्तु उनके यहाँ स्वर्ण की मात्रा में काफी वृद्धि हो गई थी। इसके कारण उस देश को स्वर्णचलनमान तक अपनाने में कोई कठिनाई न थी। स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड, नार्वे और स्वीडन को भी स्वर्णमान के पुनर्स्थापन में कोई विशेष कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। परन्तु इंगलैण्ड और फ्रांस को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा क्योंकि इन देशों में कीमतें बहुत बढ़ गईं थीं और और स्वर्ण की मात्रा कम हो गई थी। फिर भी इंगलैण्ड ने युद्धपूर्व की विनिमय दर पर और फ्रांस ने परिवर्तित दर पर स्वर्णमान को अपनाया। इस प्रकार विश्व के प्रथम महायुद्ध के निम्नलिखित अनेक परिणाम थे जिनके कारण स्वर्णमान के पुनस्थापन में कठिनाई प्रतीत हुई :—

(१) युद्ध का पहला परिणाम मुद्रा-स्फीत था जिसके कारण विभिन्न देशों के बीच कीमतों के सम्बन्ध में असंतुलन हो गया था। युद्ध के पूर्व अनेक देशों के कीमत स्तर संतुलित थे अथवा प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य उसके आंतरिक मूल्य के अनुपात में था। मुद्रा-स्फीत की विभिन्न दशाओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय कीमत स्तर के सम्बन्ध में काफी परिवर्तन हो गये थे।

(२) युद्ध का दूसरा परिणाम अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा वित्तीय व्यवस्था के क्षेत्र में था। युद्ध के पूर्व अमरीका एक ऋणी देश था परन्तु युद्ध के कारण अमरीका ऋणी से ऋणदाता बन गया। दूसरी ओर इंगलैण्ड की दशा खराब हो गई। इस प्रकार वित्तीय नेतृत्व इंगलैण्ड से हट कर अमरीका को मिल गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्त का दृश्य लंदन से, युद्ध के पश्चात, न्यूयार्क को हो गया।

(३) युद्ध का तीसरा परिणाम आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में था जिसका मुख्य क्षेत्र मुद्रा एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्त में सरकारी हस्तक्षेप में वृद्धि थी। यह नई प्रवृत्ति स्वर्णमान के प्रतिकूल थी तथा जिसको समाप्त भी नहीं किया जा सकता था।

(४) युद्ध का अन्तिम परिणाम स्वर्णकोषों के सम्बन्ध में था जो मुख्यतः देश के बैंकों एवं खजानों में केन्द्रित हो गये थे तथा टंकण के लिये सुलभ न थे।

अतः युद्धोत्तर काल का स्वर्णमान युद्धपूर्व के स्वर्णमान से केवल पूर्णतया भिन्न ही नहीं था परन्तु ऐसी परिस्थितियों में इसको कार्य करना पड़ा जो सर्वथा भिन्न थीं। विश्व में राष्ट्रवाद का महत्व बढ़ गया था और पाउण्ड के स्थान को डालर ने ले लिया था। स्वर्णमान का धीरे धीरे त्याग किया जाने लगा और सितम्बर १९३१ में इंगलैंण्ड ने, १९३३ में अमरीका ने तथा १९३६ में फ्रांस ने स्वर्णमान को त्याग दिया। सामान्य रूप से १९३६ के अन्त तक प्रायः संसार के सभी देशों ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया।

स्वर्णमान के पतन का क्रम (Process of breakdown of gold standard) :

स्वर्णमान का परित्याग १९२९ में अवसाद के प्रारम्भ हो जाने से प्रारम्भ हुआ। अवसाद के कारण कीमतें, आय और रोजगार कम होने लगे जिससे संसार भर की वित्तीय व्यवस्था अस्त-व्यस्त होने लगी। स्वर्णमान के कुशल पूर्वक संचालन के लिये यह आवश्यक था कि विनियोगों के दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हों। परन्तु अवसाद के कारण यह विनियोग कम होने लगे, जिसके कारण एक देश से दूसरे देश को धन का स्थानान्तरण तथा स्वर्ण का आना और जाना और भी तीव्र हो गया। कहीं कहीं पर तो विनियोगों के वापसी सम्बन्धी भुगतानों के कारण देश का सारा स्वर्ण चला गया। यद्यपि कुछ देशों ने इस प्रकार के स्वर्ण के बहाव के प्रभावों को रोकने के लिये मुद्रा और स्वर्ण का सम्बन्ध त्याग दिया, परन्तु मई १९३१ में आस्ट्रिया के महत्वपूर्ण बैंक 'Credit Anstalt' के फेल हो जाने से स्थिति खराब होने लगी। मुद्रा और साख की इस बड़ी संस्था के फेल हो जाने के कारण विदेशी विनियोगियों का विश्वास डगमगा गया जिसके फलस्वरूप सभी प्रकार के विनियोग-कर्त्ताओं ने अपने अपने विनियोग की राशियों को वापस लेना प्रारम्भ कर दिया। आस्ट्रिया की यह दशा शीघ्र ही अनेक देशों में फैलने लगी। ऋणदाता अपनी राशि को कहीं पर भी सुरक्षित नहीं समझने लगे, जिसके फलस्वरूप जर्मनी से भी धन वापस होने लगा। क्योंकि जर्मनी में इस प्रकार का काफी धन युद्धपूर्व काल में लग चुका था, विनियोगों के वापस होने पर उस देश से भी सोना और विदेशी मुद्रा बाहर जाने लगा। इंगलैण्ड, फ्रांस, अमरीका की बैंकों से उधार लेने पर भी जर्मनी की दशा न सुधर सकी और जुलाई १९३१ में इसने स्वर्णमान त्याग दिया। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि जर्मनी ने कई करोड़ डालर के विनियोगों के भुगतानों को 'फ्रीज' कर लिया था। इसके पश्चात् यह भय बर्लिन से हट कर लन्दन में फैल गया जहाँ से धन वापस लिया जाने लगा। 'बैंक आफ

इंगलैण्ड' ने इस परिस्थिति का सामना करने के लिये 'बैंक दर' (Discount Rate) भी बढ़ा दिया क्योंकि उनका विश्वास था कि इससे विदेशी धन बैंक से वापस न लिया जायगा। परन्तु बैंक दर के बढ़ जाने के कारण विदेशी निक्षेपधारी एवं विनियोगी और भी डर गये और बैंक से जमा राशि और भी शीघ्रता से वापस होने लगी। वापसी की समस्या इतनी गम्भीर बन गई कि अमरीका और फ्रांस द्वारा २५० मिलियन डालर के ऋण लिये जाने पर भी बैंक की स्थिति में सुधार न हुआ और अन्त में सितम्बर १९३१ को इंगलैण्ड को अपने पाउण्ड का अवमूल्यन करना पड़ा तथा स्वर्णमान का परित्याग करना पड़ा। जुलाई से सितम्बर तक 'बैंक आफ इंगलैण्ड' से ९७५ मिलियन डालर की रकम वापस ली गई।

इंगलैण्ड द्वारा पाउण्ड के अवमूल्यन से स्वर्णमान को निश्चित रूप से धक्का लगा। इंगलैण्ड के साथ अनेक देशों ने भी, जिनका राजनैतिक, व्यवसायिक एवं वित्तीय सम्बन्ध इंगलैण्ड से था, अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन इसलिये कर दिया जिससे उनके देश की मुद्राओं और स्टर्लिंग के सम्बन्ध यथास्थिर बने रहें। अवमूल्यन से इंगलैण्ड को तुरन्त लाभ प्राप्त हुये और उसके उद्योग को प्रोत्साहन मिला तथा वस्तुओं को अन्तराष्ट्रीय बाजार मिला। परन्तु इससे उसको अधिक समय तक लाभ प्राप्त न हो सका। पाउण्ड स्टर्लिंग के अवमूल्यन के बाद लोग यह समझने लगे कि डालर का भी अवमूल्यन होगा। इस भय के कारण अमरीका से भी निक्षेप एवं विनियोग वापस होने लगे। १९३०–३१–३२ में क्रमशः ४८९, ६३७ और ४४६ मिलियन डालर की राशि को बैंक से वापस ले लिया गया। यद्यपि इससे अमरीका की दशा खराब न हुई क्योंकि १९३२ में भी सारे संसार का ४०% स्वर्ण उसी देश में रहा, परन्तु मिशिगन की 'यूनियन गार्जियन ट्रस्ट कम्पनी' (Union Guardian Trust Company) के फेल हो जाने से लोगों का विश्वास हिल गया, और अमरीका के बैंकों से जमा रकमें वापस होने लगीं। मिशिगन के गवर्नर को ८० दिन के लिये बैंक बन्द करना पड़ा। शीघ्र ही इसका प्रभाव अमरीका की पूरी बैंकिंग प्रणाली पर पड़ा और मार्च ६, १९३३ को प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट की घोषणा प्रकाशित हुई जिसके अन्तर्गत स्वर्ण में भुगतान बन्द कर दिया गया तथा डालर का अवमूल्यन कर दिया गया। डालर का यह अवमूल्यन स्वर्णमान के शवाधार (Coffin) पर दूसरी कील थी। इस अवमूल्यन के कारण अमरीका का भुगतान शेष अनुकूल होने लगा, यद्यपि उसका यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग सिद्धांत के प्रतिकूल था। १९३१ में पाउण्ड के अवमूल्यन का मुख्य कारण पाउण्ड का अधिक मूल्य था, परन्तु डालर के अवमूल्यन से असन्तुलन की प्रवृत्ति फिर बढ़ने लगी। इसके पश्चात फ्रांस के नेतृत्व में थोड़े ही ऐसे देश बचे थे जिन्होंने अपनी मुद्रा का सम्बन्ध स्वर्ण से बनाये रक्खा था। पाउण्ड और डालर के अवमूल्यन के

कारण इनकी मुद्रायें अधिमूल्यति हो गईं थीं जिसके फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में इनको हानि हो रही थी। यदि ये देश मुद्रा संकुचन की नीति अपना लेते तो इससे अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते थे, परन्तु इससे आर्थिक व्यवस्था के अस्त-व्यस्त हो जाने का भय था। यह न कर सकने के कारण २५ सितंबर १९३६ को इन देशों ने भी स्वर्णपाटमान को त्याग कर अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। अवमूल्यन की इस प्रतियोगी प्रवृत्ति को रोकने के लिये ही, जिसके अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की संभावनायें नष्ट हो जाती हैं, इंगलैण्ड अमेरिका और फ्रांस ने एक समझौता किया जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे।

स्वर्णमान के पतन के कारण (Causes of the breakdown of Gold standard) :

(१) **स्वर्णमान के नियमों का उलंघन** (Non-observance of Gold Standard Rules) : स्वर्णमान का यह आधारभूत सिद्धान्त है कि देशों को स्वर्ण के बहाव (आयात और निर्यात) में परिवर्तनों के कारण आय और कीमतों में होने वाले परिवर्तनों पर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं लगाना चाहिये। दूसरे शब्दों में जब देश में स्वर्ण का आयात हो रहा हो उस समय मुद्रा का विस्तार साख द्वारा होना चाहिये; और जब स्वर्ण का निर्यात हो रहा हो उस समय मुद्रा का साख द्वारा संकुचन होना चाहिये। प्रथम महायुद्ध के बाद प्रत्येक देश की मौद्रिक नीति इस प्रकार संचालित की गई जिसमें आंतरिक कीमतों की स्थिरता पर अधिक ध्यान दिया गया, जबकि विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने की आवश्यकता थी। इंगलैण्ड ने स्वर्णमान के पुनर्स्थापिन में अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन (Over-valuation) कर दिया। इसका फल यह हुआ कि भुगतान-शेषों के प्रतिकूल होने पर वहाँ से स्वर्ण का भारी मात्रा में निर्यात होने लगा। सिद्धांतानुसार उसे अपनी मुद्रा की मात्रा में कमी करनी चाहिये थी, परन्तु उसने ऐसा नहीं किया। इसी प्रकार अमरीका ने भी इस नियम का उलंघन करके अपने यहां आने वाले स्वर्ण का प्रभाव मुद्रा की मात्रा द्वारा कीमतों एवं आयों पर नहीं पड़ने दिया और इस प्रकार उसने स्वर्ण को क्रियाशील रूप प्रदान करने की अपेक्षा प्रभावहीन बना दिया।

(२) **आर्थिक राष्ट्रीयता का विकास** (Development of economic Nationalism) : युद्ध के दुष्परिणामों से प्रायः संसार के सभी राष्ट्र प्रभावित हुये, विशेष रूप से वे देश जो अपने ऋणों का भुगतान वस्तुओं तथा सेवाओं द्वारा करना चाहते थे। अतः इन देशों ने भविष्य में आंतरिक-आर्थिक-स्थिरता बनाये रखने के लिये स्वर्णमान को अंतर्राष्ट्रीय मान के रूप में क्रियाशीलता प्रदान न करके घरेलू स्वर्णमान के रूप में क्रियाशील बना दिया तथा उन्होंने मुक्त व्यापार की नीति को त्याग दिया।

(३) **युद्धकाल में स्वर्ण का असमान वितरण** (Unequal distribution of Gold during war) : युद्ध में संलग्न देशों ने तटस्थ (Neutral) देशों को स्वर्ण देकर युद्ध सामग्री खरीदी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके स्वर्ण कोष खाली हो गये, जबकि सम्बन्धित तटस्थ देशों में स्वर्ण कोषों की अधिकता हो गई। युद्ध के कारण ऋणी देशों के पास स्वर्ण की मात्रा बिल्कुल समाप्त हो गई थी और युद्धोत्तर काल में ऋणदाता देशों ने ऋण के बदले में इन देशों से वस्तुएं लेने की अपेक्षा ऋण को स्वर्ण में चुकाने पर बल दिया। इसके साथ ही उन्होंने अधिक ऋण देने से भी इंकार कर दिया। परिणामस्वरूप अमरीका और फ्रांस में संसार का तीन चौथाई (३/४) स्वर्ण एकत्रित हो गया। शेष देशों में जितने स्वर्ण कोष रह गये थे उनसे वे देश स्वर्णमान बनाए नहीं रख सकते थे।

(४) **विदेशी पूंजी की अनिश्चितता एवं तीव्र स्थानांतरण** (Uncertainty and flight of foreign capital) : प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व विभिन्न देशों के बीच अल्प व दीर्घकालीन पूँजी के विनियोग करने की रीति प्रचलित थी। पर युद्ध काल में एवं उसके बाद विभिन्न देशों ने कोषों को देश के बाहर जाने पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये। इससे विनियोगी देशों की न केवल विनियोजित पूँजी ही नियंत्रित हो गई वरन् व्याज के भुगतान भी अनिश्चित हो गये। विभिन्न देशों में शांति एवं सुरक्षा की अनिश्चितता के कारण ये विनियोग एक देश से दूसरे देश को शीघ्रता से हस्तांतरित होने लगे एवं कहीं भी इनका उपयोग लाभकारी रूप में न किया जा सका। फ्रांस द्वारा इंगलैण्ड से इस प्रकार के कोष हटा लेने के कारण ही इंगलैण्ड को १९३१ में स्वर्णमान त्यागना पड़ा क्योंकि 'बैंक आफ इंगलैण्ड' के लिये इतनी बड़ी मात्रा में अपने कोषों को समाप्त करना असम्भव था।

(५) **बेलोचदार आर्थिक ढाँचा** (Inelastic economic structure) : प्रथम महायुद्ध के पश्चात् विभिन्न देशों का आर्थिक ढाँचा विभिन्न कारणों से बेलोचपूर्ण बन गया। सरकार तथा वित्तीय अधिकारियों की ऋण-ग्रस्तता में अत्यधिक वृद्धि के कारण ब्याज के भुगतानों में भी अत्यधिक वृद्धि हो गई। सामाजिक सेवा के रूप में किये जाने वाले विशाल खर्च में कमी करना भी सरल न था। श्रमिक-संघों की शक्ति में वृद्धि के कारण श्रमिकों का शोषण करना कठिन हो गया था और मज़दूरी की समुचित मात्रा देनी पड़ती थी। इसके साथ ही माल तथा वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता आने लगी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि मूल्यों में परिवर्तन, जैसा कि स्वर्ण की गतिशीलता के लिए आवश्यक है, समाप्त होने लगे एवं सन्तुलन स्थापित करना कठिन हो गया।

(६) **साख नियंत्रण की कठिनाइयाँ** (Difficulties of credit control) : बीसवीं सदी में बैंकिंग एवं साख प्रथा का विस्तार हुआ। स्वर्ण आवा-गमन के आवश्यक प्रभावों को प्राप्त करने के लिये चलन मुद्रा एवं साख मुद्रा की मात्राओं का नियंत्रण करना आवश्यक था। परन्तु अनुभवों ने यह सिद्ध कर दिया कि उस समय साख मुद्रा पर नियंत्रण रखना सरल नहीं था। 'बैंक दर' एवं 'खुले बाजार की क्रियायें' आदि उपायों द्वारा भी साख पर वांछित नियंत्रण न रक्खा जा सका।

(७) **अमरीका के वित्तीय बाजार** (Wall Street) **के बन्द होने से अवसाद के प्रभाव** (Effect of the closure of American finance market) : युद्धकाल में अपने निर्यात आधिक्य के कारण अमरीका के पास विशाल स्वर्ण कोष एकत्रित हो गए थे। युद्धोत्तर काल में यह आधिक्य देश के उत्पादन (out-put) में वृद्धि करके तथा आयात निर्यात पर कर लगाकर प्राप्त किया गया। यह आंतरिक स्थिरता के लिये आवश्यक भी था। स्वर्णमान के नियम के अनुकूल साख में विस्तार की प्रवृत्ति अपनाई गई। इससे अमरीका के उद्योगों को प्रोत्साहन मिला जबकि इंगलैण्ड के उद्योगों की दशा गिरती गई। उद्योगों के विकास और संचित विनिमय प्रतिभूतियों (Stock Exchange Securities) में अधिकता के कारण सट्टे की प्रबृत्ति अमरीका के वित्तीय बाजार में पनपने लगी। इससे सन् १९२८ के प्रथम ६ माह के अन्दर ही अमरीका को ६०० मिलियन डालर के मूल्य के बराबर स्वर्ण की हानि हुई। इन प्रवृत्तियों को रोकने के लिये फेडरल रिजर्व बैंक ने जुलाई १९२८ में अपनी बैंक दर ३½% से बढ़ाकर ५% कर दी। जून १९२९ में अमरीका का उत्पादन अपने शिखर पर पहुंच गया। वहाँ पर बढ़ती हुई प्रतिभूतियों की कीमतें तथा सट्टेबाजी की क्रियायें अपनी पराकाष्ठा पर थीं। इससे वित्तीय बाजार अस्त-व्यस्त हो गया तथा अन्त में बन्द हो गया। तभी से संसार के सभी देशों में कीमतें गिरने लगीं, उत्पादन कम होने लगा तथा बेरोजगारी बढ़ने लगी। निसन्देह स्वर्णमान के पतन का सबसे मुख्य कारण इसी को कहा जा सकता है।

स्वर्णमान के पतन के बाद (After the breakdown of Gold Standard) :

स्वर्णमान के पतन के बाद संसार के विभिन्न राष्ट्रों के समक्ष जैसी चलन की समस्यायें उत्पपन्न हो गई उनका अनुभव उन्हें प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात करना पड़ा था। इसी कारण इंगलैण्ड ने स्वर्णमान की समाप्ति के साथ ही साथ पाउण्ड का अवमूल्यन स्वर्ण के सम्बन्ध में कर दिया था। पाउन्ड के अवमूल्यन एवं सरकार द्वारा अपनाई गई संरक्षण नीति के कारण इंगलैण्ड की आंतरिक आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और लोगों के पाउण्ड में विश्वास में वृद्धि हुई। बैंक दर के बढ़ाये जाने के कारण कोषों का निरन्तर आगमन प्रारम्भ हो गया तथा पाउण्ड के मूल्य में

वास्तविक वृद्धि होने लगी। परन्तु दूसरी ओर जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, अमेरिका से धन बाहर जाने लगा और डालर का मूल्य कम होने लगा। १९३३ में डालर का अवमूल्यन कर दिया गया और उसका नया मूल्य अपने पहले मूल्य का ५९% रह गया। इसी प्रकार फ्रांस की सामाजवादी सरकार ने श्रमिकों की जीवन परिस्थितियों में सुधार करने के उद्देश्य से अपनी मुद्रा फ्रैंक का भी अवमूल्यन कर दिया और उसका नया मूल्य पुराने मूल्य के ७०% पर रह गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विनिमय दरों में सन्तुलन लाने तथा देशों में अवमूल्यन की प्रतियोगी प्रवृत्ति को रोकने के अभिप्राय से एक समझौता किया गया जिसके अन्तर्गत जर्मनी के समान सभी देशों ने विनिमय नियंत्रण पर ध्यान दिया और विनिमय दरों में संतुलन बनाये रखने के अभिप्राय से विनिमय-समता-कोष की स्थापना की।

विनिमय समता कोष (Exchange Equalisation Fund) : विनिमय समता कोष का अभिप्राय विनिमय बाजार में हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से सरकार द्वारा नियंत्रित उस सामूहिक राशि से था जिसके द्वारा विनिमय दरों में होने वाले अवांछित उच्चावचनों को रोका जा सकता था। इन कोषों का उद्देश्य विनिमय दरों में पूंजी के आवागमन द्वारा उत्पन्न उच्चावचनों को दूर करना, सटोरियों के अनावश्यक लेन-देन पर रोक लगाना एवं सामयिक विनिमय दरों के उच्चावचनों को नियमित करना होता था। परन्तु वास्तविकता में कोषों का प्रयोग अन्य उद्देश्यों के लिये भी किया जाता था, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ जहां पर ये कोष अवमूल्यित स्टर्लिंग के विरोध में प्रतिकार के रूप में प्रयोग किये गये।

इन कोषों में कोष वाले देश की मुद्रा तथा स्वर्ण सम्मिलित रहते थे। स्वर्ण की प्राप्ति बैंकिंग प्रणाली की सम्पत्ति या खजाने की सम्पत्ति का हस्तांतरण करके अथवा नवीन सम्पत्ति उत्पन्न कर के की जाती थी। विनिमय समता कोषों की स्थापना प्रत्येक देश में या तो स्वतंत्र संस्था के रूप में या सरकारी विभाग के रूप में की गई। इनको केन्द्रीय बैंकों से बिलकुल अलग रक्खा गया जिसका प्रमुख कारण यही था कि उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक था कि बाजारों में इस बात का पता न चले कि कोष स्वर्ण के बदले अपनी मुद्रा को खरीद रहा था या बेच रहा था। इसी गुप्तता के कारण ये कोष अपने उद्देश्य में सफल हुये। इंगलैण्ड के स्वर्णमान को त्यागने के पश्चात विनिमय दर स्वतंत्र रूप से निर्धारित होने लगी और इसके साथ ही देशों में अपनी मुद्राओं के अवमूल्यन करने की प्रतियोगी प्रवृत्ति का आभास होने लगा। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, अक्टूबर १९३६ में एक त्रिपक्षीय समझौता हुआ जिसके अनुसार तीन प्रमुख देशों—अमरीका, फ्रांस, एवं ब्रिटेन—के बीच यह निश्चित किया गया कि वे अपनी मुद्राओं का स्वर्ण मूल्य दीर्घकाल तक

स्थिर रक्खें तथा जिसके लिये प्रत्येक देश में एक विशेष कोष की स्थापना की जाय, जिसके द्वारा विदेशी मुद्राओं की पूर्ति में सन्तुलन लाने के लिये उनका क्रय विक्रय किया जा सके तथा जो अपनी मुद्रा के बदले में स्वर्ण खरीद सकें। बाद में इस समझौते में बेल्जियम, हालैण्ड एवं स्विटजरलैण्ड भी शामिल हो गये। समझौते के अनुसार इन कोषों द्वारा एक देश से दूसरे देशों को स्वर्ण लाया और ले जाया जा सकता था। समता कोषों की कार्य विधि के अंतर्गत यदि लंदन में डालर की मांग बढ़ जाती थी तो ब्रिटिश विनिमय समता कोष स्टर्लिंग के बदले डालर देना शुरू कर देता था। साथ ही यदि अन्य कोष यह अनुभव करते थे कि उनके पास स्टर्लिंग की मात्रा बढ़ गई है, तो वह ब्रिटिश कोष से उसकी मुद्रा के बदले सोने की मांग करते थे। स्टर्लिंग के बदले ब्रिटिश कोष से सोना लेकर वे कोष सोने को उस देश की मुद्रा से बदल लेते थे जिस देश की मुद्रा की उनके यहां मांग की जाती थी। यदि स्टर्लिंग के बदले सोने की माँग लगातार बढ़ती रहती थी तो इसका अर्थ यही समझा जाता था कि स्टर्लिंग अधिमूल्यति स्थिति में है। ऐसी दशा में विभिन्न कोष अपने देशों में स्टर्लिंग की खरीदारी बन्द कर देते थे। इसके फलस्वरूप स्टर्लिंग की पूर्ति में वृद्धि हो जाने के कारण उसका मूल्य गिर जाता था। ऐसी अवस्था में वस्तुओं और सेवाओं का क्रय विक्रय स्टर्लिंग के स्वतंत्र रूप से क्रय तथा विक्रय के आधार पर होता था। ऐसी मुद्रा का मूल्य ऐसी नवीन विनिमय दर पर पहुंच जाता था जिस पर सभी कोष सहमत होते थे तो समता कोष पुनः नवीन स्तर पर बाजार की मात्रा के अनुसार सीमित मात्रा में उस मुद्रा के क्रय विक्रय द्वारा उसके विनिमय दर को नियंत्रित करने लगते थे।

इन कोषों की कार्य प्रणाली को एक उदाहरण द्वारा सरलता से समझाया जा सकता है। मान लीजिए कि किसी समय फ्रान्स का एक व्यक्ति इंगलैंण्ड से प्राप्त होने वाली वस्तुओं की कीमत के भुगतान के लिए १०,०००£ की जमा इंगलैण्ड के किसी बैंक में प्राप्त करना चाहता था। वह पेरिस में अपने बैंक को फ्रैंक देकर प्रार्थना करता था कि वह किसी इंगलिश बैंक में उसके नाम पर यह धनराशि जमा करा दे। फ्रान्स की बैंक लन्दन बैंक के साथ समझौता करके यह जमा प्राप्त करने का प्रत्यन करता था एवं लन्दन बैंक अपने पक्ष में पेरिस बैंक से विनिमय (फ्रैंक) जमा पाकर एक निश्चित विनिमय दर पर उस व्यक्ति के नाम १०,००० £ की राशि जमा कर देता था। यदि इंगलैण्ड में स्टर्लिंग (£) की मांग अधिक और पूर्ति कम होती थी (इंगलैण्ड में आयात कम और निर्यात अधिक होते थे) तो कोष समझौते के अन्तर्गत इंगलैण्ड की बैंक अपने प्राप्त फ्रैंकों को अपने देश के विनिमय समता कोष को बेच देते थे। कोष उनको इन फ्रैंक के बदले इंगलैण्ड की केन्द्रीय बैंक पर उसी रकम के बराबर स्टर्लिंग में चेक काट कर दे देता था।

अध्याय ६

पत्र-मुद्रा-मान

पत्र मुद्रा मान (Paper standard) से, जो प्रबन्धित चलनमान (Managed Currency Standard) के नाम से भी जाना जाता है, आशय मौद्रिक मान की उस प्रणाली से होता है जिसके अन्तर्गत किसी देश के चलन में मुद्रा के रूप में पत्र-मुद्रा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता है। पिछले अध्याय में हमने अनेक प्रकार के धात्विक मानों का उल्लेख किया है तथा स्वर्णमान के वास्तविक इतिहास का अध्ययन किया है। यों तो १९२९ से प्रारम्भ होने वाले अवसाद के कारण अनेक देशों ने स्वर्णमान अथवा धात्विक मान का परित्याग किया और उसके बाद पत्र-मुद्रा-मान को अपनाया परन्तु इसका चलन प्रथम महायुद्ध के समय भी था। इस अध्याय में हम इस प्रकार के मौद्रिकमान की विशेषताओं तथा कार्यविधि का अध्ययन करेंगे।

पत्रमुद्रा का विकास (Evolution of paper money)

अपने उत्थान की प्रारम्भिक अवस्था में पत्र-मुद्रा (Paper money) का ऐसा रूप न था जैसा कि हम आज पाते हैं। विभिन्न देशों ने परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की पत्र-मुद्रा को अपनाया। इसका अविष्कार कब और किस व्यक्ति के द्वारा हुआ इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से प्रमाण नहीं मिलते। इसमें सन्देह नहीं कि पत्र-मुद्रा का विकास विभिन्न अवस्थाओं द्वारा धीरे धीरे हुआ। इसके चलन का पहला प्रमाण चीन में ९ वीं शताब्दी में मिलता है। जापान तथा फ्रान्स आदि को इसका ज्ञान बाद में हुआ। १७ वीं शताब्दी में लगभग सभी समुन्नत राष्ट्रों में इसका प्रयोग होने लगा था। इस काल में पत्र-मुद्रा का चलन प्रतिनिधि मुद्रा के रूप में बहुमूल्य धातुओं के सिक्कों के स्थान पर हुआ। कुछ देशों में १८ वीं शताब्दी में पत्र-मुद्रा का 'प्रमाणित मुख्य मुद्रा' के रूप में प्रयोग किए जाने का भी प्रमाण मिलता है, किन्तु सभी देशों में प्रधान मुद्रा के रूप में इसका प्रयोग २० वीं शताब्दी में ही हुआ। यद्यपि फ्रांस में १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में जॉन ला (John Law) ने बड़े पैमाने पर पत्र-मुद्रा का निर्माण किया था सौर अमेरिका में गृह युद्ध (Civil War) के दिनों में व फ्रान्स में क्रान्ति के समय कागजी अपरिवर्तनशील नोट[1] स्वतन्त्र रूप से चलन में विद्यमान

१—फ्रांस में यह एसाइनेटस (Assignates) तथा अमरीका में यह ग्रीनबेक्स (Greenbecks) कहलाते थे।

थे, परन्तु वास्तव में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा के युग का निर्माण केवल युद्ध के पश्चात् ही हुआ। युद्ध काल में पत्र-मुद्रा को विशेष रूप से प्रोत्साहन इसलिए मिला क्योंकि योरोपीय देशों (European countries) को एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता पड़ी जो विनिमय माध्यम के साथ साथ मूल्यांकन का भी कार्य कर सके। देशों में जो भी स्वर्णकोष थे उनको विदेशी भुगतानों के लिए निधि के रूप में रख लिया गया था और वास्तविक मुद्रा कागज के नोटों की ही थी। युद्धपूर्व काल में कागजी मुद्रा प्रतिनिधि मुद्रा के रूप में प्रचलन में थी, क्योंकि धातु के सिक्कों में सदैव परिवर्तनीय होने के कारण धातु की मात्राओं से भी वह परिवर्तित रहती थी। परन्तु युद्ध काल में जिस प्रकार की पत्र मुद्रा का प्रचलन हुआ उसमें इस प्रकार की परिवर्तनशीलता का अभाव था। १९१४ के पहले जो मुद्रा प्रतिनिधि पत्र-मुद्रा (Representative paper money) कही जाती थी वह भी युद्ध काल में अपरिवर्तनीय हो गई। ऐसी मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money) भी कहते हैं। युद्धोत्तर-काल में स्वर्णमान को पुन: स्थापित करने पर जब अनेक देश असफल हुए तो सभी देशों ने पत्र-मुद्रा को प्रधान मुद्रा मान कर पत्र चलन मान प्रणाली को अपना लिया। आज इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि धातु मुद्रा का मुद्रा प्रणाली में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। वास्तव में जर्मनी के प्रथम महायुद्ध और चीन के द्वितीय महायुद्ध काल में अत्यधिक मुद्रा प्रसार के उदाहरणों को छोड़ कर अन्य सभी देशों में पत्र-मुद्रा का कार्य सराहनीय रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि उचित नियन्त्रण में पत्र चलन मान आदर्श प्रणाली सिद्ध हुई है परन्तु जब यह नियन्त्रण के बाहर हो जाती है तो सम्पूर्ण समाज की अर्थव्यवस्था को अस्त व्यस्त भी कर देती है।

इसके पहले कि हम पत्र-मुद्रा मान का विवेचन प्रारम्भ करें यह आवश्यक है कि हम धात्विक मुद्रा एवं पत्र-मुद्रा के बीच उन विभिन्नताओं का उल्लेख करें जिनके कारण ही दो प्रकार की मौद्रिक प्रणालियों की नींव पड़ी है। सर्वप्रथम, पत्र-मुद्रा का मूल्य धात्विक मुद्रा के मूल्य से अधिक अस्थिर रहता है। पत्र-मुद्रा का मूल्य मौद्रिक अधिकारी द्वारा दिया जाता है, जिसको यदि किसी समय वापस ले लिया जाय तो उसका मूल्य शून्य हो जायगा। परन्तु धात्विक मुद्रा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता। दूसरे, पत्र-मुद्रा का मूल्य एक निश्चित क्षेत्र में होता है, जिस क्षेत्र में सरकार की ऐसी आज्ञा लागू होती है। दूसरी ओर धात्विक सिक्कों का प्रचलन उसके वास्तविक मूल्य के कारण भी होता है और इसलिए उसका प्रचलन सरकार की इच्छा पर ही नहीं निर्भर करता। अन्त में, पत्र-मुद्रा का मूल्य धात्विक मुद्रा के मूल्य से अधिक परिवर्तनशील होता है क्योंकि उसमें उच्चावचन उसकी पूर्ति की

मात्रा के परिवर्तनों के कारण हो जाते हैं जो मौद्रिक अधिकारी की इच्छा पर निर्भर करता है।

पत्र-मुद्रा-मान का अर्थ (Meaning of Paper Standard) :

मौद्रिक प्रणाली का वह रूप जिसके अन्तर्गत पत्र-मुद्रा के प्रचलन को नियन्त्रित रक्खा जाता है पत्र-मुद्रा मान कहलाता है। इसको प्रबन्धित पत्र-चलन-मान के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली में पत्र-मुद्रा ही देश की प्रधान मुद्रा होती है जो अपरिमित विधि ग्राह्य (unlimited legal tender) के रूप में प्रचलन में रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार के मान के अन्तर्गत धात्विक सिक्कों का कोई महत्व नहीं होता। छोटी राशि के भुगतानों के लिए प्रचलन में धातु के छोटे छोटे सिक्के भी होते हैं जिनका चलन पत्र-मुद्रा के साथ साथ होता है। ये धातु के सिक्के सदैव सांकेतिक मुद्रा के रूप में होते हैं। इस व्यवस्था में देश की चलन मुद्रा का मूल्य किसी भी प्रकार की धातु से नहीं होता अथवा किसी धातु में यह परिवर्तनीय नहीं होता। पत्र-चलन-मुद्रा अपरिवर्तनीय होती है। यह प्रणाली स्वर्णमान की तरह स्वयं संचालित नहीं होती तथा मुद्रा अधिकारी मुद्रा की मात्रा का नियमन कर उसके मूल्य पर नियन्त्रण रखने का प्रयास करता है। यह मुद्रा की बढ़ती अथवा घटती हुई मांग के अनुसार मुद्रा की पूर्ति व्यवस्थित करके किया जाता है। विदेशी भुगतानों के चुकाने के लिये देश की मुद्रा का सम्बन्ध अनेक देशों की मुद्राओं से निर्धारित कर दिया जाता है तथा उनके बीच विनिमय दरों को बनाये रखने के लिये सरकार विनिमय नियन्त्रण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I.M.F.) की स्थापना से पूर्व ऐसे देश इस कार्य के लिये स्वर्ण कोषों की व्यवस्था करते थे। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान काफी सुविधाजनक हो गया है, क्योंकि इसके अन्तर्गत दीर्घकाल में भी विनिमय दरों को सन्तुलित बनाये रक्खा जा सकता है। वास्तविक विनिमय दर का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में प्रत्येक देश द्वारा घोषित किये गये स्वर्ण में मुद्रा के मूल्य के आधार पर होता है। इस प्रकार पत्र-मुद्रा मान के अन्तर्गत पाँच विशेषतायें पाई जाती हैं : (१) देश की प्रधान मुद्रा पत्र-मुद्रा ही होती है; (२) पत्र-मुद्रा का मूल्य किसी धातु में निर्धारित न होकर स्वतन्त्र रूप से निश्चित होता है; (३) पत्र-मुद्रा के निर्गम तथा उसकी मात्रा पर नियन्त्रण हेतु एक मुद्रा अधिकारी होता है; (४) विदेशी भुगतानों को सुविधाजनक बनाने के लिए स्वर्ण कोषों की आवश्यकता पड़ती है।

प्रादिष्ट मुद्रा (Fiat Money)

यहां पर प्रादिष्ट मुद्रा के संदर्भ में भी कुछ उल्लेख किया जा सकता है। इस

प्रकार की मुद्रा में कागजी नोटों को ही शामिल किया जाता है, यद्यपि सांकेतिक सिक्कों को भी इस वर्ग में रक्खा जा सकता है । **जब वस्तु मुद्रा प्रचलन से हटा ली जाती है तथा प्रतिनिधि पत्र मुद्रा को अपरिवर्तनीय घोषित कर दिया जाता है तो चलन-मुद्रा, जो चलन में अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा के रूप में रहती है, प्रादिष्ट मुद्रा कहलाने लगती है ।** सरकार ऐसी मुद्रा को अपरिमित विधि ग्राह्य घोषित कर देती है जिसके कारण वह विनिमय माध्यम एवं मूल्यांकन के रूप में कार्य करने लगती है । यदि देश किसी धात्विक मान को पुनः अपना लेता है तो वह प्रादिष्ट मुद्रा परिवर्तन-शील पत्र मुद्रा बन जाती है क्योंकि उसका परिवर्तन उस धातु से किया जा सकता है जिसके संदर्भ में मुद्रा मान स्थापित किया जाता है । कैंट (Kent) के अनुसार प्रादिष्ट मुद्रा में तीन विशेषतायें होती हैं :– (क) उसका आंतरिक मूल्य कुछ नहीं होता, (ख) वह किसी ऐसी वस्तु में परिवर्तनीय भी नहीं होती जिसका वास्तविक मूल्य उसके अङ्कित मूल्य के बराबर हो, (ग) उसकी क्रय शक्ति दूसरी वस्तुओं की क्रय शक्ति की भांति स्थिर नहीं रहती । वह मुद्रा प्रणाली जिसके द्वारा इस प्रकार की मुद्रा के चलन को नियंत्रित किया जाता है व्यवस्थित पत्रमुद्रा प्रणाली या प्रादिष्ट पत्रमुद्रा प्रणाली कहलाती है । इस प्रकार प्रादिष्ट मुद्रा एवं अपरिवर्तनीय पत्रमुद्रा एक ही प्रकार की मुद्रा के दो नाम हैं । भेद केवल इतना है कि अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा का प्रचलन साधारण आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत होता है, परन्तु प्रादिष्ट पत्रमुद्रा का प्रचलन संकटकालीन अवस्थाओं में ही किया जाता है—जब मुद्रा की परिवर्तन-शीलता को भंग कर परिवर्तनशील पत्रमुद्रा को अपरिवर्तनीय घोषित कर दिया जाता है । इसी प्रकार पत्र-चलन मान तथा प्रादिष्ट मुद्रामान का अर्थ एक ही प्रकार के मुद्रामान से होता है जो विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न नामों से अपनाया जाता है । साधारणतया अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के पीछे किसी न किसी प्रकार की निधि (Security) रक्खी जाती है, परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा के पीछे कोई भी निधि (Security) नहीं रक्खी जाती । दोनों ही प्रकार की मुद्राओं का नियमन मौद्रिक अधिकारी द्वारा किया जाता है । इसी संदर्भ में (Robertson) एवं कीन्स (Keynes) जैसे विचारकों ने प्रादिष्ट मुद्रा के प्रचलन की सिफारिश साधारण अवस्थाओं के लिये भी की थी । जब स्वर्णमान का परित्याग कर दिया गया और स्वर्ण के सिक्कों को प्रचलन से वापस कर लिया गया तो पत्र-चलन-मुद्रा अपरिवर्तनीय रूप में प्रचलन में मुख्य मुद्रा के रूप में रही । जिन देशों में इस प्रकार की पत्र मुद्रा के साथ साथ स्वर्ण के सिक्कों का भी चलन होता रहा, वहां पर पत्र-चलन-मुद्रा को प्रादिष्ट मुद्रा नहीं कहा जा सकता था ।

पत्र चलनमान के गुण (Advantages of Paper Currency Standard) :

पत्र चलनमान के समर्थक इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली के अनेक गुण बतलाते

हैं जो वास्तविकता में पत्रमुद्रा के गुणों से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम, यह कहा जाता है कि **इस प्रकार के मौद्रिकमान के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा किसी धातु की उपलब्धता पर निर्भर नहीं करती** परन्तु मुद्रा अधिकारी देश में मुद्रा की मांग के अनुसार ही मुद्रा की मात्रा का नियमन करता है जिससे मुद्रा की मात्रा की मांग और पूर्ति के मध्य सन्तुलन रहता है और सामान्य मूल्य स्तर पर स्थिरता बनी रहती है। दूसरे, इस प्रणाली के अन्तर्गत **मुद्रा की निकासी के पीछे किसी विशेष प्रकार के धातु कोष की आवश्यकता नहीं रहती**। मौद्रिक अधिकारी नियमन के सम्बन्ध में अपने निर्णय अनुसार कार्य करने के लिये पूर्णरूपेण स्वतंत्र होता है। तीसरे इस प्रणाली के अन्तर्गत **देश की आंतरिक अर्थव्यवस्था अन्य देशों की आर्थिक व्यवस्थाओं के कुप्रभावों से मुक्त रक्खी जा सकती है**। धातुमान के अन्तर्गत एक देश के प्रभाव दूसरे देशों की आर्थिक व्यवस्था को भी प्रभावित करते हैं जो पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत नहीं हो पाता। कीन्स के अनुसार पूर्ण वृत्ति की स्थिति प्राप्त करने के लिये हलके अंश में लगातार मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है जो धातुमान के अन्तर्गत सम्भव नहीं होता। परन्तु पत्र मुद्रामान के अन्तर्गत मौद्रिक अधिकारी मुद्रा की मात्रा को नियमित कर साधनों का पूर्ण उपयोग सम्भव बना सकता है। इस कारण इसके अन्तर्गत, स्वर्णमान की तुलना में, विनिमय दर का अधिक क्षमतापूर्वक नियमन हो जाता है।[1] अंत में, पत्रचलनमान का यह विशेष गुण है कि इसमें आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा बढ़ाई और घटाई जा सकती है। **इस प्रकार मौद्रिक प्रणाली में लोच बना रहता है।**

पत्र चलमान के दोष (Disadvantages of Paper Currency Standard)

पत्र चलमान के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोष बतलाये जाते हैं :

१—**विदेशी विनिमय दरों में अस्थिरता** (Instability in Exchange rates) : जब दो देश स्वर्णमान पर होते हैं तो उनके बीच निर्धारित विनिमय दर में उच्चावचन स्वर्ण बिन्दुओं (Specie Points) के भीतर ही होते हैं। किन्तु अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा मान वाले देशों के मध्य विनिमय दरों के उच्चावचन की कोई सीमा नहीं होती। विनिमय दरों में अस्थिरता तथा अनिश्चितता से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं

1 The beauty of the paper system is that as soon as any disequilibrium between demand & supply occurs a sharp fluctuation in the price of Foreign Exchange immediately takes place which, by its immediate action on both exports and imports, rapidly restores equilibrium. The laws of supply and demand and price are thus allowed to operate freely and quickly—as theoretically they should in any market like that for foreign exchange, which is subjected to voilent short run fluctuations in both demand & supply.

Agnas : The problem of foreign exchange—p. 62.

सहयोग को बड़ा धक्का पहुंचता है। युद्धमध्यकाल के मौद्रिक इतिहास से यह स्पष्ट हो गया था कि विनिमय अस्थिरता से किस प्रकार दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों में बाधा उपस्थित हो जाती है। उस समय यह सिद्ध हो गया था कि विनिमय अस्थिरता अधिकांश अर्थ व्यवस्थाओं के लिये एक महत्वपूर्ण समस्या थी। यह विशेषकर उन देशों के लिये, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं सहयोग पर निर्भर करते थे, समस्या बन गई थी।

२—मूल्य-स्तर में स्थिरता सँशयजनक (Instability in Price-level): निःसन्देह इस प्रणाली के द्वारा पत्र-मुद्रा की निकासी पर उचित नियन्त्रण एवं नियमन रख कर मूल्य स्थिरता को प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु साधारणतया पत्र-मुद्रा की मात्रा का उचित रूप से नियमन करना एक कठिन कार्य बन जाता है, जिसके कारण मूल्य स्थिरता को प्राप्त करना भी सन्देहजनक हो जाता है। इस तर्क की पुष्टि पिछले अनुभवों से की जा सकती है। क्राउथर (Crowther) ने ठीक ही लिखा है कि "१९३१ के बाद अपनाया गया प्रबन्धित चलनमान भी स्वर्णमान की भाँति पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ है। इस मान के अन्तर्गत यद्यपि राष्ट्रों को अपनी इच्छानुसार आंतरिक नीतियाँ निर्धारित करने का अधिकार था, परन्तु निर्यात उद्योगों में हुये लाखों बेकार व्यक्ति इस नीति के (चाहे ये कितनी ही सुदृढ़ क्यों न हो) सीमित क्षेत्र के मौन साक्षी हैं। उच्चावचित विनिमयों (Fluctuating exchanges) ने राष्ट्रों के भुगतान कोषों को साम्य स्थित से विलग कर दिया है एवं इस असाम्य स्थिति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाने की आवश्यकता को व्यर्थ सिद्ध कर दिया है।"[1]

३—मुद्रा प्रसार का भय (Fear of inflation): इस मुद्रामान में मुद्रा अधिकारी चलन मुद्रा के पीछे कोई धातु कोष नहीं रखता और यदि विधान के अनुसार धातुकोष का रखना आवश्यक भी होता है तो मौद्रिक अधिकारी विधान को बदल कर मुद्रा की चलन मात्रा तथा धातुकोषों के अनुपात में परिवर्तन कर देता है। ऐसी व्यवस्थाओं के साथ इस प्रणाली के अन्तर्गत सदैव इस बात का डर बना रहता है कि अनुत्तरदायी सरकारें अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करके चलन की मात्रा अत्यधिक न बढ़ा दें। चैपमैन (Chapman) का विचार है कि "अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा' को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। लोगों को भय रहता है कि यह

---

1. "The post—1931 managed currency system failed as completely as the gold standard. The nations have indeed been free to pursue internal policies of their own choosing, but the hundreds of thousands of unemployed in the export industries have been silent witnesses to the limitations of the scope for a purely internal policy, however well conceived and successfully executed it might be.......," Crowther : Money

अधिक परिमाण में जारी कर दी जावेगी एवं यह डर निर्मूल भी नहीं होता है। इस नीति को अपनाने वाली सरकारें जनता पर प्रत्यक्ष कर लगा कर उसके विरोध से बचने के लिये अधिक नोट निर्गमित करके अज्ञात रूप से कर लगाती हैं। मुद्रण प्रेस की सहायता से किसी भी निश्चित मात्रा तक आवश्यक नोट छापे जा सकते हैं। परन्तु जब इस परिमाण से आगे अधिक परिमाण में अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा प्रचलित की जाती है तब इसका मूल्य कम हो जाता है और जनता का मुद्रा में विश्वास नहीं रहता। जैसे जैसे यह विश्वास कम होता जाता है वैसे वैसे पत्र-मुद्रा के मूल्य में भी कमी हो जाती है।"[1] यह उल्लेखनीय है कि संसार में अतिस्फीति की समस्या का सम्बन्ध अधिकतर पत्र-मुद्रा के अत्यधिक प्रचालन से रहा है। जर्मनी में रीच्स बैंक के नोटों की मात्रा, जो १९१४ में ५ बिलियन मार्क थी, बढ़कर १९१८ में २२ बिलियन तथा १९२१ में १,१४ बिलियन, १९२२ में १ बिलियन बिलियन [१ महाशंख] तथा १९२३ में ४९६ महाशंख से भी अधिक हो गई। इसके फलस्वरूप १९२३ में जर्मनी में कीमतें १९१४ की कीमतों की तुलना में १६१७ मिलियन गुना अधिक थीं। जर्मनी के समान ग्रीस में भी १९४४ में पत्र-मुद्रा के अति प्रचालन के कारण अतिस्फीत का अनुभव हुआ ३०-९-१९४४ से १०-११-१९४४ तक ८६० गुना नोटों की संख्या बढ़ गई और कीमतें ८००० गुना से भी अधिक हो गईं।

४—स्वयं चालकता का अभाव (Lack of automatic working) : पत्र-मुद्रा मान स्वर्ण चलन मान की तरह स्वयं संचालित मुद्रामान नहीं है। इस पर देश तथा अन्तर्राष्ट्रीय कारणों का प्रभाव पड़ता है और सरकार मौद्रिक अधिकारी द्वारा इसका उपयोग अपने स्वार्थ साधन के लिये कर सकती है। दूसरी ओर यह प्रणाली उसी दशा में सफलतापूर्वक कार्य कर सकती है जब इसका प्रबन्ध पूर्ण रूप से किया जाता है। पत्र-चलन के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण में जरा सी भी ढील दूषित प्रभाव उत्पन्न कर सकती है इस प्रकार के दोष अन्य किसी प्रकार के मान के अन्तर्गत उत्पन्न नहीं हो पाते।

५—चक्रीय उच्चावचनों से असुरक्षित (Unsecured from cyclical fluctuations): इस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली के अन्तर्गत चक्रीय उच्चावचनों से आर्थिक व्यवस्था

---

1. An inconvertible paper money is veiwed with uneasiness. People fear, and not without reason, that it will be issued in excess. Government which have recourse to it are strongly tempted to escape the unpopularity of taxing the people openly by taxing them indirectly through the emission of more notes. It is easy to get from a printing press any extra-resources that are wanted urgently. As more inconvertible paper money is put out beyond a certain amount, it depreciates and as it depreciates public confidence in the currency is shakened and it depreciates more". —Outlines of Political Economy—p. 245.

को अलग नहीं रक्खा जा सकता यद्यपि कि पत्रमुद्रामान के समर्थकों का यह् विश्वास है कि इसके अन्तर्गत किसी देश की अर्थ व्यवस्था को उन उच्चावचनों से अलग रक्खा जा सकता है जो संसार के अन्य देशों में हो रहे हों । वास्तविक जीवन में वह् बहुत कठिन होता है कि देश की अर्थव्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक घटनाओं के प्रभावों से अलग रक्खा जा सके ।

६—सट्टे की प्रवृत्ति और डम्पिंग को प्रोत्साहन (Encouragement to speculative tendencies & dumping) : कीमतों एवं विनिमय दरों में अत्यधिक परिवर्तनों के कारण मुद्रा पर सटोरिये क्रियाशील हो जाते हैं एवं विदेशों में कीमतों को गिराकर वस्तुओं के बेचने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है ।

इन दोषों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि दोषों को कुछ बढ़ा चढ़ा कर बतलाया गया है । निसन्देह स्वर्णमान की तुलना में इस मान के अन्तर्गत कीमतों में अधिक स्थिरता बनाये रक्खी जा सकती है । स्वर्ण मान के अन्तर्गत कीमतों में परिवर्तन स्वर्ण की मात्रा में परिवर्तनों के अनुपात में होते हैं, परन्तु पत्र मुद्रा मान के अन्तर्गत यह मौद्रिक अधिकारी की वैधानिक इच्छा पर ही निर्भर करता है। यदि सरकार उस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं करती तो स्वर्णमान में भी मुद्रा प्रसार के प्रति कोई आश्वासन नहीं होता । एगनस (Agnas) के शब्दों में, "यदि एक अनुत्तरदायी एवं असावधान सरकार शक्तिशाली होकर ऋणी हो जाती है तो यह स्वर्णमान में भी स्वर्ण त्याग कर पत्र मुद्रा छापने में संकोच नहीं करती । इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं जब कि स्वर्ण एक प्रभावशाली विरोध नहीं बन सका ।"[1] स्वर्णमान में ऐसी सम्भावना होने पर भी कीमत स्तर अधिक स्थिर रहता है। इसके अतिरिक्त पत्रमुद्रामान का यह दोष, कि यह विनिमय दरों में संतुलन बनाये रखने में असफल रहता है, सही नहीं है । इस प्रणाली के अन्तर्गत विनिमय दरों के परिवर्तनों को स्वर्णमान के परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह नियन्त्रित रक्खा जा सकता है । 'एगनस' (Agnas) के ही शब्दों में "पत्र मुद्रा प्रणाली की यह सुन्दरता है कि जैसे ही विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति में असन्तुलन हो जाता है, तो विनिमय दर के परिवर्तनों के कारण वह शीघ्र ही सन्तुलित हो जाता है । इस प्रकार से मांग और पूर्ति के नियमों को तथा कीमतों को स्वतन्त्रता पूर्वक पत्र मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत सन्तुलित होने दिया

---

1. ......if an irreponsible and reckless Government does even happen to get into power and run into debt it never hesitate, even under the gold standard, to abandon gold and print paper money. History suppplies a long series of instances when even gold has not been an effective check at all.

The problem of Foreign Exchange—p. 155

जाता है।"[1] फिर भी पत्रमुद्रामान के समर्थन में दिये गये इन तर्कों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस प्रकार की मुद्रा प्रणाली प्रत्येक रूप के मुद्रामान से अच्छी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वर्णमान पत्रमुद्रामान से कहीं अच्छा है तथा स्वर्णमान के सम्बन्ध में जिन दोषों एवं संशय का उल्लेख किया जाता है वे उन परिस्थितियों के कारण ही थे जिनके अन्तर्गत स्वर्णमान को युद्धोत्तर काल में क्रियाशील होना पड़ा। कागजी मुद्रा के नियन्त्रण एवं नियमन के सम्बन्ध में मौद्रिक अधिकारी द्वारा की गई छोटी त्रुटि से भी भारी हानि हो सकती है जो दूसरे प्रकार के मुद्रामान के अन्तर्गत सोची भी नहीं जा सकती।

विभिन्न देशों द्वारा अपनाये गये पत्रमुद्रामान की कार्य प्रणाली के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्रमुद्रा के विरोध में दिये गये तर्कों की सच्चाई सही नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास की बैंक (I.M.F. & I.B.R.D.) की स्थापना से पत्रमुद्रामान के दोष एवं कठिनाइयाँ काफी बड़ी सीमा तक दूर की जा चुकी हैं। विदेशी उद्देश्यों के लिये प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में घोषित कर दिया गया है तथा इसी के द्वारा विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं। विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष प्रणाली के अंतर्गत विशेष सुविधायें प्रदान की गई हैं। यद्यपि विभिन्न मुद्राओं का आधार स्वर्ण नहीं बनाया गया है जिसके द्वारा विनिमय दरों का निर्धारण किया जा सके, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विदेशी मुद्राओं का विक्रय कर एवं ऋण दे कर विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार इसकी सहायता से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सहकारिता का वातावरण उत्पन्न होता है जिससे संसार के सभी क्षेत्रों का आर्थिक विकास किया जा सकता है। अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के निर्गमन के साथ पत्र मुद्रा मान आज का सामान्य मान बन गया है तथा अपनी कार्यविधि द्वारा इसने स्वर्ण से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

कागजी मुद्रा का प्रबन्ध एवं नियमन (Management & Regulation of Paper Money.)

कागजी मुद्रा के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिये इसकी बड़ी आवश्यकता होती है कि चलन-मुद्रा एवं साख-मुद्रा का ठीक प्रकार से प्रबन्ध किया जाय एवं उनकी मात्राओं का नियमन हो। ऐसा न होने से मौद्रिक प्रणाली में अनेक प्रकार

1. The beauty of the paper system is that as soon as any disequilibrium between demand & supply occurs a sharp fluctuation in the price of foreign exchange immediately takes place; which by its immediate action on both exports & imports rapidly restores equilibrium. The laws of supply & demand and the price are thus allowed to operate freely and quickly ......supply.—
–The problem of foreign exchange –p.62

के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। मुद्रा के प्रबन्ध एवं नियमन का अभिप्राय ऐसी नीति को अपनाने से होता है जिसके द्वारा किसी उद्देश्य से मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित किया जा सकता हो। मौद्रिक नीति का उद्देश्य सन्तुलित विनिमय दर को बनाये रखना, कीमतों को परिवर्तनशील बनाये रखना तथा रोजगार एवं व्यापार की दशाओं में वृद्धि करना होता है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रत्येक देश में मुद्रा की मात्रा का नियमन प्रायः प्रत्येक देश की केन्द्रीय बैंक करती है, जो अपने देश की सरकारों के पर्यवेक्षण (Supervision) में कार्य करती है। इस संदर्भ में सारी समस्या नोटों के छापे जाने से सम्बन्धित होती है जो कागजी मुद्रा के कार्य करने की प्रत्येक अवस्था के साथ बदलती रही है।

कागजी मुद्रा का जन्म सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्थाओं में चोर और डाकुओं से बहुमूल्य धातुओं की बनी मुद्राओं को बचाने के उद्देश्य से हुआ। धातुओं की बनी हुई मुद्राओं को स्वर्णकार एवं साहूकारों के पास सुरक्षित रूप से जमा कर दिया जाता था जिसके बदले में जमाकर्ताओं को वे रसीदें दे दिया करते थे। इस आदत के कारण कुछ समय पश्चात बैंक के निक्षेपों एवं साख का विकास हुआ और बैंक नोटों का जन्म हुआ। प्रारम्भिक अवस्थाओं में ये बैंक जनता के विश्वास के आधार पर नोटों को निकालते थे। उनके इस कार्य पर सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। परन्तु बैंक के फेल हो जाने के कारण नोट रखने वाली जनता को बड़ी हानि होने लगी जिसके कारण सरकार को नोटों के निकालने के सन्दर्भ में हस्तक्षेप करने के लिये वाध्य होना पड़ा। क्योंकि इस प्रकार के नोट प्रत्येक देश में अनेक प्रकार की व्यवसायिक बैंकों द्वारा निर्गमित किये जाते थे तथा इसलिये इनके निर्गमन की एकरूपता बनाये रखने के लिये नियमों के न होने के कारण अनेक प्रकार की जटिलता आने लगी। इनके परिणाम इतने गम्भीर होने लगे कि सरकार को नोटों के निर्गमन का कार्य अनेक बैंकों से हटा कर प्रत्येक देश की एक बैंक को दिया जाने लगा। ये बैंक व्यक्तिगत प्रकृति की होती थीं और इनके संचालन करने वाले लोग अपने देश के आर्थिक जीवन में महत्व रखने वाले अनुभवी लोग होते थे। परन्तु प्रथम महायुद्ध एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना हुई जिसने सरकार द्वारा हस्तक्षेप की नींव डाली और इन्होंने अधिकोषण संस्थाओं सम्बन्धी कर्तव्यों और अधिकारों को देश की केन्द्रीय बैंक को देना प्रारम्भ कर दिया। प्रत्येक देश को नये नियम बनाने पड़े जिससे कि उनका नियन्त्रण देश की केन्द्रीय बैंकों पर कठोर हो जाय। उनको इस बात के लिये भी वाध्य किया जाने लगा कि वे सरकारों को वित्तीय सहायता देने के लिये राष्ट्रीय प्रतिभूतियों के आधार पर मुद्रा का विस्तार करें।

युद्ध के आर्थिक दुष्परिणामों के फलस्वरूप मुद्रा का भारी मात्रा में अव-मूल्यन हुआ और मौद्रिक प्रबन्ध में असन्तोष फैलता गया। विभिन्न देशों की सरकारें

भी तब से मुद्रा अधिकारियों की स्वतन्त्रता के विरुद्ध होती गई और स्वार्थ के लिये उन पर नियन्त्रण लगाने शुरू कर दिये। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर, सरकारों को नोट निर्गमन करने वाली बैंकों के राष्ट्रीयकरण का यह अच्छा अवसर मिला जिससे कि उनको राज्य शासन का ही एक अंग बना लिया जाय। इस प्रकार धीरे धीरे पत्र मुद्रा निर्गमन एवं प्रबन्ध प्रत्येक देशों की सरकारों के हाथ में आता गया। आज भी यद्यपि वे अपने पुराने नाम पर ही कार्य कर रही हैं और वैधानिक रूप से उनकी स्थिति भी सरकारों के शासन यन्त्र से अलग है फिर भी व्यवहारिक रूप में वे सरकारी शासकीय संगठन का एक आवश्यक अंग हैं। उनकी पूँजी राज्य सरकारों की देन होती है, तथा उनके संचालक मण्डल की नियुक्ति भी राज्य द्वारा की जाती है। केन्द्रीय बैंकों का भी, जो अब चलन एवं साख मुद्रा का नियमन एवं प्रबन्ध करती है और जिनके द्वारा मौद्रिक नीति का निर्धारण होता है, राज्य से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है।

भारत की पत्र चलन प्रणाली में भी ये सब अवस्थायें आईं। सन् १८६१ के पूर्व तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को एक निश्चित मात्रा तक नोट निर्गमन का अधिकार प्राप्त था। परन्तु १८६१ के १९वें विधान के अनुसार प्रेसीडेन्सी बैंकों से नोट निर्गमन के उस अधिकार को छीन लिया गया और उसके स्थान पर एक 'पत्र चलन विभाग' (Paper Currency Deptt.) की स्थापना की गई जिसके द्वारा सरकार ने स्वयं नोट निर्गमन करना आरम्भ कर दिया। १९२१ में इम्पीरियल बैंक की स्थापना होने पर, कुछ सीमाओं के अन्तर्गत मुद्रा का सामायिक माँगों को पूरा करने के लिये नोट निर्गमित करने का अधिकार इसे सौंप दिया गया। अन्त में १९३४ के 'रिजर्व बैंक आफ इण्डिया' विधान के पास होने पर नोट निर्गमन का सम्पूर्ण अधिकार इसे हस्तान्तरित कर दिया गया। यह हस्तान्तरण उचित हुआ अथवा नहीं, इसका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

नोट-निर्गमन के सिद्धान्त :—

नोट निर्गमन के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रचलित हैं। ये दो सिद्धान्त, 'चलन सिद्धान्त' और 'बैंकिंग सिद्धान्त', के नाम से विख्यात हैं।

१. चलन सिद्धान्त (Currency Principle) :

यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि 'पत्र चलन-मुद्रा के निर्गमन का उद्देश्य उस धातु को क्षति से बचाना होता है जो कि धातु के सिक्कों के चलन में रहने से होती है। इस प्रकार की मुद्रा को मित-व्ययी होना चाहिये और साथ ही ऐसी होना चाहिये जिसको आसानी से स्थानान्तरित किया जा सके।' इन उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता

है कि उत्तम नोट निर्गमन प्रणाली के अन्तर्गत पत्र मुद्रा को धातु के बने सिक्कों में परिवर्तनीय होना चाहिये। इसी कारण पत्र मुद्रा निर्गमन अधिकारी के लिये यह आवश्यक होता है कि वह पत्र मुद्रा के पीछे शत प्रतिशत धातु (सोना या चाँदी) कोष में रक्खे। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा की मात्रा देश में स्वर्ण अथवा अन्य धातु कोषों की मात्रा पर निर्भर करती है। मुद्रा पर जनता का विश्वास अधिकतम रहता है, क्योंकि ऐसी दशा में आवश्यकता से अधिक पत्र मुद्रा के निर्गमन का भय नहीं रहता। यदि आयात अथवा अधिक उत्पादन से देश में स्वर्ण की मात्रा बढ़ जाती है तो पत्र मुद्रा की मात्रा भी बढ़ जायगी और यदि निर्यात के कारण स्वर्ण की मात्रा में कमी हो जाती है तो पत्र मुद्रा की मात्रा में भी कमी होगी, जिसके फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर गिर जायगा।

इसमें सन्देह नहीं कि यह सिद्धान्त पत्र मुद्रा की सुरक्षा पर अधिक परन्तु देश की साख-मुद्रा के महत्व पर कम महत्व देता है। साख के ही कारण मौद्रिक नीति में लचक उत्पन्न होती है और लोच उत्तम मुद्रा प्रणाली की प्रमुख विशेषता है। लोच से हमारा अभिप्राय समाज की आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि करने से होता है, जिसका कि इस सिद्धान्त में अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण की काफी मात्रा कोष में बेकार पड़ी रहती है जिससे इसे मितव्ययी नहीं कहा जा सकता।

२. **बैंकिंग सिद्धान्त** (Banking Principle) :

बैंकिंग सिद्धान्त मौद्रिक नीति में लोच को महत्व देता है जिससे मुद्रा अपना कार्य सफलता पूर्वक सम्पन्न कर सके। इस सिद्धान्त के अनुसार पत्र मुद्रा की कुल मात्रा के एक भाग के बराबर ही धातु कोष रक्खा जाता है। साधारणतया कोई भी व्यक्ति किसी एक समय अपनी कुल पत्र मुद्रा को धातु में बदलना पसन्द नहीं करता। इसलिये पत्र मुद्रा बदलने के लिये परिवर्तन सम्बन्धी मांग के लिए अधिक धातु कोष रखना अनावश्यक होता है। इसके अन्तर्गत मौद्रिक अधिकारी को एक सीमा तक इस बात की भी स्वतन्त्रता रहती है कि जिससे कि वह अर्थव्यवस्था की आधारभूत आवश्यकताओं के अनुसार चलन मुद्रा की मात्राओं को समायोजित कर सके। इससे नोटों को धातु में बदलने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है क्योंकि जनता के पास बदलने के लिये आधिक्य नोट नहीं रहते हैं। सामान्य रूप से यही सिद्धान्त स्वीकार किया गया है और विभिन्न देशों की मुद्रा प्रणालियां इसी सिद्धान्त पर आधारित भी हैं।

आधुनिक आर्थिक परिस्थितियों में निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों में से कौन प्रणाली अधिक अच्छी है। कुछ बातों के लिये चलन सिद्धान्त अच्छा सिद्ध हो सकता है और कुछ के लिये बैंकिंग सिद्धान्त। वास्तव में वही

सिद्धान्त अच्छा सिद्ध होता है जो कि परिस्थितियों के अनुकूल हो, उस पर जनता का विश्वास हो और जिसमें लोच की कमी हो।

पत्र-मुद्रा निर्गमन अधिकारी (Note Issue Authority) :

यह प्रश्न काफी विवादपूर्ण है कि पत्रमुद्रा के निर्गमन का अधिकारी कौन हो। इस संदर्भ में दो महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं : प्रथम, पत्र मुद्रा निर्गमन का अधिकार सरकार के हाथ में हो अथवा बैंकों के हाथ में हो; द्वितीय, यह अधिकार एक बैंक को दिया जाय अथवा अनेक बैंकों को। पत्र मुद्रा निर्गमन का अधिकार सरकार के हाथ में होने के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत पत्रमुद्रा के पीछे राष्ट्र की सारी सम्पत्ति कोष के रूप में रहती है जिससे मौद्रिक प्रणाली को अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाती है। सरकार द्वारा निर्गमित पत्र मुद्रा में जनता का अधिक विश्वास रहता है जिससे मुख्यतः सरकार को और सामान्य रूप से जनता को भी लाभ होता है। पत्र मुद्रा के पीछे कोष चाहे रक्खा जाय अथवा न रक्खा जाय, सरकार की प्रतिष्ठा ही आवश्यक कोष का कार्य करती है। सरकार को शासन द्वारा अनेक प्रकार की सेवायें प्राप्त होती हैं जिनके द्वारा सरकार को मौद्रिक मांग का सही ज्ञान हो जाता है। इसके अतिरिक्त, सरकार के पास कानून की शक्ति रहती है जिससे वह चलन मुद्रा को नियन्त्रित करने के साथ साथ देश में साख का भी नियमन कर लेती है। मुद्रा की माँग और पूर्ति का सामंजस्य सरकार द्वारा अच्छा तरह किया जा सकता है। अन्त में, दो महायुद्धों के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया है कि पत्र मुद्रा पर सरकारी नियन्त्रण हो।

परन्तु सरकार द्वारा मुद्रा निर्गमन किये जाने के विरुद्ध भी काफी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं जिनको भुलाया नहीं जा सकता। इस विषय में सबसे महत्वपूर्ण तर्क यह है सरकार द्वारा मुद्रा निर्गमन किये जाने पर प्रणाली में लोच का अभाव होता है। सरकार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से व्यापारिक दशाओं से नहीं रहता, अतः वह व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार मुदा की मात्रा का सामंजस्य नहीं कर पाती। संकटकाल में सरकार को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है, क्योंकि व्यापारी वर्ग नकद मुद्रा की माँग शीघ्रता से करता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि सरकार का काम सुस्त एवं ढीला होता है जिससे वह एकाएक हुये परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दे पाती। "एक सरकार को, जिसका कि प्राथमिक कर्तव्य यह होता है कि वह अपने देश की मुद्रा प्रणाली को सुरक्षित रक्खे, मुद्रा प्रणाली से सम्बन्धित सभी समस्याओं का अध्ययन करना होता है। परन्तु कुछ भी करने के पहले व्यर्थ समय व्यतीत हो जाता है तथा हो सकता है कि संकटकालीन मुद्रा की

माँग अपूर्ण रह जाय। ऐसी दशा में किसी समय मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से कम या अधिक हो सकती है।"[1]

परन्तु दूसरी ओर बैंक द्वारा पत्रमुद्रा निर्गमन के पक्ष में भी महत्वपूर्ण तर्क दिये जाते हैं, यद्यपि यह तर्क अधिकतर सरकार द्वारा नोट निर्गमन किये जाने की बुराइयों पर आधारित हैं। सर्वप्रथम, बैंक का व्यापार से प्रत्यक्ष संबंध रहता है, क्योंकि दूसरी शाखायें व्यापार सम्बन्धी कार्य करती हैं। इसलिये उसे बाजार में मुद्रा की माँग तथा पूर्ति का अधिक सही ज्ञान होता है। दूसरे, बैंकों का साख मुद्रा पर नियंत्रण रहता है जिसके द्वारा वे मुद्रा की अस्थायी तथा सामयिक माँग को पूरा करती हैं। व्यापारी वर्ग अधिक मुद्रा की माँग करने पर बैंक को ऋण प्राप्त करने के लिये अधिक मात्रा में प्रतिभूति देता है। इन प्रतिभूतियों को यह केन्द्रीय बैंक से बट्टे पर भुना कर माँग की पूर्ति के लिये धन प्राप्त कर लेती हैं। तीसरे, यदि इनके पास बट्टे पर भुनाने के लिये पर्याप्त प्रतिभूतियाँ नहीं होतीं तो यह केन्द्रीय बैंक से 'बैंक दर' के आधार पर ऋण प्राप्त कर साख की मात्रा का विस्तार कर लेती हैं। इसके विपरीत परिस्थिति होने पर बैंक साख की मात्रा का संकुचन कर लेती है। चौथे, इस बात का भय नहीं रहता कि सरकार राजनैतिक प्रभावों से आर्थिक उद्देश्यों का हनन कर देगी जैसा कि स्वार्थी सरकारें अपनी पार्टी के हित के लिये करती हैं। मौद्रिक इतिहास में इस तरह के अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि बिना मुद्रा नीति को ध्यान में दिये मुद्रा की मात्रा में कमी या वृद्धि केवल राजनैतिक स्वार्थ के ही लिये की गई। पाँचवें, ऐसी दशाओं में भी जब सरकारों पर जनता का विश्वास समाप्त हो जाता है, बैंकों के पास नोट निर्गमन अधिकार होने से कोई समस्या नहीं पैदा होती। अन्त में, बैंक के पास, जो साख मुद्रा का नियन्त्रण करती हैं, नोट निर्गमन का अधिकार न होने से देश का सारा कोष दो भागों—बैंकिंग-कोष तथा चलन-मुद्रा-कोष, में बंट जाता है। अतएव मुद्रा प्रणाली का उचित प्रबन्ध करने के लिये नोट निर्गमन का अधिकार 'बैंकों' को ही दिया जाना चाहिये।

अब हम ऊपर दिये हुए दूसरे प्रश्न पर विचार करेंगे कि नोट निर्गमन का अधिकार देश में एक बैंक को दिया जाय अथवा अनेक बैंकों को ? प्रारम्भ में अधिकाँश देशों में पत्र-मुद्रा निर्गमन का अधिकार अनेक बैंकों को था। परंतु आधुनिक काल

---

1. A government whose primary duty is to look to the security of the currency system is naturally forced to study the problems that arise. Time elapses before any action is taken and the emergency demand may go unsatisfied. It may, therefore, happen that at times the supply of currency may be less than its demand viz, there may be stringency of money, or that the supply may exceed the demand, viz there may be over issue of money.

Dadachauji : Reserve Bank of India and the money market. —p 18.

में प्राय: अनेक बैंकों द्वारा पत्र मुद्रा निर्गमन की प्रणाली का परित्याग कर दिया गया है। वर्तमान समय की सामान्य प्रवृति एक बैंक—केन्द्रीय बैंक—को इस कार्य का एकाधिकार देने की है। इसके कई कारण हैं : सर्वप्रथम बैंकों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है और अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से वे एक दूसरे से प्रतियोगिता किया करती हैं, जो अनुचित होता है। दूसरे, बहुत सी बैंकों का नियंत्रण करना एक कठिन कार्य होता है और कभी कभी बैंक नियन्त्रण के बिना विरोधी मौद्रिक नीतियां भी अपना लेती हैं। केवल एक बैंक से नोट निर्गमन का अधिकार देने से इन समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। तीसरे, एक बैंक को नोट निर्गमन का अधिकार देने से मौद्रिक नीति में एकरूपता पैदा हो जाती है, अर्थात एक प्रकार की पत्र-मुद्रा का ही चलन होता है जिससे निकृष्ट नोटों का आसानी से पता लग जाता है।

परन्तु एक बैंक को ही नोट निर्गमन का अधिकार दे देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। चलन-पत्र-मुद्रा के नियमन एवं नियन्त्रण से ही मौद्रिक नीति उत्तम नहीं बन जाती। आधुनिक काल में साख-मुद्रा का चलन-मुद्रा में कम महत्व नहीं होता है। अत: निर्गमन का अधिकार देश की ऐसी बैंक को ही दिया जाना चाहिये जिनको राज्य का संरक्षण प्राप्त हो। ऐसी दशा में केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित किये गये नोटों को वही प्रतिष्ठा प्राप्त होगी जितनी कि सरकारी नोटों को प्राप्त होती है। यह बैंक निर्गमन के नियमों के अनुसार ही नोट निर्गमित करती है। यह नियम बहुत सोच विचार कर लागू किये जाते हैं। जो नोट एक बार चलन में आ जाते हैं वे तब तक चालू रहते हैं जब तक कि कोई ऐसी घटना न हो जाय जिससे जनता का विश्वास उन पर समाप्त हो जाय। केन्द्रीय बैंक द्वारा नोट निर्गमित किए जाने पर बैंकिंग कोष और चलन कोष में एकरूपता आ जाती है। यदि केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक विपत्रों के आधार पर नोट निर्गमन का अधिकार दे दिया जाता है, तो मुद्रा प्रणाली में लोच का गुण भी पैदा हो जाता है। आधुनिक काल में प्राय: नोट निर्गमन पर या तो केन्द्रीय बैंक का एकाधिकार अथवा अवशेष एकाधिकार (Residuary Monopoly) होता है। वर्तमान प्रवृत्ति इन बैंकों के राष्ट्रीयकरण करने की है, और अच्छी संख्या में इनका राष्ट्रीयकरण किया भी जा चुका है।

नोट निर्गमन की प्रणालियाँ (Methods of Note-Issue) :

संसार के विभिन्न भागों में नोट निर्गमन की विभिन्न प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनाई गईं। यह प्रणालियां निम्न-लिखित हैं :—

१—निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (Fixed Fiduciary System) इस : प्रणाली के अन्तर्गत निर्गमन अधिकारी, नोटों के एक निश्चित मूल्य के बराबर

सरकारी प्रतिभूतियों को कोष में रखता है। इस सीमा से अधिक नोट निर्गमित करने के लिये १०० % स्वर्ण कोष रखना पड़ता है। कुल पत्र-मुद्रा का वह भाग जो बिना धातु कोष के निर्गमित किया जाता है, उसे विश्वासाश्रित निर्गमन कहते हैं। इंगलैण्ड में यह प्रणाली, बैंक चार्टर विधान १८४४ के अनुसार अपनाई, गई और अपने संशोधित रूप में अब भी प्रचलित है। विश्वासाश्रित निर्गमन की मात्रा बिना सरकारी स्वीकृति के नहीं बढ़ाई जाती। इंगलैंड में यह सीमा समय समय पर बदलती रही है। विधान के अनुसार बैंक आफ इंगलैण्ड को १४ मिलियन पौंड के नोट निर्गमन करने का अधिकार था। १९२८ के चलन एवं बैंक नोट विधान के अनुसार बैंक को २६० मिलियन पाउण्ड के नोट निर्गमन का अधिकार दिया गया। सन् १९३१ में यह सीमा बढ़ा कर ३०० मिलियन पाउण्ड कर दी गई। सन् १९३९ में इस सीमा में पुनः वृद्धि हुई जब कि इस प्रणाली के स्थान पर 'निश्चित अधिकतम प्रणाली' को अपनाया गया। दूसरे देशों ने भी इस प्रणाली को संशोधित रूप में अपनाया। जापान में अब भी यह प्रणाली प्रचलित है, अन्तर केवल इतना है कि जापान में विश्वासाश्रित सीमा के उपरान्त नोट निर्गमन के लिये कोष में शत प्रतिशत सोना और चांदी दोनों धातुयें रक्खी जाती हैं। वहां पर भी सीमा कई बार, विशेष कर सन् १९३२,३८ और ३९ में, बढ़ाई गई है। सन् १९२९ के पहले नार्वे, फिनलैण्ड तथा इटली ने इस प्रणाली को अपनाया था। सन् १८६१ से १९२० तक भारत में भी यही प्रणाली प्रचलित रही, जब कि नोट प्रचालन की मात्रा में १८७१, १८९०, १८९७, १९०५, १९१४, तथा १९२० में परिवर्तन किये गये।

नोट-निर्गमन की यह प्रणाली दोषों से दूर नहीं है। सर्वप्रथम यह प्रणाली बेलोचदार और दूसरे, इसमें मितव्यता नहीं होती है। यह प्रणाली इसलिये बेलोचपूर्ण होती है क्योंकि चलन की मात्रा में परिवर्तन व्यापारिक आवश्यकताओं के आधार पर न होकर कोष में स्वर्ण की मात्रा में परिवर्तनों के अनुसार होता है। मुद्रा की अधिक आवश्यकता को केवल दो विधियों द्वारा पूरा किया जाता है : (क) बैंक के कोष में अधिक सोना बढ़ा कर अथवा (ख) नोट-निकासी की निर्धारित सीमा में परिवर्तन करके। साधारणतया दूसरी विधि काम में लाई जाती है परन्तु इससे प्रणाली पर जनता का विश्वास कम हो जाता है इसको अपव्ययी इसलिये कहा जाता है क्योंकि सोने की बहुत बड़ी मात्रा अनावश्यक रूप से कोष में रखनी पड़ती है। धातु की यह मात्रा और भी बढ़ जाती है यदि विश्वासाश्रित चलन की सीमा नीची होती है। इस प्रकार इस प्रणाली में पत्र मुद्रा चलन-प्रतिनिधि-पत्र मुद्रा का रूप ले लेती है। इन आलोचनाओं के विपरीत इस प्रणाली के कई लाभ भी हैं। सर्व प्रथम, इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा प्रसार का भय नहीं रहता क्योंकि निश्चित सीमा के बाद अधिक निर्गमन की मात्रा के बराबर

सोना कोप में रखना पड़ता है। दूसरे, इस प्रणाली पर जनता का विश्वास अधिक रहता है, क्योंकि लोगों को विश्वास रहता है कि बिना कोप रक्खे अधिक निर्गमन न किया जायगा, यद्यपि अनुभव हमें यह बताता है कि सरकारों ने जब चाहा तब इसकी सीमा में वृद्धि कर दी। इसी कारण देशों को इस प्रणाली को त्यागना पड़ा।

२—**निश्चित अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली** (Fixed Maximum Fiduciary System) : इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट प्रकाशन की अधिकतम सीमा सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती है और मौद्रिक अधिकारी को चलन की मात्रा इस सीमा से अधिक बढ़ाने की स्वतन्त्रता नहीं होती। परन्तु इस प्रणाली में पत्र मुद्रा के पीछे कितनी धातु निधि रक्खी जाय इसका निर्णय करने का अधिकार मुद्रा अधिकारी को दे दिया जाता है। यदि मुद्रा अधिकारी चाहे तो निर्धारित सीमा के भीतर पत्र मुद्रा बिना किसी धातु निधि के ही निर्गमिन कर सकता है। परन्तु निर्धारित सीमा के बाद नोटों का निर्गमन शत प्रतिशत कोष रख कर भी सम्भव नहीं होता। इस प्रणाली में पत्रमुद्रा निर्गमन की अधिकतम सीमा देश की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं की अपेक्षा ऊँची ही रक्खी जाती है। सरकार को विधान के द्वारा इस सीमा में परिवर्तन करने का अधिकार होता है। फ्राँस में यह प्रणाली १८७० से १९२८ तक प्रचलित रही जब कि निश्चित अधिकतम सीमा ५९४३१ मिलियन फ्रैंक निर्धारित की गई थी। इंगलैण्ड और जापान में इसी प्रकार की नोट निर्गमन प्रणालियों को क्रमशः १९३९ और १९४१ से अपनाया गया। इंगलैण्ड में यह अधितम सीमा १९३९ में ५८० मिलियन पौंड थी जो धीरे धीरे बढ़ती गई और अन्त में १९४६ में बदल कर १४५० मिलियन£ हो गई। इसके पश्चात यह सीमा गिरने लगी और १९५० में घटाकर १३०० मिलियन कर दी गई। इस सीमा तक बैंक आफ इंगलैंड, केवल सरकार की प्रतिभूतियों के आधार पर नोट निर्गमन करता है।

इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि स्वर्ण को आवश्यक रूप से कोप में रखकर अन्य उपयोगी कार्यों में लगा दिया जाता है। कोई भी प्रणाली जिसमें नोट निर्गमन पद्धति स्वर्ण कोपों से सम्बन्धित होती है, स्वर्ण को विदेशी विनिमय के कार्य करने से रोक देती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत यह बुराई दूर हो जाती है। दूसरे, सरकार नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निर्धारित करके मौद्रिक अधिकारी को इस बात के लिये सरलता एवं स्वतन्त्रता प्रदान कर देती है कि वह चलन एवं साख का नियमन देश की आवश्यकताओं के अनुसार कर सके। जैसा कि कीन्स(Keynes)ने कहा है कि "यदि नोट निर्गमन की मात्रा विधान द्वारा निश्चित कर दी जाय तो यह प्रणाली सर्वोत्तम है।"[1] परन्तु दूसरी ओर इस प्रणाली के विरुद्ध यह

---

1. A Treaties of Money—Page 266.

कहा जाता है कि अधिकतम सीमा निर्धारण में सरकार उन सम्बन्धों पर कोई ध्यान नहीं देती जो नोट निर्गमन तथा व्यापारिक आवश्यकताओं के बीच बनाये रखना आवश्यक होता है। दूसरे, इस प्रणाली में सदैव अधिक निर्गमन का भय रहता है क्योंकि सरकार किसी भी समय सीमा में अनावश्यक वृद्धि कर सकती है।

३—आनुपातिक निधि प्रणाली (Proportional Reserve System) : इस प्रणाली के अन्तर्गत नोटों की मात्रा का न्यूनतम प्रतिशत भाग स्वर्णकोष के आधार पर निर्गमित किया जाता है और शेष भाग सरकारी प्रतिभूतियों और व्यापारिक विपत्रों द्वारा संरक्षित रहता है। यह न्यूनतम सीमा कठोरता के साथ निश्चित नहीं की जाती बल्कि सरकार की स्वीकृति से अल्पकाल के लिये इस शर्त पर घटाई व बढ़ाई जा सकती है कि निर्गमन करने वाली बैंक परिवर्तित मात्रा पर कर अदा करे। कुछ देश अपने स्वर्णकोष में विदेशी विनिमय को भी सम्मिलित करते हैं, जैसा कि भारत में १९३५ से किया गया। दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात यह प्रणाली बहुत प्रिय हो गई। फ्रांस ने १९२८ में अधिकतम विश्वासाश्रित प्रणाली को छोड़ कर इस प्रणाली को अपनाया। अमेरिका ने भी इसे फेडरल कोष प्रणाली के स्थान पर अपनाया। 'हिल्टन यंग कमीशन' की सिफारिश से १९२६ में भारत में भी यह प्रणाली अपनाई गई और १९३४ में रिजर्व बैंक की स्थापना होने पर इसी प्रणाली को कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित रखने की मान्यता दे दी गई। नोटों की मात्रा का न्यूनतम प्रतिशत, जो स्वर्ण के आधार पर संरक्षित की जाती है, विभिन्न देशों में अलग अलग है। अमेरिका में यह ४० प्रतिशत है और शेष ६० प्रतिशत को व्यापारिक बिल इत्यादि से संरक्षित किया जाता है जिस पर कि 'फेडरल रिजर्व बैंक' को निर्गमन का अधिकार है। आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना, कनाडा, न्यूजीलैण्ड और यूगोस्लेविया में यह न्यूनतम सीमा २५% है। सन् १९३५ के पूर्व भारत सरकार नोटों के पीछे ५०% कोष स्वर्ण और चाँदी के रूप में और ५०% सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रख सकती थी। सन् १९३५ के बाद इस प्रणाली को कुछ अंशों में परिवर्तित करके भिन्न प्रणाली (प्रतिशत प्रणाली) के रूप में अपना लिया गया।

कीन्स ने इस प्रणाली के विषय में लिखा है कि "आनुपातिक कोष प्रणाली आजकल सर्वाधिक लोकप्रिय प्रणाली है।" इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ इसकी लोच एवं सुरक्षा है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट निर्गमन की मात्रा कोष में स्वर्ण की मात्रा के अनुसार बढ़ाई जा सकती है। इस प्रकार यह स्वर्ण से उतनी कठोरता के साथ सम्बन्धित नहीं है जितनी कि निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली होती है। यह विशेषता प्रणाली का महत्वपूर्ण दोष भी बन जाती है, क्योंकि कोष में स्वर्ण की मात्रा तनिक भी कम हो जाने पर पत्र-मुद्रा की मात्रा में अत्यधिक कमी हो जाती

है। इस प्रणाली में कोषों में स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा बेकार पड़ी रहती है। इस लिए इसे अपव्ययी भी कहा जा सकता है। कभी कभी स्वर्ण कोषों की मात्रा उपलब्ध स्वर्ण से अधिक निश्चित कर दी जाती है और इसमें परिवर्तन विधान द्वारा रोक दिया जाता है।

४—प्रतिशत प्रणाली (Percentage System) : यह प्रणाली आनुपातिक निधि प्रणाली का ही परिष्कृत रूप है। इसमें भी नोटों की मात्रा का एक निश्चित प्रतिशत स्वर्ण या चाँदी के रूप में कोष में रक्खा जाता है। परन्तु कभी कभी इस कोष का कुछ भाग विदेशी विनिमय अथवा अल्पकालीन विनियोगों के रूप में भी रक्खा जाता है। भारत में यही प्रणाली अपनाई गई है। विधान के अनुसार 'रिजर्व बैंक आफ इंडिया' कुल नोटों की मात्रा का ४० प्रतिशत के मूल्य के बराबर कोष रखती थी और इस कोष का ६० प्रतिशत भाग स्वर्ण व स्टर्लिंग के रूप में रक्खा जाता था, परन्तु किसी भी समय स्टर्लिंग की मात्रा ४०० मिलियन रुपये से कम नहीं हो सकती थी। कुछ समय पूर्व विधान में संशोधन किया गया और भारत सरकार को विदेशी विनिमय की कमी के खतरे से बचाने के लिये इसकी न्यूनतम सीमा (२०० मिलियन रुपये) निर्धारित कर दी गई। यह प्रणाली उन देशों के लिये उपयुक्त होती है जहाँ पर कि स्वर्ण और चाँदी के कोष सीमित होते हैं और जो विदेशी चलन के द्वारा अपने चलन में विश्वास बनाये रखना चाहते हैं।

५—साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System) : इस प्रणाली में नोट निर्गमन की कुल मात्रा के बराबर स्वर्ण और चांदी कोष में रक्खी जाती है। अतः इस प्रणाली के अन्तर्गत केवल प्रतिनिधि पत्र-चलन-मुद्रा का प्रचलन होता है। विश्वास के दृष्टिकोण से यह प्रणाली सर्वोत्तम होती है। परन्तु अच्छी मौद्रिक प्रणाली की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की प्रणाली का कोई भविष्य नहीं है।

६—न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System) : इस प्रणाली के अन्तर्गत विधान द्वारा नोटों के पीछे रक्खी जाने वाली स्वर्ण कोष की न्यूनतम मात्रा का निर्धारण कर दिया जाता है। निर्गमन अधिकारी को विधान द्वारा निर्धारित इस न्यूनतम कोष को सदैव अपने पास रखना पड़ता है। स्पष्ट है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत नोट निर्गमन की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की जाती, जो एक सीमा के उपरान्त किसी भी सीमा तक बढ़ाई जा सकती है। इस प्रणाली में लोच, मितव्यता एवं परिवर्तनशीलता के गुण विद्यमान होते हैं परन्तु इसका प्रचलन आर्थिकोन्नति के समय ही किया जा सकता है। संकटकाल में यह व्यवहारिक बन जाती है जिसके कारण मौद्रिक अधिकारी को परिवर्तनशीलता नष्ट करने के लिये बाध्य होना

पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में भारत में यही प्रणाली अपनाई गई है जिसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक को २०० करोड़ रुपये के कोष को अनिवार्य रूप से रखना पड़ता है, जिसमें ११५ करोड़ का कोष स्वर्ण धातु के रूप में रखना आवश्यक होता है। १९४७ में, जब भारत I. M. F. का सदस्य बन गया तो १९२४ के विधान में संशोधन कर 'स्टर्लिंग' के स्थान पर 'विदेशी मुद्रा' कोष में शामिल कर दिया गया। १९५६ में रिजर्व बैंक विधान में संशोधन कर न्यूनतम निधि प्रणाली अपनाई गई। इस प्रणाली के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को नोटों के पीछे ४०% कोष रखने पड़ते थे, जिसमें स्वर्ण एवं विदेशी मुद्रा के रूप में कोष का मूल्य ४०० करोड़ होना आवश्यक था। इसमें भी स्वर्ण का मूल्य ११५ करोड़ निर्धारित कर दिया गया। १९५७ में फिर विधान में संशोधन हुआ जिसके द्वारा न्यूनतम कोष का मूल्य २०० करोड़ रुपया कर दिया गया (जिसमें ११५ करोड़ रुपये का स्वर्ण सम्मिलित है)।

७—विपत्र जमा प्रणाली (Bonus Deposit System) : इस प्रणाली के अंतर्गत नोटों के कोष सरकार के कोषागार प्रपत्रों के रूप में रक्खे जाते हैं। ये विपत्र अल्पकाल में सरकार की प्रतिभूतियां होती हैं। धातु के रूप में कोष का कोई भी भाग नहीं रक्खा जाता। यह प्रणाली मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति के लिये लाभदायक सिद्ध होती हैं। मौद्रिक अधिकारी को बिना सरकार की प्रतिभूतियां खरीदे नोट निर्गमन करने का अधिकार नहीं होता। परन्तु यदि सरकार मौद्रिक अधिकारी को विपत्र, अपनी साधारण वित्तीय व्यवस्था सुधारने के लिये, देती रहती है तो मुद्रा प्रसार का भय हो जाता है। भारत में यह प्रणाली १९०२ में अपनाई गई थी, परन्तु अन्त में यह त्याग दी गई। सन् १९१३ के पूर्व अमेरिका में भी नेशनल बैंक नोटों के सम्बन्ध में इसी प्रणाली को अपनाया गया था।

अच्छी नोट प्रणाली की विशेषतायें (Characteristics of a good note system) :

अनेक अच्छाइयों के साथ पत्र मुद्रा का सबसे बड़ा दोष 'अधिक निर्गमन' के समय होता है। पत्र मुद्रा के अनेक दोषों को, विशेषकर इस दोष को दूर करने के लिये, यह आवश्यक है कि एक अच्छी नोट प्रणाली को अपनाया जाय। संक्षेप में एक अच्छी नोट प्रणाली में वे समस्त विशेषतायें होनी चाहिये जो एक अच्छी मौद्रिक प्रणाली में होना आवश्यक होता है। यद्यपि इनका विस्तार से अध्ययन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है, परन्तु संक्षेप में यह विशेषतायें, सरलता, सुरक्षा, लोच, स्वयंचालकता एवं मितव्यता आदि हैं। नोट प्रणाली में सरलता एवं सुरक्षा का अर्थ होता है कि प्रणाली इस प्रकार की हो जो जनता का व्यापारिक जगत में विश्वास प्राप्त कर सके। यद्यपि ऐसा विश्वास कई बातों पर निर्भर करता है, परन्तु नोट निर्गमन

के पीछे कोषों का रखना इस विश्वास का प्रमुख कारण होता है। लोच का तात्पर्य नोटों के निर्गमन में आवश्यकतानुसार कमी अथवा वृद्धि से होता है। नोटों के अधिक निर्गमन से सुरक्षा रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि उसकी मात्रा व्यापार की आवश्यकतानुसार ही रक्खी जाय। अर्थात व्यस्त काल (Busy Season) में इनकी मात्रा में वृद्धि हो और अवसाद काल में इनकी मात्रा में कमी हो। नोटों की मात्रा इस प्रकार समायोजित करने की शक्ति को ही 'लचक' कहते हैं। भारत जैसे देश के लिये नोटों की पूर्ति में लचक का होना अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ पर मुद्रा की माँग मौसम के परिवर्तनों के अनुसार शीघ्रता से बदलती रहती है। इसके साथ ही अन्य देशों की भांति यहां पर साख-मुद्रा का प्रयोग भी लोकप्रिय नहीं है। स्वयं संचालित नोट प्रणाली से हमारा अभिप्राय यही होता है कि प्रणाली इस प्रकार की हो जिसे स्वार्थी सरकारें अपने स्वार्थानुसार प्रयुक्त न कर सकें तथा नोटों का विस्तार विकसित आवश्यकताओं के अनुसार किया जाय। मितव्यता का अर्थ यह होता है कि नोटों के पीछे रक्खे जाने वाले धातु के कोष केवल न्यूनतम आवश्यक सीमा तक ही रक्खे जाने चाहिये, क्योंकि अधिक कोष रखने से इन कोषों का प्रयोग अन्य कार्यों में न किया जा सकेगा। इन विशेषताओं के साथ हम 'गतिशीलता' की विशेषता को भी जोड़ सकते हैं जिसका अर्थ यह होता है कि जिस प्रकार मुद्रा की मात्रा में कमी व वृद्धि व्यापार की आवश्यकतानुसार होना चाहिये उसी प्रकार प्रणाली इस योग्य भी हो जिसके द्वारा नोटों को उन केन्द्रों से, जहां इनकी मात्रा अधिक है, उन केन्द्रों को ले जाया जा सके जहां इनकी मात्रा कम है। इस प्रकार एक अच्छी नोट प्रणाली की विशेषताओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उसके प्रबन्ध एवं नियंत्रण पर आधारित होता है।

निर्देश पुस्तकें

Kisch & Elkin— The Central Banks

J. M. Keynes— A Treatise on Money

Decock— Central Banking

A. Basu— Modern Banking

अध्याय ७

मुद्रा के मूल्य का निर्धारण

पिछले अध्यायों में हमने मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों के अनेक प्रभावों तथा परिवर्तनों के मापे जाने की रीति का अध्ययन किया है। परन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात इन परिवर्तनों के कारणों के जानने की है। यह जानने के लिये कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन किन-किन कारणों से होते हैं, हमें उन बातों का विवेचन करना पड़ेगा जो मुद्रा के मूल्य का निर्धारण करते हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कीमतों के परिवर्तन, जिनके ही द्वारा मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों को जाना जाता है, व्यक्तिगत तथा सामान्य प्रभावों के कारण होते हैं। व्यक्तिगत प्रभावों से अभिप्राय उन कारणों से होता है, जो विशेष वस्तुओं की कीमतों पर तथा सामान्य प्रभावों से उन कारणों से होता है जो सामान्य कीमतों पर प्रभाव डालते हैं। यहाँ पर हमारा अध्ययन उन सामान्य प्रभावों से ही सम्बन्धित है, जिनके कारण मुद्रा के सामान्य मूल्य में परिवर्तन होते हैं।

मुद्रा एक वस्तु है और इसके मूल्य का निर्धारण उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण होता है।* मूल्य का सामान्य सिद्धान्त हमें यह बतलाता है कि किसी भी वस्तु अथवा सेवा का मूल्य उसकी मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। क्योंकि मुद्रा एक वस्तु है, अतः उसका मूल्य भी इसकी माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। राबर्टसन (Robertson) ने ठीक ही लिखा है कि **"मुद्रा अनेक वस्तुओं में से एक है, अतः इसका मूल्य ठीक उन्हीं दो शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, जो अन्य वस्तुओं के मूल्य को निर्धारित करती हैं।"**[1] जिस स्तर पर माँग और पूर्ति की शक्तियों का साम्य (Equilibrium) स्थापित हो जाता है, उसी स्तर पर वस्तु विशेष का मूल्य निर्धारित होता है। परन्तु मुद्रा एक साधारण वस्तु न होकर, विशेष प्रकार की वस्तु है, जिसकी स्वयं अपनी उपयोगिता कुछ नहीं होती। अतः इसकी मांग और पूर्ति की शक्तियों की प्रकृति विशेष प्रकार की होती है, जिनका समझना आवश्यक है।

---

* कुछ लेखकों ने इसको मुद्रा के मूल्य-निर्धारण का एक अलग सिद्धान्त का रूप दिया है।

1. "Money is commodity. Like all other commodities the value of money is determined by the two forces of demand & supply."

मुद्रा की माँग (Demand for Money) :

'मुद्रा की माँग' एवं अन्य 'वस्तुओं की माँग' में महत्वपूर्ण अन्तर है । किसी मनुष्य की, किसी वस्तु की मांग उस वस्तु की उपयोगिता के कारण होती है, । अर्थात् वस्तुओं की मांग प्रत्यक्ष (direct) होती है । परन्तु मुद्रा में प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य की किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की क्षमता (Efficiency) नहीं होती । मुद्रा की उपयोगिता केवल इस दृष्टि से होती है कि इसके बदले में विनिमय द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की विभिन्न मात्राओं को प्राप्त कर लेना सम्भव होता है । दूसरे शब्दों में मुद्रा के माध्यम द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं पर अधिकार प्राप्त किया जाता है । मुद्रा विनिमय माध्यम के रूप में ही उपयोगी होती है और इसी लिए उसकी मांग व्युत्पादित (derived) कही जा सकती है । प्रत्यक्ष माँग तो वस्तुओं, सेवाओं तथा उत्पत्ति के साधनों की ही होती है, परन्तु मुद्रा की माँग इसकी व्युत्पादित (derived) होती है । इस प्रकार मुद्रा की माँग कुल वस्तुओं एवं सेवाओं, जिनका विनिमय होना निश्चित रहता है, की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि **किसी देश में मुद्रा की माँग वहाँ पर उपलब्ध होने वाली वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा पर निर्भर करती है, क्योंकि आधुनिक संसार में अधिकांश वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन विनिमय के हेतु ही किया जाता है** । दूसरे शब्दों में किसी निश्चित अवधि में बाजार में विनिमय के लिये आने वाली वस्तुयें व सेवायें मुद्रा की माँग निर्धारित करती हैं क्योंकि विनिमय के लिये उपलब्ध वस्तुयें तथा सेवायें सदैव निश्चित नहीं रहतीं । इसलिये मुद्रा की मांग समयानुसार बदलती रहती है ।

मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money) :

मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं की कुल मात्रा आ जाती है । जो किसी समय पर विनिमय माध्यम के रूप में प्रचलित होती हैं । साधारणतया मुद्रा के अन्तर्गत धात्विक मुद्रा, कागजीमुद्रा (चलन-मुद्रा एवं बैंक-मुद्रा) तथा साख मुद्रा को सम्मिलित किया जाता है । परन्तु जो मुद्रा 'वैधानिक तथा अवैधानिक' रूप से संग्रह कर ली जाती है, अथवा प्रचलन से निकल जाती है, मुद्रा की पूर्ति में शामिल नहीं की जाती है । **मुद्रा की पूर्ति से हमारा अभिप्राय मुद्रा की केवल उसी मात्रा से होता है जो वास्तविकता में चलन में होती है, तथा वस्तुओं व सेवाओं के विनिमय हेतु उपलब्ध होती है** । यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि अन्य "वस्तुओं की पूर्ति" और "मुद्रा की पूर्ति" में एक विशेष अन्तर है । अनेक वस्तुओं की पूर्ति उनकी मात्रा में वृद्धि करके बढ़ाई जा सकती है, परन्तु मुद्रा की मात्रा में वृद्धि केवल उसकी 'चलन-गति' (Velocity) में वृद्धि हो जाने के कारण हो सकती है । मुद्रा

की 'चलन गति' (Velocity) **से तात्पर्य उस औसत दर से होता है, जिस पर मुद्रा की एक इकाई निश्चित समय में विभिन्न भुगतानों को सम्पन्न करती है।** उदाहरण के लिये यदि किसी समुदाय में मुद्रा की १० इकाइयां हैं और प्रत्येक इकाई का सौदों में प्रयोग औसतन १० बार किया जाता है, तो उस समुदाय में मुद्रा की 'चलन गति' १० होगी और मुद्रा की कुल पूर्ति १०×१०=१०० कही जायेगी। देश की आर्थिक, व्यवसायिक तथा व्यापारिक स्थिति एवं लोगों में मुद्रा प्रयोग करने की इच्छा का मुद्रा की चलन गति पर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण उसमें सदैव अस्थिरता पाई जाती है।

इस प्रकार 'मुद्रा की माँग' से हमारा अभिप्राय मुद्रा द्वारा विनिमय होने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा से और 'मुद्रा की पूर्ति' का अभिप्राय मुद्रा की प्रचलन की मात्रा तथा उसकी चलन गति से होता है। मुद्रा का मूल्य इन्हीं मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, सामान्य कीमत (General Price) स्तर ही मुद्रा के मूल्य का सूचक होता है। हमारा अभिप्राय मुद्रा के वास्तविक मूल्य को जानना नहीं होता, परन्तु उसके परिवर्तनों को जानना होता है, जिसे कीमत स्तर द्वारा ही जाना जा सकता है। सामान्य कीमत स्तर ऊंचा होने पर मुद्रा का मूल्य गिर जाता है तथा सामान्य कीमत स्तर गिरने पर मुद्रा का मूल्य बढ़ जाता है।

मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त :

मुद्रा के मांग एवं पूर्ति के अर्थ में वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति के अर्थ से भिन्नता के कारण ही अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी प्रथक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। यह जानने के लिये कि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन क्यों होते हैं, हम निम्नलिखित दो प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन करेंगे : (अ) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) तथा (ब) मुद्रा का आय, बचत, विनियोग का सिद्धान्त (Income, Saving, Investment Theory)

यद्यपि ये सिद्धान्त बहुत कुछ एक दूसरे के पूरक हैं, तथा इनमें घनिष्ठ सम्बंध पाया जाता है, फिर भी हम इनका अध्ययन अलग अलग करेंगे।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) **:**

इस सिद्धान्त के जन्मदाता इटैलियन विचारक दवनजैत्ती (Devanzatti) बतलाये जाते हैं, जिन्होंने १६वीं शताब्दी में इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। विशुद्ध रूप में मुद्रा-मूल्य के परिमाण सिद्धांत का स्पष्टीकरण १७५२ में डेविड ह्यूम (David Hume) ने किया था। इस सिद्धांत को अधिक प्रचलित करने का श्रेय अमेरिकन अर्थशास्त्री इरविंग फिशर (Irving Fisher) को है, यद्यपि उनके पूर्व मान्टे-

मन (Mun), रिकार्डो (Ricardo) तथा मिल (Mill) ने इस सिद्धांत की विवेचना की थी। इसीलिये इस सिद्धान्त को फिशर के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है। इस सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou) तथा कीन्स (Keynes) ने भी किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में उनके विचार फिशर के विचारों से कुछ भिन्न हैं। इसी कारण **मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अन्तर्गत हम (१) फिशर का परिमाण (सौदों) सिद्धान्त; (२) मार्शल व पीगू का कैम्ब्रिज परिमाण (नकदी) सिद्धान्त तथा (३) कीन्स के वास्तविक शेष सिद्धान्त को सम्मिलित करते हैं।** यद्यपि आधुनिक काल के आर्थिक जीवन में मुद्रा के मूल्य के इस सिद्धांत को विशेष महत्व नहीं दिया जाता है, फिर भी इसका प्रयोग इसलिये किया जाता है क्योंकि यह सिद्धान्त सामान्य मूल्य स्तर पर प्रभाव डालने वाली सभी शक्तियों को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (सौदों के आधार पर) :

इस सिद्धान्त के अनुसार **मुद्रा का मूल्य तथा उसमें होने वाले परिवर्तन मुद्रा के परिमाण द्वारा ही निर्धारित होते हैं।** जान स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) के शब्दों में "अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा का मूल्य स्वयं में मुद्रा के परिमाण के साथ विपरीत दिशा में ठीक आनुपातिक रूप में परिवर्तित होता है।"[1] इसी प्रकार विक्सल (Wicksell) के शब्दों में "मुद्रा के मूल्य अथवा मुद्रा की क्रय शक्ति में उसके परिमाण के विपरीत अनुपात में परिवर्तन होते हैं जिससे मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी, अन्य बातें समान रहने पर, वस्तुओं तथा सेवाओं में उसकी क्रय शक्तियों में आनुपातिक कमी अथवा वृद्धि उत्पन्न करेगी और इस प्रकार वस्तुओं की कीमतों में उतनी ही वृद्धि अथवा कमी होगी।"[2] टाजिग (Taussig) के अनुसार "अन्य बातें समान रहने पर यदि मुद्रा का परिमाण द्विगुणित हो जायें, तब वस्तुओं की कीमतें पहिले से दुगुनी हो जायेंगी और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा, यदि मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाय तो 'अन्य बातें समान रहने पर' वस्तुओं की कीमतें

---

1. "The value of money, other things being the same, varies inversally as its quantity; every increase of quantity lowers the value and every dimunation raising it in a ratio exactly equivalent".
—Political Economy—Vol. II, p 15.

2. "....according to the theory, the value or purchasing power of money varies in inverse proportion to its quantity, so that an increase or decrease in the quantity of money, other things benig equal, will cause a proportionate decrease or increase in its purchasing power in terms of other goods, and thus a corresponding increase or decrease in all commodity prices".
Lectures on Political Economy—Vol. II, p. 141.

आधी रह जायेंगी और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायगा।"[1] इस सिद्धांत का सुन्दर पुष्टिकरण राबर्टसन (Robertson) ने किया है। उनके अनुसार "मुद्रा की मांग की दशायें दी होने पर, मुद्रा का मूल्य उसकी उपलब्धि मात्रा पर निर्भर करता है। यदि अपेक्षाकृत उसकी थोड़ी इकाइयां उपलब्ध हैं तो उनमें से प्रत्येक इकाई को करने के लिये अधिक कार्य होगा। प्रत्येक इकाई के विनिमय में अन्य वस्तुएं अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राप्त होंगी और उसका मूल्य उस मूल्य से अधिक होगा जितना कि वास्तव में अब है। इसके विपरीत, यदि मुद्रा की अधिक इकाइयां उपलब्ध हों तो, प्रत्येक इकाई का अन्य वस्तुओं की कम मात्रा के साथ विनिमय होगा और इस कारण उसका मूल्य उससे कम होगा जितना कि वास्तव में अब है।"[2] यद्यपि इन परिभाषाओं में प्रयोग किये जाने वाले शब्दों में कुछ भिन्नताएं हैं फिर भी संक्षेप और सरल भाषा में यह सिद्धांत बतलाता है, कि **यदि अन्य बातें समान रहें तो चलन में मुद्रा की मात्रा के साथ साथ मुद्रा का मूल्य विपरीत अनुपात में क्रमशः घटता-बढ़ता है। अर्थात् साधारण दशाओं में मुद्रा की मात्रा का मुद्रा के मूल्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है।**

सिद्धान्त एवं मुद्रा की पूर्ति का अर्थ :—सिद्धांत के समर्थकों ने 'मुद्रा की पूर्ति' का अर्थ केवल उस मुद्रा से लगाया था, जो उत्पत्ति तथा उपभोग के कार्यों में किसी समय पर प्रयोग की जा रही होती हो, अथवा जो वास्तव में प्रचलन में हो। मुद्रा की पूर्ति में तीन प्रकार की मुद्राओं का समावेश होता है: (क) सरकार की ओर से प्रचलित की गई विधि-ग्राह्य मुद्रा, जो चलन मुद्रा कहलाती है; (ख) सरकार की आज्ञा पर केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रचलित नोट, जो देश की चलन मुद्रा में परिवर्तनीय होते हैं, तथा (ग) साख मुद्रा, जिसमें चेक, विनिमय बिल इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं। परंतु इस सिद्धांत के संदर्भ में, मुद्रा का वह भाग जो विनिमय माध्यम के रूप में कार्य नहीं कर रहा होता या जो वस्तुओं के क्रय-विक्रय के काम में नहीं प्रयोग होता, मुद्रा की पूर्ति में नहीं सम्मिलित किया जाता।

'मुद्रा की पूर्ति' पर विचार करते समय मुद्रा की 'चलन गति' (Velocity) पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। यह सब जानते हैं कि एक निश्चित समय में मुद्रा की इकाई चलन में एक बार अथवा एक से अधिक बार विनिमय माध्यम के

1. "Double the quantity of money and other things being equal, prices will be twice as high as before, and the value of money one half. Halve the quantity of money and, other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double".

—Principles of Economics, Vol. I

2. Robertson—Money, Page 31,

रूप में प्रयोग की जा सकती है, और जितनी बार मुद्रा की इकाई का प्रयोग विनिमय में भुगतान के लिये किया जाता है, वह नवीन मुद्रा का कार्य करती है। किसी दिये हुए समय में मुद्रा की एक इकाई वस्तुओं व सेवाओं को खरीदने के जितनी बार एक हाथ से दूसरे हाथ को हस्तांरित होती है (या जितनी बार विनिमय कार्य करती है) मुद्रा की 'चलन गति' कहलाती है। मुद्रा की कुल पूर्ति का अनुमान लगाने के लिये मुद्रा की मात्रा को उसकी औसत गति से गुणा करना आवश्यक होता है। इस प्रकार मुद्रा की गति (Velocity of Money) के बढ़ने और घटने पर भी मुद्रा की कुल पूर्ति में वृद्धि और कमी हो जाती है।

वास्तव में मुद्रा की गति पर अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। किसी भी समय प्रत्येक आर्थिक समाज में विनिमय के कार्यों के लिये एक **निश्चित मात्रा** में मुद्रा की आवश्यकता पड़ती है। यदि उसकी मात्रा इससे कम रहती है, तो उसकी औसत गति में वृद्धि हो जाती है; और यदि चलन में मुद्रा की पूर्ति आवश्यकता से अधिक होती है तो उसकी गति कम हो जाती है। इस प्रकार मुद्रा की चलन गति स्वयं इसकी मात्रा पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त जब लोगों में नकद **क्रय-विक्रय करने की प्रवृत्ति** अधिक होती है तो मुद्रा की चलन गति भी अधिक हो जाती है। परन्तु इसके विपरीत यदि लोगों की आदत **उधार सौदा** खरीद कर भुगतान करने की होती है, तो मुद्रा की चलन गति धीमी पड़ जाती है। साथ ही उधार सौदे खरीदने पर भी यदि उसके भुगतान की **अवधि** लम्बी है, तो मुद्रा की चलन गति कम हो जाती है और यदि भुगतान की अवधि छोटी है, तो सामान्यतया मुद्रा की चलन गति अधिक होगी। यही नहीं प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय करता है और कुछ को बचत के रूप में रख लेता है। **आय का जितना अधिक भाग** वर्तमान उपभोग पर व्यय किया जाता है चलन गति उतनी ही अधिक होती है। इसके अतिरिक्त धन के जितने ही बड़े भाग को लोग **नकदी के रूप** में अपने पास रखते हैं, उतनी ही मुद्रा की गति कम होती जाती है; तथा इसके विपरीत जितनी ही उनमें तरलता वरीयता (Liquidity preference) कम होती है उतनी ही मुद्रा की गति में बृद्धि हो जाती है। यदि देश में मजदूरी का भुगतान लम्बी अवधि के बाद किया जाता है, तो अधिकांश मनुष्यों को अपनी रोज़ की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये नकदी की अधिक मात्रा रखनी पड़ेगी, जिसके फलस्वरूप मुद्रा की गति में ह्रास हो जायगा। इसी प्रकार किसी देश में **यातायात तथा सम्वाद-वाहन** के साधनों के अधिक विकास हो जाने पर विनिमय का क्षेत्र उतना ही अधिक विकसित तथा वस्तुओं का क्रय-विक्रय उतनी ही अधिक तेज़ी से होने लगता है। इससे भी मुद्रा की गति में वृद्धि हो जाती है। मुद्रा की चलन गति किसी देश के आर्थिक **विकास स्तर** पर भी निर्भर करती है। पिछड़े हुए समाजों में जहां लोगों की आवश्यकताएं बहुत

कम होती हैं, तथा वस्तु विनिमय प्रणाली का प्रयोग होता है, मुद्रा की चलन गति प्रायः कम होती है। इसके अतिरिक्त जितनी शीघ्रता से एक व्यक्ति के खाते से दूसरे व्यक्ति के खाते में **रकमों का हस्तांतरण** होता है उतनी ही अधिक देश में साख मुद्रा की गति बढ़ जाती है। इस प्रकार अनेक कारणों से 'मुद्रा की गति' में परिवर्तन हो सकते हैं।

अतएव किसी समय पर किसी देश में मुद्रा की कुल पूर्ति निर्धारित करने वाले तथ्य अनेक प्रकार के होते हैं। मुद्रा की कुल पूर्ति से हमारा अभिप्राय, कुल मुद्रा के उस भाग से, जो किसी एक समय प्रचलन में रहती है, तथा उसकी गति से, जिसके आधार पर वह वस्तुओं और सेवाओं का क्रय करती है, संभव होता है।

परिमाण सिद्धान्त एवं मुद्रा की माँग : किसी देश में मुद्रा की मांग उन समस्त व्यवसायों की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है जो एक निश्चित अवधि के भीतर संपन्न होते हैं। यदि किसी देश में विनिमय हेतु वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन अधिक मात्रा में होता है, तो मुद्रा की मांग भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, यदि वस्तुएं और सेवायें सीधी उपभोक्ताओं के पास पहुंचती हैं तो मुद्रा की मांग कम होती है; तथा जब वस्तुएं और सेवाएं अनेक मध्यस्थों के माध्यम द्वारा उत्पादकों से उपभोक्ताओं तक पहुंचती हैं, तो मुद्रा की मांग अधिक होती है। इसका कारण यह है कि एक ही वस्तु अनेक बार क्रय तथा विक्रय की जाती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि किसी देश में मुद्रा की माँग वहाँ पर उपलब्ध वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा पर निर्भर रहती है, क्योंकि उसकी मांग इन्हीं वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय के लिये की जाती है। अतः मुद्रा की माँग किसी समय के व्यापार का परिमाण है, जिसमें परिवर्तन हो जाने पर मुद्रा की मांग में भी परिवर्तन हो जाता है।

मांग और पूर्ति के इन अर्थों के आधार पर ही इस नियम की व्याख्या की गई है। अन्य बातें यथास्थिर रहने पर मुद्रा के परिमाण में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन सामान्य कीमत स्तर में अथवा प्रत्यक्ष आनुपातिक परिवर्तन उत्पन्न करता है जिसके फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में विपरीत आनुपातिक परिवर्तन हो जाता है। दूसरे शब्दों में, मुद्रा-इकाई की क्रय शक्ति (Value of money) को वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति में मुद्रा की पूर्ति से भाग देकर जाना जा सकता है; अथवा वस्तुओं की औसत कीमत (Price level) को मुद्रा की पूर्ति में वस्तुओं की मात्रा से भाग देकर जाना जा सकता है। यदि एक समुदाय में किसी समय वस्तुओं की १० इकाइयों का विनिमय होना है, तथा मुद्रा की १० इकाइयां चलन में हैं तो यह मान कर कि (i) प्रत्येक वस्तु का विक्रय एक बार होता है, (ii) मुद्रा की प्रत्येक इकाई का चलन एक बार होता है, तथा (iii) किसी भी प्रकार का कोई संग्रह नहीं होता है, वस्तु की प्रत्येक इकाई की

कीमत मुद्रा की एक इकाई के बराबर होगी। इन्हीं मान्यताओं के साथ, यदि मुद्रा की पूर्ति १० इकाई से बढ़ कर, २० इकाई हो जाती है, तो वस्तु की प्रत्येक इकाई की कीमत मुद्रा की एक इकाई से बढ़ कर दो इकाई के बराबर हो जायगी। विपरीत दशा में कीमत कम हो जायगी। निःसन्देह इस सिद्धान्त में वाक्यांश 'अन्य बातें समान रहने पर', एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका अर्थ समझना आवश्यक है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धांत (सौदों के आधार पर) की मान्यताएँ :—

जिस प्रकार अर्थशास्त्र के नियमों में कुछ मान्यतायें होती हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत सिद्धान्त भी कुछ विशेष मान्यताओं पर टिका है। इनके होने पर ही यह सिद्धान्त सही सिद्ध होता है। सबसे पहली मान्यता यह है कि सिद्धान्त के लागू होने के समय **व्यापार की मात्रा स्थिर** रहती है। दूसरे शब्दों में इतने समय में द्रव्य की मांग में कोई परिवर्तन नहीं होता है। यदि यह मात्रा ज्यादा या कम हो जाती है, तो मुद्रा की प्रत्येक इकाई पहले की अपेक्षाकृत अधिक या कम वस्तुओं को खरीदने लगेगी (कीमतें कम या अधिक हो जायेंगी) और मुद्रा का मूल्य बढ़ या घट जायगा। इस सिद्धान्त की दूसरी मान्यता यह है कि समाज में **वस्तु विनिमय के रूप में सौदे नहीं होते**। आर्थिक विकास की कोई भी दशा क्यों न हो, यदि वस्तु विनिमय के द्वारा सौदे सम्पन्न किये जाते हैं, तो ऐसे सौदों को सम्मिलत नहीं किया जाता। परिमाण सिद्धान्त की तीसरी मान्यता यह है कि मुद्रा (चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो) **की गति उतने समय में स्थिर रहती** है। ऐसा न होने पर मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन हो जायगा और सिद्धान्त का लागू होना संशयपूर्ण हो जायगा। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की चौथी मान्यता यह है कि **साख मुद्रा की मात्रा में** प्रत्येक **परिवर्तन** चलन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनों के अनुपात में ही होते हैं। प्रचलन में चलन-मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर बैंकों के निक्षेप भी बढ़ जाते हैं तथा जब चलन-मुद्रा का संकुचन होता है तो बैंकों के निक्षेप वापस होने लगते हैं। निक्षेपों के परिवर्तनों से साख-मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाते हैं। व्यवहारिक जीवन में यह सदैव सम्भव नहीं होता था। दूसरे शब्दों में यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि लोग अपनी **आय का एक निश्चित अनुपात ही बैंकों में जमा** करते हैं, और बैंक निक्षेपों के दायित्व को निभाने के लिये रक्खे जाने वाले नकदी का अनुपात भी स्थिर रखते हैं। अतएव मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अनेक तथ्यों के स्थिर रहने पर ही लागू होता है।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (सौदों द्वारा) का समीकरण द्वारा स्पष्टीकरण :—

सिद्धान्त में निश्चितता देने तथा सरलता का रूप प्रदान करने के अभिप्राय

से अर्थशास्त्रियों ने इसे स्पष्ट करने के लिये समीकरण का प्रयोग किया है और इसी समीकरण में 'मुद्रा की मात्रा', 'सामान्य कीमत स्तर' तथा 'वस्तुओं की मात्रा' के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की मात्रा में चलन-मुद्रा (Currency) को ही सम्मिलित किया था। उनके लिये ऐसा करना स्वाभाविक ही था क्योंकि उस समय साख मुद्रा तथा बैंकों का अर्थ व्यवस्था में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था उन्होंने समीकरण का रूप $P=M/T$ दिया। इस समीकरण में, 'M' से उनका अभिप्राय देश में मुद्रा की मात्रा से, 'T' से देश में वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा से तथा 'P' से सामान्य कीमत स्तर से था। उन्होंने 'T' की मात्रा को स्थिर मानकर, कीमतों के परिवर्तनों का कारण 'M' की मात्रा में परिवर्तन ही बतलाया। इस समीकरण के अनुसार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी होने पर मुद्रा के मूल्य में अनुपातिक परिवर्तन होते हैं। कालान्तर अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा की 'चलन गति' के महत्व का अनुभव किया। वास्तव में मुद्रा का परिणाम चलन की मात्रा और इसकी चलन गति के गुणनफल के बराबर होता है। यहां पर चलन गति से अभिप्राय औसत गति से होता है जो निश्चय समय में स्थिर रहती हैं। इसलिये उन्होंने मुद्रा की पूर्ति को M के स्थान पर M V से स्पष्ट किया, तथा समीकरण को $P=\frac{MV}{T}$ का रूप दे दिया। इस समीकरण में V से अभिप्राय 'मुद्रा की औसत चलन गति' से, M से 'मुद्रा की मात्रा' से, T से 'वस्तुओं व सेवाओं की मात्रा' से और P से कीमत-स्तर से माना। धीरे-धीरे साख-मुद्रा तथा बैंकों का अर्थ व्यवस्था में महत्व भी अनुभव किया जाने लगा और लोगों ने महसूस किया कि बिना साख-मुद्रा को मुद्रा परिमाण में सम्मिलित किये हुये किसी सही निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता है। यही नहीं, वरन् उन्होंने साख-मुद्रा की गति के महत्व का भी अनुभव किया इन तथ्यों को ध्यान में रखकर इरविंग फिशर (Irving Fisher) ने संशोधित समीकरण की रचना की जो इन्हीं के नाम से सम्बोधित की जाती है। उनके अनुसार $P=\frac{MV+M'V'}{T}$ or $PT=MV+M'V'$ है। इस समीकरण के अन्तर्गत M प्रचलन में चलन-मुद्रा (Currency) की मात्रा का सूचक है; V वैधानिक मुद्रा (चलन-मुद्रा) की चलन गति (Velocity) का प्रतीक है; M′ साख मुद्रा अथवा बैंक मुद्रा (Credit money) की कुल मात्रा बतलाता है, V′ साख मुद्रा की चलन गति का द्योतक है तथा T वस्तुओं तथा सेवाओं की कुल मात्रा, जिसका मुद्रा की मात्रा से विनिमय होता है, का सूचक है।

फिशर के समीकारण में मुद्रा की पूर्ति $MV+M'V'$ तथा मुद्रा की माँग P T के बराबर हैं। इस समीकरण से स्पष्ट है कि P, अर्थात् सामान्य कीमत स्तर,

का मुद्रा के कुल परिमाण अर्थात् $MV + M'V'$ से सीधा आनुपातिक सम्बन्ध है। यदि V, V′ तथा T स्थिर रहते हैं, तो चलन-मुद्रा की मात्रा या साख-मुद्रा की मात्रा बढ़ने से कीमतें भी बढ़ जायेंगी, और यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ जाय तो सामान्य कीमत स्तर भी कम हो जायगा। इसी प्रकार यदि वस्तुओं व सेवाओं अर्थात् T में वृद्धि हो जाय, जिससे मुद्रा की मांग तो बढ़ जाय परन्तु इसकी पूर्ति में वृद्धि न हो, तो वस्तुओं एवं सेवाओं का मूल्य-स्तर अथवा (कीमत-स्तर) कम हो जायगा। अतः मुद्रा की क्रय शक्ति, अर्थात् वस्तुओं व सेवाओं की कीमत, मुद्रा के परिमाण में तथा वृद्धि पर निर्भर रहता है। इसलिये जो नियम मुद्रा के परिमाण तथा वस्तुओं के मूल्य के पारस्परिक सम्बन्ध को व्यक्त करता है, उसे मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कहते हैं।

यहां पर यह याद रहे, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कि प्रो० फिशर (Prof. Fisher) ने अपना समीकरण प्रस्तुत करते समय यह मान लिया था कि अल्पकाल में V, V′ तथा T स्थिर रहते हैं और M′ तथा M के बीच एक निश्चित अनुपात होता है। इसलिये केवल चलन (M) की मात्रा में परिवर्तन हो जाने से कीमतों में परिवर्तन हो जाते हैं। अल्पकाल में V, V′ एवं T तथा M′ का M से अनुपात क्यों स्थिर रहता है, इसका उत्तर फिशर ने स्वयं दिया है। उनके अनुसार "अल्पकाल में व्यापारिक लेन-देन तथा मुद्रा द्वारा किये गये कार्यों की मात्रा स्थिर रहती है। क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होता, प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं बदलता, उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपभोग में लाया जाता है, वह नहीं बदलता, वस्तुओं के भ्रमण-वेग में कोई परिवर्तन नहीं होता, उत्पादन की रीतियों तथा मनुष्यों की उपभोग सम्बन्धी आदतों में कोई परिवर्तन नहीं होता तथा अदल-बदल द्वारा विनिमय के प्रतिशत में कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिये मुद्रा की मांग स्थिर रहती है।"[1]

फिशर के परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएँ :

प्रो० फिशर द्वारा मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को निश्चित एवं सरल बनाने पर भी, इस सिद्धान्त को आलोचनाओं से न बचाया जा सका। सिद्धान्त के विस्तृत अध्ययन हेतु इन आलोचनाओं का विवेचन करना आवश्यक है।

(१) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (सौदों का) ऐसी मान्यताओं पर आधारित है, जो वास्तविक नहीं है :**—प्रो० फिशर ने परिमाण सिद्धान्त के प्रतिपादन में जिन मान्यताओं को स्वीकार किया है, वे यथार्थ से परे हैं। फिशर ने चलन-मुद्रा की गति, साख-मुद्रा की गति, साख-मुद्रा और चलन-मुद्रा का अनुपात, तथा वस्तुओं और

1. Irving Fisher—The purchasing power of Money—Page 142.

सेवाओं की मात्रा को एक समय में स्थिर माना है। आधुनिक अर्थशास्त्री इन्हें अल्प-काल में भी परिवर्तनशील बतलाते हैं। व्यवहारिक अनुभव भी इसी विचार की पुष्टि करते हैं।

फिशर के विचार में, अल्पकाल में, चलन मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का उसकी चलन गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, परन्तु व्यवहारिक अनुभव के आधार पर इस बात को नहीं माना जा सकता। चलन-मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर प्राय: चलन गति का कम हो जाना स्वाभाविक है; क्योंकि जब थोड़ी मुद्रा होती है तो उसी को अधिक भुगतान करने के लिये प्रयोग करना पड़ता है। कभी-कभी तो चलन-मुद्रा की मात्रा में थोड़ी ही वृद्धि से जब कीमतें कुछ बढ़ने लगती हैं, तो वस्तुएँ शीघ्रता से क्रय-विक्रय की जाने लगती हैं। इसके फलस्वरूप मुद्रा की चलन गति भी बढ़ जाती है। इसी प्रकार साख मुद्रा के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। जिन कारणों से चलन-मुद्रा की गति में परिवर्तन होते हैं, उन्हीं कारणों से साख-मुद्रा की गति में भी परिवर्तन हो जाते हैं। अत: मुद्रा की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रा की गति में भी परिवर्तन होते हैं। चलन गति को स्थिर मानना अव्यवहारिक होता है। इस सम्बन्ध में मार्शल (Marshall) का विचार है कि "मुद्रा का मूल्य निर्धारण करने वाले किसी भी सिद्धान्त को मुद्रा की चलन गति को प्रभावित करने वाले कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक है; और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त उन कारणों का स्पष्टीकरण नहीं करता जो मुद्रा के चलन गति का निर्धारण करते हैं।"[1]

फिशर का यह भी विचार था कि चलन-मुद्रा की मात्रा में होने वाले परि-वर्तनों के प्रभाव से व्यवसाय की मात्रा मुक्त होती है, तथा अल्पकाल में यथास्थिर रहती है। पर यह विचार भी सही नहीं है। चलन-मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक परिवर्तन कीमतों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इनके फलस्वरूप उत्पादक अपनी उत्पादक मात्रा में भी परिवर्तन करने लगते हैं। नि:सन्देह पूर्ण वृत्ति (Full Employment) की दशा में तो वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्रा स्थिर रहती है, किन्तु यह स्थिति चिर-स्थायी नहीं होती।[2]

फिशर के परिमाण सिद्धान्त की यह भी मान्यता कि चलन तथा साख मुद्रा का अनुपात अपरिवर्तनीय होता है, ठीक नहीं है। वास्तव में मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने पर एक ओर बैंक के निक्षेप बढ़ते हैं और दूसरी ओर कीमतों के बढ़ जाने के कारण

---

1. "The quantity theory does not explain the causes which govern rapidity of circulation". —Marshall

2. "Only if one were to make the highly unrealistic assumption of full employment and constant total output, only then would an increase in the total spending always send prices unproportionately........But this state is never in equilibrium". Samuelson – Economics, Page 212.

लाभ की भावना से प्रेरित होकर उत्पादक उत्पादन बढ़ाने के लिये साख की माँग करते हैं। इस प्रकार साख का विस्तार अनुपात से अधिक हो जाता है, जो देश की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर बदलता रहता है।

अतः फिशर के समीकरण में V, V′ T तथा M, M′ के सम्बन्ध की मान्यतायें व्यवहारिक अनुभवों के विपरीत हैं।

(२) **मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (सौदों का) मुद्रा का दीर्घकालीन विश्लेषण करता है, जिसका कोई महत्व नहीं होता है :—**फिशर ने अपनी मान्यताओं के सन्दर्भ में आलोचनाओं के उत्तर में यह बतलाया कि मान्यतायें अल्पकाल में तो नहीं पर दीर्घ-काल में सदैव ठीक ही होती हैं। यह धारणा भी वास्तविकता से परे है। प्रथम, तो वे स्थिर नहीं रहते (जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है) और स्थिर मान भी लिया जाय तो, जैसा कि कींस (Keynes) ने लिखा है, इस अध्ययन से कोई लाभ नहीं होता क्योंकि "दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं।" अल्पकाल में मुद्रा के मूल्य के भयङ्कर प्रभावों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

(३) **मुद्रा की चलन-गति का मापाङ्कन असम्भव है :—**इस सिद्धान्त में प्रयोग की जाने वाली चलन-मुद्रा तथा साख-मुद्रा की चलन-गति का सही-सही माप वास्त-विकता में असम्भव है। यह तो ठीक है कि यदि फिशर ने इनको अल्पकाल में स्थिर मान कर माप की कोई आवश्यकता नहीं समझी, परन्तु दीर्घकालीन दृष्टिकोण से मुद्रा के मूल्य का अध्ययन करने पर मुद्रा की गति को स्थिर नहीं माना जा सकता और उस समय उसका माप करना आवश्यक हो जाता है। आज तक साँख्यकीय के अन्तर्गत किसी ऐसी रीति की खोज नहीं हुई है जिसके द्वारा मुद्रा की चलन-गति की सही माप हो सके। इस सम्बन्ध में मार्शल का विचार फिर लिखा जा सकता है, कि मुद्रा के मूल्य निर्धारण की विवेचना करने वाले किसी भी सिद्धान्त को मुद्रा की चलन गति को प्रभावित करने वाले कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक है और मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त उन कारणों का स्पष्टीकरण नहीं करता है। सम्भवतः इसी कारण फिशर (Fisher) ने मुद्रा तथा वस्तुओं की चलन गति को इकाई के बराबर स्वीकार कर लिया था, जो अल्पकाल में भी अव्यवहारिक है।

(४) **सिद्धान्त के अन्तर्गत अतुलनीय तत्वों का समावेश है :—**मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त में कुछ ऐसे तत्वों (factors) का अध्ययन किया गया है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन असम्भव है। उदाहरणार्थ समीकरण में प्रयुक्त M एक समय विशेष (Point of Time) का, जबकि V एक निश्चित समय के अन्तर्गत मुद्रा के बार-बार प्रयोग की ओर संकेत करता है। फलस्वरूप M V को समीकरण में प्रयुक्त करने का यही अर्थ होता है कि अतुलनीय तत्वों का परस्पर गुणा किया जाता है।

(५) फिशर का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की मात्रा तथा कीमतों के सम्बन्ध का अपूर्ण स्पष्टीकरण करता है :—क्राउथर (Crowther) के विचारानुसार मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल यह स्पष्ट करता है कि मुद्रा के मूल्य एवं उद्योग-गतिविधियों के उच्चावचन काल में यह किस प्रकार कार्य करता है। परन्तु यह सिद्धान्त यह स्पष्ट नहीं करता कि ऐसा क्यों होता है। यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट नहीं करता कि किसी एक समय मुद्रा का निर्माण क्यों हो जाता है, जो कीमतों में वृद्धि प्रारम्भ कर देता है; जबकि दूसरे समय मुद्रा का समान निर्माण जरा भी प्रभाव नहीं डालता है। हेक (Hayek) तथा हाट्रे (Hawtrey) का विचार है कि मुद्रा की मात्रा पर होने वाले परिवर्तन कीमतों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते। उनके अनुसार मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन पहले ब्याज की दरों को प्रभावित करते हैं, तत्पश्चात् ब्याज की दरें कीमतों को प्रभावित करती हैं। कींस (Keyens) ने लिखा है कि "मौद्रिक सिद्धान्त (मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त) की आधारभूत समस्या मुद्रा की कुल मात्रा से विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की कुल बिक्री के मध्य केवल समानता अथवा साँख्यिक समीकरण स्थापित करना नहीं है, वरन् इस प्रकार के सिद्धान्त का कार्य समस्या का प्रावैगिक रूप में इस प्रकार समाधान खोजना है कि समस्या के सम्बद्ध तत्वों का इस रूप में विश्लेषण हो कि वे समस्त कारण जिनके द्वारा कीमत-स्तर निश्चित होते हैं तथा जिनसे कीमत निर्धारण में सन्तुलन की स्थिति एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थांतरित होती है, स्पष्ट की जा सके।"[1] इस प्रकार परिमाण सिद्धान्त यह भी स्पष्ट नहीं करता कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन किस प्रकार कीमतों पर अपना प्रभाव डालते हैं।

(६) परिमाण सिद्धान्त (सौदों का) व्यापार चक्रों के द्वारा होने वाले कीमतों के परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता है :—परिमाण सिद्धान्त यह बतलाता है कि कीमत स्तर में परिवर्तन मुद्रा के परिमाण में कमी या वृद्धि के कारण होते हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि कीमतों में परिवर्तन सदैव मुद्रा के परिमाण में "परिवर्तनों के कारण ही हों।" मन्दी काल में मुद्रा के परिमाण में कमी न होने पर भी वस्तुओं का मूल्य कम हो जाता है; जिस प्रकार तेजी काल में मुद्रा के परिमाण में वृद्धि न होने पर भी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि आ जाती है। वास्तव में इस प्रकार के काल

1. "The fundamental problem of monetary theory is not merely to establish identities or statistical equation... ....The real task of such a theory is to treat the problem dynamically, analysing the different elements involved in such a manner as to exhibit the casual process by which the price level is determined, and the method of transition from one position of equilibrium to another". Keynes—A Treatise on Money, Vol. I—p. 133.

(Period) व्यापार चक्रों के कारण उत्पन्न होते हैं। फिशर का परिमाण सिद्धान्त इस प्रकार के कीमतों के परिवर्तनों को बतलाने में असफल रहता है।[1]

(७) मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की तर्क विधि उल्टी है :—सिद्धान्त यह बतलाता है कि कीमतों में परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तन के कारण ही होते हैं, यदि अन्य बातें समान रहें। परन्तु कुछ आलोचकों का कहना है कि वास्तव में होता इसके विपरीत है। इनके अनुसार कीमत स्तर में परिवर्तन स्वतन्त्र रूप से होते हैं। और इन परिवर्तनों के कारण लाभ की सम्भावनाएँ प्रभावित होती हैं, जिसके कारण साख-मुद्रा की मांग, मुद्रा की गति, व्याज की दर और आय के वितरण में परिवर्तन हो जाते हैं। इस प्रकार कीमतों में होने वाले परिवर्तन 'कारण' हैं और मुद्रा की मात्रा में वृद्धि अथवा ह्रास उसका 'परिणाम' है। अतः "आर्थिक विचारधाराओं की आधुनिक प्रवृत्ति निःसन्देह मुदा के परिमाण को व्यापार का सप्रभाविक कारण और मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी विचार का तिरस्कार करना और उसको परिणाम के रूप में स्वीकार करता है।"[2]

(८) फिशर के परिमाण सिद्धान्त ने मुद्रा की पूर्ति पर अधिक बल डाला है :—यह तो स्पष्ट ही है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मांग और पूर्ति के सामान्य सिद्धांत पर ही आधारित है। परन्तु इसमें माँग की अपेक्षा पूर्ति को अधिक महत्व दिया गया है। कुल व्यवसाय की मात्रा को स्थिर मानना तथा माँग के महत्व को कम करना इस सिद्धान्त की एक त्रुटि है। डीकाक (Decock) ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए यह लिखा है कि "इस सिद्धान्त में मुद्रा की मात्रा पर अनावश्यक रूप से बल दिया गया है जैसे यही आर्थिक परिवर्तन का एक प्रमुख कारण है। यह कीमतों के स्तर पर आवश्यकता से अधिक ध्यान देता है।"[3]

(९) यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति का उचित माप करने के स्थान पर नकद सौदों का मापक बन जाता है :—इस सिद्धान्त का सम्बन्ध सामान्य कीमत स्तर से होता है जो सभी प्रकार की वस्तुओं व सेवाओं पर आधारित होता है। व्यवहार

---

1. "Quantity theory is........at best an imperfect guide to the causes of trade cycles. Shortage of money may cause the recovery to turn into depression. But it is not the sole cause, and the depression may begin when there is no shortage of money". Crowther--An Outline of Money, p. 117

2. "The modern tendency in economic thinking, indeed, is to discard old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of value of money and to regard it as a consequence".
Crowther--An Outline nf Money, p. 136

3. "There is undue emphasis upon the quantity of money, as if that were the sole or even the main source of economic change. It concentrates too much attention on the level of price as if changes in prices were the most critical and important phenomenon of economic system".
Decock—Central.Banking - p. 146

में मुद्रा का अधिकांश प्रयोग ऐसी वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये होता है जिसका हस्तांतरण प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता। इस प्रकार व्यवसाय की मात्रा (T) में कुछ उपयोग सम्बन्धी वस्तुओं के साथ ऐसी वस्तुएँ तथा सेवाएँ भी सम्मिलित रहती हैं जो केवल प्रयोग और व्यापार सम्बन्धी होती हैं। इसलिये कीन्स (Keyens) का विचार है कि "फिशर का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति का माप करने के स्थान पर नकद व्यवसायों की माप करता है।"

(१०) **इस सिद्धान्त में असंचित कोषों के सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं है :—** कीन्स का यह भी विचार है कि मुद्रा के परिमाण में सम्पूर्ण चलन-मुद्रा की मात्रा तथा साख-मुद्रा की मात्रा को सम्मिलित करना उचित नहीं है। ऐसा इसलिये है क्योंकि यह सम्पूर्ण मात्रा वस्तुओं और सेवाओं का क्रय-विक्रय करने के लिये प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। चलन तथा साख मुद्रा के एक भाग का संग्रह हो जाता है तथा विनिमय माध्यम के रूप में उसका प्रयोग नहीं होता। केवल वही मात्रा जिसको लोग अपने पास तरल के रूप में रखते हैं वस्तुओं तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय हेतु प्रयोग में आती है। अतः कीमत स्तर में परिवर्तनों का अध्ययन करने के लिये मुद्रा के परिमाण में केवल तरल मुद्रा को ही सम्मिलित करना उचित नहीं है।

(११) **मुद्रा का मूल्य कुल आय का परिणाम है न कि मुद्रा की मात्रा का :—** कीन्स तथा क्राउथर के अनुसार मुद्रा की मात्रा के स्थान पर कुल आय मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करती है। "मुद्रा का मूल्य यथार्थ में, आयों के योग का परिणाम है न कि मुद्रा की मात्रा का। इस प्रकार कुल आय में होने वाले उच्चावचनों के कारणों की खोज की दिशा में ही हमें कार्य करना चाहिये।"[1]

उपरोक्त आलोचनाओं से यह प्रतीत होता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त **अपूर्ण कल्पित तथा दोषपूर्ण** है। कुछ विचारकों के अनुसार "यह अपने प्रारम्भिक तथा भद्दे रूप में बेकार तथा भ्रमपूर्ण है, क्योंकि कोई भी अर्थशास्त्री अब यह विश्वास नहीं करता कि सामान्य मूल्य-स्तर तथा मुद्रा के परिमाण में कोई निश्चित तथा स्वचालित सम्बन्ध होता है।"[2] परन्तु प्रो० फिशर ने अनेक उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि माँग और पूर्ति का सिद्धान्त मुद्रा पर लागू होता है। यह सिद्धान्त उन परिवर्तनों का, जो कि वस्तुओं की तरह ·· ···· मुद्रा की

---

1. "The value of money in fact is a consequence of the total incomes rather than of the quantity of money. It is the causes of fluctuations in the total incomes of which we must go in search".
Crowther—An outline of Money, p. 124

2. "In its old & crude form, the Quantity Theory is useless truism, for no economist now holds that there is a fixed & automatic relationship between quantity of money and the price level".

माँग और पूर्ति में समय-समय पर होते रहते हैं, और फिर इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मुद्रा के मूल्य में जो परिवर्तन होते हैं, का स्पष्टीकरण करता है। उनके उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :—

(१) स्पेनिश खोज करने वालों को अमेरिका में चांदी की खानों का पता लगा। उन्होंने यूरोपीय बाजार में चांदी भेजना प्रारम्भ किया। इससे महाद्वीप के सभी देशों के सामान्य कीमत-स्तर बढ़ गये। किन्तु जब इन देशों में जनसंख्या काफी बढ़ गई (अर्थात् मुद्रा की मांग बढ़ी) और अमेरिका से चांदी का आयात कम हो गया, तो वस्तुओं की कीमतें भी कम हो गईं।

(२) इंगलैण्ड में सन् १८२०–१८४४ के मध्य धन का उत्पादन तो बहुत बढ़ गया, लेकिन मुद्रा की अनुपात उस मात्रा में न बढ़ पाई (क्योंकि सोना उतनी मात्रा में उपलब्ध नहीं हुआ) जिससे वस्तुओं की कीमतें गिर गईं।

(३) जब प्रथम महायुद्ध के काल में जर्मनी में कागजी मुद्रा का अत्यधिक प्रसार हो गया, तो वहाँ वस्तुओं की कीमतें बढ़ गईं।

(४) सन् १९२९ की मन्दी के काल में आर्थिक संकट और साख के बहुत अधिक संकुचन के कारण वस्तुओं की कीमतों में बहुत कमी हो गई।

(५) द्वितीय महायुद्ध के काल में विभिन्न देशों में कागजी नोटों का बहुत अधिक प्रसार हुआ था, जिससे वहां वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें भी बहुत बढ़ गईं।

आलोचनाओं के आधार पर यद्यपि यह सिद्धान्त काल्पनिक तथा अधूरा है; क्रय-शक्ति का उचित माप नहीं करता, नकद सौदों का ही माप करता है **फिर भी इस सिद्धान्त में सत्य का अंश पाया जाता है**। आर्थिक नियमों की प्रवृत्ति के अनुसार यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि विशेष परिस्थिति में कौन सी प्रवृत्ति कार्य करेगी। अथवा अन्य बातें समान रहने पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं कि गणितात्मक सत्यता के आधार पर यह सिद्धान्त बेकार है; परन्तु एक प्रवृत्ति के द्योतक के रूप में यह सिद्धान्त आज भी सत्य है और इसीलिये मौद्रिक अध्ययन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह ठीक ही कहा गया है कि "आज भी परिमाण समीकरण, सामान्य मूल्य स्तर को निर्धारित करने वाले कारकों की, एक उत्तम समीक्षा है।"[1] वस्तुओं व सेवाओं के मूल्यों पर नियंत्रण रखने में तथा साथ ही किस प्रकार मौद्रिक पूर्ति के आधार पर देश में अधिक से अधिक उत्पादन, पूर्ण रोजगार की व्यवस्था तथा राष्ट्रीय आय के समान वितरण में इस सिद्धान्त से बड़ी सहायता मिलती

1. "The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices".

है। इस रूप में मुद्रा परिमाण के सिद्धान्त की आलोचनाओं के कारण ही इंगलैण्ड के अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त में संशोधन किया और उन्होंने सिद्धान्त को दूसरे समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया। परिमाण सिद्धान्त के रूप में परिवर्तन मार्शल, पीगू, हाट्रे, कैनन और राबर्टसन जैसे महान अर्थशास्त्रियों ने एडम स्मिथ, पैटो द्वारा बताये हुए मार्ग को अपना कर किया। इस समीकरण को कैम्ब्रिज परिमाण समीकरण (Cambridge Quantity Equation) का नाम दिया गया।

कैम्ब्रिज परिमाण सिद्धान्त (Cambridge Quantity Theory) :

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कैम्ब्रिज सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने किया था। इसीलिये इंगलैण्ड में यह सिद्धान्त अधिक प्रचलित हुआ। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार हर समाज के लोग अपनी वास्तविक आय के कुल भाग को 'तरल मुद्रा' (Cash) के रूप में बदल कर रखते हैं। उनको इससे रोज के कार्यों में सहायता तो मिलती है, परन्तु साथ ही साथ आय का यह भाग बेकार हो जाता है क्योंकि इससे कोई अधिक लाभ नहीं होता। एक समझदार व्यक्ति इस भाग द्वारा हानि और लाभ का अध्ययन करने के पश्चात् ही यह निश्चित करता है कि अपनी आय के कितने भाग को वह इस रूप से जमा करे। अतः कुल आय का जितना बड़ा भाग मुद्रा में बदला जायगा उसी के अनुसार देश के चलन-मुद्रा की त्रय शक्ति भी बढ़ेगी। इस सिद्धान्त की आधारभूत बातें इस प्रकार हैं :—

(१) हर समाज में लोग अपनी आय का कुछ भाग अपने पास नकदी के रूप में रखते हैं। फिशर ने अपने परिमाण सिद्धान्त में यह मान लिया था कि मुद्रा की मांग 'कुल सौदों के मूल्य' अर्थात् P T के बराबर होती है। व्यवहारिक जीवन में हमारी आय तो निश्चित समय बाद मिलती है, परन्तु व्यय तो सदैव हुआ करता है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति अपने पास 'नकद' (Cash) के रूप में कुछ आय रखता है जिससे वह अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता रहे। वह कुल मुद्रा जो नकदी के रूप में अनेक व्यक्ति या संस्थायें अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये अपने पास रखती हैं, मुद्रा की माँग कहलाती है। दूसरे शब्दों में, अनेक वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये मुद्रा की माँग अनेक वस्तुओं की मांग की तरह वास्तविक माँग नहीं होती है। परन्तु मुद्रा की वास्तविक मांग वह है जो हमें नकदी (Cash) के रूप में रखने के लिये वास्तविक आय के बदले में रखनी पड़ती है। इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। यदि एक किसान ने १० टन गेहूं का उत्पादन किया, तो उसकी वास्तविक आय १० टन गेहूं होगी। उसकी मुद्रा की मांग उसके सारे उत्पादन से निर्धारित न होगी; परन्तु इस बात से होगी कि वह अपनी वास्तविक आय (१० टन गेहूं) में से कितनी आय को मुद्रा के रूप में बदलना चाहता

है। यदि वह पांच टन गेहूं को ही बदल कर मुद्रा पाना चाहता तो उसकी मांग निर्धारित करने वाली मात्रा पांच टन गेहूं होगी।

(२) इस तरह की मुद्रा की मांग लोगों की 'तरलता वरीयता' (Liquidity Preference) अथवा 'मुद्रा की पसंदगी' पर निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में लोगों की तरलता वरीयता ही इस बात को निश्चय करती है कि लोग अपनी आय के कितने भाग को नकद के रूप में रक्खें। मनुष्य अपना धन अनेक प्रकार से जमा करता है। उदाहरणार्थ वह अपने धन को चाहे मकान के रूप में, चाहे शेयर्स आदि खरीद कर, चाहे विनियोग इत्यादि करके अथवा नकद (Cash) के रूप में रख सकता है। यदि वह मकान, जायदाद अथवा विनियोगों में अपना धन लगाता है तो उसको आवश्यकता पड़ने पर उसे एकत्रित (मुद्रा में पाने) करने में कठिनाई होगी। पर यदि वह शेयर्स में धन लगाता है, तो आवश्यकता के समय शीघ्रता से बेच कर वह धन पा सकता है और उसे पहले की अपेक्षा कम कठिनाई होगी। इससे भी अधिक सुविधा उसे नकद के रूप में रखने में होगी। लोग जितनी अधिक अपनी वास्तविक आय की मात्रायें नकदी (मुद्रा) के रूप में अपने पास रक्खेंगे उतनी ही अधिक मुद्रा की माँग होगी। इस प्रकार मुद्रा की माँग उनकी तरलता वरीयता (Liquidity Preference) पर निर्भर होगी।

(३) मुद्रा की मांग पर आय प्राप्त होने की अवधि, वस्तुओं के मूल्य, जनसंख्या, धन का वितरण, व्यवसाय की दशा, लेन-देन की आदत तथा मुद्रा की चलन गति जैसी अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। आय के भुगतान का जितना ही समय लम्बा होगा, वस्तुओं के मूल्य जितने अधिक होंगे, जनसंख्या जितनी अधिक होगी, धन का वितरण जितना असमान होगा, व्यवसाय की दशा जितनी उत्साहपूर्ण होगी तथा मुद्रा की चलन गति जितनी कम होगी उतनी ही लोगों में 'मुद्रा पसन्दगी' (Liquidity Preference) अधिक होगी तथा लोग उतना ही अधिक अपनी आय को नकद के रूप में रक्खेंगे।

(४) इन विचारों के आधार पर, किसी एक समय पर मुद्रा की पूर्ति केवल चलन-मुद्रा की मात्रा के बराबर ही होती है। साख-मुद्रा का प्रभाव एक समय 'में' होता है; तथा मुद्रा की चलन गति एक समय पर इकाई के बराबर होती है। अतः इनका प्रभाव मुद्रा की पूर्ति पर 'एक समय विशेष पर' नहीं पड़ता और वह चलन मुद्रा की मात्रा के बराबर होती है। इस प्रकार किसी देश में मुद्रा की मांग वहां पर व्यापारिक सौदों की मात्रा पर निर्भर नहीं होती (जैसा कि फिशर का विचार था) वरन् यह जनता की मुद्रा की मांग पर निर्भर होती है; क्योंकि जनता अपनी वास्तविक आय का कुछ भाग नकद मुद्रा के रूप में अपने पास रखना चाहती है। जैसा

कि पहले बताया जा चुका है कि यदि एक किसान १० टन गेहूं का उत्पादन करता है तो उसकी मुद्रा की मांग १० टन गेहूं से निर्धारित न होगी। परन्तु उत्पादन के केवल उस मात्रा से निर्धारित होगी जिसको वह किसान मुद्रा में बदल कर अपने पास रखना चाहता है। क्योंकि कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने इस प्रकार की मुद्रा की माँग की कल्पना में आधारभूत संशोधन किया है इसलिये इसको मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का संशोधित रूप के बजाय 'मुद्रा की मांग' सिद्धान्त का नाम भी दिया जाता है।

कैम्ब्रिज समीकरण (Cambridge Equation)

निश्चितता एवं सरलता प्रदान करने के अभिप्राय से कैम्ब्रिज विचारधारा के प्रमुख अर्थशास्त्री मार्शल तथा उनके अन्य साथियों ने अपने इस विचार को एक समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया। मुद्रा की मांग को उन्होंने kR से सूचित किया, जिसमें R वास्तविक आय का सूचक है तथा k कुल वास्तविक आय तथा मौद्रिक आय के उस भाग के मध्य अनुपात का सूचक है, जो समाज के लोग चलन में रखना चाहते हैं। अतः अल्पकाल में मुद्रा की मांग kR से निर्धारित होगी। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि मुद्रा की पूर्ति से उसका तात्पर्य मुद्रा की उस कुल मात्रा M से होता है जो लोग किन्हीं कीमतों पर वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में देने के लिये तत्पर होते हैं, परिमाण सिद्धांत के पिछले समीकरणों का इस प्रकार रूप बन जाता है: $P=\frac{M}{kR}$

इस समीकरण को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। यदि मान लिया जाय कि किसी एक समुदाय में मुद्रा की इकाइयाँ १० हैं तथा वास्तविक आय १० टन गेहूं है। यदि समुदाय में वास्तविक आय के ५०% को मौद्रिक आय में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति है तो, $P=\frac{M}{kR} = \frac{१०}{\frac{1}{2}\times १०} = २$। इस प्रकार गेहूं की कीमत प्रति टन मुद्रा की दो इकाई के बराबर होगी। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से तथा वास्तविक उत्पादन के स्थिर रहने पर कीमतें तभी बढ़ेंगी जब लोगों की तरलता वरीयता (Liquidity Preference) में कोई परिवर्तन नहीं होगा। Pigou ने इस समीकरण में बाद में थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया, जिससे कि समीकरण ऐसी दशा में भी लागू हो सके जब लोग अपनी नकदी का एक भाग विधि ग्राह्य मुद्रा के रूप में तथा दूसरा भाग बैंक निक्षेपों के रूप में रखने लगते हैं।[1]

इस प्रकार यह समीकरण फिशर के समीकरण के मुद्रा की माँग के विचार

---

१ $P=\frac{M}{kR}\{c+b\ (I-c)\}$ जिसमें c का अभिप्राय उस अनुपात से होता है जो लोग विधि-ग्राह्य मुद्रा के रूप में तथा b से अभिप्राय उस अनुपात से होता है जो लोग विक्षेपों के रूप में रखते हैं।

को त्याग देता है। यह जानना कि समुदाय में कितना नकद है, अधिक आसान है, इसके विपरीत कि कितने व्यवसाय का विनिमय होना है। अतः कैम्ब्रिज समीकरण किसी भी प्रकार के 'पूर्ण उत्पादित' (completely produced) तथा 'अर्द्ध उत्पादित' (partially produced) दोनों प्रकार की वस्तुओं का समावेश नहीं करता। यह केवल पूर्ण उत्पादित वस्तुओं को ही सम्मिलित करता है। अतएव इसके द्वारा मुद्रा की क्रयशक्ति का मापा जाना अधिक सही है। इसके अतिरिक्त "मुद्रा पसन्दगी" (Liquidity Preference) का विचार आधुनिक मांग से भी सम्बन्धित है। जिसके आधार पर आय और रोजगार का सामंजस्य किया जाता है।

कैम्ब्रिज समीकरण तथा फिशर के समीकरण में अन्तर : मुद्रा के परिमाण सिद्धांत को बतलाने वाले इन समीकरणों के बीच पांच मुख्य अन्तर हैं :—

१—फिशर का परिमाण सिद्धांत उस सब मुद्रा पर आधारित है जो देश में व्यापार के लिये आवश्यक है। अर्थात् परिमाण सिद्धांत के अनुसार मुद्रा की मांग विनिमय होने वाली कुल वस्तुओं अथवा व्यवसाय-स्थिति (T) के लिये होती है, परन्तु कैम्ब्रिज समीकरण के अनुसार मुद्रा की मांग 'वस्तुओं' की उस मात्रा से निर्धारित होती है, जिसे जनता अपने पास 'नकदी' के रूप में रखती है।

(२) फिशर समीकरण के V तथा कैम्ब्रिज समीकरण के k के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है—जो एक दूसरे के विपरीत है। यदि लोग अपनी वास्तविक आय के पहिले से बड़े भाग को **नकद मुद्रा के रूप में रखना प्रारम्भ कर दें तो मुद्रा की** चलन गति कम हो जायगी तथा यदि लोग अपनी नकद रखने की भावना को कम कर दें तो मुद्रा की गति बढ़ जायगी। इसको एक उदाहरण द्वारा अधिक अच्छी तरह समझाया जा सकता है। यदि पूरा व्यवसाय वस्तुओं की १२०० इकाइयों के बराबर है और यदि कुल मुद्रा की मात्रा १०० है जिसकी कि औसत गति १२ है, तो प्रत्येक वस्तु की कीमत १ रु० होगी। कैम्ब्रिज विचारधारा के अनुसार यदि १०० रु० नकद के रूप में रक्खे जाते हैं और औसत कीमत १ रु० है तो सारी नकदी सारी वस्तुओं पर अधिकार बतलायेगी और तब लोगों में वास्तविक आय को मौद्रिक आय में परिवर्तित करने का अनुपात १/१२ होगा, जो कि मुद्रा गति के विपरीत है। यदि मुद्रा की औसत गति ६ हो जाती है और वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहती है तो कीमतें ५० नया पैसा प्रति इकाई हो जायगी परन्तु कीमतों की इस दर पर १०० रु० का अधिकार १२०० इकाइयों पर तभी होगा जब वास्तविक आय को मौद्रिक आय में परिवर्तित करने का अनुपात १/६ हो जाता है।

(३) फिशर का परिमाण सिद्धान्त दीर्घकालीन है और एक अवधि की ओर संकेत करता है, परन्तु कैम्ब्रिज सिद्धान्त अल्पकालीन है और एक क्षण का ही अध्ययन करता है जिससे V, T, इत्यादि स्थिर रहते हैं।

(४) फिशर के सिद्धान्त में सभी प्रकार के सौदों को, चाहे वे पूर्ण उत्पादित वस्तुओं के हों अथवा अर्द्ध उत्पादित वस्तुओं के, सम्मिलित किया गया है; परन्तु कैम्ब्रिज समीकरण के अन्तर्गत केवल उन्हीं सौदों को सम्मिलित किया गया है जो पूर्ण उत्पादित वस्तुओं के सम्बन्ध में होते हैं।

(५) फिशर के सिद्धान्त में कीमत स्तर सारे व्यवसाय के सम्बन्ध में बतलाई गयी है, परंतु कैम्ब्रिज समीकरण के अन्तर्गत उन्हीं वस्तुओं की कीमत से सम्बंध रक्खा गया है, जो प्रभावशाली माँग (Effective Demand) बताती हैं।

कैम्ब्रिज परिमाण सिद्धान्त की आलोचनाएँ:—इतना होते हुए भी कैम्ब्रिज सिद्धान्त भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। कीन्स (Keynes) ने इस सिद्धान्त की आलोचना इस प्रकार की है:

(१) कीन्स के अनुसार समीकरण में समाज की चालू आय (R) में सम्मिलित होने से यह ज्ञात होता है कि उसके परिवर्तन उन दोनों या तीन महत्वपूर्ण कारकों में से एक है, जो नकद साधनों की माँग पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार की धारणा आय-निक्षेपों के विषय में तो सही हो सकती है, किन्तु इसका महत्व उस समय बहुत कम हो जाता है जबकि हम अपनी दृष्टि कुल निक्षेपों पर ही केन्द्रित करते हैं। हमें ऐसा अभास होने लगता है कि जो बातें आय निक्षेपों पर प्रभाव डालती हैं वही कुल निक्षेपों पर भी प्रभाव डालती हैं, जो ठीक नहीं है।

(२) समीकरण में जो महत्व (k) को प्रदान किया गया है, वह अनुचित है। सिद्धान्तानुसार नकदी के रूप में मुद्रा का जो भाग लोग अपने पास रखते हैं, उसका निर्धारण उन तुलनात्मक लाभों से होता है जो उनको अपने साधनों को नकद रूप में रखने से प्राप्त होंगे तथा जो उनको नकदी के अतिरिक्त अन्य रूपों में रखने से प्राप्त होंगे। इस प्रकार 'k' में प्रत्येक परिवर्तन इन तुलनात्मक लाभों के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होगा। जहां तक इस विचार का सम्बन्ध है, यह अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु पीगू का सबसे बड़ा दोष यह है कि उन्होंने साधनों को 'चालू आय' जैसा समझा है, जो वास्तव में ऐसा होता नहीं है।

(३) पीगू ने वास्तविक कोषों को गेहूं में मापा है, जो वास्तव में उस प्रकार के मूल्य स्तर की व्याख्या नहीं करता जिसकी ओर, समीकरण संकेत करता है। किसी भी परिमाण समीकरण का उद्देश्य गेहूं के मूल्य को मालूम करना नहीं होता, वरन् मुद्रा की क्रय-शक्ति को मालूम करना होता है। पीगू का समीकरण मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति के निर्धारण के विषय में कोई भी बात नहीं बताता, उनकी यह धारणा सही नहीं है कि सभी सम्बन्धित मूल्य अपरिवर्तनीय होते हैं।

(४) वास्तविक जीवन में निक्षेपों को विभिन्न उद्देश्यों के लिये रक्खा जाता

है और निक्षेपों के अनुपातों में जो परिवर्तन होते हैं उनसे बहुत गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है, किन्तु पीगू ने अपने समीकरणों में गड़बड़ियों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त हम समीकरणों की सहायता से 'मूल्य स्तर के अपरिवर्तनों का विश्लेषण भी नहीं कर सकते हैं जो बचत तथा विनियोग की दरों की असमानता के कारण उत्पन्न होते हैं'।

कीन्स का वास्तविक शेष समीकरण (Keynes' Real Balance Equation) :

कीन्स, यद्यपि स्वयं कैम्ब्रिज समुदाय के अर्थशास्त्री थे परन्तु मुद्रा के मूल्य निर्धारण के लिये उन्होंने कैम्ब्रिज सिद्धान्त से भिन्न समीकरण का प्रतिपादन किया। कीन्स के इस समीकरण को 'वास्तविक शेष समीकरण' (Real Balance Equation) कहते हैं। इनके समीकरण की विशेषता यह है कि यह मुद्रा की मांग के भिन्न पहलुओं पर ध्यान देकर मुद्रा सिद्धान्त (Theory of Money) को सामान्य मूल्य सिद्धान्त (General Theory of Value) के समान बना देता है। यह समीकरण यह स्पष्ट करता है कि मुद्रा के मूल्य में होने वाला कोई भी परिवर्तन समीकरण के पूर्ति पक्ष या मांग पक्ष के परिवर्तन द्वारा होता है। यह समीकरण इस कल्पना को त्याग देता है कि मुद्रा की मांग वस्तुओं पर निर्भर रहती है। साथ ही यह (समीकरण) यह मानता है कि कीमत स्तर लोगों की इस आदत पर निर्भर करता है कि वे आय का कितना भाग नकदी के रूप में रखते हैं। प्रारम्भ में कीन्स ने यह स्वीकार किया कि मांग एवं गति में परिवर्तन, यद्यपि एक भिन्न रूप में, मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करते हैं। परन्तु अन्त में उन्होंने अमौद्रिक कारणों (Non-Monetary Causes) द्वारा मुद्रा के मूल्य का निर्धारण स्पष्ट किया है।

कीन्स के विचारानुसार प्रत्येक व्यक्ति (Holder of Money) वास्तविक शेष (Real Balance) की इस मात्रा को मुद्रा के रूप में अपने पास रखना चाहता है जिसका वास्तविक लेन-देन की मात्रा से उच्चतम सम्बन्ध होता है एवं जिसके ऊपर वह अपने कोषों का विनियोग करता है। यदि वह उच्चतम सम्बन्ध अपरिवर्तित रहता है तो नकद शेष की यह मात्रा (जिसकी मुद्रा धारक को इच्छा होती है) वास्तविक शेषों की मात्रा के बराबर होगी, जैसा कि उक्त उच्चतम सम्बन्ध द्वारा निर्धारित होता है। यदि 'k' उपभोग इकाई (Consumption unit) है, जिसे जनता नकद रूप में रखना सुविधाजनक मानती है; 'k′' वह इकाई है जिसे जनता बैंकों में रखती है एवं जिसको बैंकों के द्वारा निकाला जा सकता है; r नकद कोष का वह भाग है जो बैंकों के द्वारा अपनी जमाओं के बदले में रक्खा जाता है; n चलन में प्रचलित मुद्रा की समस्त मात्रा है, एवं p वह कीमत है जो प्रति उपभोग इकाई के लिये वसूल की जाती है तो $n = p(k + rk')$ or $p = \frac{n}{(k + rk')}$

कीन्स के इस समीकरण को अधिक वास्तविक माना जा सकता है क्योंकि यह इस बात पर महत्व देता है कि कीमत स्तर जनता द्वारा तत्काल उपलब्ध क्रय-शक्ति के रूप में रक्खी जाने वाली अपनी आय के एक भाग को अपने पास रखने की आदत पर निर्भर करती है। यह नकद कोषों की मात्रा के सम्बन्ध में बैंकों द्वारा किये जाने वाले निर्णयों का महत्व स्पष्ट करती है। यह जनता द्वारा आय को 'नकद या बैंक द्वारा जमा के रूप में' रक्खे जाने की आदत को महत्व देता है। फिशर तथा कीन्स के समीकरणों में इतना मौलिक भेद नहीं है जितना कि साधारणतया माना जाता है। वास्तव में ये दो प्रकार के समीकरण एक ही तथ्य के दो अलग-अलग दृष्टिकोण बतलाते हैं। कीन्स का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है, जो एक निश्चित समय में जनता के हाथों से नकद रूप में भविष्य के लेन-देन के लिये रहती है। फिशर का समीकरण मुद्रा की उस मात्रा पर ध्यान देता है जो किसी निश्चित समय में समाज के लेन-देन के लिये आवश्यक समझी जाती है। इस प्रकार कीन्स का समीकरण समय का 'बिन्दु' बतलाता है जब कि फिशर का समीकरण समय की 'लम्बाई' की ओर संकेत करता है।

कीन्स के 'वास्तविक शेष समीकरण' (Real Balance Equation) की आलोचना :

कीन्स के इस समीकरण में p केवल उपभोग की इकाइयों की कीमतों का प्रतिनिधित्व करता है। मुद्रा का उपयोग केवल उपभोग की वस्तुओं को प्राप्त करने ही के लिये नहीं किया जाता बल्कि अनेक व्यापारिक तथा व्यक्तिगत कार्यों के लिये भी होता है। इसलिये p को केवल उन्हीं उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का प्रतिनिधित्व नहीं करना चाहिये परन्तु मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति में सम्बन्धित होना चाहिये। इसके अतिरिक्त समीकरण यह स्पष्ट करता है कि नकद कोष सिर्फ चालू उपभोग के ऊपर किये जाने वाले खर्चों की पूर्ति के लिये रक्खा जाता है जब कि वास्तविकता यह है कि कोष विभिन्न उद्देश्यों के लिये रक्खे जाते हैं। कीन्स के समीकरण का यह भी दोष है कि 'k' में केवल व्यक्तियों की आदतों में परिवर्तन होने से ही परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। वास्तव में जैसा कि कीन्स ने बाद में स्वीकार भी किया कि यह व्याज की दर तथा व्यवसाय की सामान्य दशा पर भी आधारित होता है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि अल्पकाल में यह समीकरण कार्यशील नहीं होता। समीकरण में n और p के बीच समानुपातिक सम्बन्ध k, k' और r के बदलने के कारण, जो स्वयं n के कारण बदलते हैं, स्थायी नहीं रह सकता। यदि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होने से किसी व्यक्ति की मौद्रिक आय बढ़ जाती है तो उस राशि में भी वृद्धि हो जायगी जिसे वह बैंक में निक्षेपों के रूप में रखता है। बैंकों के कुल निक्षेपों में वृद्धि होने से बैंकों के नकद कोषों में भी वृद्धि हो जायगी। अतः

मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होने से k, k′ और n में भी वृद्धि हो जायगी तथा n और p का सम्बन्ध बेकार हो जायगा।

कीन्स ने अपने वास्तविक संतुलन सिद्धान्त के इन दोषों को स्वीकार किया। यही कारण है कि मुद्रा के मूल्य का उन्होंने एक दूसरा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे एक समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया जो आय के वितरण से सम्बन्धित है। उन्होंने उस सिद्धान्त को भी एक समीकरण द्वारा प्रस्तुत किया जिसको उन्होंने **मौलिक समीकरण** (Fundamental Equation) का नाम दिया।

परिमाण समीकरण—प्रज्ज्वलित समीक्षा :

अपने अनेक स्पष्टीकरण से मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त यह बतलाने में तो सफल हो जाता है कि कीमतें किसी समय पर किसी एक स्तर पर क्यों हैं, परन्तु यह सिद्धान्त उन अनेक कारणों की व्याख्या नहीं कर पाता जिनके कारण कीमत-स्तरों में परिवर्तन होते हैं। अतः यह सिद्धान्त उन अनेक उपकरणों को नहीं बतलाता जिनके द्वारा मुद्रा के मूल्य में परिवर्तनों का विश्लेषण किया जा सकता है। मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में आय के सिद्धान्त के प्रतिपादन के फलस्वरूप आर्थिक विचारधारा में आधुनिक प्रवृत्ति निःसंदेह मुद्रा के परिमाण को व्यापार का सप्रभाविक कारण और मुद्रा के मूल्य के निर्धारक सम्बंधी प्राचीन विचार का तिरस्कार करता है और उसको परिमाण के रूप में स्वीकार करता है।[1] फिर भी सिद्धांत के रूप में यह दीर्घकालीन महत्वपूर्ण आर्थिक प्रवृत्ति का विवेचन करता है। यह विशेष परिस्थितियों के अंतर्गत प्रायः होने वाले परिणामों को बतलाता है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि परिमाण सामान्य मूल्य स्तर को निर्धारित करने वाले कारकों की एक प्रज्ज्वलित (उत्तम) समीक्षा है।[2]

कीन्स द्वारा प्रतिपादित आय का सिद्धान्त (Income theory as propounded by Keynes) :—

परिमाण सिद्धांत के अंतर्गत मुद्रा की मांग, उसकी पूर्ति तथा कीमतों के बीच सम्बंध स्थापित करने वाले निष्कर्षों के महत्व को स्वीकार करते हुए, आधुनिक अर्थशास्त्री यह अनुभव करते हैं कि समाज में आय, बचत, तथा विनियोग के सम्बंध द्वारा कीमतों तथा उनमें सभी प्रकार की परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तनों को जाना जा सकता है। कैम्ब्रिज विचारकों के अनुसार मुख्यतः कीमतें लोगों में 'अपनी

1. The modern tendency in economic thinking is, indeed, to discard old notion of quantity of money as a causative factor of the value of money and to regard it as its consequence.' Crowther—The Outline of Money, p 134

2. "Quantity equations remain the most illustrious analysis of the factors determining value of money".

वास्तविक आय को नकदी के रूप में रखने की प्रवृत्ति' (k) पर निर्भर करती हैं। परंतु यह प्रवृत्ति (k) किन बातों पर निर्भर करती है ? कीन्स के विश्लेषण के अनुसार यह प्रवृत्ति (k) स्वयं कीमतों के क्रम पर निर्भर करती है। कीमतों के बढ़ने के साथ मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और उसी के साथ लोग अपनी वास्तविक आय को मुद्रा (नकदी) के रूप में रखने की कम इच्छा करने लगते हैं। इसके विपरीत कीमतों के गिरने के साथ मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगता है तथा लोगों में वास्तविक आय को मुद्रा में परिवर्तित कराने की प्रवृत्ति (k) भी बढ़ने लगती है। अतएव कीन्स के अनुसार अल्पकालीन समय में कीमतों अथवा मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन लोगों की नकदी रखने की प्रवृत्ति की अपेक्षा आय, बचत, एवं विनियोग के पारस्परिक अनुपात में परिवर्तनों के कारण होती हैं। कीन्स का यह विचार उनके सामान्य सिद्धान्त (General Theory) पर आधारित है।

कीन्स का सामान्य सिद्धान्त (Keynes' General Theory) :

निःसंदेह कीन्स (Keynes) द्वारा प्रतिपादित उनका सामान्य सिद्धान्त (General Theory) अनेक प्रकार की आर्थिक घटनाओं को बतलाने में परम्परावादी स्पष्टीकरण से भिन्न है। परम्परावादी (Classical) विचार 'स्थायी दशा' (Stationary State) की मान्यता पर आधारित है जो दीर्घकालीन समय की अवस्था में ही पायी जाती है। अल्पकालीन साम्य की अवस्था सदैव बदलती रहती है तथा 'स्थायी दशा' के प्रतिकूल होती है। दीर्घकालीन साम्य की अवस्था पूर्ण वृत्ति की स्थिति में पायी जाती है और इसी स्थिति के अध्ययन से परम्परावादी विचारकों ने अपना सम्बन्ध रक्खा था। उन्होंने (परम्परावादी) व्यक्तिगत उद्योगों की वृत्ति की दशाओं में परिवर्तनों एवं उसके वितरण का तो अध्ययन किया, परंतु उन्होंने सामान्य वृत्ति की दशाओं में परिवर्तनों एवं उसके वितरण का अध्ययन नहीं किया। इसलिये कीन्स के अनुसार परम्परावादी विचार न इन परिवर्तनों के अल्पकालीन साम्य की दशा और न यह उनके दीर्घकालीन साम्य की दशा का अध्ययन करता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत उद्योगों के वृत्ति में साम्य की दशाओं के अल्पकालीन उच्चावचनों का भी अध्ययन इन्होंने नहीं किया। कीन्स ने यह अनुमान किया कि परम्परावादी जिसका अध्ययन नहीं करते उनका व्यवहारिक जीवन में बड़ा महत्व होता है, और उन्हीं के अध्ययन हेतु कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धांत (General Theory) का प्रतिपादन किया था।

मुद्रा के मूल्य के सम्बंध में भी उनके विचार इसी प्रकार प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विपरीत थे। अल्पकाल में कीमतों का निर्धारण बतलाते हुए कीन्स ने व्याज की दरों का राष्ट्रीय आय के वितरण एवं परिवर्तनों पर प्रभावों का भी विचार किया।

इसके अन्तर्गत उनका अभिप्राय आय, बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध के स्पष्टीकरण से था। प्रत्येक आर्थिक व्यवस्था में, जिसमें मुद्रा विनिमय-माध्यम के रूप में प्रयोग की जाती है, उत्पादन के प्रत्येक कार्यकर्ता (व्यक्तियों) को बाजार में बिकने के लिये आई हुई नई उपभोग व उत्पादक वस्तुओं पर व्यय करने के लिये मौद्रिक आय प्राप्त होती है। कीन्स के मूल्य का सिद्धांत इस प्रकार के मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय; अथवा वस्तुओं के स्रोतों के सम्बंध की व्याख्या करता है। साधारण रूप में इस सिद्धांत के अनुसार उपभोग एवं उत्पादक वस्तुओं की कीमतें अथवा मुद्रा के मूल्य का निर्धारण लोगों के उन निर्णयों पर निर्भर करता है जिसके अनुसार वे अपनी मौद्रिक आय वस्तुओं पर व्यय करने को इच्छुक होते हैं। ऐसी प्रत्येक दशा में जब वस्तुओं पर व्यय की जाने वाली आय कम हो जाती है पर वस्तुओं की मात्रा उतनी ही रहती है, अथवा जब वस्तुओं की मात्रा बढ़ जाती है पर आय स्थिर रहती है, कीमतें गिरने लगती हैं। इसी प्रकार जब वस्तुओं पर व्यय की जाने वाली आय में वृद्धि हो जाती है पर वस्तुओं की मात्रा स्थिर रहती है, अथवा जब वस्तुओं की मात्रा कम हो जाती है, पर आय स्थिर रहती है कीमतें बढ़ने लगती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों को बतलाने वाला कीन्स का आय का सिद्धाँत मुद्रा के मूल्य का बचत तथा विनियोग के सिद्धांत के नाम से विख्यात है।

मुद्रा के मूल्य का बचत तथा विनियोग का सिद्धान्त (Saving and Investment Theory of Money) :—

मुद्रा के मूल्य का यह सिद्धांत कीन्स (Keynes) के नाम से ही सम्बंधित है (जैसे परिमाण सिद्धांत फिशर के नाम से), यद्यपि हेक (Hayek) हरवर्लर (Herberlar) तथा क्राउथर (Crowther) ने इसी दिशा में अपने विचार प्रकट किये हैं। कीन्स ने अपनी 'वृत्ति, ब्याज और मुद्रा का सामान्य सिद्धांत' (General Theory of Money, Interest & Employment) नामक पुस्तक में यह स्पष्ट किया है कि मुद्रा का मूल्य समुदाय की आय, बचत करने की शक्ति तथा बचत और विनियोग के सम्बंध पर निर्भर करती है। कीन्स के अनुसार मुद्रा का परिमाण सिद्धाँत यह तो बतलाता है कि कीमतें किसी एक स्तर पर क्यों रहती हैं; परंतु वह यह बतलाने में असमर्थ है कि कीमतों में परिवर्तन क्यों होते हैं। दूसरी ओर बचत एवं विनियोग सिद्धांत, कीमत स्तर के परिवर्तनों तथा मौद्रिक आय, व्यय, उत्पादन, बचत, विनियोग इत्यादि के बीच का सम्बंध स्पष्ट करता है। कीन्स ने इस सम्बंध को एक समीकरण द्वारा भी प्रस्तुत किया है जो उनका **'मौलिक समीकरण'** कहलाता है, और जिसका अध्ययन हम आगे करेंगे।

वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ तथा उत्पादक

वस्तुएँ (विनियोगी वस्तुएँ)। वास्तव में मुद्रा का मूल्य लोगों की कुल आय के **उस भाग पर** निर्भर करता है जो इन वस्तुओं पर व्यय किया जाता है। यह भाग बचत और विनियोग के सम्बंध पर आधारित रहता है। कुल आय को बचाया (Save) तथा व्यय (Spend) किया जाता है। जो कुछ बचाया जाता है उसका विनियोग तथा संचय (Hoarding) किया जा सकता है। यदि बचतों को संचित (hoarded) रक्खा जाता है तो उससे समुदाय को कोई लाभ नहीं होता क्योंकि वे समुदाय की आय को प्रभावित नहीं करते। परंतु जब बचतों (Saving) का विनियोग (Investment) किया जाता है, चाहे वह उत्पादक वस्तुओं को खरीद कर किया जाय या बैंक में जमा करके किया जाय, तो उसका प्रभाव उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति पर पड़ता है। (जब बचतों को बैंक या दूसरी वित्तीय संस्थाओं में जमा कर दिया जाता है, तो उसके एक बड़े भाग को व्यवसाइयों को उत्पादन क्रियाओं के संचालन के लिये दे दिया जाता है)।

यदि किसी एक समय कुल आय में से बचत की मात्रा बढ़ जाती है तो इसका प्रभाव उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की मांग पर पड़ेगा। बढ़ी हुई बचत से व्यय की जाने वाली आय की मात्रा कम हो जायगी, जिसके फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं की मांग भी कम हो जायगी। पर यदि बचत की वृद्धि से विनियोग भी बढ़ता है, जिससे उत्पादक वस्तुओं की माँग एवं रोज़गार की वृद्धि होती है, तो हो सकता है आय के बढ़ जाने से मांग न घटे। बचत में यह वृद्धि अनेक कारणों से हो सकती है। व्याज की ऊंची दर, भविष्य की असम्भावनाएँ तथा मुद्रा के मूल्य में वृद्धि का क्रम जैसे इसके अनेक कारण हो सकते हैं। बचत की वृद्धि से यह भी निश्चित नहीं कि विनियोग की जाने वाली आय की मात्रा भी बढ़ जायगी। हो सकता है बचत की वृद्धि से मुद्रा का संचय (Hoarding) बढ़ जाय, क्योंकि जो लोग बचत अधिक करने लगें वे साहसी उत्पादक न हों। इसका प्रभाव यह पड़ेगा कि उपभोग वस्तुओं की मांग के कम होने से उत्पादक वस्तुओं की मांग भी कम हो जायगी। वस्तुओं की माँग गिरने के कारण रोजगार तथा आय की कमी होने लगेगी जिससे मांग और भी कम हो जायगी, कीमतें गिरती चली जायेंगी और यह क्रम चलता रहेगा। ऐसा उस समय भी होगा जब बचत की मात्रा स्थिर रहे, परन्तु विनियोग की मात्रा कम हो जाय [अथवा संचय (Hoarding) बढ़ जाय]। विनियोग में कमी होने के कारण उत्पादक वस्तुओं की मांग कम हो जायगी जिसके फलस्वरूप रोजगार की दशायें तथा आय कम हो जायगी उपभोग वस्तुओं की मांग गिरने लगेगी जिसके कारण कीमतें भी गिरने लगेंगी। इसी प्रकार कुल आय के स्थिर रहने पर यदि बचत की मात्रा बढ़ जाती है परन्तु विनियोग की मात्रा स्थिर रहती है अथवा विनियोगों की कमी हो जाती है, पर बचत की मात्रा यथास्थिर रहती है तो कीमतें गिरने

लगेंगी और वे गिरती जायेंगी क्योंकि कीमतें, रोज़गार की दशा, वस्तुओं की मांग इत्यादि एक दूसरे पर प्रभाव डालती जायेंगी ।

दूसरी ओर यदि विनियोग की जाने वाली मात्रा बचत की मात्रा से अधिक हो जाती है (कुल आय स्थिर रहने पर) तो कीमतें बढ़ने लगेंगी । आय और बचत यथा स्थिर रहने पर यदि विनियोग बढ़ जाते हैं, तो उत्पादक वस्तुओं की मांग बढ़ जायेगी; जिसके फलस्वरूप रोज़गार की दशाओं में भी वृद्धि होगी । लोगों की आय के बढ़ जाने के कारण उपभोग वस्तुओं की माँग बढ़ जायगी जिसके फलस्वरूप कीमतें बढ़ने लगेंगी और इस प्रकार की कीमतों के बढ़ने का चक्र चालू रहेगा । यह उस समय भी होगा जब बचत की वृद्धि से विनियोगों में भी वृद्धि हो जाती है ।

इस प्रकार विनियोगों से बचत का आधिक्य (Excess) बेरोज़गारी बढ़ायेगा तथा लोगों की आय में कमी करेगा जिसके फलस्वरूप कीमतें गिरने लगेंगी और मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगेगा । बचत से विनियोगों का आधिक्य आय, व्यय, एवं कीमतों को बढ़ायेगा और मुद्रा के मूल्य में कमी ले आयेगा । साधारणतया ऐसी प्रवृत्तियां अधिक समय तक विद्यमान नहीं रहतीं । जैसे जैसे मुद्रा का मूल्य गिरता जायेगा या कीमतें बढ़ती जायेंगी उत्पादन के साधनों की लागत या तो कम होगी (Law of increasing returns) और या कीमतों की वृद्धि के दर की अपेक्षा कम बढ़ेगी । इससे लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जायेंगी । बैंक भी व्याज की दरों को घटा देंगे जिससे उद्योगों के दिये जाने वाले ऋण की मात्रा में वृद्धि हो जायगी । इसी प्रकार से जब कीमतें गिरने लगेंगी या मुद्रा का मूल्य बढ़ने लगेगा तो उत्पादन के साधनों की लागत बढ़ने लगेगी जिससे लाभ की सम्भावनाएँ तथा अधिक उत्पादन की इच्छायें कम होने लगेंगी । बैंक द्वारा ऋणों का देना कम हो जायगा और बचत की दर में कमी हो जायगी ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि मुद्रा का परिमाण कीमतों के बढ़ने और घटनें की दशाओं से सम्बन्धित नहीं है । अवसाद काल में मुद्रा की मात्रा कम होती है; परन्तु चलन की यह कमी कारण नहीं, अवसाद का परिणाम है । अल्पकालीन कीमतों एवं वृत्ति में परिवर्तन, बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध के परिवर्तन के कारण होते हैं । यदि विनियोगों से बचत बढ़ जाती है तो कीमतें साम्य स्तर से नीचे गिरने लगेंगी । परन्तु जब बचत विनियोगों से कम होगी तो कीमतें साम्य स्तर से ऊपर बढ़ेंगी । क्राउथर के अनुसार "आर्थिक विचारधारा में आधुनिक प्रवृत्ति उस पुराने विचार का खण्डन करती है कि मुद्रा की मात्रा ही व्यापार के स्तर का

कारण व मुद्रा के मूल्य का निर्धारक है। वरन् यह तो इसका परिणाम है।"[1] मुद्रा का मूल्य तो वास्तव में मुद्रा के परिमाण के बजाय कुल आयों पर निर्भर करता है।

परन्तु समुदाय की आय तथा बचत और विनियोग का सम्बन्ध किन बातों पर आधारित होता है? बचत कुल राष्ट्रीय आय तथा बचत करने की इच्छा (Propensity) पर निर्भर करता है। बचत करने की क्षमता, जनसंख्या, लोगों की मितव्ययिता (economy), बचत तथा विनियोग के साधन तथा आय के वितरण पर निर्भर करता है। राष्ट्रीय आय समुदाय में व्यवसाय की दशा पर निर्भर करती है। दूसरी ओर विनियोग लाभ की सम्भावनाओं, चाहे वे वास्तविक लाभ के रूप में हों अथवा व्याज के रूप में, पर निर्भर करता है। अतएव विनियोग और बचत का सम्बन्ध व्याज की दर पर निर्भर करता है। यह व्याज-दर कीन्स के अनुसार दो प्रकार की होती है: (१) सामान्य व्याज की दर तथा (२) बाजारू (वास्तविक) व्याज की दर। सामान्य व्याज की दर वह व्याज की दर है जो बचत और विनियोगों की दरों को बराबर रखती है अथवा जिसके आधार पर बचत और विनियोग बराबर होते हैं। परन्तु बाजारू व्याज की दर बैंक द्वारा निर्धारित की जाने वाली वास्तविक व्याज की दर होती है, जो सामान्य दर से साधारणतया कम होती है। जब बचत और विनियोग बराबर होते हैं, अथवा वास्तविक व्याज की दर तथा सामान्य व्याज की दर एक होती है, तो वह लाभ शून्य होने की दशा होती है। यदि बाजारू (वास्तविक) व्याज की दर सामान्य व्याज की दर से कम है तो साख की माँग बढ़ जाती है जिससे उत्पादन के साधनों को अधिक आय प्राप्त होती है और उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। परन्तु दूसरी ओर बाजारू (वास्तविक) व्याज की दर सामान्य दर से अधिक होती है तो साख की माँग कम हो जाती है, बचत बढ़ने लगती है, उत्पादन के साधनों की आय कम हो जाती है और कीमतें गिरने लगती हैं। सामान्य अवस्था पर वास्तविक व्याज की दर तथा सामान्य व्याज की दर एक होगी और उस समय बैंकों द्वारा अर्जित की जाने वाले लाभ की संभावनाएँ शून्य हो जायेंगी।

बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की समीकरण द्वारा प्रस्तुति-मौलिक समीकरण :

अपनी पुस्तक 'Treatise' में कीन्स ने परम्परावादी परिमाण समीकरण (Classical Quantity Equation) में अपनी बचत-विनियोग विचार के आधार पर सुधार करने का प्रयत्न किया और मौलिक समीकरण (Fundamental Equation)

1. "The modern tendency in economic thinking, indeed, is to discard old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business a determinant of value of money and to regard it as a consequence".
Crowther--An Outline of Money, p. 136

का प्रतिपादन किया। उन्होंने अपने समीकरण में विभिन्न मूल्य स्तरों के निर्धारण में व्याज दर के साथ ही साथ नकद कोषों के स्टाकों को भी सम्बन्धित कर दिया। समीकरण द्वारा उन्होंने यह स्पष्ट किया कि बचत एवं विनियोग के मध्य विद्यमान मतभेद (Discrepancies) किस प्रकार मूल्य स्तर में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। उनका समीकरण इस प्रकार है :—

पहली रीति :—

यदि E=किसी समय की समुदाय की कुल आय,
=उत्पादन के अनेक साधनों का प्रतिफल,
=उपभोग वस्तुओं तथा विनियोग (उत्पादन) वस्तुओं की लागत का मूल्य।
=व्यय+बचत।

यदि I=विनियोग (उत्पादक) वस्तुओं की लागत अथवा उनका मूल्य।
,, S=समुदाय की कुल बचत।
,, O=कुल (उपभोग एवं विनियोग उत्पादक) वस्तुओं की मात्रा।
,, R=उपभोग वस्तुओं की मात्रा।
,, C=विनियोग (उत्पादक) वस्तुओं की मात्रा।
,, P=औसत कीमत।

तो E-I=उपभोग वस्तुओं की लागत।

या E-S=उपभोग वस्तुओं पर किया जाने वाला व्यय (व्यय)।

या $O=R+C$

या $E=P\,O$ या $P=\frac{E}{O}$

$=P\,(R+C)=P\,R+P\,C$ (उपभोग तथा उत्पादक वस्तुओं का मूल्य अथवा लागत)

$=\frac{E}{O}R+\frac{E}{O}C$ (उपभोग वस्तुओं का मूल्य + उत्पादक वस्तुओं का मूल्य)

या $E-S=P\,R=E-\frac{R+C}{O}-S$

$=\frac{E}{O}R+\frac{E}{O}C-S$

$=\frac{E}{O}R+I-S$ (क्योंकि उत्पादक वस्तुओं का मूल्य= विनियोग=उत्पादक वस्तुओं की लागत)

या $P=\frac{E}{O}+\frac{I-S}{R}$

दूसरी रीति :—

समुदाय की पूर्ण आय=वस्तुओं एवं सेवाओं पर किये जाने वाली कुल राशि या Y=P. O (जिसमें P=कीमत स्तर, O= कुल उत्पादन, Y=आय) कुल आय में निम्नलिखित दो प्रकार की आय सम्मिलित होती है :—

(१) उत्पादन के साधनों को मिलने वाली सारी राशि; जिसमें सामान्य लाभ को भी शामिल किया जाता है।

(२) असाधारण लाभ अथवा अतिरिक्त लाभ जो पूंजीकृत सम्पत्ति के अधि-मूल्यन के कारण होते हैं।

अतः Y= E+Q (जिसमें E= उत्पादन साधनों द्वारा आय, Q= असा-धारण लाभ) पूंजीकृत संपत्ति (capital assets) का अधिमूल्यन उस समय होता है, जब विनियोगों की माँग उनकी पूर्ति से अधिक हो जाती है। समुदाय की विनियोग-पूर्ति वर्तमान बचत से सीमित रहती है। जो कुछ बचत के रूप में इकट्ठा किया जाता है, उससे नई पूंजी का निर्माण होता है। यदि विनियोगों की माँग बढ़ जाती है तथा उसकी पूर्ति (नई) स्थिर रहती है, तो पूंजीकृत सम्पत्ति (capital assets) रखने वाले लाभ अर्जित करते हैं। इस दृष्टिकोण से कीन्स ने विनियोगों के बचत से आधिक्य को असाधारण लाभ बतलाया है।

अतः Q= I−S (जिसमें I= विनियोग, Q= बचत)

अतएव समीकरण को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

$$P=Y/O = \frac{E+Q}{O} = E/O + Q/O = E/O + = \frac{I-S}{O}$$

पहली रीति के अन्तर्गत समीकरण में P से अभिप्राय उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की कीमत स्तर से है; परंतु दूसरी रीति के अंतर्गत समीकरण में इससे अभि-प्राय सारे उत्पादन की कीमत स्तर से है। सामान्य स्तर E/O से कीमतों की वृद्धि तथा ह्रास I (विनियोग) तथा S (बचत) पर निर्भर करता है। यदि बचत से विनियोग बढ़ जाते हैं, कीमतें बढ़ने लगेंगी (I+S धनात्मक हो जाता है); परन्तु जब विनियोग बचत से कम हो जाता है, कीमतें गिरने लगेंगी (I−S नकारात्मक हो जाता है)। सामान्य दशाओं में I तथा S बराबर होते हैं। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि :—

चूंकि समुदाय की आय=उत्पादन का मूल्य=व्यय+विनियोग

$$Y = PO = C + I$$

अतः, बचत=आय—व्यय=व्यय+विनियोग—व्यय

$$S = Y - C = C + I - C$$

इसलिए, बचत=विनियोग

$$S = I$$

पर यह कैसे सम्भव होता है कि समुदाय के विनियोग बचत से बढ़ जायें ? यह साख मुद्रा के विस्तार एवं संकुचन द्वारा संभव होता है, जो व्याज की दर पर निर्भर करता है।

कीन्स के मौलिक समीकरण (Fundamental Equation) की यह विशेषता है कि यह कीमतों के निर्धारण की व्याख्या करने में मौद्रिक तथा अमौद्रिक तत्वों, जैसे बचत और विनियोग, की सहायता लेता है। बचत और विनियोगों के असंतुलन से असाम्य की दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण उत्पादन एवं उनके साधनों पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। इसके फलस्वरूप मौद्रिक आय एवं कीमतें प्रभावित होती हैं। कीन्स के अनुसार मौद्रिक सिद्धान्त मूल्य के साधारण सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। किसी एक उद्योग की व्यक्तिगत कीमत की गति साधारण कीमत स्तर, उत्पादन के उन साधनों के प्रतिफल, जो सीमान्त लागत निर्धारित करते हैं तथा कुल उत्पादन एवं रोज़गार की दशाओं से प्रभावित होती हैं। मौद्रिक वस्तुओं के प्रचलित दृष्टि-कोण के आधार पर व्यक्तिगत कीमतों का विश्लेषण मूल्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत आता है; परन्तु मुद्रा का सिद्धान्त इन कीमतों के उच्चावचनों को बतलाने में त्रुटि-पूर्ण सिद्ध हुआ है। कीन्स ने यह सिद्ध किया है कि मौद्रिक तत्वों का प्रभाव उत्पादन और रोज़गार की दशाओं पर पड़ता है। उन्होंने मुद्रा की मांग और पूर्ति का विश्ले-षण "तरलता वरीयता" (liquidity preference) के आधार पर किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वे व्याज की दर को प्रभावित करके क्रय से लाभ की संभाव-नाओं, रोजगार की दशा तथा कुल उत्पादन को प्रभावित करते हैं। परन्तु उन्होंने यह स्वीकार किया कि पूर्ण वृत्ति की स्थिति के पश्चात् मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कीमतों के परिवर्तनों के बतलाने में लागू होता है।

कीन्स के बचत एवं विनियोग सिद्धान्त की आलोचनाएँ :

कीन्स का यह सिद्धान्त भी अनेक आलोचनाओं से युक्त है। इनके सिद्धान्त की आलोचना अनावश्यक, भ्रमपूर्ण एवं अशुद्ध कह कर की गई है। कीन्स ने अपनी 'रोगज़ार, व्याज एवं मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त' नामक पुस्तक की प्रस्तावना में यह स्वयं लिखा है कि मौद्रिक समीकरण केवल क्षणिक चित्र है, जिसका निर्माण पूर्ण उपलब्ध सामग्री द्वारा किया गया है। परिवर्तनशील विकास, जो कि क्षणिक चित्र से भिन्न है, को अपूर्ण तथा पूर्णतया संदिग्ध स्थिति में छोड़ दिया गया था। सिद्धान्त की आलोचनाएँ इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं :—

(१) समीकरण में P, E तथा S को मौद्रिक अंशों में स्पष्ट किया गया है। इसका अर्थ यह है कि समीकरण उस समय भी सही होगा जब कीमतें उतनी ही मुद्रा के साथ और ऊंची हो जायें। यह समीकरण इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करता

कि चलन में उतनी ही मुद्रा के साथ कीमतें किसी भी सीमा तक बढ़ सकती हैं। अतएव कुछ ऐसे भी कारण होने चाहिये जो मुद्रा और वस्तुओं की विनिमय दर को निर्धारित करते हैं और जिनको मौलिक समीकरण में कोई स्थान नहीं दिया गया है।

(२) क्योंकि समीक्षा में R, E, S, का सम्बन्ध किसी एक समय से है, अतः किसी एक समय पर हम उनके द्वारा कीमतों को जान सकते हैं। इस प्रकार के यांत्रिक दृष्टिकोण से वास्तविक व्यवहारों के प्रभावों को नहीं समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ रात्रि में युद्ध की सूचना प्रातः कीमतों में परिवर्तन ला सकती है, जो इस समीकरण द्वारा नहीं बतलाया जा सकता है।

(३) कीन्स द्वारा उत्साहियों के सामान्य प्रतिफल एवं उनके लाभों के बीच अन्तर का स्पष्टीकरण ठीक नहीं है। व्यवहारिक जीवन में इसका कोई भी महत्व नहीं होगा कि उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों में वे लाभ पूर्णरूपेण या आंशिक रूप से सम्मिलित हैं जो समुदाय के वर्तमान व्यय में शामिल किये जाते हैं।

(४) कीन्स द्वारा प्रतिपादित मौलिक समीकरण एक स्थिर (static) व्यवस्था में ही लागू होता है। परिवर्तनशील (dynamic) आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत तकनीकी उन्नति होती है, जिसके कारण उत्पादन के क्षेत्र में सदा परिवर्तन हुआ करते हैं। समीकरण $O=R+C$ में अनेक प्रकार की वस्तुओं की ऐसी इकाइयां सम्मिलित की गई हैं, जिनकी उत्पादन लागत एक ही समय पर समान मान ली गई है। परन्तु वास्तविक जीवन में अनेक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में तकनीकी उन्नति की विभिन्नताओं के कारण विभिन्न उत्पादन लागतों का होना स्वाभाविक है। यह आलोचना उस समय और भी तीव्र लगती है जब हम कीन्स के इस आश्वासन को ध्यान में रखते हैं कि उनका यह सिद्धान्त व्यवहारिक जीवन के परिवर्तनशील व्यवस्थाओं में भी लागू होता है।

(५) बचत और विनियोग के असंतुलन ही लाभ के कारण नहीं हो सकते जैसा कि समीकरण द्वारा समझ में आता है। यदि व्यवसायियों की वास्तविक आय उनके अनुमान से कम हो जाती है तो उसको वे घाटा समझते हैं, चाहे वास्तव में उनको घाटा न हुआ हो। कीन्स द्वारा बतलाये गए समीकरण में I और S में सन्तुलन ऐसी ही दशा में पाया जाता है जब व्यवस्था से सारे साधनों का पूरी तरह प्रयोग हो रहा हो। परन्तु यह तर्क स्वयं कीन्स द्वारा बाद में बतलाये हुये विचार के विरुद्ध है। कीन्स ने यह बतलाया कि अवसाद की दशा में भी (जब उत्पादन साधनों का पूर्ण रूपेण प्रयोग न हो रहा हो) I और S (बचत और विनियोग) में सन्तुलन हो सकता है।

(६) अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस समीकरण में ब्याज की दर

का कीमतों के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान है। जब विनियोगों से बचतें बढ़ जाती हैं तो कीमतें गिरने लगती हैं, ब्याज की सम्भावनाओं का अन्त हो जाता है तथा उत्पादन में कमी हो जाती है। परन्तु कीन्स ने स्वयं अपना एक दूसरा विचार प्रस्तुत किया है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने यह बतलाया कि व्यवसायिक परिस्थितियाँ ब्याज की दर से इतना प्रभावित नहीं होतीं जितना कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से प्रभावित होती हैं। अतः कीन्स का मौद्रिक समीकरण इतना सही नहीं मालूम पड़ता जितना कि उसको २० वर्ष पूर्व समझाया जाता था। सामान्य दशा में वह परिमाण समीकरण की ही तरह है। कीन्स ने स्वयं ही कहा है कि "सारे समीकरण बनावटी हैं। वे केवल प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हैं, तथा स्वयं सिद्ध हैं—जो अपने विषय के अतिरिक्त कुछ नहीं बतलाते"। इस विचार से यह मुद्रा परिमाण सिद्धान्त के अनेक वर्णनों की ही भाँति है।

परिमाण सिद्धाँत v/s बचत विनियोग सिद्धाँत :

यद्यपि मुद्रा का परिमाण सिद्धांत अधिक यांत्रिक (mechanical) है तो भी यह नहीं माना जा सकता कि कीमत स्तर का सम्बन्ध मुद्रा के परिमाण से नहीं है। कीमतों के चक्रीय वृद्धि तथा ह्रास के समय मुद्रा के परिमाण तथा कीमतों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। कीमतों की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा के परिमाण में भी वृद्धि होती है, या उसकी चलन गति में वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार साख के विस्तार पर नियंत्रण कीमतों की वृद्धि को रोक सकता है और कीमतों में गिरावट कर सकता है। युद्ध काल में मुद्रा के परिमाण एवं उसकी गति में वृद्धि के कारण ही कीमतें बढ़ने लगती हैं।

इस पर भी वास्तविकता यह है कि परिमाण सिद्धांत मुद्रा के अनेक प्रकार के व्यवहारों को बतलाने में असमर्थ है। अवसाद के अन्त में मुद्रा या वस्तुओं की कोई कमी नहीं रहती परन्तु उसके साथ ही कीमतें बढ़ना प्रारम्भ हो जाती हैं। परिमाण सिद्धांत इस प्रकार की आर्थिक प्रवृत्तियों को नहीं बतलाता। इसके अतिरिक्त वह यह भी नहीं बतलाता कि मुद्रा की कमी क्यों कीमतों, उत्पादन और रोज़गार की वृद्धि को रोक देती है। दूसरी ओर बचत और विनियोग का सिद्धांत कीमतों के चक्रीय वृद्धि और ह्रास को बतलाता है। यदि विनियोग बचत से अधिक हो जाते हैं तो कीमतें बढ़ जाती हैं; कीमतों में वृद्धि तथा विनियोग की वृद्धि, जिसके साथ-साथ साख की भी वृद्धि होती है, साथ-साथ होती है। जब साख पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है, लाभ की मात्रा तथा सम्भावनायें कम हो जाती हैं; जिसके फलस्वरूप नये विनियोग बचत से कम हो जाते हैं। जब बचत विनियोग से बढ़ जाते हैं तो आय कम होने लगती है, जिसके फलस्वरूप कीमतें गिरने लगती हैं। विनियोग इसी समय किये जाते हैं, जब लाभ की सम्भावनायें होती हैं। जब कीमतें गिरने

लगती है, तो विनियोग कम आकर्षक हो जाते हैं, यद्यपि ऋण का मिलना कम ब्याज की दर पर सुलभ होता है। अवसाद के बाद उन्नतिकाल उस समय प्रारम्भ होता है जब विनियोग बचत से बढ़ने लगते हैं तथा व्यवसायी लाभ की सम्भावनाओं की अरुचि को त्याग देने की प्रवृत्ति अपना लेते हैं।

परिमाण सिद्धान्त में मुद्रा की चलन गति को ठीक से नहीं समझा गया। परिमाण विचारकों के अनुसार मुद्रा की चलन गति उस अनुपात पर निर्भर करती है जिसके आधार पर लोग अपने साधनों को मुद्रा के रूप में रखना चाहते हैं। यह समझ के बाहर है कि जब यह अनुपात बढ़ने लगता है तो बढ़ता ही क्यों चला जाता है तथा इसके विपरीत जब यह गिरने लगता है तो गिरता ही क्यों चला जाता है। परिमाण सिद्धान्त यह बतलाने में असमर्थ है कि इस प्रकार के परिवर्तन होते ही क्यों हैं। बचत एवं विनियोग सिद्धान्त इसका उत्तर है। जब बचत विनियोग से बढ़ जाते हैं, तो समुदाय अपनी वास्तविक आय के पहले से बड़े भाग को मुद्रा के रूप में रखने लगती है; जिसके फलस्वरूप चलन गति कम हो जाती है। इसी प्रकार जब बचत से विनियोग बढ़ जाते हैं, तो चलन गति बढ़ जाती है।

बचत-विनियोग सिद्धान्त कीमत स्तर पर परिवर्तन लाने वाले प्रत्येक कारणों की क्रमशः व्याख्या करता है। परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा के परिमाण का भी कीमत स्तर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, परन्तु वह अनेक परिवर्तनशील तत्वों (Variables) के बीच स्थापित सम्बन्ध को नहीं बतलाता। वास्तव में मुद्रा का परिमाण, लोगों की वास्तविक आय को मुद्रा में परिवर्तन करने का अनुपात, ब्याज की दर इत्यादि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन हो जाता है तो ब्याज की दर विनियोगों में भी परिवर्तन ला देंगे, यदि लोगों की वास्तविक आय को मुद्रा में परिवर्तित करने का अनुपात स्थिर रहता है। इस प्रकार बचत और विनियोग असंतुलित हो जायेंगे। आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन होने लगेंगे, जिसके साथ-साथ कीमतें भी परिवर्तित हो जायेंगी। इसी प्रकार का फल उस समय भी होगा, जब मुद्रा के परिमाण में बिना परिवर्तन लाये हुए लोगों की वास्तविक आय को मुद्रा के रूप में रखने की प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाये।

इन्हीं कारणों से मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक तथा भद्दे रूप में बेकार तथा भ्रमपूर्ण समझा जाता है।[1] कोई भी अर्थशास्त्री अब यह विश्वास नहीं करता कि सामान्य कीमत स्तर तथा मुद्रा के परिमाण में कोई निश्चित तथा

1. "In its old & crude form, the Quantity Theory is useless truism."

स्वयंचालित सम्बन्ध होता है।[1] आधुनिक विचार तो मुद्रा के परिमाण को कीमत स्तर के परिवर्तनों का परिणाम समझता है और कुल आयों, विनियोगों एवं बचत के सम्बन्ध में मुद्रा के मूल्य का निर्धारक मानता है।[2] फिर भी मौद्रिक विचार में परिमाण सिद्धान्त सत्य ही है। वह स्तर जिस पर बचत और विनियोग का संतुलन होता है स्वयं मुद्रा के वास्तविक परिमाण से निर्धारित होता है। कीमतें बिना किसी मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन किये हुए बढ़ सकती हैं परन्तु इसकी एक सीमा है। जब तक उस वृद्धि को मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि का सहारा नहीं मिलता तब तक एक सीमा के पश्चात् कीमतें नहीं बढ़ेंगी। अतएव मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त समुद्र की सतह के समान है और विनियोग तथा बचत सिद्धान्त उस सतह पर आने वाले ज्वार-भाटा के समान है। जिस प्रकार समुद्र की सतह सामान्य सतह को और उसमें होने वाला ज्वार-भाटा दिन प्रतिदिन होने वाले सतह की ऊँचाई के परिवर्तनों को बतलाती है, उसी प्रकार मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त कीमतों के सामान्य स्तर का सूचक होता है और विनियोग तथा बचत सिद्धान्त उसमें होने वाले दिन प्रतिदिन के उच्चावचनों को बतलाता है।[3] अतः परिमाण समीकरण सामान्य कीमत स्तर को निर्धारित करने वाले कारकों की एक उत्तम समीक्षा है।[4]

—:o⁀o:—

निर्देश पुस्तकें

G. N. Halm	—	Monetary Theory, Ch. II
G. Crowther	—	An Outline of Money, Ch. III & IV
D. H. Robertson	—	Money, Ch. II
J. M. Keynes	—	A Treatise on Money, Vol. 1, Chs. X & XIV
A. H. Hanson	—	Monetary Theory & Fiscal Policy, Chs. III, VI & IX
W.A.L. Coulborn	—	An Introduction to Money, Ch. VI
Roy and Mitra	—	A Tract on Money, Chs. III & IV

1. "......for no economists now holds that there is a fixed & automatic relationship between quantity of money and the price level."
2. "The modern tendency in economic thinking, indeed, is to discard old notion of the quantity of money as a causative factor in the state of business and a determinant of value of money and to regard it as a consequence "
3. "Quantity Theory of Money explains, as it were, the average level of the sea; the Savings and Investment Theory explains the voilence of the tides."
4. The quantity equations remain the most illuminating summary of the forces determining the general level of prices.

अध्याय ८

व्यापार चक्र

पिछले अध्याय में हमने मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तनों का अध्ययन, कीमतों के सामयिक उच्चावचनों को बिना ध्यान में रखते हुए, किया है। इस अध्याय में मुद्रा के मूल्यों के सामयिक उच्चावचनों के कारणों एवं प्रकृति का विश्लेषण किया जायगा। अतः इस अध्याय को मुद्रा के मूल्य के सिद्धान्त सम्बन्धी पिछले अध्यायों के साथ समन्वित ही समझना चाहिये।

पिछले कई सौ वर्षों में विश्व ने आर्थिक क्षेत्र में आशातीत उन्नति की है। इस उन्नति के अन्तर्गत उत्पादन एवं कीमतों के परिवर्तन मुख्य विशेषताएँ हैं। इन परिवर्तनों को चार 'प्रकारों' में बाँटा जा सकता है:—सामयिक उच्चावचन, दीर्घकालीन उच्चावचन, असामान्य उच्चावचन एवं चक्रीय उच्चावचन। **सामयिक उच्चावचनों** से हमारा आशय कीमतों के उस अस्थिरता से होता है जो उत्पादन में परिवर्तन हो जाने के कारण होता रहता है। ऐसा मुख्यतः कृषि उत्पादन के सम्बन्ध में होता है। **दीर्घकालीन उच्चावचनों** के अन्तर्गत कीमतों की प्रवृत्ति बढ़ने की या घटने की दृष्टिगत होती है। कीमतों में यह प्रवृति लगातार नहीं पाई जाती, परन्तु समयानुसार उच्चावचनों के कारण बन जाती है। कीमतों के **असामान्य परिवर्तन** युद्ध इत्यादि जैसी असामान्य स्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन स्फीतकारी एवं संकुचनकारी कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त कीमतों के परिवर्तन में **चक्रीय उच्चावचनों** का अंश भी होता है। प्रायः यह अनुभव किया जाता है कि कीमतों के वृद्धि एवं ह्रास के समय क्रम से आया करते हैं। इस अध्याय में हमारा उद्देश्य कीमतों के इन्हीं उच्चावचनों के अध्ययन से है जो एक निश्चित समय के अन्तर पर कीमतों की साधारण प्रवृत्ति को प्रभावित करते हैं।

व्यापार-चक्रों का अर्थ :

कीमतों के चक्रीय उच्चावचनों का तात्पर्य कीमतों के उन उतार चढ़ाव से होता है जो क्रम से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। इस प्रकार व्यापार में भी क्रम से समृद्धि एवं अवसाद की स्थितियाँ आती रहती हैं। यदि ध्यान से देखा जाय तो समृद्धि (Prosperity) की प्रत्येक अवस्था के पश्चात् अवसाद की दशायें तथा अवसाद-काल (Depression period) के बाद समृद्धि की दशायें आती रहती हैं। व्यापार एवं व्यवसायिक क्रियाओं का यह क्रमिक विकास, जो 'समृद्धि' एवं 'संकट' की स्थितियों

से प्रभावित होता है, व्यापार चक्र कहलाता है। समृद्धि की दशा में उत्पादन, राष्ट्रीय आय एवं रोजगार की दशाओं में वृद्धि होती है, परन्तु अवसादकाल में व्यापारी वर्ग के लिये संकट की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। समृद्धिकाल में प्रायः कीमतें बढ़ती हैं अथवा मुद्रा का मूल्य गिरता है, मुद्रा की मांग बढ़ती रहती है और लाभ की सम्भावनायें काफी रहती हैं। दूसरी ओर संकटकाल में कीमतें गिरने लग जाती हैं; रोजगार, वस्तुओं की माँग, उत्पादन आदि कम होने लगते हैं, जिससे साहसी वर्ग को अपने ऋणों का भुगतान करने में बड़ी कठिनाई महसूस होती है। जे. एस. मिल (J. S. Mill) ने ठीक ही कहा है कि, जब व्यवसायियों की भारी मात्रा अपने ऋणों के भुगतान करने में अपने को असमर्थ पाती है, तो ऐसी दशा को व्यवसायिक संकट की दशा कहते हैं। जब केवल व्यवसायिक वर्ग ऐसी परिस्थिति में होता है, तो 'व्यवसायिक संकट' और जब बैंक ऐसी दशा पर आ जाते हैं तो उसको 'वित्तीय संकट' कहते हैं।[1] इस प्रकार व्यापार चक्र किसी अर्थव्यवस्था में आर्थिक गतिविधि के वे नियमित उच्चावचन होते हैं जो प्रायः निश्चित अन्तर पर बार बार उत्पन्न होते हैं। मिकेल (Mitchell) के शब्दों में "व्यवसायिक चक्र व्यवसायिक समुदायों की आर्थिक क्रियाओं के उच्चावचनों के ही प्रकार होते हैं। 'व्यवसाय' शब्द से यह विचार उन क्रियाओं के उच्चावचनों तक सीमित हो जाता है जो व्यापार से सम्बन्धित होते हैं। 'चक्र' शब्द से अभिप्राय केवल उन्हीं परिवर्तनों से होता है, जो निश्चित समय के अन्तर्गत होते हैं।[2]

पुनः मिकेल ने यह भी स्पष्ट किया कि व्यापार के एक चक्र के अन्तर्गत कीमतों की वृद्धि एवं ह्रास अथवा ह्रास एवं वृद्धि के एक ही क्रम को सम्मिलित किया जाता है, परन्तु संकट की दशा के अन्तर्गत कम से कम ऐसे दो क्रमों को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार 'व्यापार चक्रों' से 'व्यवसायिक चक्रों' का क्षेत्र अधिक व्यापक होता है। हरबर्लर (Herberler) के अनुसार "आर्थिक व्यवस्था में तेजी के बाद मंदी एवं मंदी के बाद तेजी की जो दशायें, ज्वार-भाटे के समान आती रहती हैं, व्यापार चक्र कहलाते हैं।[3] इसी प्रकार कीन्स (Keynes) के शब्दों में

---

1. "There is said to be a commercial crisis when great number of merchants have or apprehend that they have a difficulty in meeting their engagements. It is a commercial crisis when only merchants are involved in difficulty. But when it is accentuated and tends to bank failures it is called financial crisis."

2. "Business cycles are species of fluctuations in the economic activities of organised communities. The adjective 'business' restricts the concept to fluctuations in activities which are systematically conducted on a commercial basis. The noun 'cycles' bars out fluctuations which do not recur with a measure of regularity." W.C. Mitchell—Business Cycles, Vol. I—p. 468

3. "In economic systems, the conditions of boom after depression and depression after boom, which come like waves of tides, are called trade cycles."

"एक व्यापार चक्र अच्छे व्यापारकाल, **जिसमें मूल्यों में वृद्धि एवं बेरोजगारी** में कमी होती रहती है, तथा खराब व्यापारकाल, जिसमें कीमतें गिरती एवं बेरोजगारी बढ़ती रहती है, को मिलाकर बनता है।[1] इसी प्रकार क्राउथर (Crwother) के विचार में "व्यापार चक्र प्राकृतिक घटना होती है, जिसमें उन्नति एवं अवसाद की तरंगें आवश्यक नियमितता की निरन्तर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती हैं।" अत: **व्यापार चक्र उन क्रियाओं के उत्थान एवं पतन की बार-बार की घटनायें होती हैं, जो उन समुदायों को प्रभावित करती हैं, जिनमें उच्चतम व्यवसायिक संगठन होता है।** निःसन्देह व्यापार चक्र की यह सबसे अच्छी परिभाषा है।

व्यापार चक्र की विशेषताएँ :

व्यापार चक्रों के पथ का अध्ययन करने से उनकी दो विशेषतायें अनुभव की जाती हैं: १–इसका चक्रात्मक रूप अर्थात् अवधिकता और, २–इसकी सामान्य प्रकृति अर्थात् समरूपता। प्राय: व्यापार चक्र एक निश्चित अवधि, लगभग ७ से ११ वर्ष, के उपरान्त प्रकट होते रहते हैं, यद्यपि इसके विषय में किसी निश्चित अवधि को नहीं बताया जा सकता है। इनकी गतियों की तुलना, बहुत कुछ, घड़ी के पेण्डु-से की जा सकती है। पेण्डुलम की गति एक दिशा में होने से विरुद्ध दिशा में उसकी गति का होना स्वाभाविक हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मंदी के उपरान्त तेजी तथा तेजी के बाद मंदी की दशाओं का आना स्वाभाविक होता है। व्यवसायी वर्ग यह पहिले से ही अनुमान लगा लेता है कि कब तेजी अथवा मंदी काल की दशायें उत्पन्न होंगी।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस सम्बन्ध में कुछ विचारकों का अनुमान है कि व्यापार चक्र अनिश्चित समय पर होते हैं तथा कभी ऐसा भी होता है कि एक व्यापार चक्र अनिश्चित काल तक चलता रहे अथवा थोड़े ही समय में हो जाय। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि आर्थिक संघर्ष की शक्तियाँ व्यापार चक्र की सामयिक प्रवृत्ति को विपरीत दिशा में बदल सकती हैं। युद्धकाल एवं अवसादकाल की प्रवृत्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है। साधारण शब्दों में व्यापार चक्र की गतियों को आर्थिक प्रयत्नों द्वारा केवल स्थिर ही नहीं अपितु विपरीत दिशा में भी किया जा सकता है।

व्यापार चक्रों की दूसरी विशेषता यह है कि यह आर्थिक क्षेत्र पर तेजी और मंदी प्रदर्शित करते हैं। 'व्यापार जगत' एक सम्पूर्ण आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करता है और उसके किसी एक भाग के प्रभावित होने पर सारा व्यापार प्रभावित हो जाता है। यदि किसी एक उद्योग में संकट की दशा उत्पन्न हो जाती है, तो उसका प्रभाव दूसरे

1. "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentages alternating with periods of low trade characterised by falling prices and high unemployment percentages."

उद्योगों में भी पड़ता है। एक उद्योग के बन्द होने पर दूसरे उद्योग भी बन्द होने लगते हैं। कभी-कभी तो यह प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय बन जाती है। उदाहरणार्थ, एक देश की आर्थिकोन्नति का प्रभाव दूसरे देशों में भी पड़ता है और सारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक साथ प्रभावित हो जाता है। व्यापार चक्रों के इस व्यापकता के गुण को ही समरूपता की दशा कहा जाता है।

व्यापार चक्र की विभिन्न स्थितियां (Phases of Trade Cycles) :

व्यापार चक्रों की विभिन्न स्थितियाँ होती हैं और एक स्थिति के बाद दूसरी स्थिति आती रहती है, जिससे स्थितियों की चक्रीय गति होती रहती है। साधारणतया एक व्यापार चक्र की चार स्थितियाँ होती हैं :—

१—मन्दी की स्थिति, जिसको अवनति की दशा कहते हैं;

२—उत्थान की स्थिति;

३—समृद्धि की स्थिति, जिसको विस्तार की दशा कहते हैं;

४—संकुचन की स्थिति।

इन स्थितियों के अध्ययन के लिये व्यापार चक्रों के पथ का अध्ययन करना पड़ेगा। व्यापार चक्र का विवेचन हम आरम्भ विन्दु 'मंदी की दशा' से करेंगे। यह वह दशा होती है, जब कि कीमतें बहुत कम होती हैं। व्यवसाय शिथिल हो जाते हैं और विनियोग की मात्रा बहुत कम होती है। ऐसी दशा में मुद्रा की क्रय शक्ति बहुत अधिक हो जाती है, परन्तु मजदूरी बहुत कम होती है तथा समाज में बहुत कम लोगों को रोज़गार की सुविधायें सुलभ होती हैं। स्वदेशी वस्तुओं का निर्यात कम हो जाता है। उत्पादन कम होने से व्याज की दर भी प्रभावित हो जाती है, क्योंकि बैंकों से ऋण लेना कोई लाभप्रद नहीं समझता। ऐसी दशाओं में व्यापारी वर्ग को निराशा अनुभव होती है। यह स्थिति कुछ समय तक तो रहती हे, परन्तु सदैव नहीं। थोड़े समय के बाद स्थिति में एकाएक परिवर्तन उत्पन्न होने लगते हैं। जैसे ही कीमतों, उत्पादन एवं रोज़गार में और कमी होना रुक जाता है, आशा की क्षीण रेखायें प्रकट होना शुरू हो जाता है और ऐसा अनुभव किया जाने लगता है कि मंदी की अत्यधिक गंभीर दशा समाप्त हो चुकी है। कीमतों के और अधिक स्थिर हो जाने पर, व्यापारी वर्ग को समृद्धि के दिनों के आने का आभास होने लगता है और इसलिये यह वर्ग जोखिम उठाने के लिये तैयार होने लगता है। उत्पादन के प्रत्येक साधन सस्ते होने के कारण, लाभ की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। लाभ के लालच में आकर वे साहसी, जिनके पास पर्याप्त पूँजी होती है, इस स्थिति का लाभ उठाने के लिये पूँजी का विनियोग करना आरम्भ कर देते हैं। यह विश्वास करके कि समृद्धि की दशायें आने वाली हैं और ऐसा न हो कि वे पिछड़ जायें अतः वे तुरन्त पुरानी मशीनों की

मरम्मत एवं नवीन साधनों की प्राप्ति के लिये आदेश देने लगते हैं। उनके यह आदेश बाजार में चहल-पहल मचा देते हैं और आशा की क्षीण रश्मियाँ अधिक उज्ज्वल बन जाती हैं। कीमतें बढ़ने लगती हैं और रोजगार में बढ़ने की प्रवृत्ति आ जाती है। एक बार उत्थान की दशा आ जाने से यह क्रम क्रमशः चलता रहता है। साहसी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये विनियोग की मात्रा बढ़ाता चला जाता है, जिससे रोजगार अधिक बढ़ता जाता है। लोगों की आय बढ़ती जाती है और वस्तुओं की माँग बढ़ती जाती है। व्यापारियों को लाभ होने लगते हैं, और वे बैंकों से और अधिक उधार माँगने लगते हैं। कीमतों के क्रमशः बढ़ने से लाभ की मात्रा बढ़ने लगती है व्यापारी विनियोग बढ़ाते जाते हैं। एक उद्योग का उत्थान दूसरे उद्योग को प्रोत्साहित करता है और इस प्रकार व्यापार की दशा बदल जाती है और उसमें मंदी के स्थान पर उत्थान अथवा उन्नति के लक्षण विद्यमान हो जाते हैं।

व्यवसायिक कार्यों के क्रमशः विस्तार होने पर, उत्थान की स्थिति समृद्धि काल में परिणत होती जाती है। धीरे-धीरे ब्याज की दर बढ़ने लगती है, रोज़गार की दशायें बढ़ने लगती हैं, व्यक्तिगत आय बढ़ने लगती है, वस्तुओं की माँग बढ़ने लगती है और कीमतें बढ़ने लगती हैं। सम्पूर्ण व्यवसायिक जगत में उन्नति की दशायें दिखलाई पड़ने लगती हैं। लोगों के आय एवं व्यय बढ़ जाते हैं तथा उनका जीवन स्तर ऊँचा हो जाता है। साहसी नई मशीनें लगा कर उत्पादन बढ़ाते हैं, नये-नये उद्योग प्रारम्भ हो जाते हैं। फुटकर व्यापारी लाभ उठाने के उद्देश्य से अधिक वस्तुएँ अपने पास इकट्ठी करने लगते हैं और इस प्रकार व्यवसायिक जगत में समृद्धि अथवा उन्नति की दशा आ जाती है। यहां पर यह उल्लेखनीय है कि उत्थान की दशा में उत्पादन, कीमतें, मजदूरियाँ बढ़ने लगती हैं। रोज़गार की दशायें सुलभ हो जाती हैं, परन्तु समृद्धि काल में कीमतें और मजदूरी की दरें अधिक तेज़ी से बढ़ने लगती हैं परन्तु रोज़गार की दशायें एवं उत्पादन की मात्रा स्थिर होने लगती है।

जिस प्रकार से मन्दी में आशा की झलक दृष्टिगोचर होने से उत्थान की दशायें आ जाती हैं, उसी प्रकार कुछ कारणों से समृद्धि काल में संकुचन की दशा स्वयं प्रारम्भ हो जाती है। समृद्धि काल की उच्चतम स्थिति पर उत्पादन के सभी साधनों का प्रयोग हो रहा होता है, अकुशल मजदूरों को अधिक मजदूरी पर रखना पड़ता है तथा ब्याज की दरें भी ऊँची रहती हैं। इनके फलस्वरूप उत्पादन लागत बढ़ता जाता है, यद्यपि कीमतें भी बढ़ती जाती हैं, पर लाभ की सम्भावनायें समाप्त होने लगती हैं। इससे उत्पादकों में निराशा पैदा होने लगती है। बैंक अधिक उधार देने में आनाकानी करने लगते हैं और साथ ही पुराने ऋणों को भी वापस मांगने लगते हैं। उत्पादक वर्ग भी धैर्यहीन होने लगता है और अपने ऋणों के भुगतान करने के अभिप्राय से व्यवसाय में छंटनी करना प्रारम्भ कर देता है। बेरोज़गारी

बढ़ने लगती है, लोगों की क्रयशक्ति कम होने लगती है और धीरे-धीरे मन्दी के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते हैं। व्यवसाय में चारों ओर से अंधकार बढ़ने लगता है और उद्योग दिवालिये होने लगते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापार चक्र का पथ प्राकृतिक होता है, जिसके अन्तर्गत एक स्थिति स्वयं ही दूसरी स्थिति को जन्म देती है। अतः समृद्धि के उपरांत मन्दी और मन्दी के उपरांत समृद्धि का चक्र चलता रहता है। साधारणतया व्यापार चक्र को, ऊपर दिये हुए विश्लेषण के आधार पर, चार मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। मन्दी की स्थिति, उत्थान, समृद्धि की दशा और संकुचन। फिर भी लार्ड ओवर स्टोन ने व्यापार चक्र को अनेक भागों में बाँट कर इसकी गति को इस प्रकार बतलाया है: स्थिरता का समय—उन्नति—विश्वास काल में वृद्धि—उत्तेजना—अत्यधिक व्यापार—ऐंठन—दबाव—निराशा—मन्दी और अन्त में पुनः स्थिरता।

व्यापार चक्रों का पथ प्राकृतिक होने के कारण ऐसा विचार किया जाने लगता है कि इसका रोकना कठिन अथवा असंभव होता है। जिस प्रकार मनुष्य के दाँतों के गिरने के प्राकृतिक एवं मौलिक नियम ने दंत-विद्या के विकास को नहीं रोका है अथवा जिस प्रकार पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ने इंजीनियरों को हवाई जहाज बनाने से नहीं रोका इसी प्रकार आर्थिक विचारकों ने व्यापार चक्र के कारणों का विश्लेषण किया है और उन उपायों को खोजने की चेष्टा की है, जिनसे इसकी गति-विधि को रोका जा सकता है।

व्यापार चक्र के सिद्धान्त (Theories of Trade Cycles)

व्यापार चक्र पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की मुख्य विशेषता है। इन्हीं कारणों से अर्थव्यवस्था में निश्चित रूप से कष्ट, अस्तव्यस्तता एवं दिवालियापन की दशायें उत्पन्न होती रहती हैं। इस सम्बन्ध में बहुत से ऐतिहासिक, सांख्यकीय एवं सैद्धांतिक अध्ययन किये गये हैं, जिनसे यह पता चलता है कि व्यापार चक्रों के पथ पर मौद्रिक एवं अमौद्रिक कारणों का प्रभाव पड़ता है। विश्व के प्रमुख अर्थशास्त्रियों, जैसे कीन्स, हेयक, राबर्टसन, हरबर्लर, मिकेल, शम्पीटर, हाट्रे, टिनवर्गन एवं कलेकी इत्यादि ने इनके अनेक कारणों का उल्लेख करते हुए विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इन सिद्धांतों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है: (१) अमौद्रिक एवं (२) मौद्रिक सिद्धान्त।

व्यापार चक्र के अमौद्रिक (Non-monetary) सिद्धान्त :

(१) **जलवायु सिद्धान्त (Climate Theory)** : इस विचार के समर्थकों के अनुसार जलवायु में सामयिक परिवर्तन होने पर ही व्यापार चक्र उत्पन्न होते हैं। जलवायु फसलों या कच्चे माल के उत्पादन को प्रभावित करती है, जिससे व्यापार

भी प्रभावित हो जाता है। अच्छी फसल के कुछ समय बाद, खराब फसल का समय आने के कारण समृद्धि एवं अवसाद की स्थितियों का आवागमन होता रहता है। अतः यह विचार इस तथ्य अथवा मान्यता पर आधारित है कि जलवायु में चक्रीय परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरणार्थ भारत में यह अनुभव किया जाता है कि पाँच साल में एक साल अच्छा रहता है। यहां पर मानसून की अच्छी एवं खराब स्थितियाँ एक क्रम से आती रहती हैं, जिनका प्रभाव—फसलों पर और फसलों का प्रभाव कच्चे माल पर, उसकी पूर्ति के द्वारा उद्योगों पर पड़ता है।

इस संदर्भ में जेवन्स का "सूर्य के धब्बों का सिद्धाँत (Sun Spot Theory) अधिक प्रचलित है। जेवन्स के अनुसार आर्थिक उच्चावचनों का कारण सूर्य के धब्बे होते हैं, जो चक्रीय रूप से क्रमशः प्रकट होते रहते हैं और जलवायु को प्रभावित करते रहते हैं। सूर्य के धब्बों की स्पष्टता के आधार पर पृथ्वी को मिलने वाली गर्मी में परिवर्तन हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप वर्षा के वितरण में भी परिवर्तन हो जाते हैं। वर्षा में इस चक्रीय परिवर्तनों से ही कृषि उत्पादन में परिवर्तन हो जाते हैं, इससे कृषकों की क्रय शक्ति में परिवर्तन हो जाते हैं और समृद्धि एवं अवसाद की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रो० मूर ने भी एक इसी प्रकार के सिद्धाँत का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार व्यापार चक्र का कारण शुक्र ग्रह के प्रभावों से उत्पन्न ऋतुओं की दशायें होती हैं। शुक्र ग्रह के परिवर्तन पर आधारित यह सिद्धांत जेवन्स के सूर्य के धब्बों पर आधारित सिद्धाँत से भिन्न है, यद्यपि दोनों में मूल विचार समान प्रतीत होता है।

फिर भी निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि केवल मौसम एवं वर्षा में परिवर्तन ही व्यापार चक्र के कारण होते हैं। ऐसा देखा गया है कि सदैव व्यापार चक्रों में परिवर्तन मौसम में होने वाले परिवर्तनों के साथ नहीं होते। इसके अतिरिक्त फसलों के उत्पादन में होने वाले परिवर्तन आर्थिक व्यवस्था में स्पष्ट रूप से दिखलाई नहीं पड़ते। इसके साथ ही एक अच्छी फसल हमेशा समृद्धि की दशायें नहीं उत्पन्न, करती क्योंकि मूल्य निर्धारण में उसी भाग का महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। इन कारणों से जेवन्स के सिद्धांत का केवल सैद्धांतिक महत्व ही रह गया है। सिद्धांत के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जलवायु की भिन्नताएँ उन अनेक कारणों में से एक हैं जो व्यापार चक्रों को प्रभावित करते हैं।

(२) अधि-उत्पादन या प्रतियोगिता सिद्धान्त (Over production or Competition Theory) :

इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में प्रतियोगिता

दो प्रकार से व्यापार चक्रों को जन्म देती है । प्रथम तो यह प्रतियोगिता अत्यधिक उत्पादन को जन्म देती है [जिसको चैपमैन (Chapman) 'अनुलोम अवस्था' (Positive Stage) कहते हैं] तथा द्वितीय इसके कारण लागत में वृद्धि होने लगती है [जिसको 'चैपमैन' विलोम अवस्था (Ne: ative Stage) कहते हैं] । पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादन उपभोक्ताओं की क्रयशक्ति (मांग) की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है । कीमतों में तनिक वृद्धि लाभ की सम्भावनाओं में वृद्धि कर देती है तथा उत्पादक और लाभ कमाने की लालसा से उत्पादन की मात्रा बढ़ाते जाते हैं । उनके साथ नये उत्पादक भी उत्पादन क्षेत्र में प्रवेश करते हैं । परिणाम यह होता है कि एक अवधि के बाद उत्पादन की मात्रा उसकी बाजार में मांग से अधिक हो जाती है और कीमतें गिरने को हो जाती हैं । उत्पादन वृद्धि के साथ उत्पादन व्यय भी बढ़ने लगता है । उत्पादन के साधनों की माँग में अत्यधिक वृद्धि के कारण उनकी मजदूरी की दर भी बढ़ जाती है । अधि-सीमांत इकाई सीमांत इकाई का स्थान ग्रहण कर लेती है, जिससे उत्पादन व्यय में बढ़ने एवं लाभ की सम्भावनाओं में घटने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है । अन्ततः उत्पादन व्यय एवं कीमतें समान हो जाती हैं । लाभ विलीन हो जाते हैं । इन दुष्परिणामों के कारण सीमांत फर्में (उत्पादन इकाइयाँ) उत्पादन कार्य समाप्त कर देती हैं, जिससे उत्पादन कम हो जाता है । कच्चे माल तथा उत्पादन के अन्य साधनों की माँग कम हो जाती है, जिससे कीमतें गिरने लगती हैं । कुछ समय पश्चात् उत्पादन व्यय घटने लगता है जिसका परिणाम यह होता है, कि लाभ फिर मिलने लगते हैं और व्यवसाय में तेजी आने लगती है । इस प्रकार मन्दी के बाद तेजी और तेजी के बाद मन्दी की दशायें प्रतियोगिता के कारण आती हैं । चैपमैन (Chapman) के शब्दों में "अनुलोम शक्तियाँ उत्पादन को उसी प्रकार बढ़ा देती हैं, जिस प्रकार हवा समुद्र के जल को ऊपर उठा देती है तथा विलोम शक्तियाँ इसको उसी प्रकार कम कर देती हैं जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण शक्ति समुद्र के ऊपर प्रभावित हवा के बल को कम कर देती है । इनके परिणामस्वरूप ही हमें आर्थिक जगत में अच्छे तथा बुरे समय की लहरें समुद्र की लहरों के समान मिलती हैं ।"[1]

यह सिद्धाँत भी दोष से परे नहीं है तथा इसकी अनेक आलोचनाएँ की गई हैं । सर्वप्रथम, यह सिद्धांत मंदी एवं तेजी की दशाओं को तो बतलाता है, पर उनके चक्रीय प्रकृति को स्पष्ट नहीं करता जो व्यापार चक्रों की मुख्य विशेषता होती है । अर्थात् इस सिद्धाँत से यह नहीं पता चलता कि इन परिवर्तनों के नियमितता का

1. "The positive forces raise the output as the wind raises the waters of the sea whi'e the negative depress it as gr. vitation contracts the effects of the wind on the sea; so that in the economic sphere we have waves of good & bad time like the waves of the sea."

क्या कारण है ? दूसरे, इस सिद्धाँत से यह व्यक्त नहीं होता कि व्यापार चक्र सामान्य अधि-उत्पादन अथवा विशेष अधि-उत्पादन से प्रभावित होता है। सामान्य विश्लेषण के लिये इन दोनों में अन्तर प्रकट करना आवश्यक है । अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवसाद की निकृष्ट स्थिति में सामान्य रूप से अधि-उत्पादन नहीं होता तथा अधि-उत्पादन की दशा अवसाद की प्रकृति का कारण नहीं होती। अन्त में, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों का उत्पादन स्वतंत्र रूप से होता है, जिससे असंतुलित अर्थव्यवस्था के समय उत्पादन की व्यक्तिगत (एवं स्वतंत्र) इकाई सारे उद्योगों को प्रभावित नहीं कर सकती और न उनका निराकरण कर सकती है। सिद्धांत यह व्यक्त करने में असमर्थ है कि एक उद्योग में होने वाला अधिक उत्पादन दूसरे उद्योग में होने वाले कम उत्पादन को क्यों पूरा नहीं कर देता।

(३) **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त** (Psychological Theory) :

प्रो० पीगू (Pigou) और उनके कुछ अनुयायियों का विश्वास था कि व्यापार चक्र मानवीय मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक स्थितियों के कारण उत्पन्न होते हैं। आशावाद एवं निराशावाद की मनोवैज्ञानिक तरंगें, जो आशा एवं निराशा पर आधारित होती हैं, विनियोगों को उत्साहित एवं हतोत्साहित करती हैं । आधुनिक उद्योगों में कीमतें, उत्पादन व्यय, लाभ की मात्रा इत्यादि, जिनसे प्रभावित होकर उत्पादक उत्पादन कार्य वर्तमान समय के साधनों द्वारा निर्धारित न करके, भविष्य की परिस्थितियों (भविष्य की आशाओं) के अनुसार निर्धारित करता है। यह निर्णय उत्पादकों के आशा एवं निराशा की अवस्थाओं से प्रभावित उनकी मनोवृत्ति द्वारा होते हैं । इस प्रकार पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में व्यापारियों का व्यवसायिक मनोविज्ञान ही देश के आर्थिक जीवन में समृद्धि एवं अवसाद की स्थितियों को चक्रीय रूप में जन्म देता है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में काफी सत्यता का अंश है । हाट्रे (Hawtrey) के विचारानुसार आशावाद तथा निराशावाद, जिनसे व्यापारिक चक्र उत्पन्न होते हैं, पूर्ण रूपेण बैंकों की नीति पर आधारित होते हैं। अधिक विनि-योग तथा कम उपभोग की प्रवृत्ति भी भविष्य के बाजार की मांगों के गलत अनुमानों के कारण उत्पन्न होती है। फिर भी सिद्धांत यह नहीं बताता कि आशावाद तथा निराशावाद की भावना एक निश्चित समय के बाद ही क्यों आती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत इस बात को भी स्पष्ट नहीं करता कि आशावाद तथा निराशावाद की भावनायें किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। अतः केवल यह कहा जा सकता है कि व्यापार चक्रों को प्रभावित करने में मनोवैज्ञानिक कारकों का कुछ अंश होता है, यद्यपि यह प्रभाव बहुत न्यून होता है।

४–स्वतः उत्पत्ति का सिद्धांत (Self Generation Theory) :

इस सिद्धांत के प्रतिपादक मिकेल (Mitchell) के अनुसार व्यापार चक्रों का कारण पूंजीवादी प्रणाली में ही निहित होता है। पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था के अन्तर्गत, १-बहुत बड़ी मात्रा में पूंजी लगी रहती है; २-आर्थिक क्रियाओं के क्षेत्र में (अन्तिम उपभोक्ता एवं उत्पादकों के बीच में) बहुत से मध्यस्थ होते हैं; ३-साख का अत्यधिक विस्तार होता है; ४-आर्थिक शक्तियों (मांग और पूर्ति) के परिवर्तन के कारण पुनः समायोजन बहुत कठिन होता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण व्यापार चक्र एक अवस्था से दूसरी अवस्था में अपने आप आगे पीछे आता जाता है। चलन-मुद्रा की मात्रा बढ़ जाने से कीमतें बढ़ने लगती हैं, मध्यस्थ वस्तुओं का स्टाक (संचय) करना प्रारम्भ कर देते हैं। समय की कमी के कारण मांग और पूर्ति में सामंजस्य नहीं हो पाता तथा कीमतों की वृद्धि से लाभ की सम्भावनायें बढ़ने लगती है; जिसके फलस्वरूप उत्पादक अपने व्यवसाय में विस्तार करने लगते हैं । रोजगार के अवसर बढ़ने लगते हैं; जिसके कारण व्याज की दर भी बढ़ने लगती है। जब सारे साधनों का प्रयोग होने लगता है और बैंकों के कोष न्यूनतम सीमा तक पहुंच जाते हैं उत्पादन लागत बढ़ने लगती है, जिसके कारण लाभ कम होने लगते है। रोजगार और साधनों की माँग में कमी आ जाती है। परिणाम स्वरूप उत्पादन का क्षेत्र संकुचित होने लगता है जिससे सामान्य आय (सभी प्रकार की आय) कम होने लगती है। इसका प्रभाव फुटकर बाजार की मांग पर पड़ता है और पुनः मन्दी की दशाऐं आ जाती हैं।

इस सिद्धांत का महत्व इस बात के लिये तो है कि यह व्यापार के चक्रीय परिवर्तन का विश्लेषण आर्थिक प्रणाली में स्वतः खोज लेता है और दूसरे कारकों की सहायता नहीं लेता, परन्तु इसका यह स्पष्टीकरण पूर्ण सत्य नहीं है । "अर्थव्यवस्था एक सदैव चलने वाले यन्त्र के समान नहीं होती है, क्योंकि कोई भी मशीन घड़ी के समान, अनिश्चित समय तक अपनी प्रारम्भिक शक्ति से ही चालू नहीं रह सकती जब तक उसमें बार-बार शक्ति का संचार न किया जाय।"[1]

५—अधिक बचत तथा कम उपभोग का सिद्धांत (Over Saving and under Consumption Theory)

व्यापार चक्रों का यह सिद्धान्त भी काफी प्राचीन है तथा इसके प्रतिपादकों

1. "····this theory likens the economic mechanisms to a perpetual motion machine. As no machine will run indefinitely on the power which originally sets it into motion, unless like a clock, it is periodically rewound, it will run down because of friction. The cycles of the economic machine like the revolutions of clock would become successively weaker if no fresh facts are imported to them." B. W. Knight—Economic Principles in Practice—p. 412

में लाडरडेल (Lauderdale), माल्थस (Malthus) तथा सिसमांडी (Sismondi) के नाम स्मरणीय हैं। किन्तु इसकी आधुनिक व्याख्या का श्रेय इंगलैंड के अर्थशास्त्री हाब्सन (Hobson) को है और इसीलिये इन्हीं के नाम से यह सिद्धांत विख्यात है। हाब्सन (Hobson) के अनुसार आय की असमानताओं के कारण ही समाज में अधिक बचत तथा कम उपभोग की स्थिति आ जाती है, जिससे व्यापार चक्र की दशायें उत्पन्न होती हैं। धन के असमान वितरण के कारण एक ओर धनी वर्ग अपनी सारी आय को खर्च नहीं करते तथा उसको बचाते रहते हैं और विनियोगों के रूप में उत्पादन कार्यों में लगाते रहते हैं। इससे उत्पादन तो अधिक होता जाता है, परन्तु साथ ही साथ उसकी लागत बढ़ जाने के कारण कीमतें बढ़ती जाती हैं। दूसरी ओर अन्य वर्ग के पास इतनी क्रय शक्ति नहीं होती कि जिससे वह अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। इसका परिणाम यह होता है कि जनता सारी पूर्ति को खरीद नहीं पाती तथा मन्दी की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मूल्य के कम हो जाने पर उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा खरीद ली जाती है क्योंकि उपभोक्ताओं की कुल क्रय शक्ति उत्पादन के मूल्य के बराबर होने लगती है, परन्तु इसके पश्चात् विनियोग पुनः आरम्भ हो जाते हैं। उत्पादन बढ़ने लगता है और तेजी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार व्यापार चक्र के अन्तर्गत तेजी व मन्दी की दशायें आय की असमानताओं के कारण ही उत्पन्न होती हैं। यह तभी समाप्त हो सकते हैं जब कि उपभोक्ताओं की कुल क्रय शक्ति उत्पादन की राशि के कुल मूल्य के बराबर हो जाय।

यद्यपि इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों में विख्यात अर्थ शास्त्रियों के नाम स्मरणीय हैं, फिर भी व्यापार चक्र का यह सिद्धाँत वैज्ञानिक दृष्टिकोण में पूर्णरूप से सही नहीं है। निःसन्देह इस विचार से हम केवल व्यवसायिक मन्दी की दशाओं को ही समझ सकते हैं। हाब्सन का यह अनुमान कि धनी वर्ग लगातार बचत और विनियोग करता रहता है, वास्तविकता में सहीं नहीं है। यह वर्ग भी आय के बढ़ जाने के कारण आवश्यकतानुसार वस्तुओं की मांग बढ़ा कर अधिक व्यय करने लगता है। इसके अतिरिक्त जब बचत अधिक हो जाते हैं तो ब्याज की दर कम हो जाना चाहिये जिससे उत्पादन लागत भी कम हो जाना चाहिए। फिर भी हाब्सन ने इस प्रकार का कोई भी तर्क प्रस्तुत नहीं किया। इसके अतिरिक्त बचत द्वारा विनियोग बढ़ जाने से क्रय शक्ति एक वर्ग से हट कर दूसरे वर्ग को चली जाती है और वस्तुओं की मांग में कोई वास्तविक कमी नहीं होती। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि यह सिद्धांत व्यापार चक्रों के चक्रात्मक गुण तथा व्यापकता के सम्बन्ध में भी मौन है। अतएव हरबर्लर ने ठीक ही कहा है "कि यह सिद्धान्त मन्दी काल एवं संकट की दशा का सिद्धान्त है, न कि व्यापार चक्रों का।"

व्यापार चक्र के मौद्रिक सिद्धांत (Monetary Theories of Trade Cycle)

व्यापार चक्रों के ऊपर उल्लेख किये गये सिद्धांत यह बतलाते हैं कि अनेक अमौद्रिक कारणों से व्यापार चक्रों की विभिन्न दशायें उत्पन्न होती हैं; परन्तु दूसरी ओर ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो यह बतलाते हैं कि व्यापार चक्रों के मुख्य कारण मौद्रिक एवं वित्तीय तत्व होते हैं। यद्यपि ये सिद्धांत एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी इन सिद्धान्तों द्वारा यह पता चलता है, जिसको हाट्रे के शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है, कि 'व्यापार चक्र एक मौद्रिक घटना होती है'। परन्तु इस विचार के मानने वाले लोगों में एक ओर तो कुछ ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो 'व्याज की दरों' को ही व्यापार चक्रों का कारण बतलाते हैं और दूसरी ओर ऐसे अर्थशास्त्री हैं, जिनके अनुसार आय का व्यय, बचत, एवं विनियोग से सम्बन्ध ही व्यापार चक्रों का मूल कारण होता है। इन वर्गों के बीच भी अर्थशास्त्रियों के विचार एक दूसरे से अलग हैं। मूल विचार के दृष्टिकोणों को समझने के लिये हम हाट्रे, राबर्टसन, हेक तथा कीन्स द्वारा प्रतिपादित अनेक सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे।

१—हाट्रे (Hawtrey) का सिद्धांत :

प्रो० आर० जी० हाट्रे ने व्यापार चक्रों के अनेक अवस्थाओं का कारण मुद्रा के वितरण के परिवर्तनों—मौद्रिक तत्व—को ही माना है। उनके विचारानुसार अमौद्रिक तत्व जैसे युद्ध, भूचाल, हड़तालें इत्यादि ऐसे कारण हैं जो अर्थव्यवस्था के किसी विशिष्ट क्षेत्र में व्यापार चक्र के आंशिक एवं अस्थाई अवस्थाओं को ही उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु इनके द्वारा हम सामान्य समृद्धि एवं अवसाद की स्थितियों के विषय में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। उनका विचार था कि मुद्रा की गति में होने वाले परिवर्तन ही विकास एवं अवसाद की वैकल्पिक अवस्थाओं को एक मात्र उत्तरदायी हैं।

हाट्रे ने अपने सिद्धान्त द्वारा वस्तुओं की 'सामान्य मांग' का विश्लेषण किया क्योंकि उनका अनुमान था कि वस्तुओं की 'साधारण मांग' के परिवर्तनों के कारण व्यवसायिक क्रियाओं में चक्रीय गति होने लगती है। सामान्य मांग को बतलाने के लिये उन्होंने समाज को तीन भागों में बाँटा—उपभोक्ता वर्ग, व्यवसायी वर्ग, एवं बैंक। उपभोक्ता अपनी आय वस्तुओं के उपभोग में व्यय करते हैं। व्यापारी वर्ग भी अपनी आय को व्यय करते हैं, परन्तु वे अपनी आय का व्यय उन वस्तुओं को क्रय करने में करते हैं जिनकी बाजारों में माँग होती है। इसी प्रकार बैंकों को भी आय निक्षेपों के रूप में प्राप्त होती है, जिसके आधार पर वे व्यय करते हैं अथवा ऋण देते हैं। इस प्रकार यह तीनों वर्ग नकदी रूप में आय प्राप्त करते हैं और

उसको फिर अपने पास से दूसरों को पहुंचा देते हैं। उनकी आय और उनके व्यय के बीच जो शेष रह जाता है, उसका मुद्रा की पूर्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उपभोक्ताओं के पास यह शेष उनकी कुल आय के एक अनुपात में ही रहता है, जो तब तक नहीं बदलता जब तक कि मुद्रा की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। इसी प्रकार व्यवसायियों के भी शेष स्थिर रहते हैं जब तक कि मुद्रा की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता; पर बैंकों की स्थिति भिन्न होती है। एक ओर तो उपभोक्ताओं और व्यवसायियों की बचतों को वे जमा करते हैं और दूसरी ओर उनको यह ऋण के रूप में दे भी देते हैं। जब तक बैंकों द्वारा जमा किए गये निक्षेप दिये गये ऋणों की मात्रा के बराबर होते हैं, कोई विशेष स्थिति उत्पन्न नहीं होती। परन्तु जैसे ही बैंक साख का निर्माण करने लगते हैं, उसका परिणाम महत्वपूर्ण होने लगता है। जब एक उपभोक्ता दूसरे उपभोक्ता से ऋण लेता है तो समाज पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि एक व्यक्ति के व्यय की कमी को दूसरा व्यक्ति पूरा कर देता है, परन्तु जब साख मुद्रा के आधार पर व्यवसायी बैंकों से ऋण लेते हैं तो उनको उन वस्तुओं के भुगतान में दे दिया जाता है जिनको वे उत्पादकों से खरीदते हैं। उसी बढ़ी हुई आय को उत्पादक उत्पादन के साधनों के बीच वितरित कर उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि कर देते हैं। इस आय की वृद्धि से वस्तुओं की साधारण मांग बढ़ जाती है और उत्थान की दशा प्रारम्भ हो जाती है।

माँग की वृद्धि से उत्पादन बढ़ता है और उत्पादन के बढ़ने से निर्मित साख, उपभोक्ताओं की आय, वस्तुओं की मांग और कीमतें बढ़ती जाती हैं। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि बैंक साख का निर्माण करती हैं एवं व्यवसायियों को उधार देती रहती हैं। परन्तु साख निर्माण की एक सीमा होती है, जो प्रायः उनके नकद कोषों पर निर्भर करती है। जब इस सीमा तक साख निर्माण हो जाता है तो बैंक और अधिक ऋण देना रोक देते हैं, जिसके लिये प्रायः उन्हें ब्याज की दर ऊँची करनी पड़ती है। ऐसे समय समृद्धि की दशा का अन्त हो जाता है और संकट की दशा प्रारम्भ हो जाती है। बैंक अपने ऋणों को वापस माँगने लगते हैं तथा व्यवसायी अपने ऋणों के भुगतान के लिये अपने माल को बेचने लगते हैं। तरलता वरीयता (मुद्रा पसन्दगी) की साधारण इच्छा अवसाद की दशायें उत्पन्न कर देती हैं। सीमान्त संस्थायें असफल होने लगती हैं। साथ में उनको भी असफल कर देती हैं जिनका भुगतान वे नहीं कर पातीं। यह दशा क्रमशः उस समय तक चलती रहती है जब तक कि बैंक यह अनुभव नहीं कर लेती कि उनके पास केवल निक्षेप ही हैं और ब्याज की दर घटा कर वे ऋणों का देना प्रारम्भ नहीं कर देतीं।

अतः अवसाद का मुख्य कारण बैंकों द्वारा ऋणों का न देना होता है; जिससे व्यवसायियों को वित्तीय सहायता नहीं मिल पाती। हाट्रे के विचार में एक अन्य कारण

भी आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं परन्तु वे उसके कारण नहीं होते। इस प्रकार व्याज की दर ही 'सामान्य माँग' को प्रभावित करती है जिसके कारण व्यापार चक्र की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं।

(१) हाट्रे के विचार की आलोचना :

हाट्रे (Hawtrey) के इस विचार में भी कुछ कमी है, निःसन्देह व्यापारिक क्षेत्र में बैंकों का बड़ा महत्व होता है, परन्तु बैंकों की ऋण नीति व्यापार चक्रों को जन्म नहीं देती। साख के अत्यधिक विस्तार से सम्पन्नता और उसके संकुचन से मंदी की दशाओं में वृद्धि होती है, किन्तु उन दशाओं का उद्‌गम बैंकों द्वारा नहीं होता है। इसके अतिरिक्त वित्त व्यवसाय की कला में परिवर्तन होते रहने से लगभग सभी फर्में अपने लाभों को प्रायः विनियोगों में लगाती रहती हैं जिससे साख का विस्तार अथवा संकुचन उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना कि हाट्रे ने समझा था। हाट्रे के अनुसार यदि बैंक अपनी दृष्टि केवल प्रचलन में आने वाली मुद्रा तथा विनिमय माध्यमों के प्रवाह को नियमित करने में ही केन्द्रित करें और अपना ध्यान ऋणों को केवल सुरक्षित कोषों के अनुसार बनाये रखने की ओर न दें तो व्यापार चक्रों की समस्या दूर हो सकती है, किन्तु जैसा कि कींस ने कहा है, यदि बैंक ऐसा करने भी लगे तो भी समस्या दूर न होगी, क्योंकि पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति ही आर्थिक क्रियाओं की प्रत्येक अवस्था की जननी होती है।

(२) हेक (Hayek) का सिद्धान्त :

हेक ने हाट्रे के सिद्धान्त के आधार पर ही अपना विचार प्रस्तुत किया है; परन्तु उन्होंने यह बतलाने के लिये व्याज की दरों में परिवर्तन किस प्रकार व्यापार चक्र की दशायें उत्पन्न करते हैं, विक्सेल (Wickell) द्वारा बतलाये हुए बाजारू तथा प्राकृतिक व्याज की दरों के विचारों को प्रयोग किया है। डा० हेक के अनुसार व्यापार चक्र की अवस्थायें मुख्य रूप से व्याज की प्राकृतिक दर से नीची दर पर साख की अत्यधिक निकासी के कारण उत्पन्न होती हैं। व्याज की प्राकृतिक दर पर बचत और विनियोग बराबर होते हैं, परन्तु व्याज की बाजारू तथा प्राकृतिक दर में अन्तर आधुनिक मुद्रा तथा साख प्रणाली की लोच के ही परिणाम हैं। मुद्रा प्रसार एवं संकुचन द्वारा समृद्धि एवं मन्दी की दशायें आती रहती हैं। हेक के अनुसार व्यवसाय में उस समय किसी भी प्रकार का चक्रीय परिवर्तन नहीं होता जब बैंक साख का निर्माण नहीं करते और समाज की सारी विनियोग पूंजी बचतों की मात्रा के बराबर होती है। यदि व्याज की दर कम करके उत्पादकों को ऋण देकर व्यवसाय के लिये प्रोत्साहित किया जाता है तो निर्मित मुद्रा के आधार पर उत्पादक उत्पादन के साधनों की अधिक मांग करने लगते हैं। साहसी ऐसा इसलिये करते हैं कि उनको अधिक लाभों

हेक के विचार की आलोचना :—डा० हेक के विचार की भी आलोचना अनेक अवलम्बों पर की जाती है। सर्व प्रथम उनके अनुसार बचत और विनियोग में साधारणतया सन्तुलन बना रहता है और यह सन्तुलन बैंकों की नीति द्वारा भंग होता है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता जैसा कि अग्र सिद्धान्त परिचायक होगा। दूसरे हेक का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पत्ति के साधन पूर्णरूप से प्रयोग होते हैं तथा बैंक की नीति के प्रभाव से यह साधन एक क्षेत्र से हट कर दूसरे क्षेत्र में लगाये जाते हैं। किन्तु वास्तविक जीवन में साधन कभी भी पूर्णरूप से कार्य में नहीं लगे होते। तीसरे, साधारणतया जब उपभोग की वस्तुओं की माँग बढ़ती है तब इन वस्तुओं को बनाने वाली मशीनें इत्यादि की मात्रा भी बढ़ने लगती है। इसलिये यह आवश्यक है कि दोनों प्रकार की वस्तुओं (उपभोग एवं उत्पत्ति) को उत्पादित करने वाले उद्योगों में एक साथ माँग भी बढ़ने लगती है। इस सिद्धांत में जैसा बतलाया गया है वास्तव में ऐसा नहीं होता। चौथे, इस सिद्धांत से ऐसा विदित होता है कि बैंकों के उधार देने की आदत से सदैव हानि होती है जोकि सही नहीं है। अन्त में, हेक का सिद्धांत यह नहीं बतलाता कि व्यापार चक्र बहुत कुछ नियत समय पर ही क्यों प्रकट हुआ करते हैं, जो व्यापार चक्रों की मुख्य विशेषता होती है।

राबर्टसन (Robertson) **का सिद्धान्त :**

हाट्रे की भाँति राबर्टसन ने भी बैंकिंग प्रणाली को व्यापार चक्रों की अनेक अवस्थाओं का कारण बतलाया। यद्यपि इसके लिये उन्होंने दूसरे प्रकार के तर्क का सहारा लिया। उनका विचार था कि मुख्यरूप से व्यवसायिक चक्र बैंकिंग प्रणाली एवं पूँजी निर्माण की पद्धति की जटिलता के कारण उत्पन्न होते हैं। इस सन्दर्भ में राबर्टसन का यह भी विचार था कि कृषि उद्योग पर निर्माण उद्योग आधारित होते हैं, जिसके कारण परिवर्तनों में व्यापकता का गुण आ जाता है। उनके अनुसार उत्थान की अवस्था उस समय प्रारम्भ हो जाती है, जब बैंक अल्पकालिक ऋणों के लिये 'दोहरी मांग के आधीनकृत होने लगते हैं। ऐसा इसलिये होने लगता है क्योंकि (१) अच्छी कृषि उत्पादन के कारण उत्पादक अल्पकालिक ऋण की मांग करने लगते हैं और (२) व्यवसायी भी, जो व्यवसाय के विस्तार के लिये प्रोत्साहित होने लगते हैं, अल्पकालिक ऋण की मांग करने लगते हैं। वित्तीय मांग की ऐसी दशा को बैंक तभी पूरा कर पाती है जब बढ़ती कीमतों द्वारा जनता की बचतों को बढ़ाने के लिये साख-मुद्रा का सृजन करके बिना उत्पादन में वृद्धि किये कीमतों को बढ़ाती है। साधारणतया कीमतों की वृद्धि में समय बिलम्ब (time leg) होता है। अत: ऋणों की अल्पकालिक दोहरी मांगों को पूरा करने के लिये बैंक साख का प्रसार करने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप क्रमश: कीमतें, उत्पादन आय एवं उपभोग बढ़ते जाते हैं। फिर धीरे-धीरे वित्तीय दशा इतनी खराब होने लगती है कि बैंकों द्वारा

इनकी माँगों को पूरा करना असम्भव हो जाता है। यह उस समय होता है जब व्यवसाय के विस्तार अनुपयुक्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में बैंक ऋणों की मांग को पूरा करने के लिये साख का विस्तार बन्द कर देते हैं और पूँजी की यह कमी समृद्धि की दशा का अन्त कर देती है तथा साख के संकुचन प्रारम्भ होते हैं। अवसाद की दशा आरम्भ हो जाती है। राबर्टसन ने व्यवसाय के अनुपयोगी हो जाने के निम्न ६ कारण बतलाये हैं :—

१—कुछ विशेष प्रकार के उत्पादन में उत्पत्ति के टिकाऊ साधनों का उपभोग किया जाता है जिनकी पूर्ति कुछ विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इसलिये कभी उनकी पूर्ति कम होती है और कभी अधिक।

२—वस्तुओं के उत्पादन में पूरक लागतों का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है। उत्पादकों को चाहे हानि होती हो, परन्तु यदि पूरक लागतों का कुछ भाग ही प्राप्त हो जाता है, तो वे उत्पादन को इसी आशा से चालू रखते हैं कि भविष्य में स्थिति सुधर जायगी।

३—उत्पत्ति के साधनों को बेकार रखने पर भी कुछ व्यय करना पड़ता है। अतः उत्पादन को चालू रखकर उत्पत्ति की दर को बढ़ा दिया जाता है।

४—प्रतियोगिता के प्रभाव में कभी-कभी उत्पादक अपने उत्पादन को एक वांछनीय सीमा से भी अधिक बढ़ा देते हैं।

५—उत्पादकों की मनोवैज्ञानिक स्थिति (अर्थात् उनकी आशावादिता तथा निराशावादिता) भी कभी उत्पादन को वांछनीय सीमाओं से अधिक कर देती है।

६—अनुपयुक्त मौद्रिक नीति भी उत्पादन को अवांछनीय प्रोत्साहन देती है।

इस प्रकार राबर्टसन का भी यह विचार था कि जब तक बैंकिंग प्रणाली साख का सृजन करती रहती है और व्यवसाय की अल्पकालीन ऋणों की आवश्यकताओं को पूरा करती रहती है, उस समय तक स्थिति ठीक (समृद्धि की) रहती है, परन्तु जब बैंक ऋण देना बन्द कर देते हैं और अपने ऋणों को वापस माँगने लगते हैं तो उत्पादक निराशावादी हो जाते हैं और मन्दी काल की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

हाट्रे तथा राबर्टसन के विचारों में अन्तर यही है कि हाट्रे का यह विचार था कि समृद्धि की दशा असीमित समय तक बनाये रक्खी जा सकती है, यदि व्याज की दर को ठीक से नियमित किया जाय और मुद्रा की पूर्ति में लोच बनाये रक्खा जाय।

राबर्टसन के अनुसार व्यापार चक्र का एक प्राकृतिक अन्त होता है क्योंकि व्यवसाय में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ आ जाती हैं जो उसका अन्त ले आती हैं।

राबर्टसन के विचार की आलोचना :

राबर्टसन का यह विश्लेषण भी दोषरहित नहीं है क्योंकि व्यापार चक्र के सम्पूर्ण कारणों को यह व्यक्त नहीं करता है। सर्वप्रथम, यह सिद्धान्त वास्तविक तथ्यों के आधार पर निर्मित नहीं किया गया है। राबर्टसन का यह विश्वास कि व्याज दर में वृद्धि होने से (जिससे कि साख का संकुचन होता है) तेजी समाप्त हो जाती है, व्यावहारिक नहीं है। व्याज की दर कभी-कभी अनेक बातों से प्रभावित होने वाली "नकद माँग" के कारण भी ऊँची हो जाती है। दूसरे; सिद्धान्त की यह मान्यता कि औद्योगीकरण चरम सीमा पर होता है और उत्पत्ति के सभी साधन काम में लगे होते हैं; उचित नहीं है।

मौद्रिक आय एवं कीमतें :—

मौद्रिक सिद्धान्तों का मुख्य उद्देश्य (जिनका विवेचन ऊपर किया गया है) यह है कि कीमतों के उच्चावचन व्यापारिक क्रियाओं के कारण होते हैं, उनके दुष्परिणाम नहीं। मुद्रा के परिमाण में वृद्धि करके कीमतों में वृद्धि और उसके परिमाण में कमी करके कीमतों को घटाया जा सकता है। कीमतों के कम होने पर मन्दी और कीमतों के बढ़ने पर समृद्धि की अवस्थाओं का विकास होता है। इन प्रवृत्तियों का विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न रूप में विश्लेषण किया गया है।

परन्तु जिस प्रकार यह सत्य है कि मुद्रा की पूर्ति में विस्तार व संकुचन व्यापारिक क्रियाओं को बढ़ा कर समृद्धि एवं रोक कर अवसाद की दशायें ला सकती है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि अवसाद की स्थिति में मुद्रा पूर्ति के परिमाण में वृद्धि कीमतों में वृद्धि नहीं कर सकती। व्यापार चक्र की उत्थान की अवस्था में मुद्रा की मांग की जाती है। मौद्रिक अधिकारी इस मांग को तब तक पूरा करता रहता है जब तक संकुचन की स्थितियाँ नहीं आ जातीं। मुद्रा पूर्ति में विस्तार उन्नतिशील व्यापारिक क्रियाओं के कारण नहीं, इसके दुष्परिणामों के कारण किया जाता है। अवसाद काल में मुद्रा में कमी न होकर आयों में कमी हो जाती है। समृद्धि की स्थिति में मुद्रा एवं आय दोनों में वृद्धि हो जाती है। अवसाद की चरम सीमा पर मुद्रा अत्यधिक होती है परन्तु व्यक्तिगत आय में कमी हो जाती है। आय में कमी होने के कारण वस्तुओं की मांग भी कम हो जाती है जिससे कीमतें नीची हो जाती हैं। उच्च आय की प्रेरणा से माँग में वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप कीमतें भी बढ़ती हैं। इस प्रकार व्यापार चक्रों का मुख्य कारण विनिमय माध्यम की मात्रा (मुद्रा) न होकर आयों का व्यय, बचत एवं विनियोगों के बीच वितरण होता है।

(४) कीन्स का सिद्धान्त :

अन्य अर्थशास्त्रियों की भांति कीन्स ने भी व्यापार चक्र के कारणों को व्यक्त करने के लिये एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके विचारानुसार व्यापार चक्र का कारण बचत एवं विनियोग के मध्य निश्चित अनुपात में परिवर्तन होता है। यह बतलाने के लिये उन्होंने अवसाद के कारणों से अपना विवेचन प्रारम्भ किया। कीन्स ने पहिले समृद्धि की अन्तिम व्यवस्था की विवेचना कर यह बतलाने का प्रयास किया कि अवसाद की स्थिति क्यों उत्पन्न हो जाती है। विनियोगों के बढ़ने के साथ-साथ समुदाय की आय तथा उसका उपभोग भी बढ़ता है। परन्तु उपभोग की मात्रा धीमी गति से बढ़ती है तथा आय उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती जिस अनुपात में विनियोग बढ़ते हैं। समृद्धि की अवस्था में वृद्धि जो विनियोगों के कारण होती है, आय की अपेक्षा अधिक तेजी से होती है। इस प्रवृत्ति को बतलाने के लिये कीन्स ने 'बचत एवं उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to save and consume), गुणक (Multplicity) एवं 'वृद्धि करण' (Accelaration) के विचारों का प्रयोग किया है। उनके सिद्धान्त को समझने के लिये हम व्यापार चक्र की विभिन्न स्थितियों की विवेचना करेंगे।

अवसाद की अन्तिम स्थिति, उत्थान (Recovery) की दशा में हमें तीन प्रवृत्तियाँ मिलेंगी। सर्वप्रथम विनियोगी शक्ति उच्चतम् होगी अर्थात् उत्पत्ति के विभिन्न साधन रोजगार के लिये प्राप्य होंगे। दूसरे, मशीनों के प्रतिस्थापन के लिये विनियोग कोषों की मांग काफी लोचदार होगी। तीसरे, विनियोग कोषों की पूर्ति में काफी लोच होगी। इन प्रवृत्तियों के कारण नवीन मुद्रा की प्रत्येक वृद्धि से आय बढ़ेगी। आय में वृद्धि होने से उपभोग की वस्तुओं की माँग में वृद्धि और फलस्वरूप विनियोग वस्तुओं की माँग बढ़ जायेगी। इसका प्रभाव पुनः आय पर पड़ेगा। नव निर्मित मुद्रा के आय पर पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना करने के लिये कीन्स ने 'गुणक सिद्धान्त' (Multiplier Principle) का प्रयोग किया है। उपभोग वस्तुओं की माँग बढ़ने से विनियोग वस्तुओं की माँग इससे कई गुना अधिक बढ़ जायेगी। यह किस प्रकार होता है, इसको 'वृद्धि करण सिद्धान्त' (Accelaration Principle) द्वारा स्पष्ट किया गया है। गुणक और वृद्धिकरण सिद्धान्त यह व्यक्त करते हैं कि पुर्नप्राप्ति अथवा उत्थान की अवस्था की प्रवृत्ति एक बार प्रारम्भ हो जाने पर किस प्रकार लगातार बढ़ती रहती है। यद्यपि यह प्रभाव तीन बातों पर आधारित रहता है (क) उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति; जो गुणक को निर्धारित करती है, (ख) व्याज की दर एवं लाभ की आशा जो पूंजी के पदार्थों में विनियोगों की मात्रा निश्चित करती है। (ग) शुद्ध उपभोग एवं विनियोग की दर।

बचतों में आय के साथ-साथ प्रत्यक्ष रूप में परिवर्तन की प्रवृत्ति होती है

तथा आय के कम होने पर बचतें शून्य भी हो सकती हैं। जब आय की वृद्धि के साथ बचतों में वृद्धि होती है और इसके साथ विनियोग की मात्रा उसी प्रकार बढ़ती है; तो साख निर्माण की आवश्यकता नहीं रहती है। उत्थान की प्रारम्भिक अवस्थाओं में बचत विनियोग से कम होते हैं और इसलिये विनियोगों को नई मुद्रा का निर्माण करके पूरा किया जाता है। परन्तु आय के बढ़ने के साथ-साथ जैसे बचतें बढ़ती जाती हैं, नव-निर्मित मुद्रा के विस्तार में संकुचन की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि मुद्रा की मात्रा में कमी के कारण उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति एवं गुणात्मक प्रभावों में कमी हो जाती है। इन प्रवृत्तियों के साथ समृद्धि की दशा बढ़ेगी और जैसे-जैसे यह दशा बढ़ती जाती है विनियोग की शक्ति कम होने लगती है। पूर्ण वृत्ति की दशायें आने लगती हैं और कीमतें तेजी से बढ़ने लगती हैं। पूर्ण वृत्ति की अवस्था में केवल वस्तुओं की कीमतें और उनकी उत्पादन लागतें बढ़ती हैं तथा लाभ की सम्भावनाएँ कम होती जाती हैं। बैंक साख का निर्माण करना बन्द कर देते हैं और व्याज की दरें बढ़ने लगती हैं। कीमतों के बढ़ने से अस्वाभाविक बचतें (Forced Savings) बढ़ जाती हैं और उपभोग में कमी हो जाने से उपभोग वस्तुओं की मांग कम हो जाती है। यदि बचतें विनियोगों से अधिक हो जाती हैं तो मौद्रिक आयों में भी कमी हो जाती है, जिससे अवसाद की दशायें उत्पन्न होने लगती हैं। साहसी वर्ग निराशावादी बन जाता है और उसी समय से व्यवसायिक जगत में अवसाद की दशायें आ जाती हैं। विनियोगों के कम होने से बेरोजगारी बढ़ती है जिससे आयों में कमी बढ़ती जाती है। इसका यह क्रम मुद्रा संकुचन की दशायें उत्पन्न कर देता है। एक सीमा से आय के कम हो जाने से बचतें कम होने लगती हैं (यद्यपि कि प्रारम्भ में बचतों में कमी विनियोगों की कमी से कम होगी) और जैसे-जैसे अवसाद की दशायें बढ़ती जाती हैं बचतें कम होती जाती हैं। परन्तु इस कमी की भी एक सीमा होती है। एक समय ऐसा आता है जब उत्पादन को न्यूनतम स्तर पर कार्य रखने के लिये उत्पादन के साधनों की माँग प्रतीत होने लगती है। चाहे नये विनियोगों की माँग कुछ भी न हो परन्तु उन विनियोगों की मांग बनी रहती है, जिनके आधार पर उत्पादक उत्पादन के साधनों को बनाये रख सकते हैं। जब बचतें विनियोगों की इस मात्रा से कम हो जाती हैं, तो नवीन मुद्रा की मांग होने लगती है और जैसे ही उसकी पूर्ति के लिये नई मुद्रा का निर्माण प्रारम्भ होने लगता है, समृद्धि की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

इस प्रकार विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मुद्रा की मात्रा वस्तुओं की मौद्रिक मांग एवं विनियोगों और वस्तुओं के सम्बन्ध का परिणाम होता है। यह सम्बन्ध प्रायः लोगों की उस इच्छा पर निर्भर करता है जिसके आधार पर वे ऋण देते हैं और लेते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कीन्स ने व्यापार चक्रों पर अपने विचार

विक्सेल द्वारा प्रस्तुत किये गये प्राकृतिक एवं वास्तविक ब्याज की दरों पर ही आधारित किये थे, परन्तु अपनी पुस्तक के दूसरे भाग में उन्होंने इस विचार का खण्डन कर बचत और विनियोगों में सन्तुलन को आर्थिक साम्य का मुख्य कारण बतलाया ।

गुणक एवं वृद्धिकरण सिद्धान्त (Multiplier and Accelaration Principles)

यहाँ पर 'गुणक' एवं 'वृद्धिकरण' के विचारों का, जिनके आधार पर कीन्स ने व्यापार चक्रों का विश्लेषण किया, स्पष्टीकरण आवश्यक है । क्योंकि यह व्यापार चक्रों के विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण साधन है :—

गुणक (Multiplier) **सिद्धान्त :—**

गुणक दो प्रकार के होते हैं; विनियोग-गुणक एवं रोजगार-गुणक । अर्थ-शास्त्र के विवेचन में 'विनियोग-गुणक' प्रो० कीन्स की एक देन है । इस विचार के आधार द्वारा कीन्स ने विनियोग एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बीच सम्बन्ध बतलाया है । जब किसी एक समुदाय में विनियोग की मात्रा बढ़ जाती है तो उससे उत्पादन क्षमता और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय लाभांश में वृद्धि हो जाती है । विनियोग में वृद्धि और राष्ट्रीय आय में वृद्धि के बीच अनुपात को विनियोग-गुणक कहते हैं । स्वाभाविक है कि यह समय-समय पर बदलते व्यवसायिक तकनीक और उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता, साख, सम्वाद-वाहन इत्यादि की उन्नति के साथ-साथ बदलता रहे । यदि इस अनुपात को 'K' मान लिया जाय तो विनियोगों की कुल वृद्धि से आय में जो वृद्धि होगी वही विनियोगों की वृद्धि की 'K' गुना होगी ।

'रोजगार-गुणक' का विचार R. F. Kahn के नाम से सम्बन्धित है, जिनके अनुसार 'रोजगार-गुणक' विनियोग बढ़ जाने के कारण विनियोगी उद्योगों में प्रारम्भिक रोजगार की वृद्धि तथा कुल रोजगार की वृद्धि के बीच अनुपात बदलता है । व्यवसायी वर्ग के विनियोगों द्वारा उन उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है जो पूँजीकृत वस्तुओं के उत्पादन में लगे होते हैं । यह विनियोग उन उद्योगों की प्रारम्भिक रोजगार की दशायें बढ़ा देते हैं । कुछ समय बाद यही पूँजीकृत वस्तुएँ उपभोग की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ कर देती हैं; जिसके फलस्वरूप उपभोग-वस्तुओं के उद्योगों में भी रोजगार की दशायें बढ़ जाती हैं । प्रारम्भिक-रोजगार एवं उपभोग वस्तुओं के उद्योगों के रोजगार की दशाओं में वृद्धि के बीच कुछ समय लगता है । प्रारम्भिक-रोजगार की वृद्धि के कारण कुल रोजगार की वृद्धि के बीच जो अनुपात बनता है उसी को 'रोजगार-गुणक' कहते हैं ।

गुणक की कार्य विधि :—

नई निर्मित मुद्रा का विनियोग वस्तुओं के उत्पादकों के व्यय के रूप में किया जायगा और जो आय के रूप में उत्पादन के अनेक साधनों को प्राप्त होगा। इस आय के एक भाग को उपभोग वस्तुओं पर फिर व्यय किया जायगा। यद्यपि लोगों की उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति (Mariginal Propensity to Consume) पर निर्भर करेगा। इस प्रकार उपभोग-वस्तुओं वाले उद्योग भी उस धन को पाते हैं जो विनियोग वस्तुओं के उत्पादन व्यय करते हैं। उपभोग वस्तुओं के उद्योग इस रकम को उत्पादन के अनेक साधनों के बीच बाँट देंगे जो लोगों की आय बन कर फिर उपभोग वस्तुओं पर व्यय की जायगी। यह क्रम बराबर चलता रहेगा। आयों के व्यय एवं पुन: व्यय किये जाने के बीच जो समय लगता है उसको 'गुणक-समय' कहते हैं। जब उपभोग करने की प्रवृत्ति शून्य होती है तो अतिरिक्त आय का व्यय न किया जायगा और उससे उत्पादन एवं रोजगार की वृद्धि पर कोई प्रभाव न पड़ेगा। परन्तु दूसरी ओर यदि उपभोग करने की प्रवृत्ति १ होती है, तो गुणक बहुत बड़ा हो जायगा। गुणक के प्रभाव पूर्णवृत्ति की दशायें उत्पन्न कर असीमित मुद्रा स्फीति की दशायें उत्पन्न कर देते हैं। वास्तविक जीवन में उपभोग करने की प्रवृत्ति इन दोनों सीमाओं के बीच ही होती है।

समाज की आय को एक प्रकार का बहाव (Flow) समझना चाहिये। आय के जिस भाग का व्यय कर दिया जाता है अथवा विनियोग कर दिया जाता है, उससे नवीन आयों का जन्म होता है। साधारणतया बचत करने की जितनी ही प्रवृत्ति अधिक होगी उतना ही गुणक कम होगा क्योंकि बहाव से बढ़ी हुई आय का एक बड़ा भाग बहाव से बाहर हो जाता है। इसी प्रकार, बचत करने की प्रवृत्ति जितनी ही कम होगी अथवा अतिरिक्त आय की जितनी कम मात्रा बहाव से बाहर होती है गुणक उतना ही बड़ा होता है। बचत की यह सीमान्त प्रवृत्ति अनेक कारण, जैसे ऋणों का भुगतान, धन का संचय, आयात एवं कीमतों की वृद्धि से प्रभावित होती है।

गुणक की कार्यविधि को एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि विनियोग में प्रारम्भिक वृद्धि १० करोड़ रुपये की की गई। यदि यह मान लिया जाय कि लोगों की उपभोग करने की प्रवृत्ति आधी ($\frac{1}{2}$) है तो १० करोड़ रुपये के आय से ५ करोड़ रुपये का उपभोग किया जायगा और ५ करोड़ रुपये का संचय कर लिया जायगा। इस प्रकार १० करोड़ रुपये के नये विनियोग से पहले चक्र में यह ५ करोड़ रुपये की अतिरिक्त आय उत्पन्न होगी। दूसरे चक्र में यह २·५ करोड़; तीसरे में १·२५ करोड़, चौथे में ०·६२ करोड़ रुपये होगी। यदि प्रत्येक चक्र के पूरे होने में एक वर्ष का समय लगता है तो चार वर्ष में १० करोड़ रुपये के प्रारम्भिक विनियोग

से (५+२·५+१·२५+०·६२)=९·३७ करोड़ रुपयों की अतिरिक्त आय के निर्माण से कुल आय १९·३७ करोड़ रुपये बढ़ेगी।

गणना सूत्र :—गुणक एक शुद्ध संख्या होती है। यह मालूम करने के लिये कि विनियोग में वृद्धि से आय में कुल कितनी वृद्धि हुई है प्रारम्भिक विनियोग की मात्रा को इस संख्या से गुणा करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध को $DL=KDI$ अथवा $K=\frac{DL}{DI}$ (जिसमें K गुणक है, D L आय में वास्तविक वृद्धि है तथा D I विनियोग की वास्तविक वृद्धि है) से स्पष्ट किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, गुणक बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति के विपरीत होता है जिसको $K=\frac{I}{S}$ (जिसमें S से अभिप्राय बचत की सीमान्त प्रवृत्ति से होता है) के रूप से बतलाया जा सकता है। अतः यदि $S=\frac{1}{4}$ तो $K=4$. दूसरे शब्दों में $K=\frac{I}{I\text{-}M}$ के जिसमें M से अभिप्राय उपभोग करने की सीमान्त प्रवृत्ति से होता है।

वृद्धिकरण (Acceleration) **सिद्धान्त :**—विनियोगी माँग को बनाये रखने के लिये व्यवसाय और विक्रय की सामान्य वृद्धि को वृद्धिकरण सिद्धान्त कहते हैं। ऐसा इसलिये आवश्यक होता है जिससे आर्थिक प्रणाली क्षमतापूर्वक कार्य करती रहे और उसमें किसी प्रकार के दोष उत्पन्न न हों। यह सिद्धान्त इस कहावत पर आधारित है कि 'ठहरने के लिये एक व्यक्ति को दौड़ते रहना पड़ता है'। आर्थिक जगत में यह और भी सही होता है। जब आय और बिक्री बढ़ती है तो उससे विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है। विनियोगों को लाभपूर्ण बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि व्यवसाय में बिक्री की मात्रा बढ़ती हुई हो। उपभोग की जाने वाली आय एवं बिक्री में परिवर्तन व्यवसायिक स्तरों पर वृद्धिकारक प्रभाव डालते हैं। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि कभी-कभी वृद्धि में कमी हुए बिना अवसाद की दशायें उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि बिक्री में सामान्य वृद्धि उत्पादन और रोजगार के वर्तमान स्तरों को बनाये रखने के लिये आवश्यक होती है।

वृद्धिकर V/S **गुणक :**—गुणक प्रारम्भिक विनियोगों का उपभोग द्वारा आय पर प्रभाव बतलाता है परन्तु वृद्धिकारक उपभोगों का विनियोग पर प्रभाव बतलाता है। दूसरे शब्दों में, गुणक उपभोग की विनियोग पर निर्भरता बतलाता है परन्तु वृद्धिकरण विनियोगों की उपभोग पर निर्भरता बतलाता है। स्पष्ट है कि वृद्धिकरण तकनीकी सिद्धान्त पर आधारित होता है क्योंकि यह मशीनों के टिकाऊपन पर आधारित होता है।

वृद्धिकरण की कार्यविधि :—यदि यह मान लिया जाय कि वर्तमान उपभोग

वस्तुओं की माँग के लिये १०० मशीनों की आवश्यकता है और प्रत्येक वर्ष इसमें से १० मशीनों को बदला जाता है। यदि यह भी मान लिया जाय कि उपभोग की दर १० प्रतिशत बढ़ती है और उपभोग व्यय एवं विनियोग भी इसी प्रकार बढ़ते हैं, तो १०% उपभोग व्यय के लिये और १० मशीनों का उत्पादन आवश्यक है। इस प्रकार अतिरिक्त मशीनों के उत्पादन की आवश्यकता २० हो जाती है (१० बदलने के लिये और १० उपभोग में वृद्धि के कारण)। इस प्रकार उपभोग व्यय में १० प्रतिशत की वृद्धि से विनियोग १०० प्रतिशत (१० मशीनों से बढ़ कर २० मशीनें) बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार उपभोग व्यय में थोड़ी कमी के कारण विनियोग में काफी कमी हो सकती है। अतः वृद्धिकारक सिद्धान्त की कार्यविधि यह बतलाती है कि विनियोग वस्तुओं वाले उद्योगों में एकाएक परिवर्तन हो सकते हैं, जिनको रोकने के लिये उपभोग वस्तुओं की माँग को स्थिर बनाये रखना आवश्यक होता है।

५. कालेकी (Kalecki) का सिद्धान्त :

व्यापार चक्र के कीन्स द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि उपभोग में होने वाली गति की प्रारम्भिक अवस्था विनियोग है। आय एवं विनियोग क्रमशः बचत एवं उपभोग की प्रवृत्ति पर आधारित होते हैं। कालेकी ने अपना ध्यान 'आय-प्रभाव' 'गुणक-प्रभाव' की ओर केन्द्रित किया है। कालेकी की विचारधारा गणितात्मक है और संक्षेप में उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। "उपभोग की प्रवृत्ति के अनुसार विनियोगों में परिवर्तन से आय एवं रोजगार में तुरन्त वृद्धि नहीं होती। इसमें समय लगता है क्योंकि कुल आय धीरे-धीरे परिवर्तित होती है, इसलिये गुणक प्रभाव धीरे-धीरे दृष्टिगोचर होता है। यह समय की कमी के ही कारण होता है। जब विनियोग समय-समय पर स्थिर गति से बढ़ते हैं तो विनियोगों की दूसरी वृद्धि का प्रभाव पहली वृद्धि पर बहुत अधिक पड़ता है। यह क्रम लगातार चलता जाता है। प्रत्येक बाद की वृद्धि विनियोगों में पूर्व की वृद्धि पर अधिक असर डालती है। यह केवल समय की कमी के कारण ही होता है। जब विनियोग घटा दिये जाते हैं तो इससे विपरीत प्रभाव पड़ता है। चक्रीय गति इस तथ्य पर आधारित रहती है कि प्रत्येक बाद में किये जाने वाले विनियोग से आय की मात्रा घटती जाती है और अन्ततः विनियोग समाप्त हो जाते हैं।

६. हिक्स (Hicks) का सिद्धान्त :

हिक्स के विचारानुसार व्यापार चक्र गुणक एवं वृद्धिकरण सिद्धान्तों के संयुक्त प्रभाव द्वारा उत्पन्न होते हैं। हिक्स ने गतिवर्द्धन सिद्धान्त का उपयोग यह बतलाने के लिये किया है कि विनियोग लाभ प्राप्ति की भावी आशाओं के परिवर्तनों द्वारा आय

पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार विनियोग स्वयं आय से प्रभावित न होकर आय में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों की दर से प्रभावित होते हैं। हिक्स ने विनियोगों को दो भागों में बाँट दिया है : स्वेच्छित एवं प्रोत्साहित। स्वेच्छित विनियोग उत्पादन भिन्नताओं से स्वतंत्र होता है, जबकि प्रोत्साहित विनियोग उत्पादन भिन्नताओं पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ यदि किसी उद्योग में माँग में वृद्धि होने से उत्पादन की मात्रा बढ़ती है और यदि माँग की वृद्धि स्वार्थी है तो कुछ सीमा तक उद्योग की पूँजीगत मांग में वृद्धि करनी होगी। अतः स्पष्ट है कि उत्पत्ति की वृद्धि विनियोग को प्रेरित करती है। यह बतलाया जा चुका है कि मौद्रिक आय स्तर तथा विनियोग में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है तथा आय विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। किसी स्वतंत्र विनियोग की मात्रा के लिये आय-स्तर क्या होगा यह उस सिद्धान्त के लिये गुणक तथा वर्द्धन के मान पर निर्भर करेगा। किन्तु फिर भी सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्र विनियोग के बढ़ने से आय भी उसी दर में बढ़ेगी।

हिक्स के सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि गतिवर्द्धन सिद्धान्त (Acceleration principles) विश्लेषण का एक बहुत ही अनुपयुक्त अस्म है। प्रायः इसके उपयोग से कोई प्रशंसनीय निर्णय नहीं प्राप्त किये जा सकते।

७. बैरानोस्की (Baranowsky) **का सिद्धान्त :**

बैरानोस्की के अनुसार विनियोगों का विस्तार गुणक-वृद्धि (Multiplier) के द्वारा समृद्धि उत्पन्न करता है। विनियोगों में वृद्धि तीन प्रकार से की जाती है : १–निष्क्रिय निक्षेप, २–बचतों में वृद्धि—जिससे कि आय में वृद्धि हो, और ३–बैंक साख में विस्तार। उनका विचार है विनियोग उधार लेने वाले व्यक्तियों की क्रियाओं से बैरानोस्की के इस विचार को, कि व्यापार चक्र विनियोगों की दर में उच्चावचन होने के कारण उत्पन्न होते हैं, ए० स्पिटाफ (A. Spitaff) ने भी स्वीकार किया है। इनका विचार है कि उच्च विनियोग क्रिया की अवधि तकनीकी विकास का परिणाम है एवं प्रदेश में नये विनियोगों को जन्म देती है।

८. केन्ट विक्सेल (Kent Wicksell) **का सिद्धान्त :**

विक्सेल स्पिटाफ के इस विचार से सहमत हैं कि व्यापार चक्र वास्तविक कारणों की प्रेरणा एवं गति हैं। विक्सेल का विचार है कि अच्छे समय में तरल पूँजी की बहुत बड़ी मात्रा अचल पूँजी में बदली जाती है। यह तभी होता है जबकि पूँजीगत वस्तुओं का मूल्य उनकी लागतों से अधिक होता है। यह मुद्रा की व्याज दर अथवा वास्तविक-बाजार व्याज-दर तथा प्राकृतिक ब्याज की दर में भिन्नता के कारण होता है। तकनीकी खोज एवं जनसंख्या की वृद्धि ब्याज की प्राकृतिक दर को उसकी बाजारू दर से ऊँचा कर देती है और वह विभिन्नता समृद्धि की दशा ले आती है।

अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है। यह आय के केवल एक ही निर्धारक से सम्बन्धित है—विनियोग। यह सिद्धान्त गुणक प्रभावों को महत्व नहीं देता।

९. काबवेब (Cobweb) सिद्धान्त :

कुछ अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र के ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनका प्रदर्शन रेखा चित्रों द्वारा किया जाता है, यद्यपि कि व्यापार चक्र के सिद्धाँत को 'काबवेब' नामक सुझाव सर्वप्रथम निकोलास काल्डर (Nicholas Kalder) द्वारा फरवरी १९३४ के Remien of Economics studies में दिया गया। यह सिद्धांत उत्तरकालीन उत्पादन (Subsequent production) पर चालू कीमत (Current price) की प्रतिक्रिया पर आधारित है। अर्थात् निश्चितकालीन कीमत उच्चावचन उत्तरकालीन उत्पादन में उच्चावचन उत्पन्न करके आगामी उच्चावचन उत्पन्न करते हैं। इसी विचार व्याख्या को लेकर इटली के अम्बरटो रिकी (Umberto Ricci) हालैण्ड के शुल्ज (Schultz) और अमरीका के टिन्बरगन (Tinbergen) ने इस सिद्धान्त का प्रदर्शन मकड़ी के जाले के समान रेखा-चित्रित किया। मांग एवं पूर्ति वक्रों के आगे-पीछे उत्पादन एवं कीमत के समायोजन एवं पुनर्समायोजन निरन्तर आकार, समान आकार एवं विरोधी आकार के हो सकते हैं। ये उच्चावचन आर्थिक सिद्धान्तों के विरुद्ध मालूम पड़ते हैं, जिसकी प्रवृत्ति साम्य की ओर होती है। काबवेव साध्य साम्य की ओर जाने के विपरीत व्यापार चक्रों की दृढ़ता प्रदर्शित करता है। यह कहा जा सकता है कि यह वहीं लागू होगी (अ) जहां पर कीमतें उपलब्ध पूर्ति द्वारा नियन्त्रित होती है, (ब) जब पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन नियन्त्रण केवल कीमत के विचार से किया जाता है, और (स) जब उत्पादन एक पूर्णकाल की समाप्ति के पूर्व कम या अधिक नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इस सिद्धान्त की व्यापार चक्र के सिद्धान्त के रूप में बहुत ही कमियाँ है।

यहां पर व्यापार चक्र पर किये गये कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के विचारों का उल्लेख किया जा सकता है। व्यापार चक्र के आधुनिक सिद्धान्तों को विकसित होने के काफी पूर्व, खास तौर से जबकि कीन्स ने अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया, कार्ल मार्क्स ने अपने पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के विश्लेषण में आर्थिक संकट की विस्तृत विवेचना की थी। कीन्स द्वारा निकाले गये निष्कर्ष कार्ल मार्क्स के निष्कर्षों से बहुत अधिक मिलते-जुलते हैं। कीन्स की यह धारणा, कि उत्पादन के साधनों की कुल आय उपभोग वस्तुओं के मूल्य के बराबर होती है, कार्ल मार्क्स के पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली विश्लेषण से उपभोग वस्तुओं और पूँजीगत वस्तुओं के आधार पर, बहुत अच्छी तरह मिलती है। मार्क्स के उपरान्त वर्तमान अर्थशास्त्री इस बात से

सहमत हैं कि यह 'लाभ की दर' ही है जो 'विनियोगों की दर' को निर्धारित करती है। कालेकी (Kalecki), जो कीन्स की धारणा के प्रमुख समर्थक हैं, कार्ल मार्क्स के इस मत से सहमत हैं कि संकट और तेजी इस कारण से नहीं आती कि उपभोक्ता वर्ग की आय में कमी हो जाती है बल्कि इस कारण से कि लाभ की दर वास्तविक आय की तुलना में गिर जाती है।

निष्कर्ष :

व्यापार चक्र के यह अनेक सिद्धान्त उसके विभिन्न कारणों को महत्व देते हैं परन्तु ऐसा कोई भी सिद्धान्त नहीं है जिससे व्यापार चक्रों के सभी कारणों का हम सही पता लगा सकें। प्रत्येक सिद्धान्त में कुछ न कुछ सत्यता का अंश अवश्य होता है। प्राकृतिक कारण उत्पादन को प्रोत्साहित एवं हतोत्साहित करते हैं और इस प्रकार उनके द्वारा व्यापार चक्रों की सम्बन्धित शक्तियों का पता चलता है। मनोवैज्ञानिक कारण उन मानसिक दशाओं को बतलाते हैं जिनके कारण आशावाद एवं निराशावाद की व्यवस्थायें व्यवसायियों में पाई जाती हैं। मौद्रिक कारण प्रतियोगिता बचत एवं विनियोग के चक्रीय परिवर्तनों के उच्चावचनों को बतलाते हैं। इस प्रकार व्यापार चक्रों की अनेक दशाओं को प्रभावित करने वाले अनेक कारण होते हैं जो व्यवहारिक जीवन में संकट की दशायें उत्पन्न कर देते हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि उनका विस्तृत सांख्यकीय एवं ऐतिहासिक अध्ययन किया जाय। व्यापार चक्रों की समस्या ने आर्थिक जगत और अर्थशास्त्रियों को उलझन में डाल दिया है। काफी समय तक कीन्स द्वारा बतलाये गये सिद्धान्त को व्यापार चक्रों का सही सिद्धान्त माना गया। परन्तु हिक्स, कालेकी और टिनवर्गेन द्वारा प्रस्तुत किये गये आधुनिक विचारों ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह समस्या अब भी उतनी ही जटिल है। अर्थशास्त्र में कोई भी विचार इतना विवादपूर्ण नहीं है जितना कि व्यापार चक्रों का विचार है। इन्हीं कारणों से कुछ आलोचकों का यह विचार है कि व्यापार चक्रों के मुख्य कारण पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत सामंजस्य की विपरीतता है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक उत्पादक वस्तुओं का उत्पादन इसलिये नहीं करता कि समाज को उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वरन् इसलिये करता है कि उससे उसे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा को भविष्य की मांगों का अनुमान लगाकर व्यवस्थित किया जाता है। सारे संकट के यही मुख्य कारण हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत व्यापार चक्रों का होना कठिन हो जाता है। ऐसी व्यवस्था स्वतंत्र कीमत प्रणाली पर विश्वास नहीं रखती। परन्तु प्रत्येक मौद्रिक तत्व के निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिये आयोजन किया जाता है।

व्यापार चक्रों के अनेक सिद्धान्तों के अध्ययन के पश्चात् यह बतलाया जा

सकता है कि इनके निम्नलिखित कारण होते हैं :—सर्वप्रथम; बैंक पुनर्प्राप्ति एवं विश्रांति की दशाओं को प्रभावित करते हैं। वे ऋणों की मात्रा में वृद्धि एवं संकुचन अपने निक्षेपों के आधार पर साख-मुद्रा के निर्माण द्वारा कर देते हैं। दूसरे, विनियोग और बचत में अनुचित सामंजस्य उत्पन्न हो जाते हैं यह विशेषकर उस समय होता है जब पूँजीकृत वस्तुओं एवं उपभोग वस्तुओं के अनुपात में परिवर्तन हो जाता है। तीसरे, वस्तुओं की वर्तमान पूर्ति और उनकी माँगों में भी असामंजस्य हो जाता है। चौथे, उत्पादकों में लाभ की आशायें व्यापार चक्रों को प्रोत्साहित करती हैं। वे समाज की आवश्यकताओं का बहुत कम ध्यान देते हैं जिससे कीमतों में वृद्धि एवं ह्रास की प्रवृत्तियां बढ़ जाती हैं। पांचवें, आधुनिक युग की उन्नतिशील प्रवृत्तियों, नये व्यवसायों को प्रोत्साहन तथा उत्पादन तकनीकी में नये परिवर्तन भी चक्रीय परिवर्तनों को जन्म देते हैं। छठवें, व्यवसायियों के मनोवैज्ञानिक प्रभावों से निर्धारित होने वाली आशा और निराशावाद की अवस्थायें इन दशाओं को प्रोत्साहित करती हैं और अन्त में ऋतु के प्राकृतिक परिवर्तनों के कारण देश में उत्पादन में परिवर्तन होते हैं जिससे समृद्धि की दशायें एवं अवसाद की दशायें प्रभावित होती हैं।

फिर भी इन्हीं कारणों को व्यापार चक्र की दशाओं को प्रभावित करने का उत्तरदायी नहीं समझना चाहिये। व्यवसायिक जीवन में प्रत्येक नई संकट की दशा नये कारणों को जन्म देती है जिनके कारण देश के आर्थिक जीवन में परिवर्तन हुआ करते हैं।

व्यापार चक्रों को समाप्त करने के उपाय :

अधिकांश अर्थशास्त्रियों का विचार है कि वर्तमान पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत व्यापार चक्रों को समाप्त नहीं किया जा सकता, परन्तु इनका प्रभाव व्यक्तिगत जीवन तथा समाज दोनों पर ही इतना बुरा पड़ता है कि सभी विद्वानों का ऐसा विचार है कि कम से कम व्यापार चक्रों के आने को यदि न रोका जा सके तो उनसे पड़ने वाले बुरे प्रभावों को तो अवश्य रोकना चाहिये। दुर्भाग्यवश अर्थशास्त्री इस बात पर सहमत नहीं हो पाये हैं कि व्यापार चक्र के आने के कारण क्या हैं। परिणामस्वरूप इनमें इस बात पर भी एक मत नहीं कि इनको रोकने का उपाय क्या है। प्रत्येक बुराई को दूर करने के दो उपाय हो सकते हैं: पहला, तो यह है कि उस बुराई को पनपने ही न दिया जाय; तथा दूसरा, यह कि जब यह बुराई आ जाय तो इसे दूर करने की चेष्टा की जाय। इनको प्रतिबन्धक उपाय (Preventive checks) तथा साध्य उपाय (Curative checks) कहते हैं। व्यापार चक्रों के उपायों को भी इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत बांटा जा सकता है।

प्रतिबन्धक उपाय (Preventive checks) :

प्रत्येक बुराई का इलाज अथवा रोकने का उपाय उसके कारण पर निर्भर करता है। इसलिये जिस प्रकार के कारण व्यापार-चक्रों के लाने के होंगे उसी प्रकार के उसके प्रभाव तथा उपाय होंगे। जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन व्यापार चक्रों के, निःसन्देह, एक प्रकार के कारण होते हैं जिनके लिये यह आवश्यक होता है कि देश को प्राकृतिक देन पर आधारित न रक्खा जाय। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में खेती की अनेक सुविधाओं पर अधिक जोर देना चाहिये, जिससे कि भारतीय-कृषि प्राकृतिक कारणों पर निर्भर न करे। यदि व्यापार चक्र मांग तथा पूर्ति में असन्तुलन के कारण आते हैं तो उसके लिये यह आवश्यक है कि फसल की दशा, मुख्य उद्योगों द्वारा उत्पादित माल की मात्रा, देश में रोजगार की स्थिति, निर्यात तथा आयात, कीमत तथा जीवन निर्वाह सूचक अंक प्रति व्यक्ति आय के सम्बन्ध में सही तथा वर्तमान आंकड़े इकट्ठे किये जांय। इससे व्यापारियों को यह मालूम पड़ता रहेगा कि किसी वस्तु की कितनी मांग तथा पूर्ति है तथा वे व्यर्थ के आशा तथा निराशावाद की झलकों से प्रभावित न होंगे। इसी प्रकार यदि व्यापार चक्र आने का कारण बचत तथा उपभोग एवं विनियोग में असंतुलन है, तो इसके लिये यह आवश्यक है कि उचित वित्तीय नीति द्वारा देश में धन का पुनः हस्ताँतरण किया जाय। उद्योग धन्धों का राष्ट्रीय-करण तथा अर्थव्यवस्था का आयोजन करके भी व्यापार चक्रों को रोका जा सकता है। अन्त में देश की बैंकिंग तथा मौद्रिक नीति का नियमन बहुत सोच समझ कर करना चाहिये। इस पर पूर्ण नियंत्रण करना चाहिये जिससे समय अनुसार उसमें परिवर्तन किया जा सके।

साध्य उपाय (Curative checks) :

उपरोक्त उपायों के बावजूद भी यह सम्भव है कि किसी देश की अर्थव्यवस्था व्यापार चक्रों के लपेटे में आ जाय। ऐसी स्थिति में तो यही किया जा सकता है कि जहाँ तक सम्भव हो इसकी कठोरता को कम किया जाय। ऐसा करने के लिये कुछ उपाय प्रस्तुत किये जाते हैं। सर्वप्रथम, सरकारी कार्यों का प्रावधान किया जाय जैसे, सड़कों का निर्माण, नहरों की खुदाई, भूमि सुधार, राष्ट्रीय स्वास्थ्य व्यवस्था और राष्ट्रीय इमारतों का निर्माण इत्यादि। ये उपाय अवसाद की स्थिति में व्यापार की दशा को नीचे गिरने से बचाते हैं। द्वितीय, देश में आयोजित उत्पादन व्यवस्था होनी चाहिये जिससे उत्पादन आवश्यकतानुसार ही हो। राष्ट्रीयकरण की नीति इस दिशा में बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। तृतीय, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये यह आवश्यक है कि सरकारी खर्च को लोचपूर्ण एवं परिवर्तनशील बनाया जाय। इसके लिये उचित आयोजन एवँ बजट व्यवस्था की आवश्यकता होती है। और अन्त में

बैंकों एवं सरकार की मौद्रिक नीति स्वस्थ होनी चाहिये, जिससे कि तेजी अथवा अवसाद की दशा का सामना किया जा सके। अवसाद के समय केन्द्रीय बैंकों की क्रय शक्ति तथा मुद्रा की चलन मात्रा में सामंजस्य लाने के लिये प्रतिभूतियों का विक्रय करना चाहिये। समृद्धि की दशा में इसके बिलकुल विपरीत करना चाहिये। अमेरिकन इकनामिक्स एसोसियेशन के अनुसार "वह प्रणाली जिसमें कि अधिकतर मजदूर व्यक्तिगत उद्योगों में लगे होते हैं, सरकारी साम्य नीति के अन्तर्गत साधारण आर्थिक दशाओं को परिवर्तित किया जाता है जिससे कि व्यक्तिगत उद्योगों में परिवर्तनों के प्रभावों को कम किया जा सके।[1]

यहाँ पर उन अन्तर्राष्ट्रीय उपायों का उल्लेख करना आवश्यक है जिनके द्वारा व्यापार चक्रों को दूर किया जा सकता है। ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की नीति, जो पिछड़े क्षेत्रों में आर्थिक उन्नति करती है जिससे कि वहाँ के रहने वालों का जीवन स्तर संसार के जीवन स्तर की भाँति हो जाय, व्यापार चक्रों को कम करती हैं। अतः आज के आर्थिक जीवन में इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि नियोजित व्यवस्था द्वारा संकट की दशाओं का सामना किया जाय।

—:o⁀o:—

संदर्भ पुस्तकें

Mittra & Roy	: A Tract on Money, Ch. VI
G. N. Halm	: Monetary Theory, Chs. XX, XXI, XXII
T. R. Hicks	: A Theory of Trade Cycles
Hanson	: Fiscal Policy & Business Cycles
Rathi & Singh	: Advanced Business Economics, Part IV
Herberler	: Prosperity & Depression
G. Crowther	: An Outline of Money, Ch. III

1. "In a system where the great majority of workers are in private employment, government stabilisation policy consists primarily in altering the general economic condition so as to mitigate or offset developing fluctuations in pirvate business".

अध्याय ९

मुद्रा स्फीति (मुद्रा प्रसार) एवं मुद्रा संकुचन
(Inflation and Deflation)

पिछले अध्यायों में मुद्रा के मूल्य एवं उसमें होने वाले उच्चावचनों की विस्तृत विवेचना की गई है। मुद्रा के मूल्य में उच्चावचनों से सम्बन्धित दो शब्द 'मुद्रा स्फीति' एवं 'मुद्रा संकुचन' हैं जिनका उल्लेख अनेक स्थानों पर किया गया है। इनकी विवेचना हम इस अध्याय में करेंगे।

वर्तमान समय में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति कीमतों की वृद्धि की प्रवृत्ति देखने का अभ्यस्त सा हो गया है। वास्तव में कीमतों में वृद्धि पिछले तीस वर्षों से, जबकि इसकी गिरती हुई प्रवृत्ति को रोका गया था, लगातार हो रही है। 'मुद्रा स्फीति' का विचार कीमतों की बढ़ती हुई इसी प्रवृत्ति से सम्बन्धित है।

'मुद्रा स्फीति' शब्द का प्रयोग आजकल विभिन्न अर्थों में किया जाता है और इसीलिये इसकी संक्षिप्त परिभाषा देना एक कठिन कार्य बन गया है। लगभग प्रत्येक लेखक ने इस शब्द की व्याख्या अपने अलग ढंग से की है, जिसके कारण इसके विषय में काफी भ्रम भी उत्पन्न हो गया है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ 'मुद्रा की मात्रा में उस वृद्धि से लगाया है जोकि उसके पीछे रक्खे कोष के अनुपात से अधिक कर दी जाती है।" 'कोषों' (Reserve) के महत्व में कमी हो जाने के कारण इस शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो गया और यह माना जाने लगा कि 'मुद्रा स्फीति' का अर्थ उस स्थिति से होता है जबकि "चलन मुद्रा की मात्रा में उत्पादन की मात्रा से अधिक अनुपात में वृद्धि हो जाती है।" काफी समय तक यही विचार इस विषय के प्रमुख विचारकों को मान्य रहा। पीगू, हाट्रे, केमरर और क्राउथर आदि अर्थशास्त्रियों ने इसकी परिभाषा इसी अर्थ में दी है, यद्यपि उनके द्वारा किये गये विवेचन में भिन्नतायें हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री पीगू (Pigou) के अनुसार, "जब मौद्रिक आय में वृद्धि आय अर्जित करने वाली क्रियाओं के अनुपात से अधिक हो जाती है तब मुद्रा स्फीति की अवस्था होती है।"[1] इसी प्रकार हाट्रे (Hawtrey) ने मुद्रा स्फीति की व्याख्या

---

1. "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to Income earning activity". Pigou A. C.

आर्थिक जीवन की उस स्थिति से की है, 'जब चलन-मुद्रा की मात्रा में अधिक वृद्धि हो जाती है।'[1] **चेम्बर के शब्दकोष** (Chamber's Dictionary) **के** अनुसार 'मुद्रास्फीति'का अर्थ, 'क्रय के लिये प्राप्त वस्तुओं की मात्रा में तीव्र एवं एकाएक अधिक वृद्धि हो जाना होता है।'[2] **क्रेमरर** (Kremmerer) ने 'मुद्रास्फीति' का अर्थ उस अत्यधिक मुद्रा एवं जमा धन से लगाया है जो व्यापार की दशाओं की तुलना में अधिक हो जाता है।[3] सबसे सरल परिभाषा **क्राउथर** (Crowther) ने दी है जिसके अनुसार **'मुद्रा स्फीति वह अवस्था है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिर जाता है अर्थात् कीमतें ऊँची हो जाती हैं।'**[4]

'मुद्रास्फीति' की उक्त परिभाषाओं में एक समान तत्व (common element) यह है कि मुद्रा स्फीति की स्थिति में 'असाम्य' (disequilibrium) की दशा उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण कीमत-स्तर ऊँचा हो जाता है। उपरोक्त सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर यह कहा जा सकता है कि मुद्रास्फीति वह स्थिति होती है जिसमें **'मुद्रा की मात्रा में असाधारण वृद्धि** हो **जाने से कीमतों में भी वृद्धि हो जाती** है। परन्तु आधुनिक युग में इस विचारधारा को स्वीकार नहीं किया जाता। मुद्रास्फीति का आधुनिक स्पष्टीकरण आय एवं पूर्ण रोजगार के विचारों पर आधारित है। यदि स्फीति का सम्बन्ध साधारणतया कीमत स्तर की वृद्धि से होता है, तो ऐसी अवस्था में कीमतों के बढ़ने से माँग क्यों बढ़ती जाती है, जब माँग का नियम यह बतलाता है कि ऊँची कीमतों पर माँग में कमी हो जाती है। वास्तव में स्फीति का कारण कीमतों की वृद्धि न होकर आयों की वृद्धि होता है। लोगों की आयों में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप ऊँची कीमतों पर मांग कम न होकर अधिक होती जाती है। ऐसा भी हो सकता है कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के कारण लोगों की बढ़ी हुई आयों के फलस्वरूप कीमतें स्थिर रहें। दूसरे शब्दों में यद्यपि मूल्य-नियन्त्रण एवं राशनिंग के अनेक उपायों द्वारा कीमतों को स्थिर रखा जा सकता है (जैसा कि युद्धकाल में अनेक देशों में किया गया), पर ऐसी अवस्था को स्फीतिकारी कहना क्या गलत न होगा। इस प्रकार की स्फीति को दमितिस्फीति (repressed inflation) कहना ठीक होगा। अत: स्फीति का मौलिक अर्थ उस परिस्थिति से होता है **जिसमें आय की वह मात्रा,**

---

1. 'Inflation is that state when there is over-issue of Currency'. Hawtrey.
2. 'Inflation is a disproportionate and a relatively sharp and sudden increase in the quantity of money, or credit, or both, relative to goods available for purchasing'. Chamber's Dictionary.
3. 'Inflation is too much money and deposit currency—that is, currency in relation to the physical value of business being done'. W. Kremmerer.
4. 'Inflation is a state in which the value of money is falling, e. g., prices are rising'. Crowther.

जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में वस्तुओं व सेवाओं का क्रय किया जाता है, वर्तमान कीमतों के आधार पर क्रय के लिए उपलब्ध वस्तुओं व सेवाओं की पूर्ति से अधिक होती है अथवा स्फीति उस परिस्थिति का नाम है जिसमें अत्यधिक मुद्रा अति कम वस्तुओं का पीछा करती है। ग्रेगोरी (Gregory) ने इसी अवस्था को 'क्रय शक्ति में असामान्य वृद्धि की अवस्था' बतलाया है।

मुद्रा-प्रसार का सिद्धान्त—स्फीतिकारी आधिक्य (अथवा अवशेष) की धारणा (Theory of Inflation—Concept of Inflationary Gap) :

मुद्रा-प्रसार की परम्परात्मक (traditional) व्याख्या 'मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन' के विचार पर आधारित है। मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी 'परिमाण सिद्धान्त' की व्याख्या में आय-व्यय की धारणा के अनुसार काफी सुधार किया गया है। मुद्रा प्रसार के विवेचन में भी परम्परात्मक 'मुद्रा पूर्ति' के विचार के स्थान पर आय-व्यय के विचार को अपनाया गया है। कार्यों से सम्बन्धित अनुमानित व्यय तथा व्यय के लिये उपलब्ध राष्ट्रीय आय के समायोजन, जो उत्पादन के मूल्य के आधार पर होता है, की व्याख्या के लिये कीन्स ने 'स्फीतिकारी आधिक्य या अवशेष' (Inflationary Gap) की धारणा प्रस्तुत की है। यह 'आधिक्य' (Gap), आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा स्फीति का 'प्रारम्भ बिन्दु' (Starting Point) होता है।

मुद्रा-प्रसार की अवस्था में, जब मौद्रिक आय के बढ़ जाने के कारण कीमतें बढ़ने लगती हैं तो लोगों के पास वस्तुओं पर व्यय करने के लिये क्रय-शक्ति मुद्रा प्रसार के पूर्व की कीमतों के आधार पर—उनके मूल्य के अनुपात में—अधिक हो जाती है। इसे 'स्फीतिकारी अवशेष' (Inflationary Gap) कहा जाता है। क्लाइन (Klien) के अनुसार यह अवशेष "सरकारी व्यय तथा उपभोग प्रवृत्ति के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निर्धारित आय से जनसंख्या द्वारा वस्तुओं की मात्रा के उपभोग करने की इच्छा एवं उपभोग के लिये प्राप्त मात्रा, जो प्रसार से पूर्व की कीमतों पर मिलती है, का अन्तर होता है।"[1] कुरिहारा (Kurihara) के शब्दों में "स्फीतिकारी अवशेष आधार (Base) कीमतों पर प्राप्त उत्पादन की अपेक्षा सम्भावित व्यय की अधिकता होती है।"[2] इस प्रकार यह अवशेष उपभोग वस्तुओं के लिये लोगों की सम्भावित क्रियाशील मुद्रा की माँग और प्रसार के पूर्व की कीमतों पर उपभोग वस्तुओं की पूर्ति

1. "....the difference between what the population will begin to consume out of the income (which is determined by the interaction of the consumption function and the level of government war expenditures) and the amount available for consumption at pre-inflation prices".
2. "....an excess of anticipated expenditures over available output at base prices".

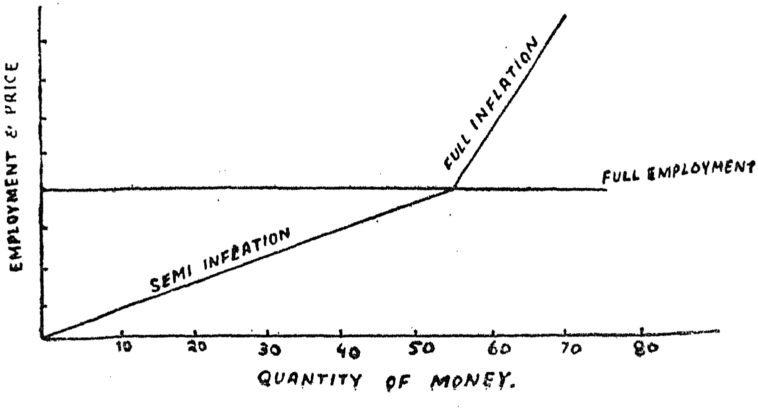
का अन्तर होता है। यह अन्तर किस प्रकार उत्पन्न होता है इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये कि किसी निश्चित समय में उत्पादन के साधनों में वितरित की गई राष्ट्रीय आय १००० करोड़ रुपया है, जिसमें से २०० करोड़ रुपये करों के रूप में एकत्रित कर लिए गए हैं। इस प्रकार समुदाय की 'व्यय करने योग्य आय केवल ८०० करोड़ रुपये रह जाती है। दूसरी ओर, यदि यह पुनः मान लिया जाय' कि राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य (प्रसार से पूर्व कीमतों पर), जो कि जनता के उपभोग के लिये (सरकारी खर्चों के अदा करने के बाद, जिसमें स्थानान्तरण भी सम्मिलित है) प्राप्य है, ६०० करोड़ रुपये है; तो मुद्रा-स्फीति की दशा इसलिये उत्पन्न होगी क्योंकि लोगों के पास उन वस्तुओं पर व्यय के लिये ८०० करोड़ रुपये की क्रयशक्ति है, जिसकी कीमत मुद्रा प्रसार से पूर्व ६०० करोड़ रुपये थी। इस प्रकार स्फीतिकारी अवशेष ८००—६००=२०० करोड़ रुपये के बराबर होगा। यदि उपभोग वस्तुओं का उत्पादन उसी मात्रा तक बढ़ा दिया जाय तो यह अन्तर समाप्त हो जायगा। परन्तु अल्पकाल में एवं पूर्ण रोज़गार की स्थिति में उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता। ऐसी अवस्था में यदि उपभोग वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि करने का प्रयत्न किया जाता है तो इससे उत्पादन के साधनों की कीमत बढ़ जायगी, क्योंकि उन्हें पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों से हटाने के लिये उनकी कीमत बढ़ानी होगी। उत्पादन के साधनों के मूल्य में वृद्धि के कारण कुल मौद्रिक आय भी बढ़ेगी परन्तु उपभोग-वस्तुओं की पूर्ति इतनी नहीं बढ़ पायेगी। इस प्रकार की दशा में स्फीतिकारी अन्तर उत्पन्न होता है।

कीन्स के अनुसार मुद्रा-स्फीति का परिक्षण (Test of Inflation according to Keynes) :

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है साधारणतया 'मुद्रा-स्फीति' से हमारा अभिप्राय मुद्रा की मात्रा में उस वृद्धि से होता है, जो उसकी माँग की अपेक्षा अधिक होती है। यदि मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा अधिक होती है तो कीमतें बढ़ जाती हैं। परन्तु कीमतों में प्रत्येक वृद्धि मुद्रा स्फीति की दशाओं की सूचक नहीं होती है। कीमतों में वृद्धि औसत उत्पादन लागत अधिक हो जाने से भी हो सकती है। चक्रीय उत्थान की अवस्था में भी यह स्थिति आ सकती है। इसके अतिरिक्त बिना कीमतों में वृद्धि लाये हुये भी मुद्रा-स्फीति (मुद्रा की मात्रा में वृद्धि) की अवस्था आ सकती है। ऐसी स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक कि उत्पत्ति के सभी साधनों का पूर्णरूप से उपयोग नहीं होता। पूर्णवृत्ति की स्थिति आ जाने पर विनियोग की प्रत्येक वृद्धि कीमतों को बढ़ा देती है। मुद्रा-स्फीति की स्थिति की मुख्य परीक्षा यही होती है; तथा यही इसकी आधुनिक (कीन्स की) विचार-धारा है। कीन्स (Keynes) के विचारानुसार पूर्णवृत्ति (Full Employment)

की स्थिति से पूर्व मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाने से कुछ अंश में रोजगार में वृद्धि होगी, परन्तु साथ ही साथ दूसरी ओर अंशतः उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाने के कारण कीमतें बढ़ जायेंगी। किन्तु पूर्णवृत्ति की दशा में, अर्थात् जब उत्पत्ति का कोई भी साधन बेकार नहीं होता, मुद्रा की मात्रा में सारी वृद्धि कीमतों में वृद्धि लायेगी। कीन्स के अनुसार यही मुद्रा स्फीति की अवस्था कहलायेगी।

पूर्ण तथा आंशिक स्फीति (Full or semi-inflation) : यह बतलाया जा चुका है कि मुद्रा-स्फीति की अवस्था में कीमतें बढ़ती हुई होती हैं तथा अस्थिरता की दशा उत्पन्न हो जाती है, पर यह कहना गलत होगा कि कीमतों की प्रत्येक वृद्धि पूर्ण मुद्रा-स्फीति की दशा होती है। निश्चित अवस्था—पूर्ण रोजगार बिन्दु—के बाद ही कीमतों में वृद्धि की दशा वास्तविक मुद्रा-स्फीति की दशा कहलाती है। जब तक पूर्ण वृत्ति की अवस्था नहीं आती, मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि से कीमत स्तर में वृद्धि होती है जिसके कारण उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है तथा रोजगार में भी वृद्धि होती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा में वृद्धि का कुछ प्रभाव कीमतों की वृद्धि पर, कुछ रोजगार की वृद्धि पर और कुछ उत्पादन की वृद्धि पर पड़ेगा। ऐसी दशा में कीमतों की वृद्धि उत्पादन लागत में वृद्धि के कारण होगी, जिसका सम्बन्ध, एक ओर उत्पादन के साधनों की ऊँची पारितोषिक दर पर एवं उत्पत्ति ह्रास नियम के क्रियाशील होने से तथा दूसरी ओर चलन-मुद्रा की वृद्धि के कारण वस्तुओं की माँग में वृद्धि से होता है। यह अवस्था अर्ध-मुद्रा-स्फीति अथवा आंशिक-स्फीति (Semi-inflation) की अवस्था कहलाती है। पूर्णवृत्ति की अवस्था के उपरान्त मुद्रा की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि का पूर्ण प्रभाव वस्तुओं को बढ़ाने पर पड़ता है जिसके कारण कीमतें बढ़ जाती हैं। इस प्रकार पूर्णवृत्ति की दशा वह सीमा होती है जिसके उपरान्त ही वास्तविक मुद्रा स्फीति की अवस्था आती है। अतः पूर्णवृत्ति की अवस्था से पूर्व होने वाली मुद्रा स्फीति को 'आंशिक', अर्ध अथवा अपूर्ण, मुद्रा-स्फीति कहना उचित होगा तथा पूर्ण रोजगार बिंदु के पश्चात मुद्रा की मात्रा बढ़ने से कीमतों में वृद्धि की स्थिति 'वास्तविक' अथवा 'पूर्ण मुद्रा-स्फीति' कहलायेगी। नीचे दिया हुआ रेखा चित्र इन दोनों दृष्टिकोणों के अन्तर को स्पष्ट करता है।



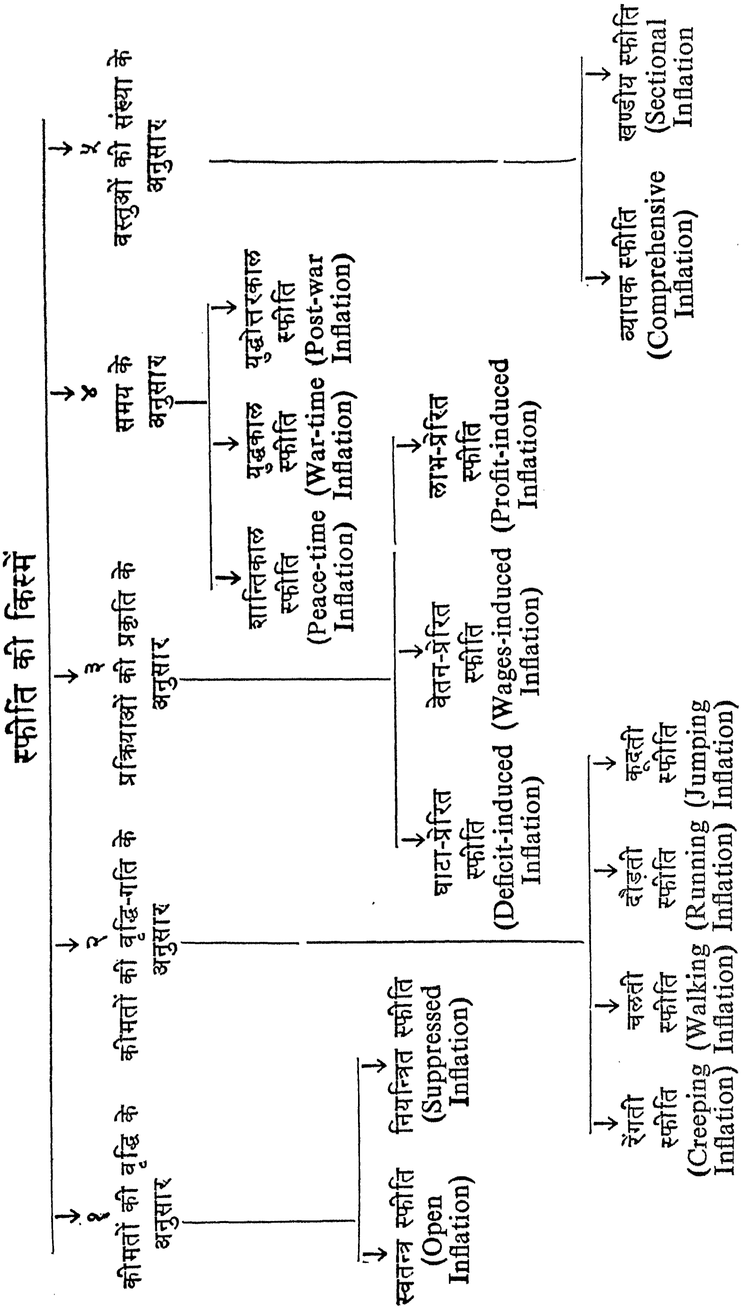
चित्र में समान्तर रेखा पूर्ण रोजगार (Full Employment) की अवस्था का सूचक है। यद्यपि इस अवस्था के पहले मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने से कीमतें बढ़ने लगती हैं, परन्तु उसके साथ साथ रोजगार की दशायें एवं उत्पादन बढ़ता जाता है। पूर्ण रोजगार की अवस्था के बाद केवल कीमतें ही बढ़ती हैं। सैद्धान्तिक रूप से पूर्ण वृत्ति के पश्चात् की दशा पूर्ण स्फीति की अवस्था कहलायेगी।

मुद्रा स्फीति की किस्में (Forms of Inflation) :

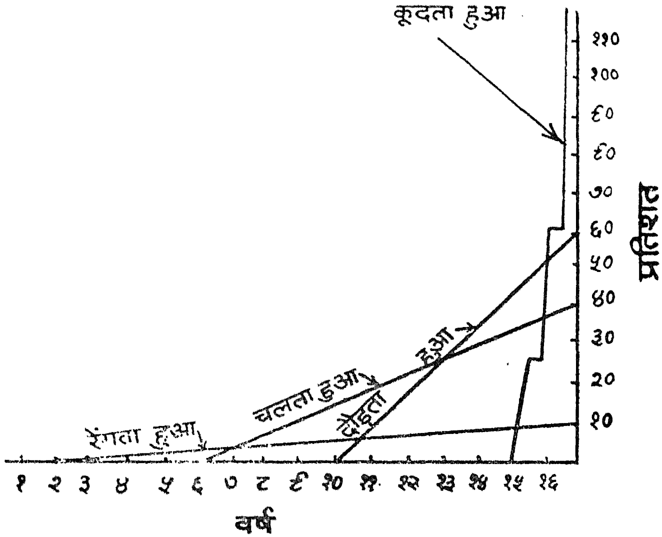
मुद्रा पूर्ति के परिवर्तनों के कारण बढ़ती हुई कीमतों की अवस्था को विभिन्न किस्मों में विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन अनेक विचारों पर आधारित है। स्फीति का विभाजन सर्वप्रथम, कीमतों की वृद्धि पर नियन्त्रण के आधार पर; दूसरे, कीमतों के बढ़ने की गति के आधार पर; तीसरे, उन विभिन्न प्रक्रियाओं के आधार पर जिनके द्वारा मुद्रा-स्फीति गतिशील होती है; चौथे, मुद्रा-स्फीति के समय के आधार पर तथा पाँचवें, वस्तुओं की संख्या के आधार पर किया जा सकता है। इनका वर्गीकरण पृष्ठ १८२ पर दिखलाया गया है।

पहले आधार पर मुद्रा-स्फीति दो प्रकार की—'स्वतन्त्र' एवं 'नियन्त्रित'—हो सकती है। जब माँग और पूर्ति की अंत: क्रियायें कीमतों की वृद्धि को स्वतन्त्ररूप से प्रभावित करती हैं तो इसे **स्वतन्त्र मुद्रा-स्फीति** (Open Inflation) कहा जाता है। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी, आस्ट्रिया व रूस में तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ग्रीस, पोलैण्ड, चीन इत्यादि देशों की स्फीति की दशायें इसी प्रकार की थीं। **नियन्त्रित मुद्रा स्फीति** से हमारा अभिप्राय उस स्थिति से होता है जब सरकार क्रेताओं की बढ़ती हुई माँग के कारण बढ़ती हुई कीमतों को नियन्त्रित करती है। स्वतन्त्र मुद्रा-स्फीति में माँग की वृद्धि अपना प्रभाव स्वतन्त्र रूप से डालती है, परन्तु नियन्त्रित मुद्रा-स्फीति के अन्तर्गत नियन्त्रण (Control) एवं नियमन (Regulations) द्वारा—राशनिंग—वस्तुओं को समान रूप से वितरित किया जाता है। इस प्रकार के स्फीति के लिये सरकारी प्रशासन प्रणाली का कुशल, अनुभवी तथा इमानदार होना अत्यन्त आवश्यक होता है। युद्धोत्तर काल में इंगलैंड, अमरीका व बेल्जियम में इसी प्रकार की स्फीति पाई गई।

दूसरे आधार के अनुसार मुद्रा प्रसार के चार रूप हो सकते हैं : १—रेंगने वाला मुद्रा-प्रसार; २—चलने वाला मुद्रा-प्रसार; ३—दौड़ने वाला मुद्रा-प्रसार; तथा ४—कूदने वाला मुद्रा-प्रसार। **रेंगने** अथवा सरकने वाला मुद्रा-प्रसार मुद्रा-स्फीत का सब से साधारण रूप होता है। कभी-कभी तो अर्थव्यवस्था की गति को बनाये रखने के लिये इसकी स्वयं आवश्यकता भी होती है। इसमें कीमतों में वृद्धि


स्फीति की किस्में
१ कीमतों की वृद्धि के अनुसार
स्वतन्त्र स्फीति (Open Inflation)
नियन्त्रित स्फीति (Suppressed Inflation)
२ कीमतों की वृद्धि-गति के अनुसार
रेंगती स्फीति (Creeping Inflation)
चलती स्फीति (Walking Inflation)
दौड़ती स्फीति (Running Inflation)
कूदती स्फीति (Jumping Inflation)
३ प्रक्रियाओं की प्रकृति के अनुसार
घाटा-प्रेरित स्फीति (Deficit-induced Inflation)
वेतन-प्रेरित स्फीति (Wages-induced Inflation)
लाभ-प्रेरित स्फीति (Profit-induced Inflation)
४ समय के अनुसार
शान्तिकाल स्फीति (Peace-time Inflation)
युद्धकाल स्फीति (War-time Inflation)
युद्धोत्तरकाल स्फीति (Post-war Inflation)
५ वस्तुओं की संख्या के अनुसार
व्यापक स्फीति (Comprehensive Inflation)
खण्डीय स्फीति (Sectional Inflation)

धीरे धीरे तथा काफी समय में होती है। युद्धोत्तर काल में अमेरिका और जर्मनी में इसी प्रकार की स्थिति पाई गई। अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार इस रूप में भी मुद्रा-प्रसार कभी-कभी हानिकारक सिद्ध होता है। उनके विचार में यह दूसरी किस्मों के स्फीतों को उत्पन्न करने में सहायक होता है। वास्तव में इस प्रकार के मुद्रा प्रसार पर विकसित हो रहे देश को नियंत्रित रखने के लिए, यदि उचित रोक न लगाई जाय तो यह चलने अथवा टहलने वाले मुद्रा-प्रसार, अथवा 'दौड़ने वाले मुद्रा-प्रसार' में परिवर्तित हो सकता है। मुद्रा-प्रसार की यह किस्में रेंगने वाले मुद्रा-प्रसार से कीमतों की वृद्धि की गति के अनुसार भिन्न हैं। इन किस्मों के अन्तर्गत कीमतों में वृद्धि सरकने वाले मुद्रा-प्रसार की वृद्धि की अपेक्षा अधिक चिंताप्रद होती है। मुद्रा-प्रसार के यह रूप भविष्य में कीमतों की असाधारण वृद्धि की स्थिति को सूचित करते हैं। यदि इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को नियंत्रित न किया जाय तो अर्थव्यवस्था में 'कूदने वाले मुद्रा-प्रसार' (Jumping Inflation) की अवस्था आ जाती है। मुद्रा-प्रसार की यह वह अवस्था होती है जिसे कीन्स ने 'वास्तविक मुद्रा-प्रसार' (Real Inflation) के नाम से सम्बोधित किया है। ऐसी अवस्था पूर्णवृत्ति (Full Employment) की अवस्था के उपरान्त आती है। ऐसी अवस्था को रोकना अथवा नियंत्रित करना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है क्योंकि इसमें कीमतों में असाधारण एवं एकाएक वृद्धि होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि अतिरिक्त विनियोगों से प्राप्त समस्त आय 'गुणक वृद्धि' (Multiplier) के कारण केवल कीमतों को प्रभावित करती है। ऐसी दशा में कीमतें प्रतिक्षण बढ़ती हैं तथा इनके बढ़ने की कोई सीमा नहीं होती। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार का सर्वोत्तम उदाहरण जर्मनी में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिला। वास्तव में इस आधार पर विभाजित चारों प्रकार के मुद्रा-प्रसारों में रूप का अन्तर न होकर केवल 'गति' का ही अन्तर है। ये सब एक ही बीमारी के चार रूप हैं। 'सरकने वाले मुद्रा-प्रसार' (Creeping Inflation) की स्थिति में कीमतें लगभग ५० वर्ष में, तथा 'टहलने' (Walking) 'दौड़ने' (Running) एवं 'कूदने' (Jumping) वाले मुद्रा-प्रसारों में क्रमशः लगभग २०, १० एवं ४ वर्ष में दूनी हो जाती हैं। इसका स्पष्टीकरण एक रेखाचित्र द्वारा भी किया जा सकता है :—



ऊपर के चित्र से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि रेंगती हुई स्फीति से १० प्रतिशत कीमतों की वृद्धि १६ वर्षों में होती है; चलती हुई स्फीति से ४० प्रतिशत की वद्धि १० वर्ष के समय में हो जाती है; दौड़ती हुई स्फीति में ८ ही वर्षों में ६० प्रतिशत वृद्धि तथा कूदने वाली स्फीति में १ वर्ष में ही ११० प्रतिशत कीमतें बढ़ जाती हैं।

तीसरे आधार पर मुद्रा-प्रसार की स्थिति को विभिन्न रूपों में उन प्रक्रियाओं के अनुसार बाँटा जा सकता है जिनके द्वारा मुद्रा प्रसार की स्थिति लाई जाती है। यदि सरकारी आय से व्यय बढ़ाकर, घाटे के बजटों द्वारा, मुद्रा-स्फीति की अवस्था लाई जाती है तो उसे **'हीनार्थ-प्रोत्साहित-मुद्राप्रसार'** (Deficit-induced Inflation) कहा जाता है। इन घाटों को सरकार केन्द्रीय बैंक से अल्पकालिक ऋण लेकर समायोजित करती है। प्रचलन में मुद्रा की वृद्धि से कीमतों में भी वृद्धि हो जाती है। साधारणतया यह उपाय देश में आवश्यक सामाजिक पूंजी बढ़ाने अथवा असाधारण परिस्थितियों को रोकने के लिये अपनाया जाता है। दूसरी ओर यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि वेतन दरों के बढ़ने के कारण होती है तो उसे **'वेतन प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार'** **(Wage-induced Inflation)** तथा यदि उत्पादकों के लाभ बढ़ने के कारण होती है तो उसे **'लाभ-प्रोत्साहित मुद्राप्रसार'** (Profit-induced Inflation) कहा जाता है। वेतन- प्रोत्साहित-मुद्राप्रसार श्रमिकों की कार्य-क्षमता में वृद्धि के कारण उनके वेतनों में होने वाली वृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, जब कि लाभ-प्रोत्सा-

हित मुद्रा-प्रसार उत्पादकों के लाभ के कारण हुई मुद्रा की मात्रा में वृद्धि से होता है। लाभ तभी बढ़ते हैं जब कि बाजारू ब्याज की दरों (Market Rates of Interest) में भिन्नता होने लगती है अथवा वस्तुओं की माँग और पूर्ति में एकाएक परिवर्तन होने लगते हैं। इस श्रेणी के अन्तर्गत मुद्राप्रसार के इन तीन रूपों के अतिरिक्त कुछ अन्य किस्में भी बतलाई जा सकती हैं : १. क्रयशक्ति-प्रेरित मुद्रा-स्फीति (Purchasing Power Inflation), २. कर-प्रेरित मुद्रा-स्फीति (Taxation Inflation), ३. अधि-विनियोग प्रेरित मुद्रा-स्फीति (Over-Investment Inflation), ४. कम उत्पादन-प्रेरित मुद्रा-स्फीति (Under-Production Inflation), ५. आयात-प्रेरित मुद्रा-प्रसार (Imported Inflation), एवं ६. विदेशी व्यापार नियन्त्रण-प्रेरित मुद्रा-प्रसार (Inflation through Foreign Trade Restrictions) । इनको विभिन्न नामों से ही जाना जा सकता है तथा इन अनेक रूपों के अध्ययन का विशेष महत्व नहीं है।

चौथे प्रकार की किस्में व्यवहारिक दृष्टिकोण से बहुत महत्वपूर्ण हैं। इस आधार पर साधारणतया मुद्रास्फीति की अवस्थाओं का विभाजन तीन रूपों में किया जाता है : १. युद्धकालीन मुद्राप्रसार (War-time Inflation), २. युद्धोत्तर कालीन मुद्रा-प्रसार (Post-war Inflation), एवं ३. शान्ति-कालीन मुद्रा-प्रसार (Peace-time Inflation)। **युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार** की अवस्था युद्ध काल जैसे असामान्य समय में आती है। ऐसे समय युद्ध के व्यय की पूर्ति साख एवं चलन-मुद्रा में वृद्धि करके की जाती है। ऐसे समय का मुद्रा-प्रसार 'दौड़ने वाले' अथवा 'कूदने वाले' मुद्रा-प्रसार के रूप का होता है, जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। दूसरी ओर **शांति-कालीन मुद्रा-प्रसार** (सामान्य काल में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि) अवसाद की स्थिति को समाप्त करने अथवा उसको दूर रखने के लिये अपनाया जाता है, जो व्यापार चक्र की बदलती दशाओं के कारण उत्पन्न होती है। **'युद्धोत्तर कालीन मुद्रा-प्रसार'** जिसे 'नियोजित मुद्रा-प्रसार' (Planned Inflation) भी कहा जाता है, युद्ध कालीन अर्थव्यवस्था की बिगड़ी स्थिति को समाप्त करने के लिये अपनाया जाता है। वास्तव में, रोजगार एवं उत्पादन में वृद्धि करने के उद्देश्य से किसी अर्थव्यवस्था में निश्चित नीति के अनुसार मूल्यों में की गई नियन्त्रित वृद्धि को ही युद्धोत्तर कालीन मुद्रा-प्रसार कहा जाता है। साधारणतया यह 'रेंगनेवाले' मुद्रा-प्रसार के रूप में पाया जाता है, क्योंकि अनेक उपायों द्वारा इसको नियन्त्रित करके 'कूदने वाले' अथवा 'दौड़ने वाले' मुद्रा-प्रसार की अवस्था तक विकसित नहीं होने दिया जाता।

वस्तु संख्या की आधार पर स्फीति को व्यापक (Comprehensive) स्फीति तथा खण्डीय (Sectional) स्फीति में बाँटा जा सकता है। जब सारे अर्थव्यवस्था में

सभी वस्तुओं के कीमतों में वृद्धि होती है, तो उसे **व्यापक स्फीति** कहते हैं। दूसरी ओर **खण्डीय स्फीति** की परिस्थिति उस समय होती है जब मुद्रा-पूर्ति का प्रभाव सभी वस्तुओं की कीमतों में न पड़कर अर्थ-व्यवस्था के किसी विशेष खण्ड में उत्पन्न होता है—केवल विशेष वस्तुओं की कीमतों पर पड़ता है। प्राकृतिक कारणों से विशेष वस्तुओं–कृषि पदार्थ–की पूर्ति में कमी होने से इनकी कीमतों में वृद्धि इसी प्रकार के स्फीति का उदाहरण है।

मुद्रा-प्रसार के कारण : स्फीतिकारी अवशेष के कारण (Reasons of Inflationary Gap):

मुद्रा प्रसार के अनेक कारणों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है : १. मौद्रिक आय में वृद्धि करने वाले कारण, और २. उत्पादन में कमी लाने वाले कारण :

मौद्रिक आय में वृद्धि करने वाले कारण : मौद्रिक आय को प्रभावित करने वाले कारण किसी समुदाय के व्यक्तियों की मौद्रिक आय पर, जो मुख्यरूप से मुद्रा-स्फीति के लिपे उत्तरदायी होती है, कई बातों का प्रभाव पड़ सकता है : (अ) सरकार की **साख विस्तार नीति** का मुद्रा-प्रसार पर सबसे बड़ा प्रभाव पड़ता है। साधारणतया मुद्रा-प्रसार की दशा अत्यधिक चलन-मुद्रा के निर्गमन अथवा बैंक निक्षेपों में अत्यधिक वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है। पत्र-मुद्रा का अत्यधिक निर्गमन राज्य केन्द्रीय बैंक अथवा व्यापारिक बैंकों के कार्यों से भी हो सकता है, यदि उन्हें मुद्रा निर्गमन का अधिकार प्राप्त होता है। देश की बैंक दर नीति वहां की साख के निर्माण का रूप बदल देती है। प्रायः बैंक दर में कमी होने से साख की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे मुद्रा-प्रसार की स्थिति आ जाती है। (ब) उपभोग की प्रवृत्ति में वृद्धि, पूँजी की सीमाँत कुशलता में वृद्धि अथवा तरलता वरीयता में कमी के कारण जो **मुद्रा की चलन गति** में वृद्धि हो जाती है उससे भी मुद्रा प्रसार-की स्थिति आ सकती है। जर्मनी में इसी प्रकार की अत्यधिक मुद्रा-प्रसार की स्थिति आ गई थी जिससे वहाँ की चलन-मुद्रा 'मार्क' (Mark) का मूल्य ही समाप्त हो गया था और जनता ने उसे स्वीकार करना बन्द कर दिया था। यदि किसी व्यवसायी को यह मुद्रा मिल जाती थी तो वह तुरन्त ही उसे विनिमय बैंक द्वारा विदेशी मुद्रा में परिवर्तित करा लेता था। ऐसा वह इस लिये करता था क्योंकि वहाँ पर विदेशी मुद्रा का मूल्य घरेलू मुद्रा के मूल्य की अपेक्षा अधिक स्थिर था। (स) **प्राकृतिक कारणों**, जैसे सोने, चाँदी की नई खानों की खोज, से भी मुद्रा-प्रसार की स्थिति आ सकती है। तकनीकी (Technical) ढंग में इसे 'धात्विक मुद्रा-प्रसार' (Metallic Inflation) कहा जाता है। इस प्रकार के मुद्रा-प्रसार का आधुनिक काल में पाया जाना कठिन है, क्योंकि

अब कोई भी देश धातुमान पर आधारित नहीं है। १८९६ से १९११ तक अफ्रीका में सोने की नई खानों का पता लगने तथा १९१४-१८ के बीच अमरीका, स्वेडन, नार्वे एवं स्पेन में सोने का आयात बढ़ जाने से मुद्रा-प्रसार की दशायें आ गई थीं। (द) सरकार की **हीनार्थ प्रबन्ध नीति** के कारण भी मुद्रा-प्रसार हो जाता है। इस नीति के अन्तर्गत बजटों के घाटों के समायोजन के लिये केन्द्रीय बैंक नई मुद्रा को सरकार को ऋण के रूप में देती है, जिससे आंशिक मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। (इ) बैंक भी **अधिक ऋण देकर** मुद्रा-प्रसार के कारण बन जाते हैं। यह दो परिस्थितियों में होता है : १. जब पर्याप्त उधार लेने वाले हों, और २. जब उनके पास (बैंकों के पास) पर्याप्त नकद मुद्रा हो। एक बार साख में की गई वृद्धि काफी समय तक चालू रहती है। बैंक अपना नकद अनुपात कम करके भी मुद्रा-प्रसार की स्थितियाँ उत्पन्न कर सकते हैं। साधारणतया बैंक अपने पास पर्याप्त नकद कोष रखते हैं और कभी-कभी इसकी मात्रा निश्चित होती है। उनको यह मात्रा उस समय भी बनाये रखनी पड़ती है जब कि वे साख का विस्तार करते हैं।

उत्पादन मात्रा को प्रभावित करने वाले कारण : बिना मुद्रा की पूर्ति में कमी किये हुये उत्पादन में ह्रास के कारण कीमतों में वृद्धि हो जाती है और मुद्रा-प्रसार की स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। उत्पादन मात्रा में कमी करने वाले अनेक कारण होते हैं, किन्तु उनमें तीन कारण प्रमुख हैं :-(अ) यदि औद्योगीकरण की ऐसी स्थिति है कि उसमें उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है तो पूँजी और श्रम की प्रत्येक इकाई की वृद्धि से सीमांत उत्पादन कम होने लगता है। ऐसी स्थिति में यदि उत्पादन और उत्पादन लागत स्थिर रहता है तो आंशिक मुद्रा प्रसार की स्थिति की सम्भावना हो जाती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि देश में उत्पादन के साधनों की दुर्लभता होती है। (ब) यदि औद्योगिक अशांति के कारण व्यापार संघ शक्तिशाली होते हैं और मजदूर अपनी माँगों को अपनी शक्ति द्वारा पूरी करा लेते हैं तो उत्पादन गिर सकता है और आंशिक मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। व्यापार संघों के प्रयत्नों के फलस्वरूप मजदूरों की क्रयशक्ति में वृद्धि, बिना उत्पादन में उस अनुपात में वृद्धि हुये हो सकती है। काम के कम घंटे, सवेतन छुट्टियाँ, ऊँची मजदूरी की दरें तथा उत्पादन में अनुपातिक वृद्धि न होने से मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। (स) प्राकृतिक आपत्तियां उत्पादन मात्रा में कमी करके मुद्रा-प्रसार की स्थिति ला सकती हैं। बाढ़, भूचाल जैसे प्राकृतिक प्रकोप उत्पादन कम कर देते हैं जिससे कीमतों में वृद्धि और मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा प्रसार के अन्य कारण : इन दोनों प्रकार के प्रमुख कारणों के अतिरिक्ति दो अन्य कारण भी हैं, जो कुछ सीमा तक मुद्रा-प्रसार के लिए उत्तरदायी सिद्ध होते हैं : (१) जन संख्या में तीव्र परिवर्तन, जो उत्पादन मात्रा में परिवर्तन करके मुद्रा-प्रसार

उत्पन्न कर देता है। जन संख्या की तीव्रवृद्धि से उत्पादन में उतनी वृद्धि नहीं हो पाती है जितनी कि कीमतों में वृद्धि हो जाती है। इसीलिये मुद्रा-प्रसार की स्थिति आ जाती है। (२) असमान्य समय में मुद्रा प्रसार का मुख्य कारण युद्ध की अवस्था होती है। युद्ध व्यय की क्षतिपूर्ति का सबसे सरल साधन अत्यधिक पत्र-मुद्रा का निर्गमन होता है। युद्ध काल में पूँजी उत्पादक-उद्योगों से हटकर अनुत्पादक-उद्योगों में लग जाती है, जिनमें युद्ध का सामान बनाया जाता है। इससे उपभोग वस्तुओं की कमी हो जाती है जिससे कीमतें बढ़ने लगती हैं और मुद्रा-प्रसार की स्थिति आ जाती है।

मुद्रा-प्रसार के प्रभाव (Effects of Inflation) :

मुद्रा-प्रसार एक ऐसी अवस्था होती है, जिसका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़ता है। कोई भी क्षेत्र एवं वर्ग इसके प्रभाव से नहीं बच पाता। मुद्रा-प्रसार के समय मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है और कीमतें ऊँची होने लगती हैं। मुद्रा के मूल्य परिवर्तन से विभिन्न श्रेणी के व्यक्ति, विभिन्न प्रकार से, प्रभावित होते हैं। विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के ऊपर मुद्रा-प्रसार के परिणामों का अध्ययन करने के लिये हम समाज को **दो वर्गों** में बाँट सकते हैं : (१) उत्पादक वर्ग, और (२) उपभोक्ता वर्ग।

उत्पादकों पर प्रभाव (Effect on producers) : साधारणतया इस श्रेणी में व्यापारी तथा विनियोगी वर्ग के लोग सम्मिलित किये जाते हैं। विनियोगी वर्ग दीर्घकाल के लिये अपनी पूँजी देते हैं। वास्तव में वे अपनी मुद्रा-विपत्रों, ऋणपत्रों एवं अंशपत्रों में इस आशा से विनियोग करते हैं कि उनके विनियोजित धन का वास्तविक मूल्य दीर्घकाल में भी पूर्णरूप से स्थिर रहेगा। कीमत स्तर की तनिक भी वृद्धि से इस वर्ग की हानि होती है, क्योंकि वास्तविक वस्तुओं के रूप में उनके विनियोगों का मूल्य गिर जाता है। इतना ही नहीं, कीमतों की वृद्धि के कारण उनकी बचतें भी कम हो जाती हैं। इस प्रकार मुद्रा-प्रसार की दशा में **विनियोगी वर्ग को हानि होती है**। दूसरी ओर मुद्रा-स्फीति की दशा में **व्यापारी अथवा साहसी वर्ग को लाभ होता है**। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि कीमतें बढ़ जाती हैं तथा उत्पादन लागत कम रहने से उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक आय प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, बढ़ती हुई कीमतें उनको अधिक उत्पादन ने लिये प्रोत्साहित करती हैं क्योंकि मजदूरी और वेतन की दरें (शर्तों के अनुसार) निश्चित रहती हैं तथा दी जाने वाली लगान एवं ब्याज की मात्रा भी लगभग पूर्ववत रहती है। इसलिये कीमतों में वृद्धि होने से इस वर्ग को साधारणतया लाभ होता है।

उपभोक्ताओं पर प्रभाव (Effect on consumers) : कीमतों में वृद्धि का

उपभोक्ताओं पर पड़ने वाले प्रभाव को भी **दो भागों** में विभाजित किया जा सकता है: (i) मज़दूरी पाने वाला वर्ग तथा, (ii) निश्चित आय वाला वर्ग।

मजदूर वर्ग : मज़दूरी की दरें उतनी तेजी से नहीं बढ़ती हैं जितनी तेजी से कीमतें बढ़ती हैं। व्यवस्थित मजदूर इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनकी वास्तविक आय में कीमतों में वृद्धि का प्रभाव न पड़े। यह सत्य है कि मजदूरों ने अपने को व्यापार संघों (Trade Union) के रूप में संगठित कर लिया है, जो कीमतों में वृद्धि होने पर सूचक अंक (Index Number) के अनुसार अधिक मज़दूरी की मांग करते हैं। इसमें काफी हद तक उन्हें सफलता मिलती भी है। परन्तु ऐसा होने में भी समय लगता है। अतः इस वर्ग को, मुख्यतः असंगठित मजदूरों को, मुद्रा-प्रसार की अवस्था में हानि होती है।

निश्चित आय वाला वर्ग : इस वर्ग में प्रायः वेतन पाने वाले व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है। कीमतों के बढ़ने पर उनको बहुत अधिक हानि होती है। उनका औसत जीवन स्तर मजदूरों की अपेक्षा ऊँचा होता है। समाज में वे अपने को सम्पन्न बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं जब कि वास्तविकता में वे अपने भोजन, वस्त्र एवं निवास की आवश्यकताओं को भी पहले की तरह संतुष्ट करने में असमर्थ रहते हैं। इस वर्ग में भी कुछ लोगों की आय कीमत-वृद्धि के अनुसार कुछ समय बाद समायोजित हो जाती है। उदाहरण के लिए आवश्यक सेवाओं (Essential Services) में संलग्न लोग बढ़ती हुई कीमतों के अनुसार मँहगाई पाने में सफल हो जाते हैं, जो कि दूसरों को नहीं मिलती। **अध्यापक वर्ग सबसे अधिक हानि** उठाता है, क्योंकि कीमतों में वृद्धि होने पर उनकी आय में वृद्धि सबसे बाद में होती है।

मुद्रा-प्रसार के प्रभावों को बतलाते समय जब हम यह कहते हैं कि कुछ वर्गों के व्यक्तियों का लाभ तथा दूसरों को मुद्रा के मूल्य परिवर्तन के कारण हानि होती है, तो हमें यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिये कि एक ही व्यक्ति कई वर्गों में एक साथ सम्मिलित किया जा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पूर्ण रोजगार की स्थिति के पश्चात् मुद्रा-प्रसार देश के लिये अभिशाप सिद्ध होता है। प्रो० वकील ने तो स्फीति की तुलना एक डाकू से की है।[1] इसके अन्तर्गत कठिनाइयों का अनुभव सभी

1. "Inflation may be compared to a robber. Both deprive the victim of some possession, with the difference that the robber is visible, inflation is invisible; the robber's victim may be one or a few at a time, the victim of inflation is the whole nation; the robber may be dragged to a court of law, inflation is legal". C. N. Vakil—Financial burden of war in India.

व्यक्तियों को करना पड़ता है, जो स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकते। स्फीति के सबसे अधिक शिकार मध्यम वर्ग के वे लोग होते हैं जो प्रत्येक समाज की स्थिरता की आधार शिला होते हैं।[1] लोगों के जीवन की सारी बचतों को स्फीति द्वारा लूट लिया जाता है। अर्थव्यवस्था के दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो स्फीति के कारण विनियोगी वर्ग के बचाने की शक्ति तथा इच्छा में कमी हो जाने से पूँजी का संचय कम हो जाता है।[2] आर्थिक कठिनाइयां उत्पन्न करने के अतिरिक्त स्फीति समाज में व्यक्तियों का नैतिक पतन भी कर देती है। समाज में धन व आय का अन्यायपूर्ण रीति से पुन: वितरण करके स्फीति जनता में सरकार तथा नैतिकता के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर देती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि स्फीति के युग में जनता का आर्थिक एवं नैतिक पतन हुआ है।[3] फ्रांस एवं जर्मनी के स्फीति इसके मुख्य उदाहरण हैं। जब तक कीमतों के बढ़ने के फलस्वरूप उत्पादन एवं रोजगार बढ़ते जाते हैं, समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों द्वारा उठाई गई हानि की उपेक्षा की जा सकती है। परन्तु जब मुद्रा-प्रसार से केवल कीमतें बढ़ती हैं तो सामान्यरूप से उपभोक्ताओं को हानि होती है तथा उनका पतन होता है।

मुद्रा-प्रसार को रोकने के उपाय (Measures to check inflation) :

जब मुद्रा-प्रसार की स्थिति प्रगतिशील होती है तो व्यापारिक क्षेत्र में आशावादी विचार होता है। प्रत्येक व्यक्ति क्रेता होने लगता है जिसके फलस्वरूप मांग पूर्ति से अधिक हो जाती है और उत्पादन व्यय तथा कीमतों में सर्वतोन्मुखी (alround) वृद्धि होने लग जाती है। लोगों में सट्टे की भावना प्रबल हो जाती है एवं स्वस्थ व्यापार हतोत्साहित हो जाते हैं। मुद्रा-प्रसार की स्थितियां अस्त-व्यस्त दशायें उत्पन्न कर देती हैं। उत्पादन अव्यवस्थित हो जाता है। मुद्रा के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ दुर्लभ

---

1. "The middle class, however, which by hard work and thrift has built up a fund of savings to its children and to provide a livelihood for times of sickness and for old age, finds itself in a desperate situation in a time of serious inflation. The cost of living rises disproportionately to income; savings are wiped out; and hard work, independence, and thrift seem to be false gods. Under such conditions the middle class is all too often overwhelmed by a sense of futility and desperation". Kremmerer : A.B.C. of Inflation p. 94

2. "Much of the industrial plant and equipment erected in desperation during inflation was found subsequently to be a technically inefficient in addition to the country's productive capacity. No really accurate estimate can be made of the loss of actual and potential capacity during the years of inflation".
C. T. Schmidt : German Business Cycles—p. 15

3. ...."A still worse outgrowth was the increase of speculation & gambling.... In the leading French cities now arose a luxury & licence which was a greater evil than the plundering that ministered to it....Nor was this reckless and corrupt spirit confined to businessmen; it began to break out in official circles, and publicmen, who a few years before, had been thought above all possibility of taint, became luxurious, reckless, cynical and finally corrupt".
A. D. White : Fiat Money—Inflation in France, p. 27

एवं मँहगी हो जाती हैं । ऐसे व्यक्ति भी, जिन्हें मुद्रा-प्रसार का संक्षिप्त अर्थ नहीं मालूम होता, समझते हैं कि ऐसी अवस्था में परेशानी, दुख एवं निराशा की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं । स्फीति किसी भी प्रकार क्यों न हो तथा किसी भी कारण क्यों न उत्पन्न हुई हो, समाज के अन्दर इसके इतने गम्भीर परिणाम होते हैं कि इसको रोकने के उपायों को अपनाने में देर न करना चाहिये । वास्तव में यह एक ऐसी भयानक बीमारी होती है जो समय बीतने के साथ-साथ अधिक गम्भीर होती जाती है । निसन्देह यह बड़ी भूल होगी, यदि हम यह विचारने-लगें कि थोड़ी स्फीति अच्छी होती है । पर यह हमें न भूलना चाहिये कि यदि समाज एक बार रेंगते हुये स्फीति को स्वीकार कर लेता है तो कुछ ही समय पश्चात् यह रेंगना बन्द करके दौड़ने तथा कूदने लग जाता है ।[1] अतः मुद्रा-प्रसार की उचित नीति के लिये सरकारी हस्तक्षेप की बड़ी आवश्यकता होती है । मुद्रा-स्फीति की अवस्थाओं को नियन्त्रित करने वाली विधियों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—१. मौद्रिक साधन, २. वित्तीय साधन एवं ३. अन्य साधन ।

१—मौद्रिक साधन (Monetary Measures) :

इन साधनों का सम्बन्ध केन्द्रीय बैंक की चलन-मुद्रा एवं साख नीति से होता है । ऐसे साधनों में बैंक दर, खुले बाजार की क्रियायें, न्यूनतम कोष की आवश्यकता तथा उपभोक्ताओं की साख का नियमन इत्यादि मुख्य हैं । इन साधनों को **दो मुख्य** भागों में बाँटा जा सकता है :—

(अ) केन्द्रीय बैंक द्वारा चलन मुद्रा की मात्रा में संकुचन (Contraction of Currency by Central Bank) देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति को केन्द्रीय बैंक द्वारा चलन-मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण करके रोका जा सकता है । इस प्रकार केन्द्रीय बैंक चलन-मुद्रा की अधिक्य मात्रा चलन से वापस ले सकती है और केन्द्रीय बैंक का यह कार्य मुद्रा-प्रसार के लिये विरोध का कार्य करेगा ।

(ब) बैंक साख का नियन्त्रण (Regulation of Bank Credit) : केन्द्रीय बैंक देश की साख विस्तार की स्थिति में भी प्रभावपूर्ण नियन्त्रण लगा सकती है और समय-समय पर बैंकिंग प्रणाली को कीमत परिवर्तन से लाभ उठाने के लिये ऋण देने की सलाह दे सकती है । यह कार्य केन्द्रीय बैंक, बैंक दर के प्रबन्ध एवं खुले बाजार क्रियाओं के रूप में करता है । भारत में कुछ समय पूर्व बैंक दर में परिवर्तन

---

1. A misconception that is a part of Intelectual currency today is that a little inflation is a good thing....However, even we accept this inevitability of creeping inflation, and I certainly do not, it is not possible to have just a 'little' inflation. Once community accepts the prospect of continued inflation and begins to make its business decisions in the light of that prospect, the infant ceases to creep. It learns to walk, run and finally gallop even though the gallop may carry it over the brink at the precipice that everyone agrees must be avoided. C. C. Balderston : Health Insurance Association–1957.

एवं सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) का खुले बाजार में क्रय बन्द करने का कार्य, मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति को रोकने के लिये किये गये थे। यह कार्य ब्याज दर कठोर करने, वस्तुओं का संचय हतोत्साहित करने, सट्टे को रोकने एवं कीमतों को कम करने के लिये किया गया था। फिर भी केन्द्रीय बैंक की साख नीति की कुशलता देश के मुद्रा बाजार के संगठन पर निर्भर करती है। भारत जैसे देश में, जहाँ पर मुद्रा बाजार के असंगठित ग्रामीण क्षेत्र में विशाल कोष हैं, रिजर्व बैंक जैसी केन्द्रीय बैंक की साख नीति एक सीमा तक ही प्रभावशाली हो सकती है।

२. **वित्तीय साधन** (Financial Measures) :

इस भाग के अन्तर्गत सरकारी व्यय, कर, ऋण व्यवस्था एवं बचत तथा विदेशी विनिमय सम्बन्धित नीतियों इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। इनकी व्याख्या नीचे कई भागों के अन्तर्गत की गई है :

(अ) **कर वृद्धि** (Increase in taxation) : मुद्रा-प्रसार को रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय सरकार द्वारा कर में वृद्धि करके मौद्रिक आय में वृद्धि करना होता है। परन्तु करारोपण एक निश्चित सीमा के पश्चात पूँजी निर्माण में बाधक सिद्ध होने लगता है, क्योंकि बचतें कम होने लगती हैं। यद्यपि करों में वृद्धि करके मुद्रा-प्रसार को पूर्ण रूपेण नहीं रोका जा सकता, फिर भी इसको प्रभावित किया जा सकता है।

(ब) **सार्वजनिक ऋण** (Public Loans) : इस विधि के द्वारा सरकार जनता से ऋण लेकर समाज में फैली हुई क्रय-शक्ति को कम कर देती है। दूसरी ओर सार्वजनिक ऋण द्वारा सरकार की क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जाती है। परन्तु सरकार के लिये यह आवश्यक होता है कि वह उधार लिये हुये धन को उत्पादक कार्यों में ही व्यय करे। यदि इस प्रकार से बढ़ी हुई आय को उत्पादक कार्यों पर व्यय नहीं किया जाता तो यह मुद्रा-प्रसार को प्रोत्साहित करेगा।

(स) **राष्ट्रीय बचत** (National Savings) : मौद्रिक आय की वृद्धि के कारण हुई कीमतों की वृद्धि को काफी अंशों में इस प्रकार रोका जा सकता है कि जनता की आधिक्य क्रय-शक्ति सरकारी हाथों में आ जाय। सरकार बचतों को ऊँची ब्याज-दरों द्वारा प्रोत्साहित कर सकती है। भारत सरकार की इनामी बांड योजना (Prize Bond Scheme) एक ऐसी ही विधि है, जिसका उद्देश्य छोटी बचतों को आकर्षित करना होता है।

(द) **विनिमय दर** (Rate of Exchange) : देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति को कुछ अंशों तक देश की चलन-मुद्रा के विनिमय-मूल्य (विनिमय दर) में परिवर्तन करके भी रोका जा सकता है। यह तभी सम्भव होता है जब देश की चलन-मुद्रा

का मूल्य विदेशी मुद्रा में घटा दिया जाय अथवा विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ा दिया जाय। विदेशी मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो जाने से विदेशी वस्तुओं का आयात कम तथा निर्यात अधिक हो जायगा। इसी प्रकार यदि देश में विदेशी मुद्रा की अधिकता है तो इसको मुद्रा के विदेशी मूल्य (विनिमय दर) में वृद्धि करके रोका जा सकता है।

३—अमौद्रिक उपाय (Non-Monetary Measures) : मुद्रा प्रसार की अवस्थाओं को रोकने वाले अमौद्रिक उपायों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(अ) उत्पादन में वृद्धि द्वारा, और (ब) व्यापार एवं कीमत नियन्त्रण द्वारा।

(अ) उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production) : मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये वस्तुओं का उत्पादन बढ़ाने के उद्देश्य से पूँजी का विनियोग उत्पादक कार्यों के लिये बढ़ाया जा सकता है। इसी उद्देश्य से युद्ध काल में भारत में पूँजी नियन्त्रण आदेश लागू किया गया था। इसका आंशिक उद्देश्य पूँजी को उन उद्योगों में जाने से रोकना था जिनके माल को देश को आवश्यकता नहीं थी और इस प्रकार आँशिक उद्देश्य मुद्रा प्रसार रोकना था।

(ब) व्यापार एवं कीमतों का नियन्त्रण (Regulation of trade & prices): कीमतों पर नियन्त्रण रखने के लिये रहन-सहन की लागत एवं उत्पादन व्यय में वृद्धि को रोकना आवश्यक होता है, यद्यपि यह उपाय कभी-कभी प्रभावपूर्ण सिद्ध नहीं होता। मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये आयात एवं निर्यात पर नियन्त्रण आवश्यक सिद्ध होता है। उपभोग की आवश्यक वस्तुओं के आयात के लिये अधिक मात्रा में विदेशी विनिमय प्रदान करने के लिये विलासिता की वस्तुओं के आयात पर नियन्त्रण लगा दिया जाता है, जिससे उपभोग वस्तुओं की पूर्ति अधिक हो जाती है और कीमतें कम हो जाती हैं।

युद्ध-कालीन मुद्रा प्रसार (War-time Inflation)

युद्ध काल में सभी प्रकार की वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग बहुत तेजी से बढ़ती है और इसके कारण जनता के लिये उपभोग वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा में कमी हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पेट्रोल की पूर्ति को ही युद्ध की अतिरिक्त मांग को पूरी करने के लिये नहीं बढ़ाया जाता तो वर्तमान पूर्ति को ही जनता के उपभोग से हटाकर युद्ध के लिये प्रयोग किया जाने लगेगा। कीमत नियंत्रण न होने के कारण पेट्रोल की कीमत में वृद्धि हो जायगी। वास्तव में युद्ध के व्यय को पूरा करने के लिये मुद्रा प्रसार हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि ऐसी अवस्था में रोजगार की मात्रा प्रायः निश्चित रहती है अथवा यदि बढ़ती है तो साथ में उपभोग वस्तुओं का उत्पादन गम्भीरता से गिरता है। मानव-शक्ति उपभोग वस्तुओं के उत्पादन से हटाकर युद्ध की वस्तुओं के उत्पादन में लगा दी जाती है। युद्ध काल में खाद्य एवं कच्चे पदार्थों के

आयात करने में भी बड़ी कठिनाई होती है। अतः युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का मुख्य कारण वस्तुओं एवं सेवाओं की दुर्लभता होती है, जो युद्ध काल में आयात बन्द हो जाने के कारण और बढ़ जाती है। यदि कीमत-नियन्त्रण की नीति को अपनाया जाय, तो युद्धकालीन मांग को बिना कीमतों में वृद्धि किये ही पूरा किया जा सकता है, भारत में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यदि कीमतों पर कठोर नियन्त्रण और राशनिंग की क्रियायें अपनाई जातीं, तो कीमतों की वृद्धि काफी सीमा तक नियन्त्रित की जा सकती थी।

मुद्रा-प्रसार एवं नियोजन (Inflation & Planning)

ऐसा माना जाता है कि मुद्रा-प्रसार की अवस्था में विकास तभी होता है जब तक मौद्रिक उपाय, जैसे प्रत्यक्ष नियन्त्रण एवं अनुकूल व्यापार शेष, काम में नहीं लाये जाते। यह बात उन अर्थव्यवस्थाओं के लिये और सत्य सिद्ध होती है जहाँ पर विकास के लिये नियोजन अपनाया जाता है। कीमतों की औसत वृद्धि विकास की प्रकिया पर लाभदायक प्रभाव डालती है। यह निजी विनियोगों के लिये प्रोत्साहन एवं आय का साधन सिद्ध हो सकती है तथा इससे उत्पादन के उन साधनों को रोजगार मिल सकता है जो रोजगार में नहीं लगे होते हैं। यह प्रत्येक अर्थव्यवस्था के विकास की अवस्था पर आधारित रहता है।

भारत में मुद्रा-प्रसार (Inflation in India)

भारत में मुद्रा प्रसार द्वितीय विश्व युद्ध की देन है। युद्ध के आरम्भ होते ही सट्टे के प्रभावों के कारण वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगीं। सरकार का व्यय बढ़ जाने के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था पर मुद्रा-प्रसार के प्रभाव प्रतीत होने लगे। सन् १९४०-४१ में चलन-नोटों की मात्रा १ सितम्बर १९३९ की अपेक्षा १८२·२ करोड़ से बढ़कर ३१८.८ करोड़ रुपये हो गई। मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने के साथ-साथ उपभोग की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा कम होने लगी, क्योंकि भारतीय बाजारों में इंगलैंड के लिये सभी प्रकार की वस्तुयें बहुत बड़ी मात्रा में खरीदी जाने लगी थीं। सितम्बर १९४१ में जापान द्वारा भी युद्ध में भाग लेने पर भारत में मुद्रा-प्रसार की स्थिति में और वृद्धि हो गई। सन् १९४१-४२ में चलन-मुद्रा की मात्रा ६४३.४३ करोड़ तथा १९४२-४३ में पुनः बढ़कर ८८३.३३ करोड़ रुपये हो गई। १९४३-४४ में चलन-मुद्रा की मात्रा १३४८·३३ करोड़ रुपये हो गई। कीमतों में इतने उच्चावचन हुये कि सरकार ने खाद्यपदार्थ, कपड़े, शक्कर एवं अन्य आवश्यक वस्तुओं की कीमतों पर नियन्त्रण लगा दिया। सन् १९४३ के उपरान्त सरकार ने पत्र मुद्रा निर्गमन की गति कम कर दी तथा जनता की बढ़ी हुई क्रयशक्ति को कम करने के अभिप्राय से उधार लेने की योजनायें भी चलाई गईं। 'अधिक

अन्न उपजाओ' (Grow More Food) आन्दोलन की उत्पत्ति भी इसी समय हुई। इन उपायों के फलस्वरूप भारत में १९४५ में चलन-मुद्रा की कुल मात्रा ११५९.९ करोड़ रुपये रह गई। १९४३ के उपरान्त, जब से मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिये अनेक उपायों को अपनाया गया, १९४५ तक कीमत-स्तर लगभग स्थिर रहा। इस प्रकार युद्ध काल में देश की चलन मुद्रा में ९७७.७२ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई। युद्ध के अन्त में 'अनुसूचित बैंक' के निक्षेपों की कुल मात्रा लगभग ४६० करोड़ रुपये थी। चलन-मुद्रा की कुल वृद्धि का ८२.५% भाग नोट निर्गमन के कारण, ११.९% रुपये के सिक्कों तथा ५.६% छोटे सिक्कों के रूप में बढ़ा। परन्तु दूसरी ओर युद्ध के दुष्परिणामों के कारण बढ़ी मुद्रा से संचय की प्रवृत्ति (Propensity to hoard) के फलस्वरूप चलन-मुद्रा की गति में कमी हो गई। मुद्रा पूर्ति की इस वृद्धि के कारण सामान्य-कीमत स्तर में अत्यधिक वृद्धि हो गई थी। कृषि वस्तुओं के थोक मूल्यों का निर्देशांक सन् १९३८-३९ के आधार पर सन् १९३९-४० में १२७, कच्चे माल का ११९, निर्मित वस्तुओं का १३१ और सामान्य वस्तुओं का १२६ था। सन् १९४२-४३ में ये निर्देशाँक बढ़कर क्रमशः २७३,२१० २४० और २४५ हो गये। सन् १९४४-४५ तक सामान्य कीमत निर्देशांक में २३६ से २४४ तक वृद्धि हुई।

सन् १९४५ से ५१ तक देश में चलन-मुद्रा की पूर्ति में ४८.६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और देश की कुल मुद्रा की मात्रा १८०१.३ करोड़ (१०८.५+५९२.८) रुपये हो गई। मुद्रा पूर्ति में इस वृद्धि का मुख्य कारण युद्धोत्तर काल में सरकारी व्यय की वृद्धि थी। युद्धकाल का नियन्त्रित मुद्रा प्रसार युद्धोत्तर काल में वस्तुओं की मांग बढ़ जाने के कारण पुनः चालू हो गया। यह मुद्रा प्रसार उपभोग, उत्पादन एवं मुद्रा पूर्ति के गम्भीर असमान्जस्य के कारण उत्पन्न हुआ था। उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) में वृद्धि के कारण वस्तुओं की मांग बढ़ गई, युद्ध काल में मशीनों की घिसावट (Depreciation) एवं श्रम सम्बन्धी अशांति के कारण उत्पादन में कमी हो गई; परन्तु १९४५-५० में मुद्रा की पूर्ति में ५०० करोड़ रुपये की वृद्धि हो गई थी। जुलाई १९४८ में सामान्य कीमत निर्देशांक (आधार १९३८-३९) ३९० और अप्रैल १९५१ में यह ४६५ हो गया।

मुद्रा-प्रसार और प्रथम पंचवर्षीय योजना (Inflation & 1st Five Year Plan)

रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई कठोर मौद्रिक नीति के फलस्वरूप कुल मुद्रा पूर्ति में ८८.६ करोड़ रुपये की कमी हो गई और सन् १९५१-५२ में कीमतें २१% कम हो गईं। कीमत नियन्त्रण के अनेक उपायों के परिणामस्वरूप सितम्बर १९५२ में सामान्य कीमत निर्देशांक ३८९ पर स्थिर रहा तथा अगस्त १९५३ तक १२.८%

बढ़ा। सितम्बर १९५३ और जून १९५५ के बीच कृषि उत्पादन बढ़ जाने के कारण सामान्य कीमत स्तर १५.५% गिर गया, यद्यपि इस अवधि में मुद्रा की पूर्ति बढ़ कर २०४७ करोड़ रुपये हो गई। मुद्रा पूर्ति में वृद्धि का प्रभाव प्रथम पंचवर्षीय योजना की अन्तिम अवस्थाओं में प्रतीत हुआ जब जून ९९५५ से कीमतों में लगातार वृद्धि आरम्भ हो गई। मई १९५५ से दिसम्बर १९५६ में मुद्रा की पूर्ति १३१ करोड़ रुपये बढ़ जाने के साथ-साथ सामान्य कीमत निर्देशांक मई सन् १९५५ में ३४२ से बढ़कर दिसम्बर १९५५ में ३६८ और मार्च १९५६ में ४२८ हो गया। फिर भी प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्त में कीमत-स्तर १९५२-५३ की तुलना में सामान्यरूप से १% कम थी।

इस प्रकार प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह अनुभव किया गया कि विनियोगों को एक निश्चित सीमा तक, बिना कीमतों में वृद्धि लाये हुये, बढ़ाया जा सकता है। प्रथम योजना मुद्रा-प्रसार की अवस्था में प्रारम्भ हुई थी और योजना की सम्पूर्ण अवधि में मुद्रा की पूर्ति में १२% वृद्धि पर भी कीमतें १३% कम हो गईं थीं। दूसरे शब्दों में १९५२-५३ के आधार पर १९५५-५६ में सामान्य कीमत निर्देशांक ९९ हो गया।

मुद्रा प्रसार और द्वितीय पंचवर्षीय योजना (Inflation & 2nd Five Year Plan)

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तिम वर्षों की कीमतों में बढ़ती हुई प्रवृत्ति द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में भी बनी रही। खाद्यान्न और कृषि सम्बन्धी कच्चे माल तथा कुछ औद्योगिक वस्तुओं की कीमतें विभिन्न अनुपात में बढ़ती रहीं। सरकार के घाटे के बजट एवं ८७ करोड़ रुपये की प्रतिवर्ष अतिरिक्त मुद्रापूर्ति के कारण सन् १९५५-५६ की अपेक्षा १९६०-६१ में कीमतें २६% बढ़ गईं। १९५२-५३ के आधार पर थोक कीमतों का निर्देशाँक १९५५-५६ के ९९ से बढ़कर १९५६-५७ में १०५ हो गया। इसके उपराँत यह फरवरी १९५८ के १०५.१ से बढ़कर सितम्बर १९५८ में ११६.५ तथा मार्च १९६१ में १२५ हो गया।

मुद्रा-प्रसार एवं तीसरी पंचवर्षीय योजना (Inflation & 3rd Five Year Plan)

वास्तव में कीमतों की पूर्ण स्थिरता हमारी जैसी अर्थव्यवस्था के लिये न तो व्यवहारिक है और न लाभप्रद ही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कीमतों में २५% वृद्धि की अपेक्षा तृतीय पंचवर्षीय योजना काल में कीमतों की ७ से ८ प्रतिशत तक की वृद्धि (खाद्य एवं अन्य उपभोग वस्तुओं को छोड़ कर) अपेक्षित कही जा सकती है। परन्तु तीसरी पंचवर्षीय योजना में कीमतों की ४०% वृद्धि अर्थव्यवस्था के लिये घातक सिद्ध हो सकती है और इससे सामाजिक एवं आर्थिक असंतोष फैलने की सम्भावनायें हो जायेंगी। इसलिये यह आशा की जाती है कि

तीसरी योजना में ५५० करोड़ रुपये के घाटे को पूरा करने की व्यवस्था को नियंत्रित एवं नियमित रखा जायगा। यह मान्य है कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा-प्रसार का दबाव मौद्रिक कारण की अपेक्षा विकास व्यय की अधिकता एवं उपभोग वस्तुओं की कमी के कारण ही है। निकट भविष्य में एक उचित कीमत नीति इस बात को ध्यान में रखकर ही अपनाई जा सकती है कि देश में संकटकालीन स्थिति के साथ कृषि उत्पादन मन्द गति से बढ़ता है। इस उद्देश्य से एक उचित मौद्रिक नीति साख नियंत्रण एवं मुद्रा संकुचन करने की न होकर मुद्रा पूर्ति में वृद्धि करने की होगी, जिसके अन्तर्गत कच्चा माल खरीदा जा सके, मजदूरियां अदा की जा सकें एवं वस्तुयें शीघ्रता से बेची जा सकें।

मुद्रा संकुचन (Deflation)

पाल एंज़िग (Paul Einzig) ने मुद्रा संकुचन की परिभाषा करते हुये लिखा है कि "यह असाम्य की ऐसी स्थिति होती है, जिसमें क्रय-शक्ति की वृद्धि के कारण कीमतें नीचे गिरती जाती हैं।"[1] वास्तव में चलन-मुद्रा में कमी अथवा मुद्रा की अत्यधिक माँग के कारण कीमतों में असाधारण कमी हो जाना ही मुद्रा संकुचन कहलाता है। इस प्रकार इसका सम्बन्ध गिरते हुये व्यय एवं कीमतों से रहता है, यद्यपि कि वास्तव में प्रत्येक कमी 'मुद्रा संकुचन' नहीं कही जा सकती, जिस प्रकार कीमतों के वृद्धि की प्रत्येक स्थिति 'मुद्रा प्रसार' नहीं कही जा सकती। प्रायः 'मुद्रा संकुचन' से उस स्थिति का आभास होता है जिसमें मुद्रा का मूल्य बढ़ता अथवा कीमतें गिरती हैं।

यहाँ पर दो शब्दों—'मुद्रा संस्फीत' (Reflation) एवं 'मुद्रा अपस्फीति' (Disinflation) की व्याख्या करना आवश्यक है। 'मुद्रा संस्फीति' (Reflation) नियन्त्रित मुद्रा प्रसार की औसत स्थिति होती है। जब कीमतें असामान्य रूप से कम हो जाती हैं और आर्थिक क्रियायें लाभप्रद नहीं रह जातीं, तो मौद्रिक अधिकारी कीमतों की वृद्धि एवं आर्थिक साहस के उपायों को काम में ला सकते हैं। जो लोग मुद्रा को अवसाद का प्राथमिक कारण मानते हैं, उनके विचारानुसार यह अवसाद की स्थिति को दूर करने का एक उपाय होता है। पाल इन्जिग (Paul Einzig) के शब्दों में 'मुद्रा संस्फीत' कीमतों की कमी को रोकने अथवा उनकी कमी के बाद पुनः प्राप्ति की अवस्था को लाने के लिये सोच-विचार कर लाई गई मुद्रा-प्रसार की स्थिति होती है। 'अपस्फीति' (Disinflation) मुद्रा प्रसार के कारण असामान्य रूप से बढ़ी हुई कीमतों को चलन-मुद्रा में कमी करके घटाने की प्रक्रिया होती है।

---

1. ....'As a state of disequilibrium where contraction of purchasing power tend to cause or is the effect of a decline in the price level'.

मुद्रा संकुचन के कारण (Causes of Deflation) : साधारणतय: 'मुद्रा संकुचन' 'मुद्रा प्रसार' के बाद होता है। कभी-कभी सरकार या केन्द्रीय बैंक युद्ध काल की आर्थिक दशाओं को प्राप्त करने के लिये मुद्रा-संकुचन नीति को काम में लाती है। स्वर्णमान बनाये रखने की इच्छा भी मुद्रा-संकुचन नीति पर आधारित थी। हो सकता है कि 'मुद्रा-संकुचन' काल में मुद्रा की कुल मात्रा पहले से कम न हो, परन्तु चलन-मुद्रा की गति में कमी हो जाय। जब मुद्रा संकुचन एक बार प्रारम्भ हो जाता है तो यह कुछ समय तक चलता रहता है। निराशावादियों को बहुत कम हानि होती है परन्तु आशावादी लोग गम्भीर हानि उठाते हैं, तथा कुछ तो दीवालिया हो जाते हैं। निराशावादी वस्तुओं की बहुत कम मात्रा खरीदते हैं तथा मशीनों इत्यादि का स्थांतरण रोक देते हैं। वे बैंकों से न्यूनतम मात्रा में कर्ज लेते हैं। चारों ओर सूक्षमता की प्रक्रिया फैल जाती है जिससे 'मुद्रा-संकुचन' और बढ़ता जाता है। मन्दी काल की दशा अधिक बढ़ जाती है एवं उसकी अवधि भी लम्बी हो जाती है। जब मुद्रा संकुचन का समय आता है तो अत्यधिक लाभ के स्थान पर अत्यधिक हानि होती है और प्रत्येक व्यक्ति वस्तुओं का कम से कम संचय करने लगता है, जिससे उद्योग ठप होने लग जाते हैं। लाभ प्राप्ति का स्थान बेकारी ले लेती है और व्यापारिक जगत में अन्धकार एवं निराशा की लहर दौड़ जाती है। मुद्रा संकुचन की यह सबसे खराब दशा होती है।

परन्तु क्या मुद्रा संकुचन तब तक चलता रहेगा जब तक प्रत्येक व्यक्ति दिवालिया न हो जाय ? वास्तव में ऐसा न होगा क्योंकि लोग अपने रहन-सहन का स्तर (Standard of living) एक न्यूनतम सीमा से नीचा नहीं कर सकते। पिछली बचतें व्यय की जाने लगती हैं और 'मुद्रा-संस्फीति' (Reflation) की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पर निर्धन लोगों के पास या तो बचतें होती ही नहीं और यदि होती हैं तो वे बहुत शीघ्रता से समाप्त हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में राज्य सरकार के सामने उत्तरदायित्व आ जाता है और वह लोगों की विभिन्न प्रकार से सहायता करने लगती है। इस प्रकार द्वितीय मुद्रा-संस्फीति की दशा प्रारम्भ होती है। यदि बेकारी अधिक होती है तो राज्य सरकार कर्ज भी लेती है और इस कर्ज को रोजगार में वृद्धि करने के लिये व्यय करती है। इस प्रकार आर्थिक प्रणाली में मुद्रा-संस्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है।

मुद्रा संकुचन के प्रभाव (Effects of Deflation)

समुदाय के विभिन्न वर्गों में किराया पाने वाला वर्ग (Rentier class) एवं निश्चित आय वाला वर्ग ऐसी दशा में लाभ प्राप्त करता है, क्योंकि इनके पास मुद्रा संकुचन की अवस्था में पहले की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति आ जाती है, जिससे

ये अधिक मात्रा में वस्तुयें एवं सेवाओं का क्रय कर सकते हैं । परन्तु यदि अवसाद की दशा लगातार चलती रहती है तो कर्मचारी वर्ग को, सामान्य बेरोजगारी बढ़ जाने के कारण, हानि होती है । वास्तव में अनैक्षिक बेरोजगारी मुद्रा संकुचन का मुख्य चिन्ह है । इसके अतिरिक्त व्यापारी वर्ग को हानि होती है । यह कई कारणों से होता है । सर्वप्रथम गिरती हुई कीमतें उनकी कुल आय कम कर देती हैं और दूसरे उत्पादन लागत के विभिन्न तत्व (Factors) जैसे—निश्चित व्यय एवं मजदूरियाँ– लागत व्यय बढ़ा देते हैं । इस प्रकार उनके लाभ कम हो जाते हैं । व्यापारी अपना संचित माल बेचने का प्रयत्न करते हैं एवं उनके सामने निराशा का वातावरण फैल जाता है । ऋणी वर्ग को भी हानि होती है क्योंकि उन्हें अपना ऋण अदा करने के लिये अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं की क्रयशक्ति भुगतान में देनी पड़ती है । १९३०-३९ के बीच भारतीय कृषकों पर भूमि का वास्तविक वस्तुओं के रूप में लगान, कृषि वस्तुओं की कीमत में गम्भीर कमी हो जाने के कारण, कई गुना बढ़ गया था । दूसरी ओर, ऋणदाताओं को लाभ होता है, क्योंकि वे भुगतान में ऋण देने के समय की अपेक्षा अधिक क्रय-शक्ति प्राप्त करते हैं । कुल मिलाकर उपभोक्ताओं का सामान्य वर्ग कीमतों की कमी के कारण लाभ उठाता है । कीमतों की कमी के कारण मिलने वाले लाभ से उनका रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता है ।

मुद्रा-प्रसार v/s. मुद्रा-संकुचन

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार एवं मुद्रा-संकुचन की दशायें आधुनिक अर्थव्यवस्था की गम्भीर बुराइयाँ हैं । दोनों का विभिन्न वर्ग के लोगों पर विभिन्न प्रभाव पड़ता है । जबकि मुद्रा-प्रसार एक निश्चित सीमा तक व्यापार, व्यवसाय और रोजगार के लिये लाभप्रद सिद्ध होता है, मुद्रा-संकुचन निश्चित आय वाले व्यक्तियों को लाभप्रद सिद्ध होता है । दूसरे शब्दों में मुद्रा-प्रसार उत्पादन के लिये एवं मुद्रा संकुचन धन के वितरण के लिये लाभप्रद होता है । परन्तु यह तभी सत्य सिद्ध होता है जब कि मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन नियन्त्रित सीमाओं के अन्दर रहता है । यदि वे अपनी सीमा से बाहर होते हैं तो परिणाम निश्चित रूप से भयंकर होते हैं ।

चाहे शांति काल हो अथवा युद्ध काल हो, मुद्रा-प्रसार एवं मुद्रा-संकुचन के कारण मुद्रा के मूल्य में अत्यधिक उच्चावचन आवश्यक रूप से हो जाते हैं । वास्तविक रूप से "**मुद्राप्रसार अन्यायपूर्ण है एवं मुद्रा–संकुचन अव्यवहारिक है ।**"[1] मुद्रा प्रसार में बढ़ती हुई कीमतों के कारण व्यक्तियों, समाज, बचतकर्ताओं एवं विनियोजकों के साथ अन्याय हो जाता है । मुद्रा-संकुचन के कारण नियंत्रित-उत्पादन, बेकारी, क्रयशक्ति

1. Inflation is unjust and deflation is unexpedient; of the two perhaps the deflation is the worse.

की हानि एवं जनता में क्षीणता का संचार होता है। दूसरी ओर "**मुद्रा प्रसार से औद्योगिक क्रियायें अधिक उत्तेजित हो जाती हैं तथा मुद्रा संकुचन से ऋणियों के साथ** अन्याय होता है।"[1]............दोनों में से (यदि जर्मनी में हुये मुद्रा-प्रसार की स्थिति को विचार में न रक्खा जाय) मुद्रा संकुचन अधिक हानिकारक सिद्ध होता है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि किराये से धन कमाने वालों को सन्तुष्ट करना उतना हानि-कारक नहीं है जितना कि बेकारी बढ़ाने से होता है। परन्तु जैसा कि कीन्स ने कहा है, "**यह ठीक नहीं है कि एक बुराई की दूसरी बुराई से तुलना की जाय : यह मान लेना आसान है कि दोनों बुराइयां ऐसी हैं जिनको दूर रखना चाहिए।**[2]

निर्देश पुस्तकें

E. W. Kemmerer	: The A. B. C. of Inflation—Cp. I to IV.
A. H. Hanson	: Monetary Theory & Fiscal Policy-Chp. XI.
A. Ghosh	: Indian Economy—Pt. V.
G. Crowther	: An Outline of Money—Ch. VII.
P. Einzig	: Inflation.
Mitra & Roy	: A Tract on Money—Chs. VIII & IX.

1. Inflation leads to over stimulation of industrial activity and deflation means injustic to borrowers.

2. It is not necessary that we should weigh one evil against the other; it is easier to agree that both are evils to be shunned.

अध्याय १०

विदेशी विनिमय

अभी तक हमने मुद्रा सम्बन्धी उन समस्याओं का विवेचन किया है जो मुद्रा के अतिरिक्त मूल्य के संदर्भ तथा आय, कीमत, उत्पादन एवं रोजगार के सम्बन्ध में किसी एक देश के आर्थिक जीवन में पाये जाते हैं। अब हम उन समस्याओं का अध्ययन करेंगे जो मुद्रा के वाह्य मूल्य से सम्बन्धित होते हैं ।

'विदेशी विनिमय' को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अपने अलग अलग ढंग से परिभाषित किया है । कुछ विचारकों के अनुसार इस शब्द का अभिप्राय विदेशी मुद्रा के क्रय एवं विक्रय किये जाने से होता है। दूसरी ओर कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि यह उस प्रणाली को बतलाता है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते हैं। कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि इस शब्द का अर्थ विनिमय दर से होता है जिसके आधार पर एक देश की चलन मुद्रा दूसरे देश की चलन मुद्रा से बदली जाती है। विश्व कोष के अनुसार, "वह प्रणाली जिसके द्वारा व्यापारिक राष्ट्र पारस्परिक ऋणों का भुगतान करते हैं, विदेशी विनिमय कहलाती है।"[1] हार्टले विदर्स (Heartley Withers) ने इसी विचार की पुष्टि की है और लिखा है कि "विदेशी विनिमय, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के परिवर्तन की कला और विज्ञान है।"[2] सही अर्थों में विदेशी विनिमय का अभिप्राय **उस पद्धति से होता है जिसके द्वारा दो भिन्न मुद्रा पद्धति वाले देशों या क्षेत्रों में रहने वाले एक दूसरे का भुगतान करते हैं।**[3] यद्यपि यह पद्धति घरेलू अर्थव्यवस्था की बैंक समाशोधन पद्धति की ही भाँति होती है, परन्तु विदेशी विनिमय का महत्व इसलिये होता है क्योंकि भुगतानों का समाशोधन देशी मुद्राओं में व्यक्त न होकर भिन्न मुद्राओं में व्यक्त किया जाता है ।

विदेशी विनिमय समस्या का उदय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विद्यमानता के कारण हुआ है । यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता ही न हो। यह भी उस समय साधारण रूप में

---

1. "The machinery whereby payments are affected in international trade is known as 'Foreign Exchange".
2. "Foreign Exchange is the science and art of international money changing".
3. The term foreign exchange is applied to designate the whole of the monetary process as connected with the settlement of accounts between individuals residing in one country with the inhabitants of other countries.

होता, यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत आने वाले देश एक ही मुद्रा पद्धति पर आधारित होते। परन्तु व्यवहारिक जीवन में विभिन्न देशों में विभिन्न मुद्रा पद्धतियां प्रचलित होती हैं जिनके अन्तर्गत विभिन्न धातु, आकार-प्रकार एवं शुद्धता के सिक्कों व नोटों का चलन होता है। इन सिक्कों व नोटों का चलन केवल उस देश की सीमा तक ही किया जा सकता है, जिस देश में ये सिक्के व नोट चलन-मुद्रा के रूप में प्रचलित होते हैं। विशेष दशाओं में हमें ऐसी मुद्रा इकाइयों के उदाहरण मिल सकते हैं जो विभिन्न देशों में प्रचलित होते हुये भी स्वतन्त्र हों। उदाहरणार्थ, डालर के रूप में मुद्रा इकाई अमरीका एवं कनाडा में प्रचलित है अथवा पाउण्ड, आस्ट्रेलिया व न्यूजीलैण्ड में एवं फ्रैंक का चलन फ्रांस, स्विटजरलैण्ड और बेल्जियम में होता है। परन्तु एक देश में चलने वाले ये सिक्के व नोट भी दूसरे देश के नागरिक स्वीकार नहीं करते। इसलिये अनेक देशों के बीच समस्या यह होती है कि एक देश की मुद्रा के बदले दूसरे देश की कितनी मुद्रा बदली जाय तथा इस प्रकार के परिवर्तन करके भुगतान किस माध्यम द्वारा किया जाय। पहली समस्या 'विनिमय दर' के निर्धारण से तथा दूसरी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के ढंग से सम्बन्धित है।

विनिमय दर (Rate of Exchange)

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की सबसे पहली समस्या परिवर्तनशीलता (Convertibility) की होती है : किस दर पर एक देश की मुद्रा का परिवर्तन दूसरे देश की मुद्रा से किया जाय। जिस दर पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा में परिवर्तित की जा सकती है 'विनिमय दर' कहलाती है। दूसरे शब्दों में, **विनिमय दर से हमारा अभिप्राय किसी देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा में विनिमय मूल्य से होता है।** यदि १ रुपये के बदले २० सेंट अथवा १ शिलिंग ६ पेंस पाया जा सकता है तो रुपये की विनिमय दर २० सेंट अथवा १८ पेंस मानी जायेगी। यह विनिमय दर १$=५ रु० के अथवा £१=१३.३ रुपये के रूप में भी स्पष्ट की जा सकती है (क्योंकि १०० सेंट=$ १ के तथा २० शिलिंग=£१ के होते हैं)। इस प्रकार विनिमय दर को दो प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है : १–घरेलू मुद्रा में विदेशी मुद्रा का मूल्य स्पष्ट कर, अथवा २–विदेशी मुद्रा में घरेलू मुद्रा का मूल्य स्पष्ट कर। उपरोक्त उदाहरण में पहले विदेशी मुद्रा में घरेलू मुद्रा का मूल्य (१ रु०=२०से० तथा १ रु०=१८पे०) के रूप में स्पष्ट किया गया है। **विदेशी मुद्रा में घरेलू मुद्रा का मूल्य स्पष्ट करना अधिक वैज्ञानिक माना जाता है।** यह उस समय प्रतीत होता है जब हम विनिमय दर में वृद्धि या कमी का विचार स्पष्ट करते हैं। व्यवहारिक रूप में हमारा अभिप्राय विदेशी मुद्रा में घरेलू मुद्रा के मूल्य में वृद्धि या कमी से होता है। जब हम यह कहते हैं कि 'विनिमय दर बढ़ गई है' तो हमारा अभिप्राय यह बतलाने

का होता है कि घरेलू मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा में बढ़ गया है (१ रु०=१ शि० ६ पें० से बढ़कर १ शि० ८ पें०)। यदि विनिमय दर को दूसरी रीति से व्यक्त किया जाता है (१£=१३.३३ रु०) तो इसका अर्थ उल्टा हो जायगा।

विनिमय दर का निर्धारण (Determination of Rate of Exchange)

विनिमय दर (विदेशी मुद्रा में घरेलू मुद्रा का मूल्य : १ रु०=२० सेंट) निर्धारण में कम से कम दो मुद्रायें सम्बन्धित होती हैं और आपस में दोनों का मूल्य निश्चित करना होता है। विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General theory of value) के ही द्वारा होता है। जिस प्रकार किसी बाजार में किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, उसी प्रकार एक मुद्रा का दूसरी मुद्रा में मूल्य निर्धारण (विनिमय दर) सन्बन्धित विनिमय बाजारों में उन मुद्राओं की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है। इसके साथ ही, जिस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण की स्थिति में बाजारू-मूल्य (दिन प्रतिदिन का मूल्य) सामान्य-मूल्य (उत्पादन लागत) के आस पास चक्कर लगाता है उसी प्रकार वास्तविक विनिमय दर (दिन प्रतिदिन की दर) साम्य विनिमय दर (टंक-समता एवं क्रय शक्ति समता द्वारा निर्धारित) के आसपास चक्कर लगाता है। अतः विनिमय दर का निर्धारण विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत भिन्न प्रकार से होता है। साधारणतया दो देशों में निम्न प्रकार में से किसी एक प्रकार की मुद्रा व्यवस्था हो सकती है और उन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत हम विनिमय दरों के निर्धारण का विस्तृत अध्ययन करेंगे :—

१—जब दो देश एक ही प्रकार के धातुमान—स्वर्ण अथवा रजत—पर आधारित हों;

२—जब दो देश भिन्न मौद्रिक मानों पर आधारित हों : (अ) जब एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा रजतमान पर आधारित हो;

३—जब दोनों देश अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा पर आधारित हों।

१—समान धातुमान अपनाने वाले देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण (Rate of exchange between the countries on similar Monetary Standards) :

जब दोनों देश स्वर्णमान जैसे मौद्रिकमान पर आधारित होते हैं तो विनिमय दर का निर्धारण सरलतम हो जाता है। जब एक देश विशेष धातुमान पर आधारित होता है तो उस देश में प्रायः उस धातु के आयात एवं निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता और उस देश में उस धातु विशेष के सिक्कों का या तो चलन होता है या वहाँ की चलन-मुद्रा उस धातु में परिवर्तनीय होती है। इस प्रकार के मौद्रिकमान के अन्तर्गत देश

में धातु की पूर्ति परिवर्तित होती रहती है जो देश में चलन की मात्रा, रोजगार एवं विनियोग नियमित कर देश के कीमत स्तर को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार का प्रमुख मुद्रामान स्वर्णमान के रूप में ही अपनाया गया। इस प्रकार के मान के अन्तर्गत स्वर्ण का आयात व निर्यात अप्रतिबन्धित होने के कारण देश में स्वर्ण की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता था जिसके द्वारा देश में चलन की मात्रा, रोजगार एवं विनियोग नियमित होकर देश के कीमत-स्तर को प्रभावित करते थे। इस प्रकार के मान के अन्तर्गत विनिमय दर का निर्धारण सम्बन्धित मुद्राओं की स्वर्ण क्रय-शक्ति या उनमें विद्यमान स्वर्ण की वैधानिक मात्रा की तुलना करके निश्चित कर दी जाती है। उदाहरणार्थ, यदि पौण्ड के १५ स्वर्ण-सिक्कों में १ औंस स्वर्ण विद्यमान है जो डालर के ४५ सिक्कों में है तो इंगलैण्ड एवं अमरीका की पारस्परिक विनिमय दर १५ £=४५ $ या १ £=३ $ होगी। स्वर्ण के सिक्कों के प्रचलन में न होने के समय सरकार द्वारा घोषित सिक्कों के टंक मूल्य को बराबर कर विनिमय दर निश्चित कर ली जाती है। इस प्रकार जो दर निश्चित की जाती है उसे विनिमय की **टंक समता** (Mint Parity)[1] एवं उस प्रणाली को विनिमय का टंक समता सिद्धांत (Mint Par of Exchange Theory) कहते हैं। १९१४ के पूर्व इसी प्रकार टंक समतायें निर्धारित की गईं थीं जब १ £=४.८६६ $, १ £ = २५.२२ फ्रैंक =२०.४१ मार्क = २५.२६ लीरा निर्धारित हुआ था।[2]

इस प्रकार निर्धारित विनिमय दर उस स्तर को बतलाती है जिसके आसपास वास्तविक विनिमय दर गतिशील रहती है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है वास्तविक विनिमय दर साधारण विनिमय दर के चारों ओर उसी प्रकार घूमती है जिस प्रकार बाजारू मूल्य साधारण मूल्य के चारो ओर घूमता रहता है। वास्तविक विनिमय दर का सामान्य विनिमय दर से ऊँचा-नीचा होना विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों पर निर्भर करता है। प्रत्येक देश में हर समय ऐसे कुछ लोग होते हैं जो किसी विशेष देश से मँगाये जाने वाले माल के बदले में भुगतान करने के लिये उस देश की मुद्रा की माँग करते हैं। उसी समय दूसरे देश में भी कुछ ऐसे लोग होते हैं जो पहले देश से मँगाये हुये माल के मूल्य का भुगतान करने के लिये उस देश की मुद्रा की माँग करते हैं और अपने देश की मुद्रा की पूर्ति करते हैं।

---

1. "The mint par is an expression of the ratio between the statutory bullion equivalents of standard monetary units to countries on the same metallic standard". Thomas—Principals & Arithmetic of Foreign Exchange—p. 112.

2. "The mint par depends in short not on the coin itself but on the legal definition of it, not on the sovereign defacto but on the sovereign dejure.... unless and until the law is altered, the mint par cannot alter".

Clare & Crump, ABC of Foreign Exchange.

विदेशी मुद्रा बाजार में प्रथम देश के वे लोग विदेशी मुद्रा की माँग करते हैं जिसकी पूर्ति उस विशेष देश के लोग अपने भुगतानों के लिये करते हैं।

यदि किसी समय अधिक आयात के कारण विदेशी मुद्रा की मांग-निर्यात की कमी के कारण घरेलू मुद्रा की मांग (अथवा विदेशी मुद्रा की पूर्ति) से अधिक है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा । इसी प्रकार यदि किसी समय विदेशी मुद्रा की पूर्ति पहले से अधिक हो जाती है तथा घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है तो विदेशी मुद्रा का मूल्य कम हो जायेगा तथा घरेलू मुद्रा का मूल्य बढ़ जायगा । पहली दशा में विनिमय-दर घट जायगी तथा दूसरी दशा में वह बढ़ जायगी । उदाहरणार्थ इंगलैण्ड और भारत के बीच साधारण विनिमय दर १ रु०=१ शि० ६ पें० है। भारत में इंगलैण्ड से आयात बढ़ जाने के कारण विदेशी मुद्रा बाजार में शिलिंग की मांग बढ़ जायगी तथा रुपये की पूर्ति भी बढ़ जायगी । ऐसी दशा में शिलिंग का मूल्य बढ़ जायगा और विनिमय दर १ शि० ६ पें० से घट कर १ शि० ५ पेंस होने की प्रवृत्ति अपना लेगी । इसी प्रकार यदि किसी समय भारत में निर्यात बढ़ कर इंगलैण्ड में आयात बढ़ जाते हैं जिसके कारण मुद्रा बाजार में रुपये की मांग एवं शिलिंग की पूर्ति बढ़ जाती है तो रुपये का मूल्य बढ़ जायगा और शिलिंग का मूल्य घट जायगा। विनिमय दर १ शि० ६ पें० से बढ़ कर १ शि० ७ पें० होने की प्रवृत्ति अपना लेगी । अतः वास्तविक विनिमय दर साधारण विनिमय दर से कम या अधिक, विदेशी मुद्राओं की मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के परिवर्तनों के कारण, हो जाती है।

परन्तु वास्तविक विनिमय दर में ये उच्चावचन किस सीमा तक हो सकते हैं ? निःसन्देह वास्तविक विनिमय दर में परिवर्तन मुद्रा की मांग के परिवर्तनों के कारण होते हैं जो स्वयं आयात एवं निर्यात तथा दृश्य एवं अदृश्य मदों (visible and invisible items) के असंतुलन के कारण हो जाते हैं। परन्तु ये उच्चावचन एक विशेष सीमा—स्वर्ण बिन्दु (specie points)—तक ही हो सकते हैं। स्वर्ण बिन्दु (specie points) के दो रूप—स्वर्ण आयात बिन्दु एवं स्वर्ण निर्यात बिन्दु—विनिमय दरों के उच्चावचनों की निश्चित सीमाओं के अन्दर होने देते हैं।

स्वर्ण विन्दु (Specie Points)

स्वर्ण विन्दुओं के विचार को समझने के लिये हमें यह ध्यान में रखना होगा कि स्वर्णमान पर आधारित देशों के मध्य स्वर्ण के आयात एवं निर्यात पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता । यदि इंगलैण्ड एवं फ्रांस के बीच १£=२५ फ्रैंक टंक समता दर निर्धारित हुई है और फ्रांस में 'अ' व्यक्ति को इंगलैण्ड के एक महाजन को १००£ का भुगतान करना है, तो इसका भुगतान वह या तो फ्रैंक को पाउण्ड में एक निश्चित विनिमय दर पर बदल कर कर सकता है या वह १००£ के मूल्य के

बराबर का सोना इंगलैण्ड में अपने महाजन को भेज कर अपना भुगतान कर सकता है। यदि वह स्वर्ण भेज कर भुगतान करना चाहता है तो उसे निश्चय ही १००£ के बराबर स्वर्ण खरीदने के लिये २५०० फ्रैंक खर्च करने पड़ेंगे। पर स्वर्ण भेजने में उसे पैकिंग, भाड़ा इत्यादि के व्यय को भी सहन करना पड़ेगा। यदि भुगतान के लिये आवश्यक सोना भेजने में उसे २० फ्रैंक और व्यय करने पड़ते हैं तो उसका कुल व्यय २५००+२०=२५२० फ्रैंक हो जायगा। अथवा १£ के लिये उसे २५.२० फ्रैंक देने पड़ेंगे। यदि वास्तविक विनिमय दर १£=२५.२० फ्रैंक से अधिक हो जाती है तो 'अ' अपने भुगतान को सोना भेज कर ही करेगा। अतः साधारणतया वास्तविक विनिमय दर १£=२५.२० फ्रैंक से अधिक न होगी। इसी प्रकार यदि किसी समय इंगलैण्ड का एक व्यवसाई 'ब' फ्रांस में अपने महाजन को २५०० फ्रैंक का भुगतान करना चाहता है जिसको कि वह या तो पाउण्ड को फ्रैंक में बदल कर कर सकता है और या २५०० फ्रैंक के मूल्य का सोना, जो उसे १००£ में प्राप्त हो जायगा, भेज कर कर सकता है। यदि वह १००£ का सोना फ्रांस भेजता है तो उसको ऐसा करने में कुछ अतिरिक्त व्यय भी करना पड़ेगा। यदि यह व्यय १६ शि० (·८०£) के बराबर है तो २५०० फ्रैंक का भुगतान करने के लिये उसको १००+·८०= १००.८० पौंड व्यय करने पड़ेंगे। इसके आधार पर विनिमय दर कम से कम १£ =२४.८० फ्रैंक होगा। यदि इंगलैण्ड में विनिमय दर १£ =२५ फ्रैंक से घट कर १£=२४.८० फ्रैंक से कम हो जाती है तो इंगलैण्ड का ऋणी अपने भुगतान को स्वर्ण निर्यात कर ही करेगा। अतः विनिमय दर १£=२४.८० फ्रैंक से कम न होगी।

इस प्रकार इंगलैण्ड और फ्रांस के बीच वास्तविक विनिमय दर १£= २५.२० फ्रैंक तथा २४.८० फ्रैंक के अन्तर्गत ही रहेगी, जबकि साधारण विनिमय दर १£=२५ फ्रैंक होगी। उच्चावचन की ये सीमायें स्वर्ण आयात तथा निर्यात बिन्दु (Gold import & export points) कहलाती हैं,[1] क्योंकि विनिमय दर के १£= २५.२० फ्रैंक से अधिक हो जाने पर सोना फ्रांस से इंगलैंड को जाने लगेगा और २४.८० फ्रैंक से कम होने पर सोना इंगलैण्ड से फ्राँस को जाने लगेगा। स्वर्ण कोषों के इस प्रकार के आयात एवं निर्यात विनिमय दर में साम्य की स्थिति लायेंगे।

जब दो देश जिनके बीच विनिमय दर निर्धारण की समस्या होती है, रजत मान अपनाये होते हैं तो उनके बीच विनिमय दर का निर्धारण उसी सिद्धांत एवं ढंग से होता है जिसका पालन करके स्वर्णमान पर आधारित देश विनिमय दरों का

1. "The export specie point from a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold at home and selling abroad while the import specie point to a country is the rate of exchange obtained by purchasing gold abroad & selling at home". Thomas : Principles & Arithmetic of Foreign Exchange

निर्धारण करते हैं। जब किसी देश में रजतमान होता है तो उस देश में चाँदी के निश्चित भार एवं शुद्धता वाले सिक्कों का प्रचलन होता है अथवा उस देश की चलन-मुद्रा चाँदी के निश्चित भार एवं शुद्धता वाली धातु में परिवर्तनीय होती है। चांदी के आयात तथा निर्यात पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। ऐसी दशा में दो देशों की मुद्राओं के रजत मूल्यों को बराबर करके विनिमय दर का निर्धारण होता है। वास्तविक विनिमय दर के उच्चावचन रजत आयात तथा रजत निर्यात बिन्दु से सीमित रहते हैं।

२—जब दो देश भिन्न मौद्रिक प्रमाणों पर आधारित होते हैं (Rate of Exchange between countries on different standard) :

(अ) स्वर्णमान एवं रजतमान वाले देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण : जब एक देश में स्वर्णमान और दूसरे देश में रजतमान स्थापित होता है तो उनके बीच विनिमय दर का निर्धारण किसी भी समय स्वर्ण एवं रजत के सापेक्षिक मूल्यों के आधार पर निर्धारित होता है। किसी एक देश में एक धातु का मूल्य दूसरी धातु में निकाल कर देशों के बीच धातु-मूल्यों को बराबर कर दिया जाता है। यदि किसी एक समय चाँदी का मूल्य स्वर्ण में कम हो जाता है तो रजतमान वाले देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में कम हो जायगा। विनिमय दर के निर्धारण में विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के साथ साथ इस प्रकार के सापेक्षिक मूल्य परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ेगा जो समय समय पर बदलता रहता है। इंगलैण्ड एवं भारत के बीच १८७१–९३ में विनिमय दर के अत्यधिक परिवर्तनों के कारण उस समय स्वर्ण की तुलना में चाँदी के मूल्यों में अत्यधिक परिवर्तन ही थे। यदि यह मान लिया जाय कि 'अ' देश में रजतमान और और 'ब' देश में स्वर्ण के अन्तर्गत विनिमय दर का निर्धारण 'अ' देश की मुद्रा का स्वर्ण मूल्य मालूम कर स्वर्णमान के सिद्धांत पर निर्धारित होता है, तो उनके बीच वास्तविक विनिमय दर के परिवर्तन कोषों के आयात व निर्यात बिंदुओं के बीच 'अ' देश में स्वर्ण तथा चाँदी के सापेक्षिक मूल्य परिवर्तनों के आधार पर होंगे।

(ब) स्वर्णमान एवं अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा वाले देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण : ऐसी दशा में विनिमय दर का निर्धारण दोनों मुद्राओं की स्वर्ण क्रयशक्ति को समान करके किया जाता है। स्वर्णमान वाले देश की मुद्रा का मूल्य निश्चित एवं घोषित होता ही है। अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा वाले देश की मुद्रा का स्वर्ण मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है और तब विनिमय दर का निर्धारण होता है। परन्तु इस दशा में साम्य बनाये रखना बड़ा कठिन होता है क्योंकि पत्रमान के अन्तर्गत स्वर्ण के स्वतन्त्र आवागमन की अनुमति नहीं होती है। इसलिये विनिमय दर भी स्वर्ण के आयात एवं निर्यात बिंदु तक ही सीमित नहीं रहती। अतः विनिमय दर का सन्तुलन अधिकतर उसके नियमन किये जाने पर आधारित रहता है।

३—अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दर का निर्धारण (Determination of rate of exchange between countries on inconvertible paper standard) :

जब विभिन्न देश अपरिवर्तनशील पत्र-मान पर आधारित होते हैं तब उनकी मुद्रायें (सांकेतिक एवं वास्तविक) सरकार द्वारा घोषित दर पर परिवर्तित नहीं होती हैं। ऐसी स्थिति में आयात एवं निर्यात के लिये स्वर्ण उपलब्ध नहीं होता। इसका अर्थ यही है कि स्वर्णमान देशों की भाँति ऐसे देशों के बीच विनिमय दरों के उच्चावचनों की कोई सीमा नहीं होती है इसलिये अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा वाले देशों के मध्य विनिमय दरों का निर्धारण भिन्न प्रकार से क्रय शक्तियों को समान करके किया जाता है।

क्रयशक्ति समता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory) :

जब दो देश अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रामान पर आधारित होते हैं तो उनके बीच विनिमय दर का निर्धारण विदेशी मुद्रा बाजारों में उनके स्वत्वों की माँग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। किन्तु विनिमय दर पर इन मुद्राओं के आंतरिक मूल्यों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। 'क्रयशक्ति समता सिद्धांत' का प्रतिपादन प्रथम महायुद्ध के पश्चात स्वीडन अर्थशास्त्री गस्टव कैसल (Gustav Cassel) द्वारा किया गया था। इस सिद्धाँत द्वारा प्रो० कैसल ने यह बतलाया था कि अपरिवर्तन शील पत्रमुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दरों का निर्धारण किस प्रकार होता है। पर ऐसा विश्वास किया जाता है कि 'क्रयशक्ति समता सिद्धाँत' का विकास १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जान ह्विटले (John Wheatly) एवं दूसरे अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया था। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि इस सिद्धांत की ओर संकेत करने वाला प्रथम अर्थशास्त्री मार्शल (Marshall) था। रिकार्डो (Ricardo) ने इस सिद्धांत का वर्णन किया है परन्तु स्वर्णमान की समाप्ति पर प्रो० कैसल (Cassel) द्वारा इस नाम के स्पष्टीकरण के कारण यह सिद्धांत उन्हीं के नाम से सम्बोधित किया जाता है। कैसल (Cassel) द्वारा प्रस्तुत सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : "**विभिन्न देशों में अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रामान प्रचलित होने की स्थिति में उनके बीच आधारभूत विनिमय दर क्रय-शक्ति साम्य-सम्बन्धित घरेलू बाजारों में दो मुद्राओं के मध्य क्रय-शक्ति के अनुपात द्वारा निर्धारित होती है।**"[1] परन्तु विदेशी मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति की शक्तियों के प्रभाव के कारण वास्तविक विनिमय दर किसी भी समय क्रयशक्ति-समता (Purchasing power parity) से कम या अधिक हो सकती है, यद्यपि क्रयशक्ति साम्य ही ऐसा बिन्दु होता है जिसकी ओर विनिमय दर लगातार गतिशील रहती है एवं अन्त में इसी बिन्दु पर विनिमय दर आ जाती

1. "In the case of countries on inconvertible paper currency standard, the basic rate of exchange between them is determined by the purchasing power par—the ratio between the purchasing powers of two currencies in their respective home markets".

है।"[1] अन्य स्थान पर इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुये कैसल ने स्वयं लिखा है कि "दो मुद्राओं के मध्य विनिमय दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओं की आंतरिक क्रय-शक्तियों के भजनफल पर निर्भर होनी चाहिए। यह सहज ही देखा जा सकता है, यदि हम इस सत्य पर ध्यान दें कि जो मूल्य हम विदेशी मुद्रा में देते हैं वह ऐसा मूल्य है जिसका अन्तिम दशा में घरेलू बाजार में वस्तुओं के मूल्यों से एक निश्चित सम्बन्ध होता है।"[2]

कैसल (Cassel) के अनुसार, अन्य अर्थशास्त्रियों ने भी 'क्रयशक्ति समता सिद्धांत' का स्पष्टीकरण किया है, यद्यपि उन्होंने शब्दों का प्रयोग विभिन्न रूप से किया है। बैरेट ह्वेल (Barett Whale) के अनुसार "विनिमय-दरों को साधारण रूप में विभिन्न राष्ट्रों की मौद्रिक इकाइयों की आन्तरिक क्रय-शक्ति के मध्य सम्बन्ध को प्रकट करना चाहिए।"[3] इसी प्रकार जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) ने विनिमय दर 'राष्ट्रीय मुद्राओं का मूल्य' बतलाया है।[4] टामस (Thomas) ने इस सिद्धान्त की विवेचना करते हुए लिखा है कि "एक देश की मुद्रा की इकाई का मूल्य दूसरे देश की मुद्रा में किसी समय विशेषकर बाजार में मांग और पूर्ति की स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकाल में यह मूल्य दोनों देशों की मुद्राओं के सापेक्षिक मूल्य द्वारा निश्चित होता है जो उन देशों की मुद्राओं की अपने अपने देशों की वस्तुओं और सेवाओं की क्रय-शक्ति द्वारा प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में विनिमय दर उसी बिन्दु पर स्थिर रहने की प्रवृत्ति दिखलाती है, जहाँ दोनों ही देशों की मुद्राओं की क्रय शक्ति में समता होती है। यह बिन्दु ही 'क्रय शक्ति समता' कहलाता है।"[5]

---

1. "The actual Rate of Exchange at any time may move away from the Purchasing Power Parity due to influences of demand & supply for foreign currencies, but the purchasing power par is the point towards which the rate will constantly tend to move and at which it must ultimately come to rest".
2. "The rate of exchange between two currencies must stand essentially on the quotient, of the internal purchasing powers of these currencies. This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in foreign currency is ultimately a price which must stand in a certain relation to the prices of commodities in the home market".
3. "The Exchange rates should normally reflect the relation between the internal purchasing powers of the various national currency units".
   Barett Whale—International Trade—p. 46
4. "The relative values of national currencies, specially when they are of the Gold Standard, in the long run are determined by their relative purchasing powers in terms of goods & services". G. D. H Cole.
5. "Which the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand & supply, in the long run that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing power over goods & services (in their respective countries). In other words, the rate of exchange tends to rest at that point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies. This point is called the purchasing power parity".
   S. E. Thomas : The Principles & Arithmetic of Foreign Exchange,

कैसल का 'क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त' दो भागों में विभाजित है: वास्तविक रूप (Positive form)—जिसके अन्तर्गत उन्होंने यह बतलाया कि विनिमय दर (Rate of Exchange) का निर्धारण किस प्रकार होता है; और सापेक्षिक रूप (Comparative form)—जिसके अन्तर्गत उन्होंने यह बतलाया कि इस निर्धारित विनिमय दर में परिवर्तन क्यों होते हैं तथा यह किस दिशा एवं अनुपात में होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि कैसल (Cassel) ने अपने सिद्धान्त में सापेक्षिक रूप का विवेचन काफी समय के पश्चात् किया।

'क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त' का स्पष्टीकरण उदाहरण द्वारा अच्छी तरह से किया जा सकता है। यदि यह मान लिया जाय कि ऐसे दो देश अ व ब हैं जो अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा मान अपनाये हुये हैं, जिनके बीच वस्तुओं का आयात एवं निर्यात बिना किसी नियन्त्रण के होता है और जिनके बीच स्थानाँतरण लागत का विशेष महत्व नहीं है। ऐसी दशा में 'अ' देश में 'ब' देश की मुद्रा की माँग तथा 'ब' देश में 'अ' देश की मुद्रा की मांग के होने का एक ही कारण होगा कि प्रत्येक देश की मुद्रा की अपने देश में क्रय शक्ति होगी। 'अ' देश की मुद्रा किस दर पर 'ब' देश की मुद्रा से बदली जाय, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उन दोनों मुद्राओं की अपने अपने देशों में सापेक्षिक क्रय-शक्ति क्या है। यदि 'अ' देश में 'अ' देश की मुद्रा की 'क' इकाइयों से वस्तुओं और सेवाओं के एक निश्चित समूह को खरीदा जा सकता है और 'ब' देश में 'ब' देश की मुद्रा की 'ख' इकाइयों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की उसी मात्रा को खरीदा जा सकता है, तो 'अ' देश की मुद्रा की 'क' इकाइयां 'ब' देश की मुद्रा की 'ख' इकाइयों के बराबर होंगी। दूसरे शब्दों में दोनों देशों के बीच विनिमय अनुपात का निर्धारण सापेक्षिक मुद्राओं की क्रय-शक्ति (purchasing power) के अनुपातों द्वारा होगा। उदाहरणार्थ यदि अमरीका एवं इंगलैंड में वस्तुओं और सेवाओं के एक निश्चित मात्रा की माँग है एवं इस मात्रा की पूर्ति इंगलैंड में १००£ द्वारा तथा अमेरिका में $५०० द्वारा की जा सकती है ऐसी स्थिति में $५०० की क्रय-शक्ति £१०० की क्रय-शक्ति के बराबर होगी अथवा $५=£१ होगी। इसके पश्चात् यदि किसी समय विशेष दर वास्तविक विनिमय दर इस स्तर से हट जाती है, तो आर्थिक शक्तियाँ वास्तविक दर को इसी स्तर पर लाने की प्रवृत्ति अपना लेंगी। उदाहरणार्थ यदि वास्तविक विनिमय दर £१=$५·५ के हो जाती है तो पाउण्ड की क्रय शक्ति बढ़ जाने के कारण इंगलैंड के निवासी पाउण्ड को डालरों में परिवर्तित करेंगे और १£ के लिये केवल $५ का माल अमेरिका भेज कर प्रत्येक पाउण्ड पर $०·५ की बचत करेंगे। इंगलैंड में डालर की मांग बढ़ जायगी क्योंकि अमरीका को इंगलैंड के निर्यात कम हो जावेंगे और डालर का मूल्य पाउण्ड की तुलना में साम्य की स्थिति पर आ जायगा। **इस प्रकार क्रय-शक्ति समता सिद्धांत**

विनिमय-दरों का निर्धारण उन देशों के सम्बन्ध में बतलाता है जो अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रामान अपनाये हुए होते हैं।

बहुत अंशों तक यह सिद्धान्त विनिमय दरों का निर्धारण उसी प्रकार बतलाता है जिस प्रकार कि स्वर्णमान वाले देशों के बीच विनिमय दरों का निर्धारण होता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत सम्बन्धित मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों को बराबर किया जाता है, परन्तु पत्र-मुद्रा मान वाले देशों के बीच विनिमय-दर का निर्धारण, मुद्राओं के स्वर्ण मूल्यों को समान न करके बल्कि उनकी एक सी वस्तुओं के सम्बन्ध में मुद्रा-मूल्यों को बराबर करके किया जाता है। यदि इंगलैंड में £१ की क्रय-शक्ति १ हन्डरवेट गेहूं के बराबर है और अमेरिका में उसी प्रकार तथा उतने ही गेहूं की कीमत $४ है तो क्रय शक्ति को समान कर विनिमय दर £१=$४ होगी। परन्तु स्वर्णमान के अन्तर्गत मुद्रा की क्रय-शक्ति स्वर्ण में तो जान ली जाती है पर मुद्रा मान के अन्तर्गत मुद्राओं की क्रय-शक्ति विशेष वस्तुओं के आधार पर नहीं जानी जा सकती। कारण स्पष्ट है कि विभिन्न वस्तुओं में यदि दो देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति समानता जानने का प्रयास किया जाता है तो यह भिन्न भिन्न वस्तुओं द्वारा अलग अलग प्राप्त होगी, क्योंकि सभी देशों में सभी वस्तुओं का मूल्य समानरूप से कम या अधिक नहीं होता। यथार्थ में पत्र-मुद्रा प्रणाली में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जिसे विभिन्न देशों की मुद्राओं के क्रयशक्ति-मापक के रूप में प्रयोग किया जा सके। इसी लिये ऐसी दशा में विनिमय दरों का निर्धारण **सामान्य क्रयशक्ति** (General Purchasing Power) को बराबर करके किया जाता है। उदाहरणार्थ, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, यदि वस्तुओं और सेवाओं की २०० मदों के समूह को भारत में १००० रुपये से खरीदा जा सकता है तथा उसी समूह को इंगलैण्ड में १०० पौंड द्वारा खरीदा जा सकता है तो भारत और इंगलैण्ड के बीच विनिमय-दर १००० रु०=£ १०० अथवा १ रु० =०.१£ होगी।

उपरोक्त विवेचन से हमने अपरिवर्तनशील पत्र-मुद्रा अपनाये हुये देशों के बीच विनिमय दरों का निर्धारण बतलाया है। परन्तु इस प्रकार से निर्धारित सामान्य विनिमय दर में परिवर्तन क्यों होते हैं तथा उन परिवर्तनों की क्या दिशा होती है, यह बड़े महत्व की बात है। प्रो० कैसल (Cassel) के अनुसार विनिमय दरों का निर्धारण सम्बन्धित मुद्राओं की सामान्य क्रयशक्ति को बराबर करके किया जाता है। **परन्तु उस विनिमय दर में परिवर्तन मुद्राओं की सामान्य क्रयशक्ति में सापेक्षिक परिवर्तनों के आधार पर होते हैं।** निसन्देह 'क्रयशक्ति समता सिद्धांत' में यह दृष्टिकोण प्रो० कैसल ने कुछ समय पश्चात जोड़ा था। मुद्रा की क्रयशक्ति के परिवर्तन दो प्रकार के होते हैं: स्वतन्त्र एवं सापेक्षिक मुद्राओं की क्रयशक्ति के 'स्वतन्त्र परिवर्तनों' की दशा में विनिमय दर में कोई परिवर्तन न होगा। परन्तु यदि उनमें 'सापेक्षिक परिवर्तन'

होते हैं, अथवा एक मुद्रा की क्रयशक्ति के परिवर्तन दूसरी मुद्रा की क्रयशक्ति के परिवर्तन से अधिक होते हैं तो सामान्य विनिमय-दर परिवर्तित हो जायगी। विनिमय-दर के ये परिवर्तन उसी अनुपात अथवा दिशा में होंगे जिस पर मुद्राओं की क्रयशक्ति में परिवर्तन होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि पाउण्ड की क्रयशक्ति में कमी डालर की क्रय शक्ति में कमी से १०% अधिक हो जाती है तो पाउण्ड का मूल्य डालर में उसी अनुपात में कम हो जायगा। क्रयशक्ति के परिवर्तनों को निर्देशांक द्वारा ही जाना जा सकता है। निर्देशांक हमको सामान्य कीमतों के परिवर्तनों का (अथवा मुद्रा की क्रय शक्ति के परिवर्तनों का) ज्ञान कराते हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि यदि इंगलैण्ड में सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि अमेरिका की सामान्य कीमत स्तर की वृद्धि से अधिक हो जाती है तो डालर की कीमत पाउण्ड में उसी अनुपात में बढ़ जायगी। यदि इंगलैण्ड में साधारण कीमत निर्देशांक एक निर्धारित आधार समय से २०० हो जाता है और अमेरिका में भी उसी आधार समय से साधारण कीमत निर्देशांक २०० हो जाता है तो दोनों मुद्राओं की क्रयशक्ति में समान परिवर्तन होने के कारण विनिमय दर में कोई परिवर्तन न होगा। परन्तु यदि इंगलैण्ड का निर्देशांक २०० हो जाता है और अमेरिका का उसी आधार पर निर्देशांक १५० होता है तो उसका अर्थ यह होगा कि पाउण्ड की क्रयशक्ति डालर की क्रयशक्ति से ३६% अधिक कम हो गई है। इससे विनिमय-दर में परिवर्तन हो जायेंगे, क्योंकि पाउण्ड का डालर में मूल्य कम हो जायगा। विनिमय दर १£=४ $ से १£=२.५६ $ हो जायगी। इस प्रकार सापेक्षिकरूप में यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि **दो देशों के बीच सामान्य विनिमय दर कीमत स्तर के परिवर्तनों के आधार पर किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है।** कैसल के ही शब्दों में, "जब दो मुद्राओं के सम्बन्ध में मुद्रा प्रसार होता है तो नवीन विनिमय-दर पुरानी विनिमय-दर × मुद्रा प्रसार के अनुपात के बराबर हो जायगी।"[1] इसके लिये उन्होंने एक सूत्र का भी उल्लेख किया है :—

१—सर्व प्रथम, हमें यह मालूम करना होगा कि दो सम्बन्धित देशों के बीच सामान्य विनिमय दर किसी समय क्या थी (उदाहरणार्थ १९३९ में भारत और इंगलैण्ड के बीच विनिमय दर १ रु० =१ शिलिंग ४ पें०।;

२—इसके पश्चात वर्तमान समय के आधार पर सम्बन्धित देशों में कीमत स्तरों के परिवर्तनों का निर्देशांक द्वारा पता लगाना पड़ेगा (उदाहरणार्थ, भारत और इंगलैण्ड के वर्तमान निर्देशांक १९३९ के आधार पर ४०० एवं ३०० हैं);

1. When the two currencies have undergone inflation, the normal rate of exchange will be equal to the old rate multiplied by quotient of the degree of inflation in the one country and in the other.

३—ऐसी दशा में दोनों देशों के बीच वर्तमान विनिमय-दर १६ पें × ३००/४०० = १२ पें० = १ शि० प्रति रुपया होगी।

इस प्रकार अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय-दर में परिवर्तनों का पता लगाया जा सकता है, परन्तु यह याद रखना चाहिये कि वास्तविक विनिमय दर इस प्रकार निर्धारित विनिमय-दर से कम या अधिक रहेगी। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि दिन प्रति दिन के मुद्रा बाजार में विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति की शक्तियों का कितना प्रभाव पड़ता है। आयात और निर्यात के स्वसंतुलन वास्तविक विनिमय-दर को सामान्य विनिमय-दर के साथ लाने की प्रवृत्ति रक्खेंगे। यदि 'अ' देश की मुद्रा की एक इकाई 'ब' देश की मुद्रा की चार इकाइयों के बराबर निर्धारित होती है, परन्तु उनके बीच वास्तविक विनिमय-दर १ : ५ हो जाती है तो 'ब' देश में 'अ' देश की मुद्रा को 'ब' देश की मुद्रा से बदलने में लाभ होगा। ऐसी दशा में 'अ' देश को 'ब' देश से माल मँगाने में और 'ब' देश को 'अ' देश में माल भेजने से लाभ होगा। 'अ' देश के आयात बढ़ने और 'ब' देश में निर्यात बढ़ने से 'अ' देश में 'ब' देश की मुद्रा की मांग बढ़ जायगी और वास्तविक विनिमय-दर फिर संतुलित स्तर पर आने की प्रवृत्ति अपना लेगी। ऐसा उस समय भी होगा जब वास्तविक विनिमय दर १ : ४ से कम हो जायगी।

क्रयशक्ति समता सिद्धान्त की आलोचनायें (Criticism of Purchasing Power Parity Theory) :

(१) प्रायः विदेशी मुद्रा की आवश्यकता उसकी सामान्य क्रयशक्ति के कारण प्रतीत नहीं होती परन्तु अनेक देशों के बीच वित्तीय भुगतान करने के लिए माँगी जाती है। इसलिये वास्तव में विदेशी मुद्रा के क्रेता को उस मुद्रा की क्रयशक्ति का कोई महत्व नहीं होता। प्रत्येक प्रकार के व्यापार में सम्बन्धित वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों का महत्व होता है, न कि सामन्य कीमत स्तर का। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि व्यवहारिक जीवन में विनिमय-दर का 'क्रयशक्ति सिद्धान्त' इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि कैसल ने समझा था।[1]

(२) किसी देश के सामान्य कीमत स्तर (general price level) में अनेक वस्तुओं की कीमतें सम्मिलित रहती हैं। इन वस्तुओं में कुछ का तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है और शेष आंतरिक व्यापार से ही सम्बन्धित रहती हैं। विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति उन्हीं वस्तुओं की कीमतों द्वारा प्रभावित होंगी जिनका कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। माँग और पूर्ति की इन्हीं शक्तियों के द्वारा विनिमय

1. "The equilibrium rate of exchange between the monetary units of two countries is affected by every increase decrease of one country's demand for the other country's products, even though the price levels may stay the same". G. Halm.

दर में भी परिवर्तन होंगे । उन वस्तुओं की कीमतों का, जिनका व्यापार देश की सीमाओं के अन्दर ही होता है, उस देश की मुद्रा की माँग और पूर्ति पर कुछ भी न पड़ेगा । इनकी कीमतों में परिवर्तन विनिमय दरों पर बिना किसी प्रकार का प्रभाव डाले ही हो सकता है ।[1]

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित होने वाली वस्तुओं के संदर्भ में भी यह सिद्धान्त सही नहीं उतरता ।[2] यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली वस्तुओं की राष्ट्रीय कीमतों को स्थांतरण लागत के साथ समायोजित करके विभिन्न बाजारों में वर्तमान विनिमय-दर के साथ देखा जाता है तो वे बराबर हो जाती हैं। परन्तु जब हम अनेक प्रकार की वस्तुओं की कीमतों के संदर्भ में बनाये गये निर्देशांक को ध्यान देते हैं तो विनिमय-दर परिवर्तित हो जायगी । ऐसा इसलिये होता है कि घरेलू वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन उसी प्रकार नहीं होते जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली वस्तुओं की कीमतों में होते हैं ।

(४) इसके अतिरिक्त मुद्रा की क्रयशक्ति जानने के लिये जिन कीमतों के आधार पर निर्देशांक बनाया जाना चाहिये उनके सम्बन्ध में भी व्यवहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । एक देश में किसी एक समय एक वस्तु की एक ही कीमत नहीं होती है । विभिन्न बाजारों में तथा विभिन्न क्रेताओं के लिये विभिन्न कीमतों पर वस्तुएँ बेची जाती हैं । निर्देशांक बनाने के लिये किन कीमतों को प्रयोग में लाया जाय यह जानना कठिन होता है । यदि थोक कीमतों के आधार पर मुद्रा की क्रयशक्ति मालूम की गई तो उससे कीमत-स्तर का वास्तविक ज्ञान न होगा, क्योंकि उपभोक्ताओं का इसमें कोई भी महत्व न होगा । दूसरी ओर यदि फुटकर कीमतों के आधार पर मुद्रा की क्रयशक्ति जानी गई तो उसमें निर्मित वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों का कोई महत्व न होगा । इसके साथ ही साथ क्रयशक्ति जानने के लिये घरेलू वस्तुओं की कीमतों का आधार सही न होगा जब तक यह न

---

1. "Only internationally traded commodities will influence the demand for and the supply of foreign currency and consequently the rate of exchange. Commodities which are only domestically traded, on the other hand, have no direct bearing on the exchange value of the currency and their prices may, therefore, fluctuate without affecting directly and immediately the exchange rate". Keynes J. M. : Monetary Reforms—p 101.

"All prices do not enter into the calculations of those who carry on foreign trade.... It is not right, however, to go to the other extreme and assume that the exchange rate is influenced only by the prices of things that actually do move in international trade. We must take some account of the articles that might move". Crowther.

2. "Confined to internationally traded commodities, the purchasing power parity theory becomes an empty truism".

Keynes J. M. : Monetary Reforms—p. 101.

मान लिया जाय कि इनकी कीमतों के परिवर्तनों में भी अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है।

(५) विनिमय दर में होने वाले परिवर्तन विभिन्न देशों के कीमत-स्तरों पर विभिन्न प्रभाव डालते हैं। एक ऐसे देश के कीमत-स्तर पर, जो अपनी उपभोग वस्तुओं का एक बड़ा भाग आयात करता है एवं अपने साधनों का एक बड़ा भाग निर्यात पदार्थों के उत्पादन पर व्यय करता है, यह प्रभाव बड़े रूप से पड़ता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि विनिमय-दर परिवर्तन का प्रभाव आयात एवं निर्यात दोनों प्रकार के वस्तुओं की कीमतों पर पड़ता है। जिस देश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का महत्व अधिक होता है उसमें विनिमय-दर के उच्चावचन का प्रभाव भी अधिक पड़ता है। उदाहरणार्थ, विनिमय दर का महत्व हालैण्ड, इंगलैण्ड जैसे देशों के मूल्य स्तरों पर अधिक पड़ेगा जबकि रूस एवं भारत जैसे देशों में उससे कम होगा। ऐसा इसलिये होगा क्योंकि हालैण्ड एवं इंगलैण्ड के कुल व्यापार का एक बड़ा भाग विदेशी व्यापार का होता है जब कि रूस एवं भारत जैसे देशों में आंतरिक व्यापार का भाग बड़ा होता है। इस प्रकार विनिमय दर परिवर्तन का प्रभाव विभिन्न देशों के कीमत-स्तरों पर स्वयं भिन्न पड़ेगा।

(६) ऐसा हो सकता है कि दो देशों के बीच कीमत स्तर यथास्थिर रहे परन्तु अन्य कारणों से देशों की मुद्राओं की माँग में वृद्धि अथवा ह्रास उस मुद्रा के मूल्य को बढ़ा एवं घटा दें और इस प्रकार विनिमय-दर में परिवर्तन ला दें। क्रयशक्ति समता सिद्धान्त, जिसके अनुसार कीमतों के परिवर्तन ही विनिमय दरों को प्रभावित करते हैं, व्यवहारिक जीवन की उन अनेक शक्तियों का उल्लेख नहीं करता जो मुद्रा की विदेशी माँग को प्रभावित करती हैं। यह माँग को कीमतों द्वारा निर्धारण के लिये छोड़ देता है तथा मौद्रिक आयों के परिवर्तनों को महत्व नहीं देता जिनके कारण चक्रीय परिवर्तन होते हैं और जिनके द्वारा विनिमय-दर में परिवर्तन हो जाते हैं।[1]

(७) यह सिद्धान्त उस समय भी महत्वहीन ही दिखलाई पड़ता है जब सम्बन्धित देशों के बीच पूँजी का स्थांतरण होने लगता है तथा कोष एक देश से दूसरे देश को

---

1. The purchasing power parity approach, which uses price movements as the main criterion, tends to neglect the important conditions affecting the volume of demand. It treats demand simply as a function of price leaving out of account the wide shifts in aggregate income-expenditure which occur in the business cycle (as a result of market forces or government policies), and which lead to wide fluctuations in the volume and hence the value of foreign trade even if prices or price relationships remain the same".

R. Nurkse : International Currency Experience—p. 126.

जाने लगते हैं। यदि एक देश आर्थिक विकास के लिये दूसरे देश से ऋण लेता है जिसके कारण पहले देश के पास दूसरे देश की मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो दूसरे देश की मात्रा बढ़ जाने से उसका मूल्य कम हो जाना चाहिये; और इसलिये पहले देश के लिये यह लाभप्रद हो जायगा कि वह दूसरे देश से वस्तुओं को खरीद करके आयात करे। ऐसी अवस्था में विनिमय दर में कोई परिवर्तन न होंगे यद्यपि कि उन दोनों देशों की मुद्राओं की क्रयशक्ति में परिवर्तन हो जायेंगे।[1]

(८) यह सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि कीमतों के परिवर्तन कारण होते हैं तथा विनिमय-दर के परिवर्तन इसके परिणाम होते हैं। परन्तु विशेष परिस्थितियों में इसके विपरीत भी हो सकता है। यदि किन्हीं कारणों से विनिमय दर में परिवर्तन हो जाते हैं और नये स्तर पर यह दर स्थिर हो जाती है तो इसके संदर्भ में आंतरिक कीमतों में भी परिवर्तन हो जायेंगे। मुद्रास्फीति की अन्तिम दशा में विनिमय दर के परिवर्तन कारण बन जाते हैं और कीमतें उस आधार पर सन्तुलित हो जाती हैं।

(९) क्रयशक्ति समता सिद्धान्त साधारण व्यापार की आवश्यकताओं के अतिरिक्त अन्य कारणों से उत्पन्न विदेशी मुद्राओं की मांग एवं पूर्ति का अध्ययन नहीं करता। दीर्घकालीन विनियोग, कोषों का हस्तांतरण, स्थांतरण लागत, अल्पकालीन पूँजी गतिशीलता, निक्षेप और ऋण को जन्म देते हैं जिनके आधार पर मुद्रा की मांग प्रभावित होती है। वास्तव में संसार स्थिर न होकर (जैसा कि यह सिद्धांत मानता है) गतिशील है। मुद्रा एवं कीमतों से सम्बन्धित दशायें बदलती जाती हैं एवं हमें विनिमय दर के सम्बन्ध में स्थायित्व की दशा पर पहुंचने पर रोकती हैं।

(१०) उपरोक्त आलोचनाओं के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि यह सिद्धान्त भी अन्य सिद्धान्तों के समान दीर्घकालीन विवेचन करता है। सिद्धांत विनिमय-दरों की दीर्घकालीन प्रवृत्ति का सूचक है, परन्तु दैनिक जीवन में ऐसे सिद्धांत का कोई महत्व नहीं होता। इसी कारण सामान्य अनुभव इस सिद्धान्त को सत्यता को सिद्ध नहीं करता। व्यवहार में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि देशी विनिमय दर 'क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त' द्वारा निर्धारित होती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री कीन्स (Keynes) ने ठीक ही

---

1. "If a country borrows from another country, the first country will have at its disposal second country's currency with which the second country's or elsewhere's foreign currencies will be purchased. The increased supply of second country's currency in the first's exchange market will reduce its value, and therefore it will be cheaper for the first country to buy in the second country. Thus there would be an unchaged exchange rate, inspite of changed purchasing power parities". H. S. Ellis : Explorations in Economics—p. 27.

कहा है कि "दीर्घकाल में तो हम सब मर जाते हैं और इसलिये दीर्घकाल में कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती" ।

परन्तु उपरोक्त आलोचनाओं से यह नहीं समझना चाहिये कि क्रयशक्ति समानता सिद्धान्त के अध्ययन का कोई महत्व नहीं है । अनेक दोषों के होते हुये भी सिद्धान्त में कुछ सच्चाई अवश्य है क्योंकि इसके अध्ययन से यह ज्ञात हो जाता है कि मूल्यों, कीमतों तथा विनिमय दरों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है ।

विनिमय-दर का भुगतान संतुलन सिद्धान्त

विनिमय-दर के निर्धारण के सम्बन्ध में आधुनिक विचारधारा विदेशी भुगतान के सन्तुलन के सिद्धांत पर आधारित है । यह सिद्धांत इस विचार पर आधारित है कि किसी एक देश में आंतरिक व्यापार सन्तुलित होना चाहिये । इस सिद्धान्त के अनुसार हम विदेशियों को न तो उससे कम और न उससे अधिक देते हैं जो हमको उनसे प्राप्त होता है। यह सिद्धांत इस सत्य पर आधारित है कि आयात तथा निर्यात एक दूसरे का स्वयं भुगतान करते हैं। यदि एक देश दूसरे देश को वस्तुओं और सेवाओं की एक निश्चित मात्रा निर्यात करता है तो वह यह आशा करता है कि दूसरा देश भी उतने ही मूल्य की वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा उस देश को वापस भेजेगा। अल्पकाल में किसी देश के आयातों का मूल्य उस देश के निर्यातों के मूल्य की तुलना में अधिक हो सकता है तथा इसके विपरीत निर्यातों का मूल्य आयातों के मूल्य से अधिक हो सकता है: परन्तु प्रत्येक देश का यह उद्देश्य होता है कि अन्त में देश के कुल आयातों का मूल्य उसके निर्यातों के मूल्य के ही बराबर हो, क्योंकि ऐसा होना साम्य स्थिति के लिये आवश्यक होता है। अतः स्थाई विनिमय-दर वह दर होती है जिस पर देश के आयातों तथा निर्यातों का संतुलन स्थापित हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता देशों को वस्तुओं तथा सेवाओं को दूसरे देशों को निर्यात करने तथा और दूसरे देशों से आयात करने के लिये होती है। विदेशी विनियोगों पर ब्याज एवं लाभांश की प्राप्ति एवं भुगतान, एक देश से दूसरे देश को पूँजी के आयात तथा निर्यात, एवं कुछ अन्य व्यापारिक तथा आर्थिक सौदों के आयात व निर्यात के लिये भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की आवश्यकता पड़ती है । इस प्रकार के सभी सौदों की सूची ही भुगतान संतुलन-सूची कहलाती है। भुगतान संतुलन का निर्माण करने वाली मदें विदेशी विनिमय बाजार में मुद्रा की मांग एवं पूर्ति के साधन होते हैं जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता उत्पन्न होती है । संक्षेप में 'एक भुगतान संतुलन में, (अगर वह पूर्ण एवं ठीक है) विदेशियों द्वारा किये गये अपने देश के वे सभी भुगतान एवं देशवासियों द्वारा विदेशियों को किये गये वे सभी भुगतान जो एक निश्चित अवधि के अन्दर (साधारणतया एक

वर्ष में) किये जाते हैं, सम्मिलित होते हैं। वे भुगतान जो किये जाते हैं 'नाम' एवं जो प्राप्त होते हैं 'जमा' कहलाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता को समाप्त करने के लिये विदेशी विनिमय बाजार में मुद्रा का क्रय एवं विक्रय किया जाता है और प्रत्येक क्रय के बाद विक्रय एवं विक्रय के बाद क्रय होना भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। इसीलिये विदेशी मुद्रा का कुल क्रय अपनी मुद्रा के विक्रय के अवश्य बराबर होना चाहिये।

भुगतान संतुलन में सम्मिलित की जाने वाली मदें (Items entering Balance of Payment) :

भुगतान संतुलन का निर्माण करने वाली मदों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। **पहला वर्गीकरण** जो सामान्यतः अपनाया जाता है, और जो 'लीग आफ नेशन्स' (League of Nations) द्वारा भी अपनाया गया था, उसके अनुसार मदों को दो भागों में विभाजित किया गया है : (१) **चालू अथवा आय खातों के सौदे** और (२) **पूँजी खाते के सौदे**। चालू खाते के सौदों में, (अ) व्यापारिक वस्तुओं का आयात-निर्यात, (ब) सेवाओं का आयात तथा निर्यात (स) ब्याज एवं लाभांश, (द) यात्री व्यय, (क) पंचमेल मदें, और (ख) स्वर्ण इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। पूँजी खाते के सौदों में अल्पकाल पूँजी तथा दीर्घकालीन पूँजी की गतिशीलता सम्मिलित होती है। **दूसरे प्रकार** का वर्गीकरण सौदों के उद्देश्यों पर आधारित है। इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सौदे, जिनसे भुगतान संतुलन का निर्माण होता है, तीन भागों में विभाजित किये जा सकते हैं : (अ) **व्यापारिक सौदे** (Business transactions)—इनमें वस्तुओं तथा सेवाओं का आयात-निर्यात, दान, राजकीय व्यय एवं इसी तरह की मदें सम्मिलित की जाती हैं; (ब) **वित्तीय सौदे** (Financial transactions)—इनमें दीर्घकालीन पूँजी की गतिशीलता और अल्पकालीन पूँजी की सामान्य गतिशीलता, जो कि ब्याज की दरों में भिन्नता के कारण उत्पन्न होती है, को सम्मिलित किया जाता है; (स) **सट्टे वाले सौदे** (Speculative transactions)— इसमें पूँजी की असामान्य गतिशीलता को सम्मिलित किया जाता है। यह असामान्य गतिशीलता सटोरियों द्वारा विदेशी मुद्रा के क्रय तथा विक्रय के कारण उत्पन्न होती है जो कि विनिमय दर के उच्चावचनों से लाभ प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं। भुगतान संतुलन का निर्माण करने वाली मदों का एक **तीसरा वर्गीकरण** (अ) **दृश्य मदों** (visible items) तथा (ब) **अदृश्य मदों** (Invisible items) में किया जाता है। दृश्य मदों में व्यापार शेष (Balance of Trade) के कारण हुये भुगतान सम्मिलित होते हैं जबकि अदृश्य मदों में अन्य सभी भुगतानों को सम्मिलित किया जाता है। परन्तु वर्गीकरण का कोई भी आधार क्यों न हो सामान्यतः भुगतान सन्तुलन में निम्न मदें सम्मिलित रहती हैं :—

(१) **व्यापारिक वस्तुओं का आयात व निर्यात** (Export & Import of Commercial Goods) : जब एक देश से वस्तुओं का निर्यात किया जाता है तो वहाँ पर विदेशी मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। भुगतान संतुलन की दृष्टि से निर्यात मूल्य निर्यातक देश के लिये लेनदारी (Credit) बन जाती है। इसी प्रकार जब किसी देश में वस्तुओं का आयात किया जाता है तो वहां पर विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जाती है एवं आयात मूल्य आयातकर्त्ता देश के लिये देनदारी (Debit) बन जाती है। यह स्मरणीय रहे कि निर्यात मूल्य F. O. B. तथा आयात मूल्य C. E. F. हैं। निर्यात की मात्रा विदेशियों की रुचि, फैशन एवं आय पर आधारित होती है जब कि आयात की मात्रा अपने देश के उपभोक्ताओं की रुचि, फैशन तथा आय पर और वस्तुओं के विदेशी मूल्यों पर आधारित होती है। हमारे देश की वस्तुओं के विदेशी उपभोक्ताओं की रुचि फैशन तथा आय में परिवर्तन निर्यात पर प्रभाव डालते हैं और विदेशी वस्तुओं के देशीय उपभोक्ताओं की रुचि, फैशन तथा आय के परिवर्तनों का प्रभाव देश के आयातों पर पड़ता है। इतना ही नहीं विभिन्न कारणों से वस्तु की लागत के परिवर्तन का भी प्रभाव देश के आयात तथा निर्यात व्यापार पर पड़ता है।

(२) **सेवायें** (Services) : विदेशियों द्वारा हमें या हमारे द्वारा विदेशों को सेवायें प्रदान की जा सकती हैं जिनका भुगतान हमें लेना या देना हो सकता है। इन सेवाओं में जहाज़रानी, बीमा एवं बैंकों की सेवायें शामिल होती हैं। इन सेवाओं का मूल्य, यदि सेवायें हमारे द्वारा विदेशों को दी गई हैं तो हमारी लेनदारी, एवं यदि यह विदेशों द्वारा हमें प्रदान की गई हैं तो हमारी देनदारी बनकर भुगतान संतुलन का एक आवश्यक मद बन जाती हैं। वह सीमा (मात्रा), जहां तक कि सेवायें प्राप्त अथवा दी जा सकती हैं, आंशिक रूप से व्यापारिक वस्तुओं के आयात निर्यात के कारण उत्पन्न होने वाली आवश्यकता एवं आंशिक रूप से सेवाओं की लागत, राज्य की जहाजरानी की उन्नति की नीति, बीमा तथा पैंकिग इत्यादि पर आधारित होता है।

(३) **ब्याज एवं लाभाँश** (Interests & Profits) : भुगतान संतुलन की तीसरी मद विदेशों के मध्य ब्याज एवं लाभाँश का आदान प्रदान करना है। एक देश को उधार दी हुई पूंजी पर ब्याज मिलता है तथा उधार ली हुई पूंजी पर ब्याज देना पड़ता है। इसी प्रकार विनियोगों पर उत्पन्न लाभांश का आदान-प्रदान एक देश से दूसरे देश को किया जाता है। विदेशों में हमारे विनियोग या ऋण हमारे लिये ब्याज, लाभांश उत्पन्न करके हमारी लेनदारी बढ़ाते हैं जब कि हमारे यहां विदेशी विनियोग या ऋण, ब्याज व लाभांश पर विदेशों का अधिकार बनाकर हमारी देनदारी में वृद्धि करते हैं। इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि प्राप्त होने

वाले अथवा भुगतान योग्य ब्याज की मात्रा उधार दी गई पूँजी की मात्रा और ब्याज दर पर निर्भर करती है। परन्तु लाभांश की मात्रा (प्राप्त होने वाले अथवा भुगतान किये जाने वाले) उद्योग की सामान्य आर्थिक दशाओं पर निर्भर करती है जिन पर कि कोषों का विनियोग किया गया है।

(४) **यात्री व्यय** (Tourists expenditure): विदेश में यात्री व्यय का भुगतान संतुलन पर प्रभाव आयात के समान होता है तथा हमारे भुगतान करने के दायित्व को सूचित करता है। इसी प्रकार जब विदेशी हमारे यहां आकर व्यय करता है तो उसका प्रभाव हमारे भुगतान संतुलन पर निर्यात के समान होता है तथा हमारी लेनदारी को बढ़ाता है। इसकी मात्रा विदेश से आने वाले लोगों की आय एवं रुचि तथा यात्री व्यय पर निर्भर करता है।

(५) **अल्पकालीन पूंजी का स्थानान्तरण** (Short term capital movement) अल्प-काल में कोषों का ऋणों के रूप में गतिशील होना भी भुगतान कोष में शामिल होता है। जब एक देश दूसरे देश में अल्प काल के लिये ऋण देता है तो यह उस देश की देनदारी की मद (item) होती है क्योंकि उससे विदेशी मुद्रा की मांग तथा अपने देश की मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है। परन्तु जो देश ऋण लेता है उसकी लेनदारी बढ़ जाती है क्योंकि उस देश की मुद्रा की मांग तथा विदेशी मुद्रा की पूर्ति उसके साथ बढ़ जाती है।

(६) **दीर्घ कालीन पूंजी की गतिशीलता** (Long term capital movement): अल्प कालीन पूंजी की भांति ही दीर्घकालीन पूंजी की गति (जिसमें विनयोग, प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय इत्यादि शामिल होता है) भी भुगतान शेष की एक आवश्यक मद होती है। जब एक देश अन्य देशों को ऋण देता है या उनमें विनियोग करता है (अर्थात् पूंजी का निर्यात या प्रतिभूतियों का आयात करता है) तो यह उस देश की देनदारी की मद बन जाती है। चूँकि ऐसा करने से उन अनेक देशों की मुद्रा की मांग जिससे कि आवश्यक कोषों को विदेशों में भेजा जा सके बढ़ जायगी। परन्तु दूसरी ओर विदेशों से ऋण लेने पर (या पूंजी के आयात अथवा प्रतिभूतियों के निर्यात से) भुगतान संतुलन के लेनदारी में वृद्धि हो जाती है। दीर्घ कालीन पूंजी की गतिशीलता एवं उसकी मात्रा सापेक्षिक ब्याज दरों की भिन्नताओं पर निर्भर करता है जब कि विनिमय दर के उच्चावचन, पूंजी के अवमूल्यन इत्यादि का कोई भय नहीं होता। विशेष परिस्थितियों में, विशेषकर मुद्रा पर विश्वास उठ जाने, से पूंजी का विशेष प्रकार से स्थातन्रण होने लगता है। १९२९ के बाद जर्मनी तथा इंगलैंण्ड के द्वारा स्वर्णमान त्यागने का यह भी एक प्रमुख कारण था। इंगलैण्ड में स्टर्लिंग के मूल्य-संतुलन पर अविश्वास होने के कारण लंदन से भारी मात्रा में दूसरे देशों को पूंजी का स्थान्तरण होने लगा था।

(७) **विभिन्न मदें** (Miscellaneous items) : अन्त में भुगतान संतुलन में कुछ विभिन्न मदें भी शामिल की जाती हैं। इन मदों में अपूर्ण प्रेषय (immigrant Remittances) दूतावासों पर विदेशी सरकारों के व्यय, उपहार तथा अन्य ऐसी मदें शामिल की जाती हैं। इन मदों के अन्तर्गत एक देश जो धन विदेशों से प्राप्त करता है वह उसके भुगतान संतुलन में लेनदारी की मदें हो जाती हैं तथा इस प्रकार का धन जो विदेशों को भेजा जाता है वह उसकी देनदारी कहलाती है। इन मदों का आकार अनेक बातों पर निर्भर करता है जिनका उल्लेख करना यहां अनावश्क है।

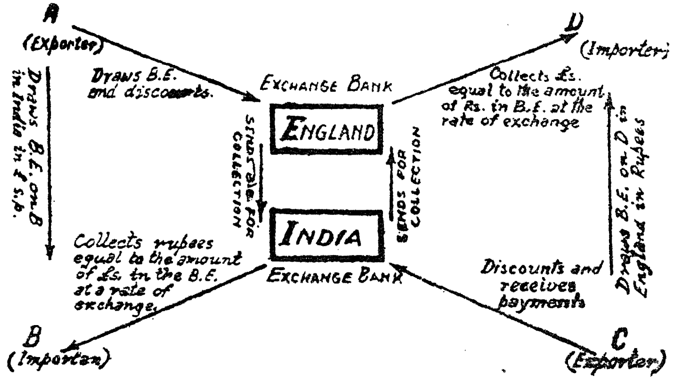
इस प्रकार व्यापार शेष (Balance of Trade) भौतिक वस्तुओं (visible items) के आयात-निर्यात के मूल्य को स्पष्ट करता है, परन्तु भुगतान संतुलन (Balance of Payment) उससे अधिक विस्तृत होता है तथा उसके अन्तर्गत दृश्य तथा अदृश्य (visible & invisible) दोनों प्रकार की मदों के आयात निर्यात द्वारा उत्पन्न समस्त लेनदारी व देनदारी (Credit & Debit) को सम्मिलित किया जाता है। अतः व्यापार शेष भुगतान संतुलन का केवल एक भाग होता है। जब विदेशी विनिमय बाजार में किसी एक देश की मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होती है तो भुगतान शेष संतुलित होता है। जब एक देश के संतुलन के विपरीत भुगतान शेष हो जाता है तो वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात के प्रोत्साहन से तथा उनके आयात में कमी करके व्यापार शेष को संतुलित किया जाता है। क्योंकि भुगतान शेष के संतुलन के विपरीत दिशा में हो जाने पर विनिमय-दर भी प्रतिकूल हो जाती है। परन्तु कोई भी देश काफी समय तक प्रतिकूल भुगतान संतुलन नहीं रख सकता यद्यपि कि देशों के लिये यह साधारण सी बात होगी कि उनका व्यापार संतुलन काफी समय तक प्रतिकूल रहे। दीर्घकाल में विदेशी विनिमय बाजार में कुल देनदारी तथा कुल लेनदारी का बराबर होना आवश्यक होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करने के ढंग (Methods of International Payment)

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर्गत एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा में बदलने तथा इस प्रकार के धन के स्थांतरण का कार्य होता है। इन भुगतानों के लिये अनेक प्रकार के ढंग अपनाये जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) **विनिमय पत्र** (Bills of Exchange) : १९ वीं शताब्दी तथा वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में प्रायः विनिमय पत्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किये जाते थे। **विनिमय पत्र एक लिखित पत्र होता है जिसमें लिखने वाले की ओर से बिना कोई शर्त लगाये किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश दिया जाता है कि वह व्यक्ति**

विशेष को अथवा उसके आदेशानुसार या उस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को एक निश्चित राशि का भुगतान कर दे। इस प्रकार विनिमय पत्र एक आदेश पत्र होता है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अंकित राशि चुकाने का आदेश देता है। एक विदेशी विनिमय बिल साधारण विनिमय बिल से प्रथक नहीं होता है। इसमें भुगतान केवल विदेशी मुद्रा द्वारा किया जाता है। प्रथा के अनुसार विनिमय बिल तीन माह की अवधि का होता है परन्तु उसको भुनाकर आहार्त्ता (Drawee), जोकि भुगतान पाने वाला होता है, अपने भुगतान तुरन्त ही पा लेता है। इसके लिये वह उस बिल को अपने बैंक के पास ले जाता है। यद्यपि कि बिल पर आहार्यी (Drawee), जिसको भुगतान देना होता है, की स्वीकृति नहीं होती फिर भी बैंक उस बिल को बट्टे पर भून (Discount) देता है और इसके बदले में बैंक आहार्त्ता से अपने नाम राशि पाने के लिये आदेश प्राप्त कर लेता है।



विनिमय पत्र की कार्य प्रणाली

विनिमय पत्र अनेक प्रकार के होते हैं :— (i) दर्शनी पत्र (Sight Bill) (ii) समयाविधि पत्र (Usance Bill) : यदि पत्र का भुगतान पत्र के समक्ष आने पर तुरन्त करना होता है तो उसको दर्शनी पत्र कहते हैं परन्तु जब आहार्यी को कुछ समय दे दिया जाता है जिसके पश्चात भुगतान करने का उसे आदेश होता है तो उसे समयाविधि पत्र कहते हैं।

(२) **बैंक ड्राफ्ट** (Bank Draft) : यह एक प्रकार का आदेश होता है जो एक बैंक भुगतान की जाने वाली धनराशि की जमा प्राप्त करके दूसरे बैंक को अंकित राशि के भुगतान के लिये आदेश देता है। विदेशी महाजन ड्राफ्ट को सम्बन्धित बैंक को प्रस्तुत कर अंकित धनराशि को प्राप्त कर लेता है।

(३) **तार द्वारा हस्तांतरण** (Telegraphic transfer) : एक देश से दूसरे देश को धन का हस्तांतरण तार द्वारा सबसे जल्दी होता है। जब बैंक भुगताम की

जाने वाली धनराशि की जमा प्राप्त करके विदेश में स्थित अपने प्रतिनिधि को केबिलग्राम द्वारा किसी व्यक्ति को उस धनराशि के भुगतान की आज्ञा दे देता है तो उसको तार द्वारा राशि का हस्तांतरण करते हैं।

(४) **डाक द्वारा भुगतान** (Mail Transfer) : जब बैंक भुगतान देने वाली राशि का जमा प्राप्त करके विदेश स्थित अपने प्रतिनिधि को डाक द्वारा किसी व्यक्ति को उस धनराशि के भुगतान करने को आज्ञा देता है तो उसे डाक द्वारा भुगतान कहा जाता है। इस प्रकार का भुगतान प्रायः सुरक्षित होता है।

(५) **साख पत्र एवं अभियात्री चेक** (Letters of Credit & Travellers Cheque) : इस पद्धति के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को साख-पत्र या अभियात्री चेक दे देता है जिनके आधार पर उसके ग्राहक विदेश में स्थित बैंक के प्रतिनिधि से साख पत्र या अभियात्री चेक में अंकित धनराशि प्राप्त करके स्वयं भुगतान कर सकते है।

निर्देश पुस्तकें

Clare & N. Crump— A. B. C. of Foreign Exchange

A. C. Whittaker— Foreign Exchange, Chs. V, XI & XVI

G. V. Herberler— Theory of International Trade

G. Crowther-- An outline of money Ch. VII

P. T. Ellisworth-- International Economy, Chs. XV & XVI

अध्याय ११

विनिमय नियंत्रण (Exchange Control)

पिछले अध्याय में हमने विभिन्न मौद्रिक मानों के अन्तर्गत विनिमय दर के निर्धारण का अध्ययन किया है। जब देश स्वर्णमान पर आधारित होते हैं (जैसा कि १९३६ से पूर्व था) तो विनिमय दर का निर्धारण विभिन्न देशों के स्वर्ण-मूल्यों को समान करके किया जाता है। जब देश अपरिवर्तनीय पत्र मुद्रामान पर आधारित होते हैं तो विनिमय दर का निर्धारण दोनों देशों की चलन-मुद्राओं की क्रयशक्ति को समान करके किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) की स्थापना होने पर, विभिन्न देशों के बीच विनिमय-दर का निर्धारण चलन-मुद्राओं के स्वर्ण में घोषित मूल्यों को समान करके किया जाता है। इस प्रकार से निर्धारित विनिमय-दर 'विनिमय समता दर' (Equilibrium Rate of Exchange) कहलाती है। सामान्य परिस्थितियों में, इस प्रकार की विनिमय दर में परिवर्तन, विदेशी विनिमय बाजार में चलन मुद्राओं की मांग और पूर्ति में अल्पकालीन परिवर्तनों के कारण (Specie Points) होते हैं। स्वर्णमान के अन्तर्गत इस प्रकार के उच्चावचन स्वर्ण विन्दुओं (Gold Movement Points) तक ही सीमित रहते हैं जब कि अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रामन के अन्तर्गत इस प्रकार के उच्चावचन 'भुगतान संतुलन' (Balance of Payment) में समायोजन के विषय होते हैं। विनिमय-दर के इन उच्चावचनों को दूर करने के लिये विभिन्न उपाय अपनाये जाते हैं जिनको कि सामान्य रूप से 'विनिमय नियंत्रण' (Exchange Control) के उपाय कहा जाता है। लेकिन इसके पूर्व कि इन उपायों का अध्ययन किया जाय कुछ प्रश्नों का, जो अपने आप उपस्थित होते हैं, उत्तर देना (विवेचन करना) आवश्यक है। 'विनिमय समता दर' क्या है ? 'स्थिर विनिमय-दर' अच्छी होती है अथवा परिवर्तनशील ? और विनिमय-दर में उच्चावचन होने के कारण क्या हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देने के उपरान्त ही विनिमय नियंत्रण के विभिन्न साधनों की व्याख्या की जा सकती है।

विनिमय समता दर (Equilibrium Rate of Exchange) :

वह विनिमय दर जो सम्बन्धित देशों के आर्थिक तत्वों के अधिकतम उपयुक्त होती है 'विनिमय समता दर' (साम्य विनिमय दर) कहलाती है। यह वह दर होनी है

जिसको बिना किसी दबाव के बनाये रखा जा सकता है। यह वह दर होती है जो कि भुगतान संतुलन में साम्य, बिना बेरोजगारी की मात्रा में वृद्धि किये ही, बनाये रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय चलन अनुभव (International Currency Experience) के अनुसार विनिमय समता दर वह दर होती है जो एक निश्चित अवधि में, अन्तर्राष्ट्रीय कोषों में बिना वास्तविक परिवर्तन लाये, भुगतान संतुलन को साम्य पर बनाये रखती है। हेम (Halm) ने अपनी 'मौद्रिक सिद्धान्त' नामक पुस्तक में 'साम्य विनिमय दर' को तटस्थ (Neutral) दर बताया है क्योंकि यह बनावटी आयात-निर्यात से लाभ या हानियाँ नहीं उत्पन्न करती है। उन्होंने एक तरीके (Criteria) का उल्लेख किया है जिसको पालन करना साम्य विनिमय-दर के लिये आवश्यक होता है। यह इस प्रकार है :—

(१) विनिमय-दर को देशीय कीमत स्तर की स्थिरता के साथ सामंजस्य रखना चाहिये। किसी एक देश में दूसरे देशों के अनुपात में बेरोजगारी की दशा में अधिकता इस बात का सूचक हो सकती है कि विनिमय दर साम्य विनिमय दर से पृथक है;

(२) विनिमय-दर को काफी समय तक स्थिर बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि किसी एक देश के स्वर्ण अथवा विदेशी मुद्रा के कोषों में परिवर्तन न हों तथा साख के विस्तार एवं संकुचन में संतुलन बना रहे जिससे कीमत स्तर में भी स्थिरता बनी रहे;

(३) विनिमय दर को अवमूल्यित (undervalued) नहीं होना चाहिये परन्तु इसका निर्धारण उस आधार पर होना चाहिये जिससे अनेक देशों की कीमतों, लागतों एवं मुद्राओं की माँग में तटस्थता बनी रहे।

इस प्रकार साम्य दर विनिमय की उचित दर होती है जिससे आर्थिक प्रणालियों को किसी प्रकार की हानि नहीं होती है और प्रत्येक की, विदेशी विनिमय बाजार में, मुद्रा की मांग पूर्ति के बराबर होती है। इस दर पर देशी चलन-इकाई का विदेशी मुद्रा में न तो अवमूल्यन (under valuation) और न ही अधिमूल्यन (over valuation) ही होता है। अतः यह आयात अथवा निर्यात में से किसी को भी उत्तेजना नहीं प्रदान करती है।

परिवर्तनशील v/s निश्चित विनिमय-दर (Fluctuating v/s Fixed Exchange Rate):

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि विनिमय दर को सर्वदा के लिये निश्चित रखना लाभदायक है अथवा इसे विभिन्न आर्थिक स्थितियों के अनुसार बदलती रहना चाहिये। एक परिवर्तनशील (Fluctuating) विनिमय-दर वह दर है जिससे कि चलन-इकाई, यद्यपि सोने अथवा विदेशी मुद्रा द्वारा शासित (Pegged)

अथवा सम्बन्धित रहती है परन्तु वास्तविक रूप में ऐसा कोई वैधानिक सम्बन्ध नहीं होता है। वैधानिक रूप से इस प्रकार सम्बन्धित होने पर यह इस बात का अधिकार प्रदान करती है कि आवश्यकता पड़ने पर इसे निर्धारित मूल्य पर बदला जा सके। परिवर्तनीय (flexible) विनिमय दर के पक्ष में महत्वपूर्ण तर्क यह है कि स्वतन्त्र दर प्रणाली एक देश को स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाने योग्य बनाती है। अन्तर्राष्ट्रीय असंतुलन के दुष्परिणामों को स्वतन्त्रता से परिवर्तित होने वाली विनिमय दर द्वारा दूर किया जा सकता है। इसलिये यह मुद्रा-प्रसार की तथा संकुचनकारी शक्तियों के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करती है।

परिवर्तनशील विनिमय-दर के पक्ष में महत्वपूर्ण तर्क होने पर भी, स्वतन्त्रता पूर्वक परिवर्तित होने वाली विनिमय-दरों की नीति का पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया गया है। परिवर्तनशील विनिमय-दर के विपक्ष तथा स्थिर विनिमय-दर के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत किये गये हैं: सर्वप्रथम, विनिमय-दर के प्रत्येक परिवर्तन का प्रभाव आयात-निर्यात में परिवर्तन द्वारा उन वस्तुओं की कीमतों पर पड़ता है जिनका कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता है। अन्य वस्तुओं की कीमतों पर भी उसका प्रभाव पड़ता है जिससे उत्पादन के साधन एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय को चले जाते हैं। इससे साधनों को हानि होती है और आंतरिक जीवन असंतुलित हो जाता है। दूसरे, परिवर्तनशील विनिमय-दर से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। ऐसी अवस्था में आयातकर्त्ता एवं निर्यातकर्त्ता इस बात पर निश्चित नहीं रहते कि वस्तुओं के बदले में वास्तव में उन्हें कितना भुगतान करना पड़ेगा या कितना भुगतान मिलेगा, जब वस्तुएँ आयातकर्त्ता के पास पहुंचती हैं एवं निर्यात कर्त्ता के पास उसका भुगतान पहुंचता है। तीसरे, विनिमय-दर जब परिवर्तनशील होती है तो सटोरिये मुद्राओं का क्रय-विक्रय, भविष्य के अनुमानों के आधार पर करने लगते हैं इसके कारण विनिमय-दर में और भी परिवर्तन होने लगते हैं। चौथे, परिवर्तनशील विनिमय-दरों के कारण दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग हतोत्साहित हो जाते हैं क्योंकि ऐसी व्यवस्था में ब्याज एवं मूलधन के भुगतानों में कठिनाइयाँ होने लगती हैं जो मुख्यत: अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की कठिनाइयों के कारण ही उत्पन्न होती हैं। एक देश जो परिवर्तनशील विनिमय-दर की प्रणाली को अपनाता है, सदैव विनिमय-दर को कम करने की प्रवृत्ति प्राय: अपनायेगा क्योंकि इसी से उसके आर्थिक जीवन पर अच्छे प्रभाव पड़ेंगे। परन्तु वास्तविकता में ऐसा सभी देश नहीं कर सकते क्योंकि विनिमय-दर के अन्तर्गत दो देशों की मुद्राओं का सापेक्षिक मूल्य ही व्यक्त किया जाता है। पाँचवें, परिवर्तनशील विनिमय-दर के साथ भारी मात्रा में विदेशी मुद्राओं को रखना पड़ता है क्योंकि प्रत्येक व्यवसायी अकस्मात होने वाले विनिमय-दर के परिवर्तनों से लाभ उठाना चाहेगा। अन्त में, विनिमय

दर के परिवर्तनशील होने पर मुद्रा के अवमूल्यन के कारण पूँजी के स्थांतरण का भय बना रहता है। स्वर्णमान की समाप्ति का यह भी एक प्रमुख कारण था।

इस प्रकार विनिमय-दर के स्थिर रहने पर तथा परिवर्तनशील रहने पर दोषपूर्ण परिणाम होने की सम्भावनायें होती हैं। जब कि विनिमय-दर के परिवर्तनों का प्रतिकूल भुगतान संतुलन (Unfavourable Balance of Payment) के व्यवस्थित करने पर अनैक्षिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु साथ ही साथ विनिमय दर की स्थिरता के कारण, जब कि देशीय एवं विदेशी आर्थिक जीवन में परिवर्तन हो रहे हों, दोष उत्पन्न हो सकते हैं। साधारण हित के अन्तर्गत इस बात की आवश्यकता होगी कि मुद्राओं के मूल्यों एवं विनिमय-दरों में कभी-कभी परिवर्तन होते रहें जिससे अनेक देशों के बीच कीमत स्तरों की विभिन्नताओं को कम किया जा सके।

विनिमय दरों में परिवर्तन के कारण (Causes of the fluctuations in Rates) of Exchange) :

पिछले अध्याय में हमने विनिमय दरों के परिवर्तनों पर विचार किया है। विनिमय दर का निर्धारण चाहे दीर्घकाल में टंक समता (स्वर्ण या रजत मान के अन्तर्गत) के द्वारा हो या अल्पकाल में क्रयशक्ति समता (अपरिवर्तनशील पत्रमुद्रा के अन्तर्गत) के द्वारा हो, विनिमय-दरों में परिवर्तन अनेक कारणों से होते रहते हैं। यह कारण, व्यक्तिगत रूप से या सामूहिक रूप से, विनिमय-दर को इस प्रकार प्रभावित करते हैं जिससे सामन्य स्तर से वह कभी कम अथवा कभी अधिक हो जाती है। इन कारणों को तीन मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है : (अ) वे कारण जो विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति को प्रभावित करते हैं; (ब) वे चलन की दशायें तथा (स) राजनैतिक दशायें जो मौद्रिक दशाओं को प्रभावित कर विनिमय दरों में परिवर्तन लाती हैं।

(अ) मुद्रा की मांग व पूर्ति में परिवर्तन :

किसी एक समय में विदेशी मुद्रा की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धित देश के भुगतान संतुलन पर निर्भर करता है। भुगतान सन्तुलन को प्रभावित करने वाले तीन मुख्य कारण हैं : (१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं की माँग और पूर्ति की दशायें, (२) बैंकों का प्रभाव, (३) पूँजी के स्थांतरण अथवा स्कंध विनिमय का प्रभाव।

अन्तर्राष्ट्रीय माँग तथा पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन आय की मात्रा तथा वितरण में परिवर्तन, फैशन तथा आविष्कारों में परिवर्तन एवं प्राकृतिक साधनों के शोषण पर निर्भर करते हैं। इन कारकों के परिवर्तन वस्तुओं तथा सेवाओं और यात्रियों के आवागमन पर प्रभाव डालते हैं। तथा इन प्रभावों का विनिमय दर पर भी प्रभाव पड़ता है। इन कारणों में हम बाढ़, भूचाल, कृषि उत्पादन की कमी

जैसे प्राकृतिक कारणों को भी सम्मिलित कर सकते हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय माँग और पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन होते हैं।

बैंकिंग प्रभावों के अन्तर्गत बैंक ड्राफ्टों (Bank Drafts) का क्रय-विक्रय, यात्री-साख-पत्र, मध्यस्थों की क्रियायें इत्यादि सम्मिलित होती हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि जब एक बैंक अपनी विदेशी शाखा पर ड्राफ्ट या साखपत्र इत्यादि का निर्गमन करता है,तो इससे विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ जाती है एवं विनिमय-दर नीचे गिरने लग जाती है। विनिमय-दर पर बैंक-दर का भी अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, जब एक देश में बैंक दर औरों की अपेक्षा अधिक ऊँची कर दी जाती है तो विदेशी विनियोजक अधिक ब्याज प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने कोष भेजने लगते हैं। इससे घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है और विदेशी मुद्रा का मूल्य घट जाता है तथा विनिमय दर ऊँची होने लगती है। इसके विपरीत दशा में उसका मूल्य कम हो जायेगा, क्योंकि देश से कोषों का स्थांतरण होने लगेगा जिससे विदेशी मुद्रा की मांग बढ़ जायगी। इस प्रकार मुद्राओं की माँग और पूर्ति के परिवर्तनों के कारण उनके बीच निर्धारित विनिमय दर पर भी परिवर्तन होने लगेंगे।

स्कंध विनिमय (Stock Exchange) प्रभावों के अन्तर्गत ऋणों का भुगतान, ब्याज का भुगतान, ऋणों का पुर्नभुगतान, घरेलू विनियोजकों द्वारा विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय एवं विदेशी विनियोजकों द्वारा घरेलू प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय सम्मिलित होता है। इनसे सापेक्षिक मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दीर्घकालीन तथा अल्पकालीन कोषों के स्थांतरण के कारण होते हैं। जब एक देश विदेश को ऋण देता है, इससे वह विदेशी मुद्रा की माँग बढ़ाता है जिसके फलस्वरूप घरेलू मुद्रा का मूल्य घट जाता है। इसी प्रकार जब घरेलू विनियोजक विदेशी प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं या विदेशियों द्वारा प्रतिभूतियाँ बेची जाती हैं तो विनिमय-दर कम हो जाती है। परन्तु जब ऋणों का पुर्नभुगतान किया जाता है या विदेशी लोग घरेलू प्रतिभूतियाँ खरीदते हैं तो घरेलू मुद्रा की माँग बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप विनिमय-दर में वृद्धि हो जाती है।

(ब) चलन की दशायें :

विनिमय दरों में परिवर्तनों का एक कारण किसी एक देश की मौद्रिक दशाओं के परिवर्तन भी होते हैं। मौद्रिक दशाओं से हमारा अभिप्राय प्रायः स्फीतिकारी दशाओं से होता है। यदि मुद्रा की मात्रा बढ़ा दी गई है तो उससे मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होगा, जिसके फलस्वरूप विनिमय-दर भी परिवर्तित हो जायगी। इसके अतिरिक्त विनिमय दरों पर केवल कीमतों का ही प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु ब्याज की दरों, जिनसे अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन कोषों का स्थांतरण

होता है, का भी प्रभाव पड़ता है। यदि किसी एक देश में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो गई है या उसकी सम्भावना हो गई है तो उस देश में विनियोगों के प्रति लोगों की अरुचि हो जायगी और देश से कोष हटाये जाने लगेंगे। दूसरी ओर यदि मुद्रा संकुचन के लक्षण प्रकट होते हैं तो मुद्रा की माँग में वृद्धि हो जायगी क्योंकि देश में विनियोगों के प्रति लोगों की रुचि बढ़ जायगी। अधिक निर्गमन की दशा में विनिमय-दर प्रतिकूल हो जाती है तथा दूसरी दशा में वह अनुकूल बनने की प्रवृत्ति अपना लेती है।

(स) राजनैतिक दशायें :

(स) एक देश का राजनैतिक ढाँचा भी विनिमय उच्चावचन एवं पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गति पर अपना विशिष्ट प्रभाव डालता है। स्थायी सरकार, विधान एवं नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन, व्यक्तिगत धन एवं सम्पत्ति की सुरक्षा इत्यादि यह निश्चित करते हैं कि देश में पूँजी का आगमन होना चाहिये या निर्गमन (out-flow)। इससे विनिमय-दर का अनुकूल अथवा प्रतिकूल दशा में रहना निर्धारित होता है। सरकारी वित्त-नीति, मध्यस्थों की क्रियायें तथा सटोरियों के कार्य इस बात को निश्चित करते हैं कि विनिमय-दर किस प्रकार से प्रभावित होगी।

विनिमय नियन्त्रण का अर्थ :

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि स्वतन्त्र विदेशी विनिमय बाजार में विनिमय दर का निर्धारण मुद्राओं की मांग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा होता है। पर इस प्रकार निर्धारित विनिमय-दर स्वर्ण विन्दुओं एवं क्रय-शक्ति के क्रियाशील होने के कारण संतुलित होने की प्रवृत्ति रखती है। वास्तविक विनिमय-दर संतुलित विनिमय-दर से कभी ज्यादा और कभी कम रहती है। जब विनिमय-दर के परिवर्तन इतने अधिक हो जाते हैं जिनको साधारण रीतियों से संतुलित नहीं कर पाया जाता तो कुछ ऐसे नियन्त्रण के तरीके अपनाये जाते हैं जिनके द्वारा विनिमय दरों को एक निश्चित स्तर पर बनाये रखने की कोशिश की जाती है। दूसरे शब्दों में जब मांग और पूर्ति को स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील होने पर विनिमय दर इच्छित स्तर पर रहती है तो किसी भी प्रकार के कृत्रिम नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु जब माँग और पूर्ति की शक्तियों के क्रियाशील होने पर विनिमय दर असंतुलित हो जाती है तो उसमें संतुलन लाने के लिये जो तरीके अपनाये जाते हैं उनको विनिमय नियंत्रण कहते हैं। **अतः विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत उन तमाम प्रयत्नों को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा सरकार विनिमय दरों को प्रभावित करती है।** इस प्रकार के नियन्त्रण किसी न किसी रूप में प्राचीनकाल से विद्यमान हैं। स्वर्णमान की स्वयंसंचालित कार्यविधि विनिमय दरों को कुछ निश्चित सीमाओं तक नियमित करने की स्वयं एक विधि थी। यह सरकारों की साख

नियंत्रण नीति के द्वारा सफलतापूर्वक की जाती थी। परन्तु युद्ध के बाद, एवं विशेष रूप से अवसाद के बाद, स्थिति बदल गई और विनिमय दरों को संतुलित रखने के लिये प्रत्यक्ष रूप से सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक माना जाने लगा। इसी समय से साधारणतया केन्द्रीय बैंक अपनी मौद्रिक नीतियों, बैंक दर एवं खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा विनिमय दरों को नियमित करते आ रहे हैं। विनिमय दरों के सामयिक (seasonal) उच्चावचनों को भी विदेशी विनिमय का क्रय एवं विक्रय कर नियंत्रित किया गया है। इस प्रकार के सभी आधारभूत उपाय विनिमय नियंत्रण की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित रहते हैं। परन्तु वर्तमान समय में विनिमय नियंत्रण शब्द इन साधारण आधारभूत उपायों से सम्बन्धित न होकर उन असाधारण सरकारी उपायों से सम्बन्धित रहता है, जो मांग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित विनिमय दर से भिन्न विनिमय दर स्थापित करने के उद्देश्य से किये जाते हैं, जिससे कि इन दरों का प्रभाव स्पष्ट होने में किसी प्रकार के हस्तक्षेप या नियंत्रण की आवश्यकता न पड़े। जैसा कि ओहलिन (Ohlin) ने लिखा है "कि विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत बट्टे की नीति अथवा आर्थिक नीति के द्वारा विदेशी विनिमय की मांग एवं पूर्ति को प्रभावित करने वाले प्रयत्नों को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसका अर्थ विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति को प्रत्यक्षरूप से विनिमय बाजार में परिवर्तित करने वाले तरीकों से होता है। प्रथम युद्ध काल में प्रायः सभी देशों द्वारा विदेशी विनिमय पर नियंत्रण रक्खा गया और यह नियंत्रण १९२६ तक चालू रहा। १९२६ से ३१ तक यद्यपि इस प्रकार के कुछ नियंत्रण हटा लिये गये थे फिर भी युद्ध पूर्व जैसी विनिमय स्वतन्त्रता पुनः स्थापित न हो सकी। सन् १९३१ के पश्चात् विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध ने विनिमय नियंत्रण को अत्यधिक महत्व प्रदान किया।

विनिमय नियंत्रण उचित कार्य नहीं है किन्तु किसी भी देश को वहां की परिस्थितियां विनिमय नियंत्रण अपनाने के लिये वाध्य कर सकती हैं। ये परिस्थितियां विभिन्न हो सकती हैं: १- विनिमय बाजार की साधारण कार्य विधि के परिणामों के सम्बन्ध में मौद्रिक अधिकारियों को संदेह हो; २-देशी एवं विदेशी जमा करने वाले (depositors) एवं ऋणदाता (creditors) या व्यापारिक बैंकों से भारी मात्रा में धन निकाले जाने पर मौद्रिक अधिकारी विदेशी विनिमय नियंत्रण को आवश्यक मानते हैं; ३-मौद्रिक अधिकारी अवमूल्यन की मांग एवं देश के संचित कोषों के भार को बचाकर घरेलू मुद्रा प्रसार को गुप्त रखना चाहते हों; ४-विनिमय नियंत्रण विदेशों में अवसाद की स्थिति को फैलने से रोकने के लिये अपनाया जा सकता है क्योंकि यह विदेशी विनिमय कोषों की बढ़ी मांग में कमी करता है; ५-यदि मौद्रिक अधिकारी साख के विस्तार द्वारा पूर्ण रोजगार की नीति का पालन कर रहे होते हैं, तो एक ओर तो वह अन्तराष्ट्रीय भुगतान कार्यविधि के मार्ग की प्रत्येक

सीमा को उदित न होने देने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं एवं दूसरी ओर वह विदेशी विनिमय नियंत्रण द्वारा लाभ प्राप्त करना पसंद कर सकते हैं; ६—विदेशी व्यवहारों के नियंत्रण के अभाव में घरेलू मूल्य नियमन अप्रभावी सिद्ध हो सकता है; ७-केन्द्रीयकृत नियोजित अर्थ-व्यवस्था की स्थिति में विदेशी लेन देनों के नियंत्रण की तीव्र आवश्यकता हो सकती है; ८-मौद्रिक अधिकारी विनिमय अवमूल्यन द्वारा भुगतान संतुलन स्थिति सुधारना व्यर्थ मानते हों क्योंकि इसमें आयात मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तथा दूसरी ओर वह पुरानी दर पर विदेशी विनिमय की राशनिंग चालू कर आयात का प्रतिबन्धित करना उचित मान सकते हैं।

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य :– (Objectives of Exchange Control)

विनिमय नियंत्रण की अनेक विधियों का उद्देश्य या तो किसी एक देश की मुद्रा का विनिमय मूल्य उस स्तर से ऊंचा रखना होता है जिस पर कि स्वतन्त्र बाजार की दशाओं में वह निर्धारित होगी अथवा उसको स्वतंत्र बाजार के स्तर से कम रखना होता है। इसका उद्देश्य दीर्घकाल के लिये विनिमय दर में संतुलन बनाये रखना भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में विनिमय नियंत्रण का उद्देश्य अधि-मूल्यन (over valuation), अवमूल्यन ((under valuation) अथवा सम-मूल्यन (stabilisation) होता है।

अधि–मूल्यन (over valuation) : जब विनिमय-दर उस दर से अधिक रक्खी जाती है जो स्वयं ही बाजार में निर्धारित हो सकती है तो उसको 'अधि-मूल्यन' कहते हैं। उदाहरणार्थ, सामान्य विनिमय दर १ पौंड = $ ५ उस समय हो सकती है जब इंगलैंड और अमेरिका में मांग और पूर्ति की शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से क्रियाशील होने दिया जाता है। यदि सरकार वास्तविक विनिमय दर £१=$६ निश्चित करती है तो इसका यह अर्थ होगा कि इंगलैंड में विनिमय दर का अधि मूल्यन हो गया है। इससे यदि पाउण्ड को डालर में परिवर्तित करा लिया जाय तो इंगलैंड के अनुपात में अमेरिका में उससे ज्यादा वस्तुयें खरीदी जा सकती हैं। अधि-मूल्यन की रीति को उस समय अपनाया जाता है जब किसी एक देश के भुगतान शेष में भारी असंतुलन हो जाता है। जब एक देश में दूसरे देश से वस्तुओं के आयात की बड़ी आवश्यकता हो जाती है तो इस रीति को अपनाया जाता है। ऐसा करने से घरेलू मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है क्योंकि आयात सस्ते हो जाते हैं [£१ के बदले ५ $ के स्थान पर ६ $ का माल मिलने लगेगा]। यदि किसी एक देश में मुद्रा प्रसार हो गया है और उस देश में विदेशी व्यापार बड़े महत्व का होता है तो अधि-मूल्यन लाभकारी सिद्ध होता है। ऐसा न करने पर आयात मंहगे पड़ते हैं और निर्यातकर्त्ता, विनिमय-दर के कम होने के कारण, लाभ कमाने लगते हैं। इसके

अतिरिक्त अधिमूल्यन की नीति उस देश के लिये भी बड़ी लाभकारी होती है। जिसको विदेशी मुद्रा में अपने ऋणों का भुगतान करना होता है। इस प्रकार मुद्रा का अधिमूल्यन **तीन कारणों** से किया जा सकता है : १- असाधारण समयों में, जैसे युद्धकाल के पश्चात्, इस नीति को अपनाया जाता है जिससे कि तटस्थ देशों से क्रय आसानी से किया जा सके। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने इसी उद्देश्य से अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन किया था। २– इस नीति को वे देश भी अपनाते हैं जो कि दूसरे देशों से ऋण लिये हुये होते हैं और जिसके बदले में उनको ब्याज एवं मूलधन विदेशी मुद्रा में भुगतान करना होता है। ३–यह नीति मनोवैज्ञानिक कारणों से भी अपनाई जाती है। अतः अधिमूल्यन के प्रभाव गंभीर होते हैं। इससे आंतरिक कीमतें बढ़ जाती हैं जिससे आयात को प्रोत्साहन मिलता है और निर्यात कम होते हैं, विदेशी कोषों की समाप्ति होती है तथा आर्थिक क्रियाओं का ह्रास होता है। सारांश में अधिमूल्यन द्वारा सामान्य आर्थिक अवसाद की दशायें उत्पन्न की जा सकतीं हैं। इन प्रभावों का प्रत्यक्ष अनुभव १९२५—३१ के बीच ग्रेट ब्रिटेन को हुआ था।

अवमूल्यन (Undervaluation) : दूसरी ओर किसी एक मुद्रा का अवमूल्यन अथवा मूल्य-ह्रास उस समय होता है जब वास्तविक विनिमय दर उस दर से नीची निश्चित कीं जाती है जो मुद्रा बाजार की मांग व पूर्ति कीं शक्तियों द्वारा निर्धारित हो सकती है। उपरोक्त उदाहरण में यदि वास्तविक विनिमय दर £१=४$ के निश्चित कर दी जाती है, जब कि स्वतन्त्र रूप से वह १ पौंड=५$ के हो सकती है, तो पाउण्ड का अवमूल्यन अथवा डालर का अधिमूल्यन कहा जायगा। ऐसी दशा में अवमूल्यित (undervalued) देश के निर्यातों में वृद्धि होती है एवं आयात में कमी होती है तथा आंतरिक कीमतें विदेशी कीमतों के अनुपात में अधिक बढ़ती हैं। परन्तु अवमूल्यन की नीति सदैव लाभप्रद नहीं होतीं। इस रीति से प्रायः अवसाद की दशाओं को समाप्त किया जा सकता है। अवमूल्यन की नीति उन देशों के लिये जधिक लाभप्रद सिद्ध होती है जिनके निर्यात खाद्य पदार्थों तथा कच्चे माल द्वारा बनते हैं, क्योंकि अवसाद काल में इन्हीं की कीमतें अधिक गिरती हैं। यह अधिक लाभप्रद समझा जाता है कि बिक्री होने वाली वस्तुओं की कीमतों में कमी कम हो, इसके स्थान पर क्रय की जाने बाली वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो। अनुभव यह बतलाता है कि अनेक देशों ने अवमूल्यन की नीति को केवल इसलिये ही नहीं अपनाया जिससे अधिमूल्यन को ठीक किया जा सके, वरन् इस अभिप्राय से अपनाया कि विनिमय-दर को नीचा कर निर्यात को प्रोत्साहन दिया जा सके, आयात को कम किया जा सके और कींमतों को गिरने से रोका जा सके। पर इस रीति के भी कुछ अपने दोष हैं। प्रायः यह देखा गया है कि एक देश में मुद्रा अवमूल्यन से

दूसरे देशों की प्रवृत्तियां अवमूल्यन की हो जाती हैं। १९२९ से ३२ तक के बीच संसार के सभी देशों की मुद्राओं का अवमूल्यन हुआ। १९३१ में इंगलैंड ने अपने पाउंड का अवमूल्यन उसके अधिमूल्यन को कम करने तथा विदेशी कोषों के सुविधा पूर्वक भुगतान के अभिप्राय से किया था। अमरीका ने भी देशों की मुद्रा अवमूल्यन प्रवृत्तियों के साथ अपनी आंतरिक आर्थिक व्यवस्था के सुधार हेतु डालर का अवमूल्यन किया। इसी प्रकार फ्रांस तथा अन्य स्वर्णमान वाले देशों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन उन अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से किया जिन्होंने अनेक देशों में मुद्रा अवमूल्यन के लिये बाध्य किया था। परन्तु इन उपायों का सभी देशों पर बराबर प्रभाव नहीं पड़ा। इंगलैंड में तो पाउण्ड का अधिमूल्यन कम हो गया परन्तु अमरीका में इसका प्रभाव संदेहप्रद ही रहा और वहां पर आर्थिक उन्नति स्फीतकारी नीति (New deal planning) के कारण हुई। फिर भी उसके कारण अमरीका में स्वर्ण और अल्पकालीन कोषों का आयात हुआ।

अधिमूल्यन v/s **अवमूल्यन :** (Over valuation v/s under valuation) अतः यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक देश को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिये या अधिमूल्यन करना चाहिये। "वास्तविकता तो यह है कि मौद्रिक अवमूल्यन दुधारा अस्त्र (Double-edged weapon) है जिसका प्रभाव स्फीतिकारी एवं संकुचनकारी होता है। यह प्रत्येक देश की दशाओं एवं उसके लिये अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के महत्व पर निर्भर करता है। यदि मुद्रा अधिमूल्यित है तो अवमूल्यन का फल लाभदायक होगा, जहां तक इसका प्रभाव स्फीतिकारी पड़ेगा। परन्तु यदि विनिमय अवमूल्यन से वास्तविक रूप में मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है, तो उसका प्रभाव संकुचनकारी होगा। यह उन अनेक दशाओं पर निर्भर करता है जो किसी एक देश में पाये जाते हैं। इसीलिये एक ही देश में विभिन्न समयों पर अधिमूल्यन अथवा अवमूल्यन लाभप्रद सिद्ध हो सकते हैं। इसके साथ ही साथ यदि किसी एक मुद्रा के अवमूल्यन से प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन होने लगता है तो इसके सभी लाभ नष्ट हो जायेंगे। यह ऐसे देशों के लिये महत्वहीन भी होता है जिनके लिये विदेशी व्यापार महत्व का नहीं होता। क्राउथर के विचारानुसार इस सम्बन्ध में इस नीति का पालन करना चाहिये : "युद्ध एवं न्यूनता (scarcity) काल में मुद्रा का अधिमूल्यन तथा अवसाद काल में मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहिये।"

सम-मूल्यन (Stabilisation) : विनिमय नियंत्रण का सब से महत्वपूर्ण उद्देश्य न तो अवमूल्यन करने का होता है और न अधिमूल्यन का परन्तु विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने का होता है। उद्देश्य यह होता है कि विनिमय दर पर होने वाले अल्पकाल उच्चावचनों को दूर रखना तथा विनिमय दर में संतुलन बनाये

रखने के लिये हानिकारक प्रभावों से उसको बचाये रखना होता है। परन्तु जहां पर कठिनाइयां सब से अधिक होती हैं। जैसा कि क्राउथर ने लिखा है कि विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य केवल उन उच्चावचनों को रोकना होना चाहिये जो अल्पकाल के लिये स्वतन्त्र विनिमय दर को प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही साथ विनिमय दर में किसी भी प्रकार का मौलिक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। अतीत को देखकर यह आसानी से जाना जा सकता है कि विनिमय दर में कौन से उच्चावचन अल्पकालीन एवं अस्थायी थे। परन्तु ऐसी नीति के संचालकों को वर्तमान दशाओं को देख कर ही निर्णय लेना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह आश्चर्यजनक न होगा कि विनिमय दरों के परिवर्तनों को रोकने वाली नीति व्यवहारिक रूप में व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से न अपनाई जाय। स्वर्णमान की समाप्ति के बाद विनिमय दरों में संतुलन बनाये रखने के लिये विनिमय समता कोषों को अपनाया गया था। इसी उद्देश्य से अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना की गई है।

इस प्रकार विनिमय नियंत्रण के अनेक उपायों द्वारा किसी देश की सरकार मुद्रा अवमूल्यन, अधिमूल्यन तथा सममूल्यन के अंतर्गत निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकती है। १-पूर्व-निर्धारित साम्य पर विनिमय-दर स्थिर रखना (To maintain the Exchange Rate at a Pre-determined Parity); २- पूंजी हस्तांतरण पर रोक (Restriction on capital fliglt); ३- आवश्यक आयात के लिये विदेशी मुद्राओं की उपलब्धि (Availability of foreign currencies for necessary import); ४-शत्रु राष्ट्रों की क्रय-शक्ति पर रोक (Checking on the purchasing power of the enemy nations); ५-विदेशी भुगतानों के लिये विदेशी मुद्राओं की प्राप्ति (Acquiring of foreign currencies to meet foreign payments); ६-विभिन्न मुद्राओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना (to establish relation between different currencies); ७- निर्यात करों का स्थानापन्न (substitutes for export duties); और ८-संरक्षण उद्देश्यों की पूर्ति (Adaption of Protective policy)।

विनिमय नियन्त्रण के ढंग (Methods of Exchange control): विनिमय नियन्त्रण के ढंग दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं: १- एकपक्षीय; २- द्वियक्षीय एवं बहुपक्षीय। एक पक्षीय विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपने स्वार्थ को ध्यान में रखकर नियंत्रण के ढंगों को अपनाता है। द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय विनिमय नियंत्रण में परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य करने के उद्देश्य को ध्यान में रक्खा जाता है। एक-पक्षीय विनिमय नियन्त्रण एक ही देश के व्यक्तिगत कार्यों का परिणाम होता है। द्वि-पक्षीय नियन्त्रण में दो देश मिल कर

अन्योन्य विनिमय प्रबन्ध करते हैं तथा बहुद्देशीय नियन्त्रण में कई देश सम्मिलित होते हैं। इनका विवेचन हम पृथक-पृथक करेंगे।

एकपक्षीय विनिमय नियन्त्रण (Unilateral Exchange Control)

जब एक देश, विनिमय दर में होने वाले उच्चावचनों को नियंत्रित रखने के उद्देश्य से, नियंत्रण-नीति अपनाता है, तो उन अनेक देशों द्वारा अपनाये जाने वाले विनिमय नियंत्रण के उपायों को इस वर्ग के अन्तर्गत रक्खा जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण के दो रूप हो सकते हैं: (अ) **प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण**, एवं (ब) **अप्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण**। प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण को प्रमुख विनिमय नियंत्रण भी कहते हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा प्रायः अनेक देशों ने विनिमय नियंत्रण नीति का पालन किया है।

(अ) **प्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण** (Direct Exchange Control) को दो भागों में बाँटा जा सकता है: (i) हस्तक्षेप एवं (ii) प्रतिबन्ध। **हस्तक्षेप** (Intervention) के अन्तर्गत सरकार विनिमय बाजार में स्वयं विनिमय दर को ऊँची या नीची करने के लिये विदेशी मुद्राओं का क्रय करती है। प्रतिबन्ध (restriction) के अन्तर्गत सरकार जिन मुद्राओं में रुचि लेती है उनकी मांग या पूर्ति को अनेक उपायों द्वारा प्रतिबन्ध लगाकर जनता की स्वतन्त्रता में बाधा उत्पन्न करती है। जब मौद्रिक अधिकारी किसी मुद्रा की पूर्ति को उसकी मांग के साथ व्यवस्थित करने के अभिप्राय से मुद्रा-बाजार में मुद्रा-पूर्ति को बढ़ाने व कम करने का आश्वासन देती है, तो उसे निष्क्रिय हस्तक्षेप (Passive Intervention) कहते हैं। परन्तु जब वह मुद्रा की पूर्ति को व्यवस्थित करने के लिये उसका वास्तव में क्रय-विक्रय करने लगते हैं तो उसको क्रियाशील हस्तक्षेप (Active intervention) कहते हैं। हस्तक्षेप प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भी हो सकता है। प्रत्यक्ष हस्तक्षेप (Direct intervention) उस समय होता है जब विदेशी विनिमय बाजार में मौद्रिक अधिकारी स्वयं इस बात की आवश्यकता समझकर किसी एक मुद्रा का क्रय अथवा विक्रय करने लगता है। परन्तु अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप (Indirect intervention) के अन्तर्गत बाजार की दशाओं के व्यवस्थित रखने के उद्देश्य से मुद्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है। 'हस्तक्षेप' के लिए 'विनिमय उद्‌बंधन' (Exchange Pegging) एक महत्वपूर्ण प्रणाली होती है। विनिमय उद्‌बंधन उस क्रिया को कहते हैं जब किसी देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय दर को उसकी उन्मुक्त दर (Natural Rate) से भिन्न रखना चाहती है। साधारणतया उद्‌बंधन अथवा पेगिंग (Pegging) हस्तक्षेप का प्रधान रूप होता है। इसके अतिरिक्त स्वर्णमान की समाप्ति पर ब्रिटेन, अमरीका व फ्रांस द्वारा अपनाई गई विनिमय समता कोष प्रणाली (Exchange equilisation Fund System) इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपनाई गई थी। इन कोषों की

स्थापना द्वारा अनेक देशों में विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता था जिससे उन देशों में भुगतान संतुलन के फलस्वरूप होने वाले कोषों के स्थांतरण से देशों की मुद्राओं के मूल्यों में होने वाले उच्चावचनों पर रोक लगाई जा सके।

'विनिमय प्रतिबन्ध' (Exchange restriction) के अन्तर्गत बाजार की स्वतन्त्रता में नियन्त्रण रखकर विनिमय दर को संतुलित बनाये रक्खा जाता है। इन उपायों का सहारा लेने के लिए सरकार तीन कार्य करती है: (अ) समस्त विदेशी विनिमय सम्बन्धी लेन देनों का केन्द्रीयकरण साधारणतया देश के केन्द्रीय बैंक में कर दिया जाता है; (ब) पूर्व अनुमति के बिना राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय के लिये प्रस्तुत नहीं की जाती; तथा (स) अनाधिकृत विदेशी लेनदेन अपराध माना जाता है। प्रायः विनिमय प्रतिबन्ध का उद्देश्य विदेशी मुद्रा बाजार में अपनी मुद्रा की पूर्ति को कम करने का (जब पूर्ति अधिक हो) होता है, जिससे कि पूर्ति में वृद्धि हो जाने से विदेशी बाजार में उसका मूल्य कम न हो। ये उपाय साधारणतया विशेष प्रकार के कोष सम्बन्धी भुगतानों को रोकने के लिए अपनाये जाते हैं। इस प्रकार के उपायों (प्रतिबन्ध) में विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय केन्द्रीय बैंकों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रणाली का आरम्भ हस्तक्षेप से पूर्ण सफलता न मिलने के कारण हुआ। सबसे पहले १९३१ में जर्मनी ने इस प्रणाली को ग्रहण किया था और बाद में अर्जेन्टाइना तथा मध्य योरूप के देशों ने भी इसे अपनाया था। सन् १९३९ के पश्चात् जर्मनी ने प्रतिबन्ध सम्बन्धी और भी कठोर उपाय अपनाये, जिसका विवेचन द्विपक्षीय विनिमय नियन्त्रण प्रणाली में किया जायगा। सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्रतिबन्ध के उपायों को अल्पकालीन कोषों के हस्तांतरणों को रोकने के लिये, जो स्वर्णमान की समाप्ति तथा अवसाद की दशाओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय असंतुलन के कारण लोगों का मुद्राओं पर विश्वास हटने के कारण हो रहे थे।

इस प्रकार एकपक्षीय विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत अपनाये गये विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपाय विनिमय उद्बंधन, विनिमय समानीकरण कोष, विदेशी विनिमय की राशनिंग, अवरुद्ध खाता आदि मुख्य हैं:

१—**विनिमय उद्बंधन** (Exchange Pegging): स्वाभाविक रूप से निर्धारित होने वाली विनिमय दर से भिन्न दर बनाये रखने के लिए जब सरकार हस्तक्षेप करती है तो इसे विनिमय उदबंधन कहते हैं। जब उद्बंधन का अभिप्राय मूल्य के अधिक रखने से होता है तो उसे 'ऊँचा टांकना' (Pegging up) कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के समय पौंड की डालर में विनिमय दर ४.७६½ डालर निर्धारित कर दी गई थी। युद्ध के पश्चात् जैसे ही सरकारी हस्तक्षेप हटाया गया विनिमय दर १पौंड=३.४० डालर हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि इंगलैण्ड की सरकार ने अपनी

मुद्रा की विनिमय दर उन्मुक्त दर से अधिक रक्खी। जब सरकार विनिमय दर को नीची रखने के उद्देश्य से हस्तक्षेप करती है तो वह विनिमय दर का 'नीचे टाँकना' (Pegging down) कहलाता है। पहली दशा में मुद्रा का अधिमूल्यन होता है तथा दूसरी दशा में अवमूल्यन। अधिमूल्यन के समय अधिमूल्यित मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा उसकी माँग कम होती है, परन्तु अवमूल्यन के समय इसका उल्टा होता है। उन्मुक्त दर से ऊँची दर पर विनिमय दर को पेगअप करने से सरकार को सदा इस बात के लिये तैयार रहना पड़ता था कि मुद्रा-बाजार में उसकी मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाने पर वह स्वयं उनका क्रय करके उनके बदले विदेशी मुद्रा प्रदान करे। इसके विपरीत नीची दर पर पेग डाउन करने के लिये सरकार को बाजार में सदा एक निश्चित दर पर अपनी मुद्रा की पूर्ति को बनाये रखने के लिये अपनी मुद्रा को विदेशी मुद्रा के बदले में बेचने को तैयार रहना पड़ता है। अतः इस उपाय के अन्तर्गत सरकार के पास विदेशी तथा देशी मुद्राओं का काफी बड़ा कोष होना आवश्यक होता है। विनिमय दर को नीचा लटकाना अधिक सरल होता है क्योंकि सरकार के पास देशी मुद्रा की पूर्ति अपेक्षाकृत अधिक हो सकती है।

२—**विनिमय समानीकरण कोष** (Exchange Equalization Fund): स्वर्णमान की समाप्ति के बाद विनिमय दर में होने वाले उच्चावचनों को रोकने के लिये ६ देशों[1] ने एक प्रणाली अपनाई जिसको विनिमय समता कोष प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली का उद्देश्य अनैतिक सट्टेबाजी के कारण होने वाले विनिमय दरों के परिवर्तनों को रोकना था। प्रत्येक देश में इन कोषों के स्थापन द्वारा विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय किया जाता था जिससे उन देशों में भुगतान असंतुलन के फलस्वरूप होने वाले कोषों के स्थांतरण से विभिन्न मुद्राओं के मूल्यों में होने वाले उच्चावचनों पर रोक लगाई जाती थी। इस व्यवस्था में सरकार अपने देश के केन्द्रीय बैंक में स्वर्ण तथा देशी व विदेशी मुद्राओं का कोष निर्माण करती थी। आवश्यकतानुसार इसी कोष से मुद्रा बाजारों में माँग के अनुसार मुद्राओं की पूर्ति को व्यवस्थित किया जाता था। अनेक कोषों के बीच स्वर्ण एवं मुद्राओं का स्थांतरण गुप्त रक्खा जाता था। स्पष्ट है कि इन कोषों का उपयोग दीर्घकालीन तथा स्थायी प्रवृत्तियों में हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से नहीं किया जाता था।

३—**विदेशी विनिमय की राशनिंग** (Rationing of Foreign Exchange): विनिमय राशनिंग के उपाय को अपना कर सरकार विदेशी विनिमय का स्वतंत्र क्रय विक्रय समाप्त कर देती है। निर्यात के बदले प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा सरकार के पास जमा कराई जाती है और फिर राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर

1. England, France, America, Poland, Belgium & Switzerland.

अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं के आयात के लिये सरकार नियमानुसार विदेशी विनिमय प्रदान करती है। साधारण शब्दों में सरकार आयात के लिये दी जाने वाली विदेशी मुद्रा की प्राथमिकता निर्धारित कर देती है। साधारणतया यह सब केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है और यही अधिकृत स्थान होता है जहाँ विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय होता है।

विनिमय राशनिंग के साथ-साथ कभी-कभी आयात कोटा प्रणाली को भी अपनाया जाता है। आयात निर्यात का प्रभाव विनिमय दर पर पड़ने के कारण उनकी मात्रा को सीमित कर दिया जाता है। साधारणतया निर्यातों को तो प्रोत्साहन दिया जाता है परन्तु अनावश्यक आयातों को या तो कम कर दिया जाता है या पूर्णतया वर्जित कर दिया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विनिमय का नियंत्रण हो जाता है।

४—**अवरुद्ध खाता** (Blocked Accounts) : जब किसी देश की सरकार यह अनुभव करती है कि विदेशी मुद्रा बाजार में विदेशी विनिमय की माँग पूर्ति से अधिक है तो वह अवरुद्ध खाते की नीति अपना सकती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार विदेशियों को सम्पत्ति तथा मुद्राओं को बाहर ले जाने का अधिकार नहीं देती है। यह सम्पूर्ण राशि सरकार अवरुद्ध खाते नामक कोष में जमा कर देती है। प्रत्येक आयातकर्ता आयात का भुगतान व्यवसाइयों को न करके सरकार को करता है। विदेशियों को उनकी पूंजी पर ब्याज का भुगतान बन्द कर दिया जाता है। कभी कभी उनको यह सुविधा दे दी जाती है कि यद्यपि वे अपनी पूंजी को देश के बाहर नहीं निकाल सकते फिर भी वे उसका उसी देश में उपयोग कर सकते हैं। सर्वप्रथम नाजी जर्मनी तथा बाद में आस्ट्रिया तथा मध्य योरुप के देशों ने अवरुद्ध खातों की व्यवस्था को अपनाया था। जर्मनी ने तो यहूदियों को देश से निकाल कर उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति अवरुद्ध खाते में लिख दी थी। सन् १९४० में इंगलैण्ड ने भी विदेशियों की स्टर्लिंग सम्पत्ति को अवरुद्ध खाते में घेर लिया था यद्यपि कि उनको यह अधिकार दे दिया गया था कि वे अपनी अवरुद्ध सम्पत्ति को अन्य विदेशियों को हस्तांतरित कर सकते थे।

(ब) अप्रत्यक्ष विनिमय नियंत्रण (Indirect Exchange Control) : अप्रत्यक्ष विनिमय नियन्त्रण उस स्थिति में समझा जाता है जब किसी देश की सरकार विभिन्न उपायों द्वारा वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता का नियमन करने लगती है या एक निश्चित दर पर विदेशी मुद्राओं को खरीदना या बेचना शुरू कर देती है। वास्तव में इस नीति द्वारा **विनिमय नियंत्रण को न अपनाकर केवल विनिमय दर को प्रभावित** किया जाता है जिससे कि उसमें उच्चावचन एक सीमा

के अन्दर ही होता रहे। इन उपायों के अन्तर्गत **आयात-निर्यात कर** (Custom duties), **कोटा** (quota), **सहायता नीति** (Tarrif policy) एवं **ब्याज दर परिवर्तन** इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। इन उपायों में से आयात व निर्यात कर एवं आयात-निर्यात कोटा का निर्धारण प्रमुख रीति हैं जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष विनिमय नियत्रण अपनाया जाता है। आयात कर एवं आयात कोटा के द्वारा आयातों को कम किया जाता है, विदेशी मुद्रा की मांग को कम किया जाता है और घरेलू मुद्रा के मूल्य में कमी लाई जाती है। दूसरी ओर यदि निर्यात कर लगाये जाते हैं तो प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। इसी प्रकार निर्यात सहायता (export bounty) तथा आयात सहायता (Import bounty) घरेलू मुद्रा के मूल्य को क्रमशः बढ़ा एवं घटा देते हैं। परन्तु आयात निर्यात कर के द्वारा ही विनिमय नियन्त्रण के अप्रत्यक्ष उपायों को नहीं अपनाया जा सकता। संरक्षण की नीति तथा ब्याज दर के परिवर्तन से मुद्रा के आंतरिक मूल्य एवं विदेशी मूल्य पर भी प्रभाव पड़ता है। ऐसा हो सकता है कि इसके अन्तर्गत अपनाये गये एक उपाय के प्रभावों को दूसरे उपायों से नष्ट कर दिया जाय। इसीलिये देशों ने अप्रत्यक्ष उपायों के स्थान पर विनिमय नियन्त्रण के प्रत्यक्ष उपायों को ही प्रायः अपनाया है।

II. **द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय विनिमय नियंत्रण** (Bilateral & multilateral exchange control) :

जब कोई दो या उससे ज्यादा देश परस्पर सहयोग के द्वारा अपने अपने यहाँ समझौतों के द्वारा विभिन्न विनिमय नियंत्रण को अपनाते हैं तो उसे द्विपक्षीय या बहुपक्षीय विनिमय नियंत्रण कहते हैं। यद्यपि द्विपक्षीय विनिमय नियन्त्रण का प्रचार काफी रहा है, तथापि बहुपक्षीय विनिमय नियन्त्रण अधिक नहीं अपनाया गया। विनिमय समानीकरण कोष की व्यवस्था जो इंगलैण्ड, फ्रांस तथा अमरीका के त्रिपक्षीय समझौते के अनुसार हुई थी, बहुपक्षीय विनिमय नियंत्रण की व्यवस्था थी। द्विपक्षीय विनिमय नियंत्रण के मुख्य रूप समाशोधन समझौते, भुगतान समझौते, विलम्बकाल हस्तान्तरण तथा यथास्थिर समझौते हैं :—

समाशोधन समझौते (Clearing Agreements) :

ये वे समझौते होते हैं जिनके द्वारा एक देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक दूसरे देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक को इस बात की गारंटी करती है कि परस्पर व्यापार तथा लेनदेन के अन्तर का भुगतान बिना किसी विलम्ब के कर दिया जायगा। ऐसा होने पर उन्हें विदेशी विनिमय बाजार में जाने की आवश्यकता नहीं होती है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व जर्मनी तथा स्विटजरलैण्ड के बीच ऐसे समझौते किये गये थे।

भुगतान समझौते (Payment Agreements) :

ये समझौते विनिमय राशनिंग के ही अनेक अंग होते हैं जिनके अन्तर्गत विदेशी भुगतानों की समाप्ति का प्रयत्न किया जाता है। ऐसे समझौतों के दो रूप होते हैं: प्रथम के अनुसार यह तय किया जाता है कि समझौता करने वाले देश भुगतान संतुलन बराबर होने की अवधि तक आयात-निर्यात करते रहेंगे। दूसरे में पिछले ऋणों की अदायगी के लिये समझौता किया जाता है। इस प्रकार इनको 'विनिमय राशनिंग समझौते' कहना अनुचित न होगा।

विलम्बकाल हस्तान्तरण (Transfer Moratoria) :

इनका उद्देश्य विदेशियों को उनके द्वारा भेजे हुये माल अथवा पूँजी का भुगतान तत्काल न करके कुछ समय पश्चात् करना होता है। आयातकर्त्ता अपने विदेशी ऋणों का भुगतान घरेलू मुद्रा में एक विशिष्ट अधिकारी अथवा बैंक को कर देते हैं। अवधि समाप्त होने पर यह कोष विदेशों को भेज दिया जाता है। इस अवधि में देश की सरकार को विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यक समायोजन करने का अवकाश प्राप्त हो जाता है।

यथास्थिर समझौते (Standstill Agreements) :

इस प्रणाली का उपयोग सन् १९३१ की आर्थिक मन्दी के पश्चात् जर्मनी में हुआ। इस प्रकार के समझौतों से ऋणी देशों को ऋणों के भुगतान करने का कुछ और अधिक समय प्राप्त हो जाता है। ऋणों के भुगतान की अवधि या तो दीर्घकाल के लिये बढ़ा दी जाती है अथवा इसे किश्तों में भुगतान करने का समझौता कर लिया जाता है। इस प्रकार ऋणी देश को अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार करने तथा विनिमय दर पर नियंत्रण लगाने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व विनिमय नियंत्रण :

प्रथम विश्व युद्ध काल तक विनिमय दरों के उच्चावचनों के नियंत्रण के लिये 'विनिमय नियंत्रण उपायों' का कोई महत्व नहीं था। स्वर्णमान की स्वयं-चालित कार्य-प्रणाली का विनिमय दरों के नियंत्रण से कोई सम्बन्ध (मतलब) नहीं था। युद्धकाल में, विभिन्न देशों ने सेना एवं अन्य आवश्यकताओं को पूरी करने के लिये स्वर्ण के निर्यात पर रोक लगाया। युद्ध के पश्चात भी, जब पुनः स्वर्णमान अपनाया गया, विनिमय नियंत्रण के साधनों का अभाव था। संकटकालीन अवस्था गम्भीर न होने के कारण इन साधनों को अपनाना उचित नहीं माना गया। वास्तविक रूप में, विनिमय नियंत्रण १९३१ की संकटकालीन स्थिति को रोकने के लिये अस्थायी रूप से अपनाया गया। इस वर्ष मुद्रा के अन्तर्राष्ट्रीय तरलता संकट को समाप्त करने के लिये विनिमय नियंत्रण के साधनों की आवश्यकता

महसूस हुई। आर्थिक स्थिरता बनाये रखने के लिये घरेलू मुद्रा का वाह्य मूल्य स्थिर रखने के उद्देश्य से भी, जिसमें कि अवसर परिवर्तन होते रहते थे, विनिमय नियंत्रण के उपायों को अपनाया गया। इन उद्देश्यों से, प्रत्येक देश में वस्तु व्यापार के नियंत्रण किये गये। डेनमार्क ने ब्रिटेन में अपने क्रय की मात्रा बढ़ा दी जिससे कि डेनमार्क के खाद्यानों का इंगलैंड में आयात कम हो जाय। जर्मनी ने विनिमय नियंत्रण का प्रयोग विदेशी व्यापार के कुछ स्रोतों की उन्नति करने के लिये किया जिससे उसके कच्चे माल की पूर्ति में वृद्धि हो तथा अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। परन्तु सामान्य रूप से ऐसे साधन सट्टे द्वारा पूँजी के आवागमन को रोकने तथा भुगतान संतुलन में सामंजस्य लाने के लिए अपनाये गये। कुछ देशों ने अपने प्रतिद्वन्दियों से निर्यात-लाभ उठाने के कारण अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। ऐसा करने का उद्देश्य सम्पूर्ण उत्पादन प्रणाली को उन्नत करने का भी था। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा और उन्होंने भी अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया। बदलती हुई विनिमय दरों की प्रतियोगी प्रवृत्तियों को रोकने के लिये बहुत से देशों ने 'विनिमय स्थिरता खाते' की प्रणाली अपनायी। इन उपायों द्वारा काफी हद तक विनिमय दरों में स्थिरता आ गई। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व विनिमय दरों के उच्चावचनों को रोकने के साधन आपसी समझौतों पर आधारित थे। विनिमय नियंत्रण के ये उपाय कमजोर देशों द्वारा स्थिरता प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनाये गये। यद्यपि प्रत्येक देश में किसी न किसी रूप में विनिमय नियंत्रण के साधनों को प्रयोग किया जाता है, परन्तु योरोपीय एवं दक्षिणी अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय नीति की यह स्थायी विशेषता बन गई है।

द्वितीय विश्व युद्ध काल एवं इसके उपरांत विनिमय नियंत्रण :

द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने के समय तक विनिमय नियंत्रण लगभग एक स्थायी विशेषता बन चुकी थी। इंगलैण्ड और अमेरिका जैसे देशों में विनिमय नियंत्रण के नम्र साधन—हस्तक्षेप की नीति (स्थिरता कोष आदि के द्वारा) अपनाया, जबकि योरोपीय एवं दक्षिणी अमेरिका के देशों ने कठोर नियंत्रण—विनिमय नियंत्रण—की नीति अपनाई। युद्धकाल में संसार के लगभग सभी देशों ने विनिमय नियंत्रण के साधनों को अपनाया। इस प्रकार के नियंत्रण का उद्देश्य पूँजी के निर्यात को रोकना, युद्ध की आवश्यक सामग्री खरीदने के लिये विदेशी विनिमय प्राप्त करना और शत्रु देशों से व्यापार बन्द करना था। वास्तव में द्वितीय विश्व युद्ध काल में विनिमय नियंत्रण के साधन देशों के समूहों (Groups of Countries) द्वारा अपनाये गये जो एक प्रथक इकाई के रूप में कार्य करते थे। विनिमय-दरों में स्थिरता एवं अनुबन्धित (Allied) देशों के बीच व्यापार बनाये रखने के लिये

विदेशी विनिमय को अनुबन्धित देशों की सामान्य आवश्यकताओं के अनुसार खर्च किया जाता था। विनिमय बाजार में डालर की कमी थी और निर्यातों से प्राप्त डालरों को 'इम्पायर डालर पूल' में एकत्रित किया जाता था जिससे डालर वाले देशों से होने वाली माल की पूर्ति का नियमन किया जा सके।

ऐसा होने पर भी नियंत्रण के ये साधन युद्धोत्तर काल की विशेषता न बन सके। युद्धोत्तर काल में प्रत्येक अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। विनिमय नियंत्रण के एक साधन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा प्रणाली की स्थापना करने के लिये बहुत सी योजनायें बनाई गईं। सन् १९४४ कीं ब्रेटनवुड्स कानफ्रेन्स में योजनाओं का विस्तृत विवेचन किया गया और वहीं पर 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की स्थापना का निश्चय किया गया। कोष की स्थापना का मुख्य उद्देश्य एक स्थाई संस्था के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्राप्त करना था, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं के लिये सलाह एवं सहायता प्रदान कर सके। यह कोष सदस्य देशों की मुद्रा के समता-मूल्य में परिवर्तन के लिये, केवल सदस्यों की राय पर, एक संयत्र (Machinery) प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष कहाँ तक विनिमय उच्चावचनों के नियन्त्रण में सहायक हो सका है, इसका विवेचन अन्य अध्याय में किया गया है।

इन साधनों के अतिरिक्त कुछ अन्य देशों ने भी पुनर्निर्माण एवं समाशोधन कीं संयुक्त योजनायें, अपनी अर्थव्यवस्थाओं को उन्नत करने के लिये, कार्यान्वित कीं। 'मार्शल एड' के अन्तर्गत 'योरोपियन रिकवरी प्लान' ने व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के लिये नियंत्रित एवं संगठित विनिमय बाजार की आवश्यकता प्रतीत कराई। प्लान के अन्तर्गत जो सहायता १६ देशों को दी गई उनमें स्वतन्त्र अनुदान, खाद्य पदार्थों, औद्योगिक आधार वस्तुयें तथा पूँजी के रूप में दी गईं। उसका एक भाग नकद के रूप में दिया गया जिसके द्वारा अमरीका के अतिरिक्त अन्य देशों से वे देश वस्तुयें खरीद सकते थे। परन्तु इस योजना ने भुगतान शेष के संतुलन की समस्या खड़ी कर दी। काफी विचार विमर्श के पश्चात् समाशोधन गृह के रूप में एक प्रणाली अपनाई गई जिसके अन्तर्गत समय समय पर भुगतान शेषों का संतुलन किया जाता था। इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार में अल्पकालीन ऋण की भी व्यवस्था की गई। यह प्रणाली 'योरोपियन पेमेन्ट यूनियन' के नाम से अपनाई गई जो अगस्त १९५० से कार्यशील हो गई। इस यूनियन के पास ३५० मिलियन डालर की चालित पूँजी की व्यवस्था की गई जिससे ऋणी देशों को सहायता प्रदान की जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विनिमय स्थायित्व (I.M.F. & Exchange stability) :

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई। इस कोष के द्वारा अनेक देशों के बीच निर्धारित विनिमय दरों में संतुलन बनाये रक्खा जाता है। यह कोष ऐसी प्रणाली का उल्लेख करता है जिसके द्वारा मुद्राओं की माँग एवं पूर्ति में होने वाले अल्पकालीन उच्चावचनों को व्यवस्थित किया जाता है। अतः इसकी स्थापना का उद्देश्य विनिमय स्थिरता को प्रोत्साहन, प्रतियोगी विनिमय ह्रास से बचत एवं एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्राओं में बदल कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को उन्नतिशील बनाना है। यह कोष अपने सदस्य देशों की मुद्राओं को एक दूसरे देश को बेचता है। सभी सदस्य देशों ने अपनी मुद्राओं की कीमत स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में परिभाषित किया है, यद्यपि कि सदस्य देश इस विनिमय समता में १०% अतिरिक्त परिवर्तन भी कर सकते हैं। कोष की स्थापना से यह कहा जाता है कि संसार को स्वर्णमान के समस्त लाभ प्राप्त हो रहे हैं तथा उसके दोषों का सामना नहीं करना पड़ रहा है।

इस प्रकार वर्तमान विनिमय बाजार में अनेक प्रकार के उपाय अपनाने गये हैं जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संतुलन बनाये रखने के लिये व्यक्तिगत देशों की आवश्यकतानुसार विनिमय दरों में परिवर्तन लाये जाँय।

भारत में विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control in India) :

भारत में सर्वप्रथम विनिमय-नियंत्रण द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय, सितम्बर १९३९ ई० में अपनाया गया। प्रथम विश्वयुद्ध काल में रुपये की विनिमय दर पर नियंत्रण न रहने के कारण रुपये की स्टर्लिंग दर में खूब उतार चढ़ाव हुये। युद्ध की समाप्ति पर भी विदेशी विनिमय में सट्टेबाजी होती रही जिसके फलस्वरूप देश के व्यापार को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। भारत सरकार ने विनिमय नियंत्रण का भार रिजर्व बैंक के सुपुर्द कर दिया जिसने इस कार्य के संचालन के लिये एक प्रथक विनिमय-नियन्त्रण विभाग (Exchange Control Department) की स्थापना की। युद्धकाल में भारतीय सुरक्षा अधिनियम (Defence of India Ordinance) के अन्तर्गत सरकार की अनुमति के बिना विदेशी विनिमय का उपयोग नहीं किया जा सकता था। बैंक कुछ स्वीकृत कार्यों के लिये ही विदेशी विनिमय की सुविधायें दिया करता था। विनिमय नियन्त्रण के उपायों का उल्लेख भारतीय सुरक्षा विधान के १४ वें भाग में किया गया है। ये इस प्रकार हैं : १—विदेशी विनिमय के क्रय पर प्रतिबन्ध (Restriction on purchase of Foreign Exchange); २—विदेशी विनिमय की केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्ति

(Aquisition of Foreign Exchange by Central Govt.), ३—प्रतिभूतियों के क्रय एवं निर्यात पर प्रतिबन्ध (Restrictions on purchase and export of securities), तथा; ४—विदेशी प्रतिभूतियों का केन्द्रीय सरकार द्वारा उपार्जन (Aquisition of Foreign Securities by Central Govt.)। उपरोक्त अधिनियम के अन्तर्गत विदेशी विनिमय का लेन-देन केवल अधिकृत व्यापारियों (बैंकों) के माध्यम से ही किया जा सकता है। नियंत्रण को प्रभावशाली बनाने के लिये पाटों एवं प्रतिभूतियों (Bullion & Securities) के लेन-देनों पर तीव्र प्रतिबन्ध रक्खा गया। विदेशी विनिमय के अधिकृत व्यापारियों को लन्दन कन्ट्रोल के अनुसार घोषित स्टर्लिंग और रुपये की विनिमय दर के अतिरिक्त अन्य किसी भी दर पर व्यापार (कार्य) करने का अधिकार नहीं था। मार्च १९४० में रिजर्व बैंक ने विदेशी विनिमय नियन्त्रण के लिये एक योजना की घोषणा की। यह इंगलैण्ड द्वारा लागू किये गये विनिमय नियन्त्रण नियमों को दूर करने का एक उपाय था। यद्यपि इंगलैण्ड में नियन्त्रण की यह योजना सफल न हो सकी, परन्तु भारत की रिजर्व बैंक ने इसे प्रभावशाली बनाने का निश्चय कर लिया। इन विनिमय नियन्त्रण के उपायों ने भारत को उन लाभों से वंचित कर दिया जो कि 'स्वतन्त्र बाजार दर' द्वारा उठाये जा सकते थे। भारतीय निर्यातकों द्वारा प्राप्त किये गये डालर रिजर्व बैंक को इंगलैण्ड सरकार द्वारा निर्धारित दर पर बदलने के लिये दिये गये। भारतीय निर्यातकों के डालर को स्टर्लिंग में बदलने की इस प्रक्रिया से भारतीय कोष (Treasury) को बहुत बड़ी हानि हुई। इसका कारण यह था कि उनको डालर के बदले में स्टर्लिंग की उतनी मात्रा न मिल सकी जितनी कि उन्हें स्वतन्त्र बाजार दर पर बदलने से प्राप्त होती। इस प्रकार के संयुक्त नियन्त्रण (co-ordinated control) के दो उद्देश्य थे: प्रथम, कामनवेल्थ देशों की डालर की माँग तथा पूर्ति को समायोजित करना; एवं, द्वितीय, डालर का मूल्य पौण्ड में स्थिर रखना जिससे कि उसमें वृद्धि न हो सके। बैंक आफ इंगलैण्ड में कुछ अमेरिकन बैंकों के नाम पर लंदन में एक विशेष (Special) खाता खोला और इस बात का प्रावधान किया कि मौद्रिक अधिकारी स्टर्लिंग को निर्धारित दर पर इसी खाते में से खरीद एवं बेच सकें। इन उपायों के द्वारा विनिमय की बाजारू दर निर्धारित दर (Official Rate) (£ 1 = $ $4.02\frac{1}{2}$ से $4.03\frac{1}{2}$) के लगभग पहुंच गई। भारत तथा अन्य देशों ने भी यू०एस०ए० से इन्हीं खातों द्वारा सौदे किये। बैंक आफ इंगलैण्ड ने इस प्रकार के खाते दूसरे Hard Currencies Countries के नाम पर भी खोले। सन् १९४६ में Empire Dollar Pool (EDP) समाप्त हो गया, परन्तु स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों की डालर राशि Central Pool लन्दन में रक्खी जाती थी। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध काल में विनिमय नियन्त्रण के उपाय, विदेशी विनिमय के

स्रोतों को बनाये रखने के लिये, Hard Currency देशों से आयातों पर नियन्त्रण लगाने के लिये, स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के निवासियों की प्रतिभूतियों के विक्रय पर नियन्त्रण तथा Hard Currency देशों के भुगतानों पर नियन्त्रण लगाने के लिये, अपनाये गये थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control in India after 2nd World War) :

भारत रक्षा विधान १९३९ द्वारा अपनाये गये विनिमय नियन्त्रण के उपायों को संकट कालीन विधान (Emergency Ordinance) १९४६ के अन्तर्गत मार्च १९४७ तक विस्तृत कर दिया गया। इस संकट कालीन अवधि की समाप्ति पर १९४७ में भारत सरकार ने विदेशी विनिमय नियमन विधान पास किया ताकि उसे विनिमय नियन्त्रण का अधिकार पूर्ववत मिला रहे। अधिनियम के अनुसार केवल रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृत विनिमय बैंक ही विदेशी विनिमय व्यवसाय कर सकती हैं तथा कोई भी व्यक्ति अथवा संस्था केवल रिजर्व बैंक के आज्ञापत्र पर ही विदेशी विनिमय खरीद सकती है। इस कानून के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का प्रयोग देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय कोष तथा अन्य विदेशी सम्पत्तियों के लेन-देन पर नियन्त्रण एवं भारत से सम्पत्ति के हस्तांतरण पर प्रतिबन्ध सम्बन्धी कार्यों की पूर्ति के लिये किया जाता है। भारत में रहने वाले विदेशी एक सीमा तक ही मुद्रा देश से बाहर भेज सकते हैं। विदेशी नागरिकों की सेवायें प्राप्त करने के पूर्व रिजर्व बैंक की अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार अंशों एवं प्रतिभूतियों पर लाभांश, ऋण एवं जमाओं पर ब्याज की राशि देश से बाहर भेजने की पूरी स्वतन्त्रता है। विदेशी मुद्रा में बीमे की किश्तें भी बिना किसी प्रतिबन्ध के भेजी जा सकती हैं। स्वदेश लौटने वाले विदेशी व्यक्तियों को वेतन की बचत तथा निजी सम्पत्ति की राशि देश से बाहर ले जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है परन्तु वह £५००० से अधिक नहीं हो सकती। इसी प्रकार आयातों के लिये आवश्यक आयात-लाइसेंस प्राप्त करने के बाद ही आयात किये गये माल के भुगतान के लिये विदेशी मुद्रा भेजी जा सकती है। विदेशी व्यापार संस्थायें अपने लाभ को प्रधान कार्यालयों को भेज सकती हैं। विनिमय नियमों के अन्तर्गत स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर पूँजीगत हस्तांतरण की अनुमति नहीं है पर यदि कोई विदेशी संस्था सरकार द्वारा ले ली जाती है तो क्षति पूर्ति के हस्तांतरण के लिये सुविधायें दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त भारत में विदेशी पूँजी के विनियोग सम्बन्धी सारे प्रार्थना-पत्र रिजर्व बैंक स्वीकार करती है और वही भारत सरकार से आज्ञा प्राप्त करती है। इस विधान में १९५४–५५ तथा ५७ में कुछ संशोधन किये गये। ये संशोधन साधारणतया विधान लागू होने के क्षेत्र एवं भुगतान रीति से सम्बन्धित थे।

इस प्रकार विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत भारत सरकार को विदेशी विनिमय व्यवसाय और प्रतिभूतियों के अतिरिक्त बहुमूल्य धातुओं तथा चलन के आयात और निर्यात के सम्बन्ध में भी विस्तृत अधिकार प्राप्त हैं। दूसरे, सभी देशों के साथ होने वाले सभी प्रकार के व्यवसायों पर विनिमय नियंत्रण लागू है यद्यपि इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों के बीच भेदभाव किया गया है। यों तो विनिमय नियन्त्रण प्रशासन का अधिकार रिजर्व बैंक के हाथ में है परन्तु बहुत सी दशाओं में दिन प्रति दिन के कार्यों के लिये इसने अपने कुछ अधिकार अन्य बैंकों को सौंप दिये हैं जिन्हें विदेशी विनिमय व्यवसाय का अधिकार प्राप्त है।

विनिमय नियन्त्रण का महत्व (Importance of Exchange control) :

सामान्यत: विनिमय नियन्त्रण के द्वारा आयातों को कम किया जाता है तथा निर्यातों को प्रोत्साहित किया जाता है और इस प्रकार विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखने की कोशिश की जाती है। विनिमय दरों के उच्चावचनों की सम्भावनाओं को समाप्त कर विनिमय नियन्त्रण व्यवसायी समुदाय के जोखिमों को कम करता है, जो परिवर्तनशील विनिमय दर के अन्तर्गत होती है। इस प्रकार यह सटोरियों के कार्यों को कम करती है। इसके द्वारा सरकार को भुगतान संतुलन प्राप्त करने के लिये समय तथा अवसर भी प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत ऐसा बतलाया जाता है कि विनिमय नियन्त्रण के द्वारा देश अपनी वास्तविक आर्थिक दशा को छिपाता है तथा स्वतन्त्र व्यापार में बाधा उत्पन्न करता है। यह भी कहा जाता है कि विनिमय नियन्त्रण के अन्तर्गत किसी एक उपाय को अपनाने के पश्चात उस उपाय का हटाना कठिन हो जाता है। जब किसी एक देश की मुद्रा का मूल्य कृत्रिम रूप में व्यवस्थित किया जाता है तो उसका प्रभाव देश के आर्थिक स्तर पर पड़ता है। मजदूरियाँ एवं अन्य पारिश्रमिक का प्रभाव लोगों के रहन सहन के स्तर पर पड़ता है जिससे कि आंतरिक व्यापार प्रभावित होता है। फिर भी विनिमय नियन्त्रण के अनेक उपायों को सभी देशों द्वारा अपनाये जाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ते हुये सहयोग के कारण यह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय नीति के अन्तर्गत इसका महत्वपूर्ण अंश होता है।

निर्देश पुस्तकें

P. T. Ellsworth : International Economy, Ch. XIX
Paul Enizig : Exchange Control
G. Crowther : An outline of Money, Ch. VIII
G. D. H. Cole : Money—its present & future, Ch. VIII
Stemer & Shapiro : Money & Banking, Ch. V
H. S. Ellis : Exchange Control—Central Europe

अध्याय १३

बैंक और उनके कार्य

हमारा युग एक विशिष्टीकरण का युग है और श्रम-विभाजन इसकी एक प्रमुख विशेषता है। श्रम विभाजन आधुनिक औद्योगिक उत्पादन की ही नहीं वरन् सभी प्रकार के उत्पादन की आधारशिला है। विशिष्टीकरण की सबसे बड़ी बात यह है कि इसने प्राचीन समय के जीवन के अकेलेपन (Loneliness) को समाप्त कर दिया है। । अब समाज का प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण समाज पर निर्भर हो गया है। यह स्पष्ट हो गया है कि श्रम विभाजन ने सामूहिक जीवन को जन्म दिया है और अब कोई भी व्यक्ति यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि वह आर्थिक दृष्टिकोण से स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी है। पारस्परिक निर्भरता केवल स्थानीय अथवा राष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी है। बड़े पैमाने का सभी उत्पादन हेर फेर वाला होता है और पूँजी की उपस्थिति से उत्पादन काल और अधिक लम्बा हो जाता है। आजकल पूँजी का महत्व इतना अधिक हो गया है कि वर्तमान उत्पादन प्रणाली को 'पूँजीवादी प्रणाली' (Capitalistic system of production) कहा जाने लगा है।

पूँजी आत्मत्याग का परिणाम होती है। आत्मत्याग से आवश्यक रूप से मुद्रा की बचत होती है और वर्तमान बचतें भविष्य में पूँजी का रूप धारण कर लेती हैं। परन्तु सभी बचतें पूँजी नहीं होती हैं। केवल वही बचतें, जिनका उपयोग समाज अथवा समुदाय के हित के लिये किया जाता है, पूँजी कही जा सकती हैं। मुद्रा को संचय (Hoard) करके रखना चोरबाजारी की भाँति एक अनार्थिक कार्य है। इसलिये एक समुदाय विशेष के विभिन्न व्यक्तियों के पास जो पूँजी के स्रोत हैं उनको तुरन्त ही उत्पादक कार्यों में लगा देना चाहिये। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि पूँजी के ये स्रोत दिये किसको जाँय ? यहीं पर बैंक की आवश्यकता प्रतीत होती है।

बैंक क्या है (What is Bank) ?

बैंक शब्द की व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से बैंक शब्द का उद्‌गम 'Banco' से हुआ प्रतीत होता है। कुछ लोगों का विचार है कि यह शब्द 'Bancus', Banque अथवा Bane शब्द से बना है। इन सभी शब्दों का तात्पर्य एक तिपाई से है जिस पर बैठ कर, मध्यकालीन युग में, योरप के महाजन अपने मौद्रिक कार्य सम्पन्न किया

करते थे। श्री वी०टी० ठाकुर के अनुसार 'बैंक शब्द का अर्थ वास्तविक रूप से मिट्टी के एक ढेर से सम्बन्धित है और इसका उपयोग उन सभी संस्थाओं के लिये किया जाता है जो मुद्रा के व्यवसाय करने के लिये स्थापित की जाती हैं' ।[1]

बैंक शब्द की उद्गम सम्बन्धी उपरोक्त चर्चा से ऐसा प्रतीत होता है कि बैंकिंग व्यवसाय का जन्म मध्यकालीन युग में हुआ था। परन्तु वास्तव में बैंकिंग व्यवसाय का प्रारम्भ अति प्राचीन समय में हुआ था। यूनान तथा रोम में साख सम्बन्धी क्रियायें सामाजिक संस्थाओं के विकास से कई शताब्दी पहले आरम्भ हो चुकी थीं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में साख एवं सूद की दर के सम्बन्ध में काफी वर्णन मिलता है। मिश्र में भी प्राचीन समय में बैंकिंग कार्य होते थे। योरुप के देशों द्वारा बैंकों को लाभ स्वीकार करने तथा बैंकिंग प्रणाली की एक वैज्ञानिक आधार पर स्थापना होने से कई शताब्दी पहले असीरिया (Assyria) में साख पत्रों का प्रयोग होता था तथा एथेंस एवं रोम में बैंकिंग सेवायें जनता द्वारा स्वीकृत कर ली गई थीं।

बैंक की परिभाषायें (Definitions of Bank) :

आजकल बैंक या बैंकर शब्द का प्रयोग, सामान्यत: एक विस्तृत रूप में किया जाता है जिसके अन्तर्गत पूँजीपति, वित्तीय सुविधायें प्रदान करने वाले, सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों के आढ़ती, बैंकिंग संस्थायें आदि सभी सम्मिलित कर ली जाती हैं। अधिकतर 'बैंक' शब्द की परिभाषा या तो नकारात्मक ढंग से की गई है या इस प्रकार से कि उसका अर्थ स्पष्ट होने के बदले वह और अधिक विवादग्रस्त बन जाता है। उदाहरणार्थ, Negotiable Instruments Act 1881 के अनुसार बैंकर्स शब्द के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति, कारपोरेशन या कम्पनियाँ सम्मिलित होती हैं, जो बैंकर का कार्य करती हैं। इस परिभाषा से यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं होता कि बैंकिंग व्यवसाय क्या है और बैंक की संस्था किसे कहते हैं।

Oxford English Dictionary में बैंक शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी गई है : "एक व्यापारिक संस्था है, जिसमें अपने ग्राहकों से या उनकी ओर से प्राप्त की हुई मुद्रा को सुरक्षित रक्खा जाता है। इसका प्रमुख कर्तव्य उन ड्राफ्टों (Drafts) का भुगतान करना है, जो उसके ग्राहकों के द्वारा उस (बैंक) पर लिखे जाते हैं। उसके लाभ उस मुद्रा के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं जो उसके पास उनके (ग्राहकों के) द्वारा बेकार छोड़ दी जाती है" ।[2]

---

1. V. T. Thakur 'Organization of Indian Banking' Page 3.
2. "An establishment for the custody of money received from or on behalf of its customers. Its essential duty is to pay their drafts on it, its profit arise from the use of the money left unemployed by them".

Bill of Exchange Act 1882 के अनुसार "बैंकर शब्द में व्यक्तियों के उन सभी समूहों को सम्मिलित किया जाता है जो बैंकिंग का व्यवसाय चलाते हैं चाहे वे कम्पनी के रूप में स्थापित हों अथवा नहीं।"[1] यह परिभाषा न तो बैंक शब्द के सही अर्थ को स्पष्ट करती है और न इसमें बैंक व्यवसाय की प्रकृति की ओर ही संकेत किया गया है। इसी प्रकार भारतीय कम्पनी विधान १९३६ (Indian Companies Act 1936) में बैंक की परिभाषा इस प्रकार दी गई थी, कि "बैंकिंग कम्पनी एक ऐसी कम्पनी है जो जनता से मुद्रा की जमा चालू या अन्य खातों में स्वीकार करती है और जिसकी निकासी चेक, ड्राफ्ट या अन्य प्रकार से की जा सकती है।"[2] हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) के शब्दों में "बैंक या बैंकर शब्द का अर्थ उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी से लगाना चाहिये जो अपने नाम में बैंक या बैंकिंग शब्द का प्रयोग करती हो और उस प्रत्येक कम्पनी को, जो मुद्रा की जमा इस शर्त पर प्राप्त करती हो कि मुद्रा को चेक, ड्राफ्ट या अन्य आदेश द्वारा निकाला जा सकता है।"[3] सन् १९४५ में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम (Banking Company Act 1945) के अनुसार "बैंकिंग व्यवसाय को ऐसा व्यवसाय बतलाया गया जिसमें जमा को स्वीकार किया जाता है और जिनका भुगतान माँग के अनुसार होता है।"[4] सेयर्स के शब्दों में "बैंक वह संस्था है जिसका ऋण दूसरे व्यक्तियों के ऋणों के भुगतान के बदले में विस्तृत रूप से स्वीकार किया जाता है।"[5] ऐसा ही विचार क्राउथर ने व्यक्त किया है जिन्होंने "एक बैंकर को ऐसा व्यक्ति व संस्था बतलाया है जो अपने तथा अन्य व्यक्तियों के ऋणों का व्यवसाय करता है।"[6] प्रो० किन्ले ने बैंक को ऐसी संस्था बतलाया है जो व्यक्तियों को मुद्रा अथवा भुगतान के अन्य साधनों के ऐसे ऋण देती है जिसकी आवश्यकता हो और जो सुरक्षा पूर्वक दिये जा सकें तथा साथ ही जिसके पास लोग अपनी मुद्रा अथवा भुगतान का साधन जमा करा दें, जब उनको उपयोग के लिये उसकी आवश्यकता नहीं होती।

---

1. "A Banker includes any body of persons, whether incorporated or not, who carry on the business of Banking".
2. "Banking Company is a company which carries on as its principal business the accepting of the deposits of money on current account or otherwise, subject to withdrawal by cheque, draft or otherwise".
3. The term 'Bank' or 'Banker' should be interpreted as meaning every person, firm, or company using its description or title as Bank or Banking and every company accepting deposits of money subject to withdrawal by cheque, draft or order.
4. Accepting of deposits repayable on demand.
5. A Bank is an institution, whose debts are widely accepted in settlement of other people's debts to each other.
6. A Bank is a dealer in debts—his own and other peoples'.

यह अनेक परिभाषायें बैंकों के विभिन्न कार्यों का विवेचन करती हैं। इस दृष्टिकोण से कुछ परिभाषायें व्यवहारिक रूप में संकुचित होंगी तथा कुछ अधिक विस्तृत। मुद्रा के समान बैंक की परिभाषा उसके कार्यों को सम्बन्धित करके ही अच्छी तरह दी जा सकती है। ऐसा करने से ही अनेक परिभाषाओं के सूत्र का पता चल जायगा। 'बैंक मुद्रा तथा साख का व्यवसाय करने वाली संस्था होती है'। यह सूक्ष्म निश्चित एवं तार्किक दृष्टि से उचित परिभाषा कही जा सकती है।

बैंक के कार्य (Functions of Bank) :

आधुनिक युग में बैंक अनेक प्रकार के तथा विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करते हैं जिसके कारण यह सम्भव नहीं है कि हम उसके कार्यों की एक पूरी सूची तैयार कर सकें। अत: हम उसके मौलिक कार्यों का ही वर्णन करेंगे जो इस प्रकार हैं :—

१—**निक्षेपों को स्वीकार करना** (Accepting of Deposits) : कोषों का जमा करना आधुनिक बैंकों का एक प्रमुख कार्य होता है। प्रत्येक समाज में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपनी आय के एक भाग को बचत के रूप में रखते हैं। उसके उत्पादक-उपयोग के उद्देश्य से बैंक ऐसी सभी बचतों को एकत्रित करने की दृष्टि से निक्षेपों को स्वीकार करते हैं। प्राय: बैंकों में पाँच प्रकार के जमा खातों की व्यवस्था होती है, जिनमें तीन प्रकार के खाते सभी बैंकों में होते हैं तथा अन्तिम दो खातों की व्यवस्था कुछ बैंकों में उपलब्ध होती है। यह खाते इस प्रकार होते हैं : (अ) निश्चित अवधि खाता (Fixed deposit account), (ब) चालू खाता (Current Account), (स) सेविंग बैंक खाता (Savings Bank Account), (द) गोलक खाता (Home Safe-Savings Bank Account), (क) अनिश्चित कालीन जमा खाता (Indefinite period deposit Account) निश्चित अवधि खाते के अन्तर्गत निर्धारित अवधि के बीत जाने पर ही कोषों को बैंक से निकाला जा सकता है। इसके विपरीत आधुनिक खाता प्रणाली व्यापारिक जगत में विशेष रूप से उपयोग में लायी जाती है तथा निक्षेपधारी जितनी बार चाहे इसमें रुपया जमा और निकाल सकता है। प्राय: बैंक इन खातेदारों को उनकी जमा रकम पर कोई ब्याज नहीं देते। सेविंग बैंक खातों की व्यवस्था विशेष रूप से उन लोगों के लिये जिनकी बचतें छोटी होती हैं और जिन्हें बैंक से अपनी जमा रकम बहुत बार निकालने की आवश्यकता नहीं होती, की जाती है। इन खातों पर बैंक चालू खातों की अपेक्षा अधिक और निश्चित अवधि खातों की तुलना में कम ब्याज देते हैं। बैंकों ने गोलक खातों का प्रचलन अभी हाल में किया है। बैंक निक्षेपधारी के घरों में एक गोलक प्रदान करता है जिससे निक्षेपधारी प्रतिदिन कुछ न कुछ बचत कर इस गोलक में डालता रहे। अनिश्चित कालीन जमा खातों में अनिश्चित

काल के लिये रुपया जमा किया जाता है जो साधारणतया निकाला नहीं जा सकता। इस खाते में जमा कोषों पर सभी खातों की तुलना में अधिक ब्याज प्राप्त होता है।

२—**ऋण प्रदान करना** (Advancing of Loans) : बैंक जनता से प्राप्त धन को उत्पादक उपयोगों में लगाती है और इस प्रकार वह ऋणदाता के रूप में कार्य करती है। क्योंकि उपयोग के लिये दिये जाने वाले ऋण में जोखिम का अंश होता है, इसलिये बैंक साधारणतया प्रतिभूतियों के आधार पर ही ऋण देते हैं। कभी कभी व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण दे दिया जाता है। निःसंदेह बैंकों को यह कार्य काफी सतर्कता के साथ करना होता है क्योंकि ऐसा न होने से बैंक के फेल होने की सम्भावनायें हो जाती हैं। बैंक प्रायः चार प्रकार से ऋण प्रदान करता है : (अ) नकद साख, (ब) अधि-विकर्ष (over draft), (स) ऋण तथा अग्रिम (द) विनिमय बिलों का भुनाना। नकद साख (Cash Credit) प्रणाली के अन्तर्गत बैंक बाण्ड (Bond) अथवा दूसरी प्रकार की प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण देती है। ऋण की पूरी राशि ऋणी के नाम जमा कर दी जाती है तथा ऋणी को उसकी आवश्यकतानुसार उसे निकालने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार बैंक ऋणी से सारे ऋण पर ब्याज अर्जित करते हैं। अधिविकर्ष (over draft) प्रणाली के अन्तर्गत चालू खाते के निक्षेपधारियों को अपनी जमा राशि के ऊपर भी एक निश्चित सीमा तक रकम निकालने की अनुमति दे दी जाती हैं। बैंक अधिविकर्ष की राशि निश्चित कर देता है और ऋणी इस राशि के भीतर वास्तविक रूप में निकाली गई रकम पर ब्याज देता है। अधिविकर्ष की सुविधा अल्पकाल के लिये उचित प्रतिभूतियों के आधार पर प्रदान की जाती है। ऋण अथवा अग्रिम (Loans and Advances) की प्रणाली नकद साख तथा अधिविकर्ष की पद्धतियों से भिन्न होती है। इसके अन्तर्गत ऋणी बैंक से एक साथ सम्पूर्ण राशि पा जाता है। ऋण की राशि का कुछ अंश वापस कर देने के उपरान्त ऋणी उसे पुनः उसी ऋण के अन्तर्गत प्राप्त नहीं कर सकता और उसे राशि प्राप्त करने के लिये बैंक से प्रथम ऋण से भिन्न दूसरा ऋण प्राप्त करना होता है। इसके अतिरिक्त जब विनिमय बिल का पाने वाला (Payee) परिपक्वता से पूर्व बिल की राशि का भुगतान बैंक से बट्टा देकर पा लेता है तो वास्तव में वह भी बैंक से ऋण प्राप्त करता है जो अल्पकालीन होता है तथा जिस पर बट्टे के रूप में बैंक ब्याज लेती है।

३—**अभिकर्ता के रूप में कार्य करना** (Agency Functions) : आधुनिक बैंक अपने ग्राहकों के लिये अधिकर्ता (Agent) के रूप में सेवायें प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह कार्य प्रत्येक बैंक में भिन्न होता है, फिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय कार्य इस प्रकार होते हैं : (क) अपने ग्राहकों के साख पत्रों (Cheque, Bill, Promissory

Note etc.) के भुगतान को एकत्रित करना; (ख) अपने ग्राहकों के लाभांश, ब्याज, किराया, ऋण को वसूल करना; (ग) ग्राहकों की ओर से ऋणों पर ब्याज, ऋणों की किश्तें, किराया इत्यादि का भुगतान करना; (घ) अपने ग्राहकों की ओर से विनिमय बिल स्वीकार करना (जिससे ग्राहक को उधार माल खरीदने में काफी सुविधा रहती है); (ङ) ग्राहकों के आदेश अनुसार प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना; (अ) अपने ग्राहकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर अथवा बैंक की एक शाखा से दूसरी शाखा को कोषों का हस्तांतरण करना तथा (ब) अपने ग्राहकों के लिये ट्रस्टी का भी कार्य करना आदि हैं। इन सब कार्यों के लिये बैंक कमीशन अथवा कुछ प्रतिफल लेते हैं, जिनकी दरें कार्यानुसार भिन्न होती हैं।

४—नोट निर्गमन करने वाली संस्था के रूप में कार्य करना (To work as an institution for note issue) : बैंक नोट निर्गमन का भी कार्य करते हैं। परन्तु आधुनिक युग में यह कार्य देश के एक ही बैंक को सौंपा जाता है जो देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता है। एक समय में नोट प्रकाशित करने का कार्य सभी व्यापारिक बैंकों द्वारा किया जाता था, परन्तु बीसवीं शताब्दी से इस कार्य को एक ही बैंक को सौंपने की प्रवृत्ति अपनाई गई।

५—विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय (Purchase and sale of foreign exchange) : अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय काफी महत्वपूर्ण कार्य है। यद्यपि यह कार्य विशेष रूप से विदेशी विनिमय बैंकों का है तथापि आधुनिक काल में अनेक व्यापारिक बैंक इस कार्य को करते हैं।

६—अन्य सामान्य उपयोगी सेवायें (Other general utility services) : उपर्युक्त अनेक विशिष्ट कार्यों के अतिरिक्त आधुनिक बैंक कुछ सामान्य उपयोगी कार्यों को भी करते हैं। इस श्रेणी में आने वाली कुछ महत्वपूर्ण सेवायें इस प्रकार हैं : (क) सुरक्षा सम्बन्धी कार्य; (ख) यात्रियों के चेक तथा साख प्रमाण-पत्र जारी करना; (ग) आँकड़े संकलित करना; (घ) ग्राहकों को एक दूसरे की साख विषय में सूचना देना; (ङ) सरकार तथा अन्य व्यापार प्रमण्डलों के ऋणों का अभिजोपन करना (under writing of Government's and commercial Corporation's debts); (च) वित्तीय मामलों में सलाह देना तथा विशेष प्रकार के वित्तीय सहायता सम्बन्धी कार्य करना।

इस प्रकार बैंक वह शक्ति है जो देश के व्यवसायिक जीवन को गति प्रदान करती है, और जिसके अभाव में देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास असम्भव होता है। बैंक साख-पत्रों के निर्गमन तथा संचालन की व्यवस्था करते हैं, वे अग्रिमों एवं ऋणों के रूप में साख प्रदान करने का कार्य करते हैं, ऋण देने

योग्य पूँजी के विनियोग में सुविधा प्रदान करते हैं तथा उसके वितरण और उपयोग को सम्भव बनाते हैं, वे जब और जहाँ मुद्रा की आवश्यकता होती है उसकी व्यवस्था करते हैं तथा अतिरेक (Surplus) मुद्रा को कुछ क्षेत्रों से गतिशील बनाते हैं जहां मुद्रा का अभाव होता है।

बैंकों द्वारा साख का निर्माण (Creation of credit by Banks) :

विदर्स, सेयर्स एवं कीन्स जैसे विचारकों का कहना है कि उपरोक्त कार्यों को सम्पन्न करने के लिये बैंक साख का निर्माण करती हैं। सेयर्स ने ठीक ही लिखा है कि "बैंक केवल मुद्रा जुटाने वाली संस्थायें नहीं हैं वरन् एक महत्वपूर्ण अर्थ में वे मुद्रा की निर्माता भी हैं"। बैंक द्वारा साख का निर्माण दो प्रकार से होता है : (क) नोटों के निर्गमन द्वारा, (ख) निक्षेपों द्वारा। यद्यपि आधुनिक काल में नोट निर्गमन का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक के हाथ में रह गया है, परन्तु केन्द्रीय बैंक भी प्रतिभूतियों के आधार पर ही पत्र मुद्रा का निर्गमन करती है। केन्द्रीय बैंक जितनी भी पत्र मुद्रा निर्गमित करती हैं उसके पीछे शतप्रतिशत कोष नहीं रक्खे जाते। केवल एक अंश में धातु निधि रखकर शेष के पीछे प्रतिभूतियों की ही व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार पत्र मुद्रा का वह भाग जिसके पीछे धातु निधि नहीं होती साख के ही आधार पर प्रचलन में रहता है। जहाँ तक निक्षेपों द्वारा साख निर्माण का प्रश्न है, साख का सृजन व्युत्पन्न निक्षेपों द्वारा ही होता है। निक्षेपधारियों द्वारा वास्तविक मुद्रा के रूप में की गई जमा को नकद निक्षेप अथवा प्रारम्भिक निक्षेप कहते हैं। जब कोई व्यक्ति बैंक के पास कोई राशि किसी भी खाते में जमा करता है तो बैंक में प्रारम्भिक निक्षेप की उत्पत्ति होती है। परन्तु इसके विपरीत जब बैंक बिना किसी नकद जमा के ऋण देने के उद्देश्य से कोई राशि किसी व्यक्ति के नाम में दर्ज कर अपने वहाँ उसका निक्षेप स्वीकार करती है तो ऐसे निक्षेप को व्युत्पन्न निक्षेप (Derivative Deposits) कहते हैं। बैंक ऋण को विधि ग्राह्य मुद्रा के रूप में न देकर ऋणी ग्राहक के नाम के खाते में उस राशि को जमा कर देती है जिसको ग्राहक (ऋणी) आवश्यकतानुसार चेकों द्वारा निकालता रहता है। इस प्रकार बैंकों की कुल जमा में वृद्धि हो जाती है यद्यपि, उसकी नकदी में कोई वृद्धि नहीं होती। इस आधिक्य जमा को ही साख कहते हैं। स्पष्ट है कि साख निक्षेपों का जन्म बैंकों द्वारा ऋण दिये जाने के कारण ही होता है। बैंक जमा की गई धनराशि के उस भाग को, जो निक्षेपकर्ताओं द्वारा नहीं निकाला जाता, दूसरों को उधार देकर लाभ कमाती हैं। इनके ऐसा करने से साख निक्षेपों का जन्म होता है। ऐसा उस समय भी होता है जब बैंक अपने ग्राहकों को निश्चित सीमा से अधिक धन प्राप्त करने की (over draft) सुविधायें देती है। इस प्रकार बैंक

मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करती है और उसको सूद के रूप में अतिरिक्त मुद्रा भी प्राप्त होती है जो बैंक की आय कहलाती है।

उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति ५००) बैंक में जमा करता है तो बैंक का यह प्रारम्भिक निक्षेप कहलायेगा और बैंक इस राशि का, निक्षेपधारी को, देनदार होगा। किन्तु प्रत्येक बैंकर अपने अनुभव से यह जानता है कि किसी समय निक्षेपकर्ता अपने निक्षेपों के केवल एक भाग को ही निकालेंगे। यदि इस उदाहरण में बैंक यह समझता है कि निक्षेपकर्ताओं की माँग को उनके जमा की गई राशि के १०% से पूरा किया जा सकता है तो ५०० रु० के निक्षेप के लिये ५० रु० की व्यवस्था कर शेष ४५० रुपयों का बैंक विनियोग कर सकता है। यदि बैंक इस ४५० रुपये की राशि को किसी व्यक्ति को नकद साख के रूप में दे देता है तो बैंक में ४५० रुपये की राशि का व्युत्पन्न निक्षेप अथवा साख जमा (credit deposit) उत्पन्न हो जावेगा। इस व्युत्पन्न निक्षेप के लिये भी बैंक को ४५० रुपया नकद रखने की आवश्यकता नहीं होगी क्योंकि व्युत्पन्न निक्षेपकर्ता अपने निक्षेप का केवल एक भाग ही एक समय निकालेगा। बैंक अपने अनुभव के आधार पर इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिये ४५ रुपया (४५० का १०%) नकद के रूप में रक्खेगा और शेष को पुनः ऋण के रूप में देने को तैयार हो जायगा। इस प्रकार ५००) रुपये के प्रारम्भिक निक्षेप के आधार पर व्युत्पन्न निक्षेपों की राशि काफी बढ़ जायगी (५००+४५०+४०५........)। यह क्रम आगे भी चलता है और इस प्रकार प्रारम्भिक निक्षेप पर बैंक जो भी ब्याज देता है उससे काफी अधिक व्युत्पन्न निक्षेपों पर अपने ऋणियों से वसूल करने में समर्थ हो जाता है।

परन्तु वाल्टर-लीफ तथा प्रो० कैनन ने विदर्स, सेलिग्मैन, सेयर्स के इस विचार के विरुद्ध आपत्ति प्रकट की है। इनका विश्वास था कि साख निर्माण का कार्य बैंकों द्वारा आरम्भ नहीं किया जाता, वस्तुतः निक्षेपकर्ता अपने निक्षेपों द्वारा बैंक में साख निर्माण-शक्ति का संचार करते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि बैंक निक्षेपकर्ताओं के धन को ही इसीलिये उधार दे पाती है कि वे अपनी जमा की गई सम्पूर्ण धनराशि को एक साथ नहीं निकालते। कैनन ने एक उदाहरण[1] द्वारा यह

१—यदि किसी सायंकालीन प्रीतिभोज में एकत्रित होने वाले सभी सौ व्यक्ति अपने लबादों को जमा कर देते हैं और यदि Cloack Room का चपरासी यह जानता है कि पार्टी दस बजे से पूर्व समाप्त न होगी, तो वह यह अनुमान लगाकर कि शायद १५ व्यक्ति समय से पहले ही चले जाँय १५ लबादों को अपने पास रखकर ८५ को इस शर्त पर किराये पर दे सकता है कि वे नौ बजे से पूर्व ही उसके पास वापस आ जायेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि चपरासी ने ८५

कहना अनुपयुक्त बतलाया कि बैंक साख उत्पन्न करती हैं। डाक्टर लीफ ने इंगलैण्ड के कुछ बैंकों के बहीखातों का निरीक्षण कर बतलाया कि ऋणों से निक्षेप उत्पन्न नहीं होते।

एक ओर लीफ और कैनन का विचार और दूसरी ओर विदर्स सेलिग्मैन, सेयर्स इत्यादि के विचार अपने अपने स्थान पर सही हैं। वास्तव में ये दोनों बैंक की साख निर्माण करने की सम्पूर्ण क्रिया के दो भाग हैं। पहले भाग में निक्षेपों से ऋण उत्पन्न होते हैं और दूसरे भाग में ऋणों से निक्षेप उत्पन्न होते हैं तथा इसी प्रकार क्रम चलता रहता है। कीन्स ने ठीक ही कहा है कि ऋण निक्षेपों के और निक्षेप ऋण की सन्तान हैं।[1]

साख निर्माण की सीमायें (Limitations of credit creation)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि बैंक में साख निर्माण करने की शक्ति होती है परन्तु बैंकों की यह शक्ति असीमित नहीं होती। वेन्हम के अनुसार बैंकों द्वारा साख निर्माण की निम्नलिखित सीमायें होती हैं :—

१—देश में विधिग्राह्य मुद्रा की कुल मात्रा (Total amount of cash in the country) : बैंकों के पास प्रारम्भिक निक्षेपों के रूप में आने वाली राशि देश में मुद्रा की कुल मात्रा पर निर्भर करती है। मुद्रा की अधिक मात्रा होने पर प्रारम्भिक निक्षेप बढ़ जाते हैं तथा बैंकों की साख निर्माण शक्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा कम हो जाने पर बैंकों द्वारा साख निर्माण की राशि कम हो जाती है।

२—मुद्रा की तरलता वरीयता (Liquidity preference) : बैंकों द्वारा साख निर्माण की शक्ति लोगों की इस मनोवृत्ति पर भी निर्भर करती है कि लोग अपने पास मौद्रिक आय के कौन से भाग को नकद के रूप में रखना चाहते हैं और कौन से भाग को बैंक में निक्षेपों के रूप में रखना चाहते हैं। यदि लोगों में भुगतान करने के लिये चेकों के प्रयोग करने की आदत है तो बैंकों के पास प्रारम्भिक निक्षेपों की मात्रा अधिक होगी और उनके द्वारा साख निर्माण अधिक होंगे परन्तु दूसरी ओर यदि लोगों में मुद्रा में भुगतान करने एवं भुगतान स्वीकार करने की प्रवृत्ति अधिक होती है तो बैंकों के पास प्रारम्भिक निक्षेप कम हो जाते हैं और साख का निर्माण कम हो जाता है।

३—बैंकिंग आदत का अभाव (Lack of banking habit) : जनता में बैंकिंग आदत जितनी अधिक होती है बैंकों की साख निर्माण-शक्ति उतनी ही अधिक

1. "Loans are the children of deposit and deposits are the children of loans".
—Keynes

होती है। बैंकिग आदत के अभाव से बैंकों से जिन ऋणों की माँग होगी वह भी नकद मुद्रा के रूप में अधिक होगी। बैंक साख निर्माण अधिक मात्रा में तभी कर सकते हैं जब ऋण नकद साख (cash credit) तथा अधिविकर्ष (over draft) के रूप में लिये जाते हैं। विपरीत दशा में साख का निर्माण कम हो जायगा।

४—निक्षेपों के साथ नकद कोषों का न्यूनतम अनुपात (Minimum cash reserve in proportion to deposits) : कुल निक्षेपों के साथ नकद कोषों का न्यूनतम अनुपात बैंकों की साख निर्माण-शक्ति पर काफी नियन्त्रण रखता है। कुछ देशों में विधान के अनुसार यह अनुपात निश्चित कर दिया जाता है। कहीं कहीं पर यह अनुपात परम्परागत भी होता है। न्यूनतम नकद कोषों का अनुपात कुल निक्षेपों की तुलना में जितना बड़ा होता है उतनी ही बैंकों की साख निर्माण-शक्ति सीमित होती है। यह उल्लेखनीय है कि यह अनुपात अनेक तत्वों द्वारा निर्धारित होता है जो मुख्य रूप से बैंकिंग विकास तथा केन्द्रीय बैंक की नियन्त्रण नीति से सम्बन्धित होते हैं।

५—अन्य सीमायें (other Limits) : बैंकों द्वारा किया जाने वाला साख निर्माण इस बात पर भी निर्भर करता है कि (अ) बैंक द्वारा प्रयोग की जाने वाली प्रतिभूतियों की श्रेष्ठता कितनी है; (ब) बैंकों का केन्द्रीय बैंकों के पास रक्षित कोष कितना है; तथा, (स) केन्द्रीय बैंक की साख सम्बन्धी नीति किस प्रकार है।

आधुनिक बैंकिंग का इतिहास (History of Modern Banking) :

आधुनिक बैंकिंग व्यवसाय का आरम्भ १६४५ में हुआ था। इटली के लम्बार्डी के बैंकरों को इंगलैण्ड में आधुनिक बैंकिग व्यवसाय का बीज डालने का श्रेय प्राप्त है। यह लोग इटली छोड़ कर फ्रांस, बेल्जियम तथा इंगलैण्ड जैसे उन्नतिशील देशों में जाकर बस गये थे क्योंकि इटली में आंतरिक युद्धों तथा फ्रेडरिक द्वितीय के आक्रमण से बैंकिग व्यवसाय को बहुत क्षति पहुंची थी। यही लोग इंगलैण्ड में अपने साथ बैंकिंग व्यवसाय, सूदखोरी तथा जहाज़ी बीमा जैसे व्यवसायों को लाये। हेनरी चतुर्थ से लेकर एलिज़ाबेथ (प्रथम) के राज्यकाल तक इन व्यक्तियों के व्यापार पर विभिन्न प्रकार से नियन्त्रण लागू किये गये जिसके फलस्वरूप इनको इंगलैण्ड छोड़ना पड़ा। ये लोग तो चले गये परन्तु इंगलैण्ड को बैंकिंग तथा बीमा जैसे व्यवसायों से धनवान बना गये। बैंक नोटों का प्रकाशन सबसे पहले स्वेडन की स्टेट बैंक ने किया था जो १५५६ में स्थापित हुआ था। १६०९ में Amesterdam और १६९० में Hamburg में विनिमय बैंकिग आरम्भ हुई थी। बाद में इन्हीं बैंकों ने मौद्रिक निक्षेपों को प्राप्त करके बैंकिंग व्यवसाय को चलाया, यद्यपि कि वेनिस में १५८४ में इस प्रकार का कार्य एक साधारण बैंक द्वारा किया जाता था।

बैंकों के रूप (Forms of Banks)

प्राय: बैंकों का वर्गीकरण उनके द्वारा सम्पन्न किये गये कार्यों के आधार पर किया जाता है। यों तो सभी बैंकों के कार्यों में कुछ समानतायें होती हैं परन्तु उनके द्वारा ऋण के दिये जाने के उद्देश्यों में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है। इस अन्तर के आधार पर आधुनिक बैंकों को अनेक (निम्नलिखित) श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :-

१—व्यापारिक बैंक (Commercial Banks).
२—औद्योगिक बैंक (Industrial Banks).
३—विदेशी विनिमय बैंक (Foreign Exchange Banks).
४—सहकारी बैंक (Co-operative Banks).
५—कृषि बैंक (Agricultural Banks).
६—केन्द्रीय बैंक (Central Banks).

(१) **व्यापारिक बैंक :**—यह बैंक देश के व्यापार के प्रोत्साहन हेतु वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। ऐसा करने के लिये यह बैंक निक्षेपों को स्वीकार कर केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करते हैं। अधिकतर यह बैंक वस्तुओं की जमानत पर अपने ग्राहकों को ऋण देते हैं। कुछ व्यापारिक बैंक आन्तरिक व्यापार के अतिरिक्त विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

व्यापारिक बैंकिग का सिद्धान्त :—बैंक तथा बैंकिग का अर्थ समय के अनुसार बदलता रहा है। अपने प्रारम्भिक रूप में न रह कर बैंक अब साख को उत्पन्न करने वाली तथा उस पर नियन्त्रण करने वाली संस्था बन गई है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये, अपने कार्यों को यह अनेक सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही सम्पन्न करती है, जिनका उल्लेख गिलबर्ड (Gil Bard) ने इस प्रकार किया है : (अ) बैंकों को ऋण की तरलता (Liquidity of Advances) की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये तथा उसको सदैव ही ऋण की वापसी की सम्भावनाओं से सम्बन्धित आवश्यक जाँच पड़ताल कर लेनी चाहिये। दूसरे शब्दों में व्यापारिक बैंक को दीर्घकालीन ऋण प्रदान नहीं करना चाहिये तथा इसको खानें, कारखाने, इमारतें आदि जैसी भूमि सम्पत्तियों की जमानत पर ऋण नहीं देने चाहिये। (ब) व्यापारिक बैंक को जमानत में रक्खी गई वस्तु के मूल्य तथा ऋण के लिये सूद की दर से प्रलोभित नहीं होना चाहिये। (स) इसको ऋण देने के लिये ऐसी नीति अपनाना चाहिये जिससे जोखिम की सम्भावना कम रहे। ऐसा उसी समय हो सकता है जब ऋण कम व्यक्तियों को न देकर ज्यादा व्यक्तियों के बीच विभाजित होता है। (द) बैंकर की सफलता सुरक्षित कोषों की व्यवस्था पर निर्भर करती है। इसलिये कोषों की

व्यवस्था इस प्रकार करनी चाहिये कि वे समाज की आवश्यकताओं से न तो अधिक ही हों और न कम। आवश्यकताओं से अधिक होने पर कोष के रूप में मुद्रा बेकार पड़ी रहती है और उसका उचित रूप में उपयोग नहीं हो पाता। अत: एक होशियार बैंकर को अपने कोषों के नियमन के लिये 'लालसा एवं साहसहीनता' (qupidity and timidity) के बीच संतुलन स्थापित करते रहना चाहिये। (इ) एक बैंकर को अपने कोषों का अधिकतम उपयोग इस प्रकार करना चाहिये कि उसकी तरलता सम्बन्धी स्थिति को आघात न पहुंचे। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक दिन कार्य आरम्भ करने से पहले उसको बैंक की वित्तीय स्थिति का एक संक्षिप्त ज्ञान हो। दूसरे शब्दों में वह मन्दी काल का अनुमान कर पहले से विनियोग करना तथा सम्पन्नता काल का अनुमान कर अवधिपूर्ण वाले ऋणों को वापस माँगना शुरू कर दे।

इन सिद्धान्तों के उपरान्त भी यह स्वीकार करना ही होगा कि बैंकिंग व्यवसाय के लिये कोई निश्चित एवं स्थिर सिद्धान्तों की स्थापना कठिन है। बैंकिंग व्यवसाय के सिद्धान्त परिवर्तनशील होते हैं तथा बैंकर को अपनी नीति इस प्रकार निर्धारित करनी होती है कि प्रगतिशील समाज की साख सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे।

(२) **औद्योगिक बैंक :**—औद्योगिक बैंक ऐसी संस्थायें होती हैं जो औद्योगिक संस्थाओं को दीर्घकालीन ऋण देकर उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। व्यापारिक बैंक किसी भी व्यवसाय में दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान नहीं करतीं, परन्तु औद्योगिक बैंक फर्मों के ऋण-पत्रों, बाँड तथा स्कंधों का विक्रय करवा कर अथवा अपने पास से ऋण देकर उनको दीर्घकालीन वित्तीय सहायता देती है। इसके साथ ही यह बैंक दीर्घकालीन निक्षेप पाने का प्रयत्न करती है तथा इनके लिये माँग निक्षेप का कोई महत्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त ये बैंक औद्योगिक कम्पनियों को उचित सलाह—विशेष कर विनियोग सम्बन्धी—देने का भी कार्य करती हैं।

(३) **विदेशी विनिमय बैंक :**— विदेशी विनिमय बैंक से अभिप्राय उन बैंकों से होता है जो विदेशी व्यापार के भुगतानों को सुलभ बनाते हैं तथा विभिन्न देशों की मुद्राओं का क्रय-विक्रय करते हैं। ऐसा करने के लिये इनको अपनी शाखायें अनेक देशों में खोलनी पड़ती हैं। कुछ देशों (जैसे भारत) में ये बैंक विदेशी व्यापार की वित्तीय व्यवस्था दो प्रकार से करते हैं : प्रथम, देश के बन्दरगाहों से अन्य देशों के बन्दरगाहों तक भेजे जाने वाले माल तथा विदेशी बन्दरगाहों से देश के बन्दरगाहों में आने वाले माल की व्यवस्था करना; तथा द्वितीय, देश के भीतरी

प्रदेशों से बन्दरगाहों तक तथा बन्दरगाहों से देश के भीतरी प्रदेशों तक माल पहुंचवाने में वित्तीय सहायता पहुंचाना। विदेशी विनिमय बैंकों की आधुनिक प्रवृत्ति कुछ इस प्रकार की है कि वे व्यापारिक बैंकों के समान ही साधारण व्यापार के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं।

(४) **सहकारी बैंक :—**सहकारिता के सिद्धांत पर व्यवस्थित इस प्रकार के बैंकों का कार्य अपने सदस्यों को आवश्यकतानुसार वित्तीय सहायता प्रदान करना होता है। सबसे नीचे स्तर पर साख समितियों की स्थापना की जाती है जो अपने सदस्यों को सहायता प्रदान करती हैं। इनके ऊपर क्षेत्रीय सहकारी बैंक होते हैं जिनसे सम्बन्धित सहकारी समितियाँ वित्तीय सहायता प्राप्त करती हैं। क्षेत्रीय सहकारी बैंकों के ऊपर राज्य सहकारी बैंक होता है जो राज्य के क्षेत्रीय बैंकों द्वारा प्रारम्भिक समितियों को अल्प एवं दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करता है। ये बैंक मुख्य रूप से कृषि उन्नति से सम्बन्धित होती हैं और कृषकों में सहकारी भावना का संचार करने के लिये महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(५) **कृषि बैंक :—**कृषि व्यवसाय की प्रकृति व्यापार तथा उद्योगों की प्रकृति से काफी भिन्न होती है और इसीलिये उसकी समस्यायें तथा ऋण सम्बन्धी आवश्यकतायें अन्य प्रकार की बैंकों से पूरी नहीं हो पातीं। कृषि क्षेत्र में कृषि उन्नति के सन्दर्भ में दीर्घकालीन ऋण देने के लिये भूमि बन्धक बैंक जैसी संस्थाओं की स्थापना की जाती है। ऐसी बैंकों का मुख्य कार्य भूमि की जमानत पर स्थायी रूप से कृषि-उन्नति के लिये वित्तीय सहायता प्रदान करना होता है। ये बैंक अपनी अधिकांश कार्यशील पूँजी अंशों तथा ऋण पत्रों के विक्रय द्वारा तथा दीर्घकालीन निक्षेपों के रूप में प्राप्त करते हैं।

(६) **केन्द्रीय बैंक :—** केन्द्रीय बैंक से हमारा अभिप्राय उस बैंक से होता है जो देश की मुद्रा का निर्गमन करने के साथ साथ साख की मात्रा पर नियन्त्रण रखती है तथा देश में उच्चतम स्तर पर बैंक का कार्य करती है। इस बैंक का देश की मुद्रा, साख तथा बैंकिंग व्यवस्था में केन्द्रीय स्थान होता है। इसके साथ ही साथ वह सरकार का एवं देश के अन्य बैंकों का बैंकर होता है। वित्तीय तथा अन्य आर्थिक, मौद्रिक एवं वित्तीय नीति बहुत अंशों तक उस देश की केन्द्रीय बैंक की कार्य प्रणाली एवं कार्य कुशलता पर निर्भर करती है।

मिश्रित बैंकिंग v/s व्यापारिक बैंकिंग (Mixed v/s Commercial Banking)

इसमें कोई संदेह नहीं कि एक कुशल बैंक को अपने दायित्वों (Liabilities) को अधिक से अधिक तरल रखना चाहिये। व्यापारिक बैंकों के निक्षेप अधिकतर अल्पकालीन होते हैं इसीलिये उनको केवल अल्पकाल के लिये ही ऋण देने चाहिये। इसके

साथ ही साथ बैंक को यह भी चाहिये कि अपने ऋणों को केन्द्रित न करके विकसित रक्खे। अतः तरलता दो बातों पर आधारित होती है : शीघ्र बिक जाने वाले विनियोग तथा बिना जोखिम वाले विनियोग। शीघ्र बिक जाने वाले विनियोग का अभिप्राय यह है कि जिस जमानत पर ऋण दिया गया है बाजार में उसकी मांग हो और वह बिना किसी देरी के बेची जा सकती हो। जोखिम वाले विनियोग का अर्थ यह है कि यदि वह वस्तु, जिसकी जमानत पर ऋण दिया गया है, बाजार में लाभ सहित न बेची जा सके तो कम से कम अपने वास्तविक मूल्य पर अवश्य ही बिक जाय। विनियोगों की शीघ्र बिक्री उन नियमों के लागू होने पर निर्भर करती है जो देश के केन्द्रीय बैंक ने साख निर्गमन हेतु बनाये हों। केन्द्रीय बैंक देश में अन्तिम ऋणदाता के रूप में कार्य करती है और इसलिये उन्हीं वस्तुओं को शीघ्र बिक जाने वाला (shiftable) कहा जा सकता है जिसकी जमानत पर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को ऋण देने के लिये तैयार हो जाती है। परन्तु यह सब तभी सम्भव हो पाता है जब एक बैंक अधिक से अधिक कार्यों को सम्पन्न करती हो।

इकाई प्रणाली v/s शाखा प्रणाली (Unit Banking v/s Branch Banking)

इकाई बैंकिंग प्रणाली उस प्रणाली को कहते हैं जिसके अन्तर्गत बैंकिंग व्यवसाय केवल एक ही दफ्तर एवं संगठन द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शाखा बैंकिंग प्रणाली में बैंकिंग कार्य एक से अधिक संगठनों द्वारा किया जाता है। पहले प्रकार की प्रणाली को केन्द्रित बैंकिंग (Centralised Banking) और दूसरे प्रकार की प्रणाली को विकेन्द्रित बैंकिंग (Decentralised Banking) कहते हैं। अमेरिका में बैंकिंग प्रणाली यद्यपि इकाई बैंकिंग के आधार पर स्थापित की गई है, पर वहाँ पर बड़े बड़े बैंकों की सहायता से छोटे बैंकों को व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता है। इस प्रकार वहाँ पर इकाई बैंकिंग छोटे स्तर पर होती है और शाखा बैंकिंग बड़े पैमाने पर। शाखा प्रणाली इंगलैण्ड में प्रचलित है। इन दोनों प्रणालियों के गुणों एवं दोषों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :—

शाखा प्रणाली के गुण (इकाई बैंकिंग प्रणाली के अवगुण) :

(१) शाखा प्रणाली में बड़े पैमाने के उत्पादन और श्रम विभाजन की सभी बचतें प्राप्त होती हैं। उदाहरणार्थ, वे कुशल व्यक्तियों तथा विशेषज्ञों की सेवाओं द्वारा वैज्ञानिक और कुशल प्रबन्ध कर सकती हैं।

(२) शाखा प्रणाली में धन का स्थानान्तरण बहुत ही कम व्यय पर और सरलता पूर्वक किया जा सकता है जिसके कारण सूद की दरों में समानता बनी रहती है।

(३) शाखा बैंकिग प्रणाली के अन्तर्गत कुल सम्पत्ति एक स्थान पर न रह कर कई स्थानों पर वितरित रहती है। इससे एक स्थान पर होने वाली हानि को दूसरे स्थान के लाभ से पूरा किया जा सकता है।

(४) शाखा प्रणाली में नकद कोषों की मितव्यता होती है क्योंकि हर शाखा थोड़े नकद कोष रखकर आवश्यकतानुसार दूसरी शाखा से कोष प्राप्त कर सकती है।

(५) शाखा प्रणाली में बैंकों के कोषों का अधिकतम उपयोग किया जा सकता है। यदि एक शाखा में, धन का आधिक्य है तो दूसरी शाखा को वह अतिरिक्त धन बेचकर उसको विनियोगों में लगाया जा सकता है।

(६) शाखा प्रणाली अधिक मितव्ययी होती है। इसके अन्तर्गत बैंकिग व्यवसाय थोड़े से कर्मचारियों, छोटी सी इमारत तथा मितव्ययी मशीनों द्वारा चलाया जा सकता है जबकि इकाई बैंकिग में इन सभी की बड़ी बड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है। किन्तु यह विचार ठीक नहीं है। यह कौन इन्कार कर सकता है कि सभी शाखाओं के खर्चे मिलाकर एक स्वतन्त्र इकाई बैंक की अपेक्षा कई गुना अधिक होते हैं।

(७) शाखा प्रणाली में विभिन्न प्रकार के विनियोगों के लिये एक विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो जाता है क्योंकि शाखायें अपने-अपने स्थान पर ऋण देकर व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा कर लाभ की मात्रा को बढ़ा सकती हैं। इकाई प्रणाली में बैंक केवल अपने ही क्षेत्र में व्यापार करके लाभ प्राप्त कर सकती है।

(८) शाखा प्रणाली में एक बैंक अपनी शाखाओं के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अपेक्षाकृत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकती है, तथा सम्पूर्ण देश के व्यक्तियों की आदतों, उनके व्यवहार तथा रीति रिवाजों की अधिक जानकारी प्राप्त कर सकती है।

(९) इस प्रणाली से देश के दूर दूर भागों तथा ग्रामों तक में बैंकिग सुविधायें प्रदान की जा सकती हैं।

शाखा प्रणाली के अवगुण (इकाई प्रणाली के गुण) :

(१) शाखा प्रणाली में बड़े पैमाने के संगठन के सभी दोष दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि शाखाओं के कार्य संचालन में समन्वय स्थापित करना कठिन हो जाता है। इकाई बैंकिग प्रणाली में छोटे पैमाने का संगठन होने के कारण प्रबन्ध अधिक कुशल होता है।

(२) इकाई प्रणाली में बैंक के कार्यकर्ताओं को स्थानीय व्यापारियों, उनकी व्यापारिक कुशलता, साख-सम्पन्नता और व्यापारिक ईमानदारी का पूरा ज्ञान हो जाता है जो शाखा प्रणाली में प्राप्त नहीं होता। यद्यपि सेयर्स (Sayers) के अनुसार शाखा बैंक भी एक अरुचिकर बैंक को उधार देने से इन्कार कर सकती है पर यह स्वीकार करना होगा कि शाखा बैंक के मैनेजर की स्थिति इकाई बैंक के मैनेजर की अपेक्षा अच्छी नहीं होती क्योंकि उसको हर बात के लिये अपने 'प्रमुख कार्यालय' (Head Office) के आदेशों का पालन करना पड़ता है।

(३) शाखा प्रणाली इकाई प्रणाली की अपेक्षा अधिक खर्चीली होती है। हर नई शाखा की स्थापना के साथ खर्चों में भी वृद्धि होती जाती है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे शाखाओं की संख्या में वृद्धि होती है और उनका भौगोलिक क्षेत्र बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उनका समन्वय तथा नियन्त्रण भी खर्चीला होता जाता है।

(४) शाखा प्रणाली बैंकिंग प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देती है और अन्त में बैंकिंग व्यवसाय को हानि पहुंचाती है। बैंक अपनी शाखाओं को बढ़ाने के लालच से अपने साधनों को बिना ध्यान में रक्खे ही नई-नई शाखायें खोलती जाती है जो ऊँची से ऊँची सूद की दर पर निक्षेप प्राप्त करने तथा नीची से नीची सूद की दर पर ऋण देने की कोशिश करती हैं। इन सब का सामूहिक परिणाम यह होता है कि अन्त में निक्षेप-कर्ताओं को हानि होती है।

(५) शाखा प्रणाली में नौकरशाही (Bureacracy) के सभी दोष दृष्टिगोचर होते हैं। जबकि इकाई प्रणाली इस दोष से वंचित रहती है।

(६) शाखा प्रणाली में एक स्थान की मंदी का प्रभाव समस्त बैंकिंग प्रणाली पर पड़ता है। इकाई प्रणाली में यदि कोई बैंक अकुशलता के कारण फेल हो जाती है तो सारा समाज हानि से बच जाता है। किन्तु शाखा प्रणाली में एक अकुशल तथा शक्तिहीन शाखा निरन्तर चलती रहती है जबकि इकाई प्रणाली में जनता को बैंक की सही स्थिति का स्पष्ट ज्ञान होता रहता है।

निर्देश पुस्तकें

R. S. Sayers : Modern Banking, Ch. II
R. P. Kent : Money & Banking, Chs. VI, IX
G. N. Halm : Monetary Theory, Ch. IV
Patterson & others : Money & Banking, Ch. V
Steiner & Shapiro : Money & Banking, Ch. V

अध्याय १४

केन्द्रीय बैंकिंग (Central Banking)

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, प्रत्येक देश में मुद्रा के निर्गमन एवं साख पर नियंत्रण करने के उद्देश्य से उच्चतम स्तर पर जिस बैंक की स्थापना की जाती है उसे केन्द्रीय बैंक कहते हैं। यदि हम अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई केन्द्रीय बैंक की परिभाषाओं का विश्लेषण करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि प्रत्येक अर्थशास्त्री ने अपनी परिभाषा में केन्द्रीय बैंक के विभिन्न कार्यों को ही महत्व दिया है। वेरा स्मिथ (Vera Smith) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंकिंग का अभिप्राय बैंकिंग की उस प्रणाली से होता है जिसके अन्तर्गत किसी एक विशेष बैंक को नोटनिकासी का पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है।"[1] शा (Shaw) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंक वह बैंक होती है जो देश में साख पर नियन्त्रण रखती है।"[2] हाट्रे ने केन्द्रीय बैंक को अन्तिम ऋणदाता का स्थान दिया जबकि किश (Kish) व एलकिन्स (Elkins) ने केन्द्रीय बैंक को मुद्रामान में स्थिरता बनाये रखने का यन्त्र बतलाया है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बैंक (Bank of International Settlement) के विचार में "केन्द्रीय बैंक वह बैंक होती है जिसका प्रमुख कार्य देश में चलन मुद्रा (Currency) तथा साख मुद्रा (Credit Money) का नियमन करना होता है।" प्रो० स्प्रेग (Sprague) के अनुसार, "केन्द्रीय बैंकों के तीन विशेष कार्य होते हैं; अर्थात् केन्द्रीय बैंक को सरकार के राजकोषीय अभिकर्त्ता का कार्य, एकाधिकारी के रूप में चलन निकासी का कार्य तथा साख व्यवस्था की आधार-शिला के रूप में तीन भिन्न कार्य करना होता है। यह अन्तिम कार्य सबसे अधिक आवश्यक कार्य होता है।"[3] केन्द्रीय बैंक की सबसे अच्छी परिभाषा डी काक (De Cock) ने दी है जिनके अनुसार, "केन्द्रीय बैंक उस बैंक को कहते हैं जो देश की मौद्रिक बैंकिंग प्रणाली का शिखर होती है तथा देश के राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रख कर निम्न कार्यों को सम्पन्न करती है: (अ) सामान्य व्यापार की आवश्यकताओं के अनुसार देश की मुद्रा का निर्गमन करना—जिसके लिये उसे एकाधिकार प्राप्त होता है; (ब) राज्य के लिये साधारण बैंकिंग एवं एजेन्सी सेवायें प्रदान करना; (स) व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों को

---

1. Vera Smith : Ratienale of Central Banking, p. 143
2. Show : Theory & Principle of Central Banking, p. 78-80
3. Sprague : Contribution to Dunhar's Theory & History of Banking.

सुरक्षित रखना; (द) राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राओं के कोषों की सुरक्षा करना; (क) व्यापारियों, बैंकों, अढ़तियों, तथा वैयक्तिक संस्थाओं को ऋण की सुविधायें प्रदान करना एवं अन्तिम ऋणदाता के दायित्व को स्वीकार करना; (ख) विभिन्न बैंकों के हिसाबों को तै करना; तथा (ग) व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार राज्य के मौद्रिक नीति के पालन के लिये देश में साख का नियन्त्रण करना।"[1]

अतः केन्द्रीय बैंक की सबसे अच्छी परिभाषा वही होगी जो इसके द्वारा सम्पन्न किये गये कार्यों को बतलावे। उपरोक्त परिभाषाओं से इसके द्वारा सम्पादित किये गये अनेक कार्यों का ही ज्ञान होता है।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

यद्यपि अनेक अर्थशास्त्रियों में केन्द्रीय बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में काफी मतभेद पाया जाता है फिर भी अनेक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर तथा संसार में अपनाई गई केन्द्रीय-बैंकिंग-प्रणाली के आधार पर यह बतलाया जा सकता है कि सामान्यतः केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित कार्यों को सम्पन्न करता है :—

(१) **पत्र मुद्रा निर्गमन** (Issue of Paper Notes) : वर्तमान समय में नोट निकासी केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य होता है तथा वर्तमान समय में केन्द्रीय बैंक वाले प्रत्येक देश में बैंक नोटों की निकासी का एकाधिकार इनको प्राप्त है। केन्द्रीय बैंकों के इतिहास के अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि उनके पास यह अधिकार शुरू से ही प्राप्त है और सच तो यह है कि बीसवीं सदी से पूर्व पत्र-मुद्रा निर्गमन का उनका कार्य इतना महत्वपूर्ण समझा जाता था कि उनको बैंक आफ इसू (Bank of issue) कह कर ही जाना जाता था। उसके पहले पत्र-मुद्रा की निकासी का विशेषाधिकार सरकार के पास ही जाना जाता था। धीरे धीरे व्यापारिक बैंकों का विकास हुआ और सरकारें इन बैंकों को पत्र-मुद्रा निकालने का अधिकार देती गईं। परन्तु शीघ्र ही सरकार और व्यापारिक बैंक पत्र-मुद्रा निर्गमन के लिये अनुपयुक्त सिद्ध हुये। केन्द्रीय बैंक के विकसित होने पर पत्र-मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार इन्हें दे दिया गया। अध्याय ६ में हम इस पर विचार कर चुके हैं कि नोट निर्गमन का अधिकार एक ही बैंक के पास होना चाहिये या अनेक बैंकों के पास। यहाँ पर केवल उन लाभों का उल्लेख करेंगे जो केन्द्रीय बैंक को नोट निकासी का एकाधिकार प्राप्त होने के कारण उत्पन्न होते हैं : (अ) केन्द्रीय बैंक को नोट प्रकाशन का एकाधिकार सौंप देने से नोटों में एकरूपता आ जाती है। स्पष्ट है कि इससे केन्द्रीय बैंक की प्रतिष्ठा बनी रहती है क्योंकि आर्थिक स्थिरता के लिये नोटों का एकरूप होना आवश्यक होता है। (ब) इस एकाधिकार द्वारा

1. Decock : Central Banking, p. 22.

केन्द्रीय बैंक प्रकाशित नोटों की मात्रा उसकी मांग के अनुसार व्यवस्थित करती है। जब नोटों की पूर्ति उसकी मांग के अनुसार व्यवस्थित रक्खी जाती है तो लोगों में नोटों को धातु से बदलने की सम्भावनायें कम होती हैं। (स) इस अधिकार के कारण केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की चालू आवश्यकताओं के लिये ऋण देने की सुविधा प्रदान करती है। (द) अन्त में इस एकाधिकार के आधार पर बैंक देश में साख के विस्तार को नियन्त्रित रखती है, क्योंकि साख के विस्तार के लिये पत्र मुद्रा की अधिक पूर्ति आवश्यक होती है। (क) पत्र मुद्रा के निर्गमन का अधिकार सरकार एवं बैंक के पास रहने पर मुद्रा-प्रणाली में लोच नहीं रहता किन्तु केन्द्रीय बैंक इस अधिकार के द्वारा बड़ी कुशलता के साथ लोच बनाये रखने में सफल हो जाता है। (ख) अन्त में केन्द्रीय बैंक को पत्र मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार प्राप्त हो जाने से उसे मुद्रा तथा साख का समुचित रूप से नियमन करने में सुविधा होती है और इस प्रकार मुद्रा के मूल्य-स्तर में स्थायित्व प्राप्त करती है।

(२) **सरकारी बैंकर के कार्य** : केन्द्रीय बैंक सरकार के लिये एक मित्र भी है, दार्शनिक तथा निर्देशक भी। यह सरकार का बैंक तथा एजेंट होता है तथा समय समय पर सलाह देता रहता है। नीचे उसके तीनों रूपों में किये गये कार्यों पर प्रकाश डाला गया है :—

(अ) सरकार के बैंकर के रूप में केन्द्रीय बैंक सरकार के बैंकिंग खाते में धन जमा करती है, अस्थायी ऋण देती है, आंतरिक ऋण जमा करती है, युद्ध तथा अन्य संकटों के समय यह सरकार को आर्थिक सहायता देती है तथा सरकार की ओर से विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय भी करती है।

(ब) केन्द्रीय बैंक विशेष एजेन्सी सेवाओं को भी प्रदान करती है। जब कभी विनिमय दरों को स्थायी बनाने की आवश्यकता होती है तो यह समानीकरण खातों (Equalisation Funds) और निकासी समझौतों (Clearing Agreements) की व्यवस्था करती है। इन कार्यों के लिये यह अलग खाते खोलती है और इनसे सम्बन्धित स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय से सम्बन्धित सभी सौदों को पूरा करती है। एजेन्ट के रूप में इसके ऐसे कार्यों की निरन्तर वृद्धि हो रही है।

(स) केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार, बैंकिंग व्यवस्था, व्यापार तथा उद्योगों के सम्पर्क में रहने के कारण सरकार को आर्थिक विषयों पर सलाह देने की स्थित में होता है। यही कारण है कि सरकार आवश्यकतानुसार समय समय पर केन्द्रीय बैंक से सलाह लेती रहती है।

डी काक (De Cock) ने केन्द्रीय बैंक के सरकारी बैंकर के रूप में कार्य करने के सम्बन्ध में लिखा है : "केन्द्रीय बैंक सरकारी बैंकर के रूप में कार्य केवल इसलिये नहीं करता क्योंकि यह सरकार के लिये सरल और मितव्ययी है वरन् इसलिये भी क्योंकि सार्वजनिक वित्त और मौद्रिक मामलों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है।"[1]

(३) **बैंकों का बैंक** (Banker's Bank) : केन्द्रीय बैंक का सम्बन्ध देश की अनेक प्रकार की बैंकों से उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का सम्बन्ध विभिन्न बैंकों का अपने ग्राहकों के साथ होता है। देश के विधान अथवा परम्परा के आधार पर देश के सारे बैंकों के दायित्वों के (Liabilities) का एक निश्चित भाग नकद कोषों के रूप में यह अपने पास रखता है। इन कोषों के रखने से व्यापारिक बैंकों को कई प्रकार के लाभ होते हैं। एक तो व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंकों से व्यवहारिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिससे आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय बैंक से ऋण लिया जा सकता है। इन्हीं कोषों के आधार पर केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों के विनिमय बिलों को पुनः भुनाता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को घटा-बढ़ा कर साख का नियमन भी करता है—अनुपात को बढ़ाकर साख का संकुचन तथा घटा कर साख का विस्तार किया जाता है। देश के सभी बैंकों के केन्द्रीय बैंक में खाते होने के कारण उनके आपस के भुगतान–समझौते सरलता से तै हो जाते हैं।

कुछ लोगों का विचार है कि विभिन्न बैंकों के द्वारा अपने उत्तरदायित्व को नकद कोषों के एक भाग को केन्द्रीय बैंक के पास जमा करने पर उनके पास तरल कोषों में कमी आ जाती है क्योंकि केन्द्रीय बैंक इन जमाओं पर कोई ब्याज नहीं देता इसलिये व्यवहारिक रूप में यह राशि केन्द्रीय बैंक के पास बेकार पड़ी रहती है तथा इसका कोई सामाजिक उपयोग नहीं हो पाता। यद्यपि नकद कोषों की व्यवस्था का यह एक दोष है, फिर भी ऐसे कोषों के अन्य लाभों को भुलाया नहीं जा सकता। इस दोष को दूर करने के लिये सरकार आवश्यकतानुसार अनुपात का निर्णय देती है। इंगलैण्ड के केन्द्रीय बैंक को प्रारम्भिक काल से ही बैंकिंग क्षेत्रों में ऊँची साख प्राप्त थी। इंगलैण्ड के व्यापारिक बैंकों द्वारा स्थापित नकद कोषों की परम्परा को १९१३ में अमरीका में वैधानिक रूप दे दिया गया। सदस्य बैंकों के लिये अपने-अपने क्षेत्र के 'फेडरल रिजर्व बैंक' ने अपनी चालू तथा स्थायी जमा का एक निश्चित

---

1. "The Central Bank operates as the Government's banker, not only because it is more convenient and economical to the Government, but also because of the intimate connection between public finance and monetary affairs".

De Cock, Central Banking Page 43.

भाग जमा करना अनिवार्य कर दिया गया। धीरे-धीरे इस व्यवस्था को अन्य देशों ने भी अपना लिया।

(४) **अन्तिम ऋणदाता** (Lender of Last Resort) : बैंकों के बैंक के रूप में कार्य करने के साथ, प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक अन्तिम ऋणदाता के रूप में भी कार्य करता है। पत्र-मुद्रा के निर्गमन के अधिकार के कारण उसकी साख निर्माण की शक्ति काफी बढ़ जाती है और इस शक्ति के आधार पर ही वह साख पत्रों को भुनाने और ऋणदाता के रूप में कार्य कर पाता है। केन्द्रीय बैंक का यह कार्य संकटकाल में या आवश्यकता पड़ने पर ही नहीं होता, परन्तु विशेष परिस्थितियों में इसको सीधे तौर पर ऋण देने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकों को मार्ग-दर्शक, मित्र तथा दार्शनिक के रूप में सहायक होता है।

(५) **विदेशी विनिमय एवं स्वर्ण कोषों का संरक्षक** (Custodian of Gold and Foreign exchange) : राष्ट्र के स्वर्ण तथा विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य का विकास केन्द्रीय बैंक के पत्र-मुद्रा निर्गमन तथा व्यापारिक बैंकों के नकद कोषों के संरक्षक के रूप में कार्य करने से हुआ है। पत्र-मुद्रा के निर्गमन के लिये केन्द्रीय बैंक को धात्विक कोष रखना आवश्यक होता है, यद्यपि कि विनिमय मान अपनाये जाने पर बहुत से देशों में केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय के कोषों के आधार पर पत्र-मुद्रा की निकासी करने लगे। इसके अतिरिक्त विनिमय नियन्त्रण उपायों के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक विदेशी विनिमय को अपने नियंत्रण में रखती है जिससे कि विनिमय दरों में सन्तुलन बनाये रक्खा जा सके। विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने के उद्देश्य से विदेशी मुद्राओं की, आवश्यकतानुसार, माँग की पूर्ति करता है। विदेशी विनिमय के कोष देश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के प्रतीक होते हैं और इनकी उचित मात्रा बनाये रखने से देश की साख विदेशों में बनी रहती है।

(६) **निकासी गृह का कार्य** (Bank of Central Clearance) : प्रत्येक देश में समाशोधन की विशेष आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि वर्तमान समय में बहुत से व्यक्ति अपने भुगतान साख पत्रों द्वारा करते हैं और भुगतान पाने वाले भी इन पत्रों को अपने बैंक में भेज देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक बैंक के पास दूसरे बैंकों पर लिखे आदेश आते हैं। केन्द्रीय बैंक ऐसी व्यवस्था करता है कि, विभिन्न बैंकों के प्रतिनिधियों की स्वीकृति प्राप्त कर, विभिन्न बैंकों के खातों में सम्बन्धित राशियाँ नाम या जमा लिख देता है। इस प्रकार कुछ भी नकद चुकाये बिना अनेक बैंकों के बीच भुगतान हो जाते हैं। इससे मुद्रा की मात्रा में तो बचत होती ही है परन्तु साथ ही साथ पारस्परिक लेन देन सम्बन्धी श्रम घट जाता है। समाशोधन के

अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपनी शाखाओं द्वारा अपने सदस्य बैंकों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने में सहायता देता है। १९५४ में बैंक आफ इंगलैण्ड ने समस्त बैंकों के पारस्परिक लेन देन का समाशोधन करने की पद्धति अपनाई। तत्पश्चात् यह पद्धति सारे संसार में प्रचलित हुई।

(७) **आँकड़े संकलित करना** (Collection of Statistics) : अनेक देशों में केन्द्रीय बैंकों के लिये आर्थिक नीति सम्बन्धी आंकड़े संकलित करना एक महत्वपूर्ण कार्य बन गया है। कुछ देशों में यह कार्य केन्द्रीय बैंक ने स्वयं अपनाया जब कि अन्य देशों में इसको वैधानिक रूप दिया गया। किसी देश की आर्थिक प्रगति के अध्ययन एवं आवश्यक नीति के बनाने में आँकड़ों का विशेष महत्व होता है और इन आँकड़ों को केन्द्रीय बैंक एवं उसके अधिकार में आने वाली अनेक बैंकों द्वारा आसानी से एकत्रित किया जा सकता है।

(८) **साख की मात्रा पर नियन्त्रण** (Control of the credit) : केन्द्रीय बैंक का सबसे प्रमुख कार्य देश में साख नियन्त्रण का है। यद्यपि केन्द्रीय बैंक के ऊपर लिखे हुये कार्यों का एक एक करके विकास हुआ है, परन्तु आज वे सारे कार्य केन्द्रीय बैंक के इस मुख्य कार्य के सहायक ही माने जाते हैं। पिछले चालीस वर्षों में अनेक देशों के मौद्रिक क्षेत्र में ऐसे परिवर्तन हुये हैं जिनके कारण केन्द्रीय बैंकिंग कार्यों में साख नियन्त्रण का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण हो गया है।

साख नियन्त्रण का उद्देश्य (Object of credit control) :

परिस्थितियों एवं समय की आवश्यकताओं के अनुसार साख नियन्त्रण का उद्देश्य बदलता रहा है। परम्परावादी (Classical) विचारकों के अनुसार साख नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय दर में स्थायित्व बनाये रखना ही था। स्वर्णमान की स्वचालित प्रणाली इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनाई गई थी। परन्तु स्वर्णमान में भी यह अनुभव किया गया कि विनिमय दरों के परिवर्तनों के साथ कीमतों में परिवर्तन हुये जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक क्रियाओं का विस्तार एवं संकुचन हुआ। विनिमय दर में सन्तुलन लाकर अनेक देशों ने आर्थिक जीवन को उन्नत करना चाहा। परन्तु यह सम्भव न हो सका। इसीलिये स्वर्णमान की समाप्ति के उपरांत लोगों ने कीमत स्तर में सन्तुलन ही साख नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य समझना शुरू कर दिया। राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ लोगों का यह विश्वास भी दृढ़ होता गया। लोगों ने यह अनुभव किया कि विदेशी विनिमय दरों का सन्तुलन (जिसके द्वारा कीमत स्तर में सन्तुलन लाने की कोशिश की जाती है) अन्य देशों के नियमानुसार मौद्रिक नीतियों के संचालन पर आधारित रहता है। परन्तु आन्तरिक कीमत-स्तर की नीति अपनाने में अन्य देशों की मौद्रिक नीतियों

का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिये स्वर्णमान की समाप्ति के बाद अनेक देशों ने इस नीति को ही अपनाया था। आधुनिक युग में, जब कि पिछड़े देश आर्थिक उन्नति में लगे हुये हैं और उन्नतिशील देश इन पिछड़े देशों की आर्थिक उन्नति में अपना सहयोग दे रहे हैं, मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापारिक क्रियाओं तथा रोजगार की दशाओं की उच्चतम स्थिति प्राप्त करना होता है। इसीलिये साख नियन्त्रण का भी उद्देश्य, प्रत्येक देश में, ऐसी आर्थिक स्थिति को प्राप्त करना होता है जिसमें व्यापारिक क्रियायें एवं रोजगार की दशायें उच्चतम हों। दूसरे शब्दों में, ऐसी स्थिति को प्राप्त करना होता है जिस पर अधिक से अधिक उत्पादन हो रहा हो, अधिक से अधिक रोजगार की दशायें उपलब्ध हो रही हों तथा समान रूप से आय का वितरण हो रहा होता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार साख नियन्त्रण का उद्देश्य व्यापार चक्र सम्बन्धी घटनाओं को रोकना भी होना चाहिये। उनके विचार में किसी भी देश की मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापार चक्र से सम्बन्धित आर्थिक व्यवस्था में असन्तुलन की दशाओं को रोकना ही होता है। और इसीलिये साख नियन्त्रण की नीति मौद्रिक नीति की पूरक होनी चाहिये। निःसन्देह आजकल मौद्रिक नीति का उद्देश्य अधिकतम उत्पादन, अधिकतम रोजगार एवं अधिकतम प्रति व्यक्ति आय पाना ही होता है, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब चक्रीय परिवर्तनों की दशाओं को आने से रोका जा सके। अतः साख नियन्त्रण का उद्देश्य अधिकतम आय (उत्पादन) अधिकतम रोजगार एवं अधिकतम प्रति व्यक्ति आय ही मानना उचित होगा।

साख नियन्त्रण की विधियाँ (Methods of credit control)

डी काक (De-Cock) ने साख नियन्त्रण की ९ विधियों का उल्लेख इस प्रकार किया है :[1]

(१) केन्द्रीय बैंक अपनी कटौती एवं सूद की दरें या तो ऊँची कर सकती है या नीची, जिससे सामान्य रूप से मौद्रिक दरें भी उसी के अनुसार ऊँची या नीची हो जाँय और साख का विस्तार तथा संकुचन हो जाय।

(२) प्रतिभूतियों अथवा विनिमय बिलों को खुले बाजार में बेचना अथवा खरीदना, जिससे कि बाजार में या तो अतिरिक्त धन उपस्थित हो जाय या बाजार से अतिरिक्त धन केन्द्रीय बैंक के कोषों में पहुंच जाय और साख का विस्तार या संकुचन हो जाय।

(३) साख राशनिंग का उपयोग, सूद की दरों के बढ़ाने के साथ-साथ या उसके बदले में, किया जा सकता है।

1. De Cock : Central Banking, p. 125-126.

(४) सीधी कार्यवाही, जो या तो उत्तेजित करने वाली बैंक के विरुद्ध कड़े नियन्त्रणों अथवा बैंकों को उनकी उधार देने अथवा विनियोगों से सम्बन्धित क्रियाओं के निर्देशन के रूप में हो सकती है। इससे केन्द्रीय बैंक को साख के परिमाण को नियन्त्रित करने अथवा साख के गुणात्मक वितरण को अधिक अच्छा बनाने में सहायता प्राप्त होती है।

(५) केन्द्रीय बैंक में व्यापारिक बैंकों द्वारा रक्खी जाने वाली नकद कोषों की न्यूनतम राशि को बढ़ाना अथवा घटाना, ताकि केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति को अधिक सरलता से नियन्त्रित कर सके।

(६) बैंकों द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में रक्खी जाने वाली द्वैतीयक (Secondary) सुरक्षित कोषों की न्यूनतम सीमा को नियन्त्रित एवं निश्चित करना ताकि उनकी शक्ति, साधारण व्यापारिक कार्यों के लिये, उनकी साख विस्तार करने की शक्ति कम हो जाय।

(७) उन शर्तों का नियमन करना, जिनके आधीन उपभोक्ताओं को स्थायी वस्तुयें खरीदने के लिये जो ऋण दिये जाते हैं और जिनका भुगतान किश्तों में प्राप्त किया जाना निश्चित हुआ है, ताकि उपभोक्ता-साख-सम्बन्धी परिमाण को प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित किया जा सके।

(८) स्टाक एक्सचेंज (Stock Exchange) की प्रतिभूतियों के क्रय के सम्बन्ध में निर्धारित सीमाओं का नियमन, ताकि प्रतिभूति बाजारों में उपयोग किये गये साख के परिमाण पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण किया जा सके।

(९) नैतिक सलाह तथा प्रचार।

बैंक दर नीति (Bank Rate Policy) :

साख नियन्त्रण के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंकों ने साधारणतयः जो पहला कदम उठाया था वह बैंक दर को ऊँचा या नीचा करना था स्पालडिंग के अनुसार, "व्यवहारिक रूप में बैंक दर कटौती की वह न्यूनतम दर होती है जो केन्द्रीय बैंक प्रमाणित विनिमय बिलों को भुनाने के लिये लेती है।"[1] किन्तु बैंक-दर कटौती दर से सैद्धांतिक रूप में भिन्न होती है। कटौती से हमारा अभिप्राय उस क्रिया से है जिसमें साधारण व्यापारिक बैंक विनिमय बिलों का भुगतान करते समय कुछ राशि को कम कर लेती हैं। केन्द्रीय बैंक कभी भी व्यापारिक बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करती या बैंकिंग कार्यों को लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं करती। इसलिये बैंक-दर सदैव ही कटौती (Discount) की बाजारू दर से नीची होती है। सबसे

1. "In theory if not in actual practice, as far as our own money market goes, the 'bank rate' is the minimum rate charged by the Bank for discounting approved bills of exchange".

पहले बैंक-दर का प्रयोग, साख नियन्त्रण के अस्त्र के रूप में, बैंक आफ इंगलैण्ड (Bank of England) ने सन् १८३९ में किया था।

अतः केन्द्रीय बैंक द्वारा घोषित बैंक-दर उस दर को संकेत करती है जिस पर जनता बैंकों से बिलों को भुना सकती है। क्योंकि केन्द्रीय बैंक देश की मौद्रिक क्रियाओं का नियमन करती है इसलिये बैंक-दर केन्द्रीय बैंक की कटौती दर उन सारी दरों का आधार होती है जिन पर केन्द्रीय बैंक से ऋण प्राप्त किये जा सकते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देश की साख स्थिति तथा आर्थिक व्यवस्था पर केन्द्रीय बैंक के विचारों का प्रदर्शन बैंक-दर से ही होता है।

बैंक-दर का सिद्धान्त (Theory of Bank Rate) :

आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने में साख नियन्त्रण के अनेक उपायों में बैंक-दर काफी कुशल सिद्ध हुई है। किन्तु यह आर्थिक क्रियाओं को किस प्रकार प्रभावित करती है, इस पर अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार बैंक-दर ही बैंक मुद्रा के परिमाण को नियन्त्रित करती है। इसको बढ़ाकर बैंक-मुद्रा को संकुचित किया जाता और घटा कर उसके परिमाण को बढ़ाया जाता है। किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता है। ऐसा देखा गया है कि समृद्धि काल में बैंक-दर को बढ़ाने से भी साख स्थिति पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता तथा मन्दी काल में इसको घटा कर बैंक मुद्रा में कोई वृद्धि नहीं लाई जा सकी है। कुछ अन्य लोगों के विचार में स्वर्णमान के समय बैंक-दर एक ऐसा साधन होता था जो विदेशी विनिमय दरों को प्रभावित करके देशों में स्वर्ण कोषों के स्थांतरण को प्रभावित करता था। आधुनिक विचारधारा आय, व्यय, बचत एवं विनियोगों से सम्बन्धित है। बैंक-दर विनियोगों को प्रभावित कर कीमतों को प्रभावित करती है जिससे देश की आर्थिक व्यवस्था प्रभावित होती है। बैंक-दर में वृद्धि होने से विनियोग हतोत्साहित होते हैं और कमी होने से प्रोत्साहित होते हैं। किन्तु बैंक-दर यह किस प्रकार करती है इसमें महत्वपूर्ण मतभेद है। हम इस सम्बन्ध में हाट्रे एवं कीन्स के विचारों का अध्ययन करेंगे।

हाट्रे के विचार (Hawtrey's view) :

हाट्रे के अनुसार एक व्यापारी सदैव ही अपने पास वस्तुओं का एक निश्चित स्टाक रखता है जिससे कि वह उपभोक्ताओं की मांग को पूरा करता रहे। इसके साथ ही वस्तुओं के जो स्टाक व्यापारी के पास होते हैं वे बाजार की मांग और पूर्ति की दशाओं के बीच सन्तुलन स्थापित करते हैं। एक व्यापारी अपने पास कितना स्टाक रक्खेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसे वस्तुओं को स्टाक में रखने के लिये कितनी 'लागत' उठानी पड़ती है। क्योंकि व्यवसायी, इन स्टाकों

को रखने के लिये, बैंक से अल्पकालीन ऋण का सहारा अवश्य लेते हैं। इसलिए स्टाकों को रखने की लागतों में अल्पकालीन ब्याज की दर का बड़ा प्रभाव पड़ता है तथा इन दरों के परिवर्तनों के साथ साथ स्टाकों की लागतों में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस विषय में वस्तु की मांग की लोच का कोई विशेष महत्व नहीं होता। ब्याज की दर में कमी होने से वस्तुओं को स्टाक में रखने की लागत कम हो जाती है, व्यापारी अधिक स्टाक रखने के लिये प्रोत्साहित होते हैं, उत्पादकों से अधिक वस्तुओं की माँग होने लगती है, उत्पादक अपने उत्पादन स्तर को बढ़ाने लगते हैं, रोजगार में वृद्धि होती है तथा मौद्रिक आय बढ़ती है। अल्पकालीन ब्याज की दरों में वृद्धि होने पर उल्टा चक्र चलने लगता है। यह ब्याज की दरें बैंक-दर के साथ घटती व बढ़ती हैं। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि भारी एवं नाशवान वस्तुओं की कुल स्टाक-लागतों में अन्य लागतों, जैसे बीमा, टूट-फूट, कीमत-ह्रास इत्यादि, का अनुपात ब्याज की दर की लागत से अधिक होता है और इसलिये ऐसी वस्तुओं के स्टाकों को रखने की लागतों पर ब्याज की दर का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाट्रे का कहना है कि क्योंकि अधिकांश वस्तुयें ऐसी नहीं होतीं, **इसीलिए बैंक-दर के परिवर्तनों का, जिसके फलस्वरूप ब्याज की अल्पकालीन दरों में परिवर्तन होते हैं, व्यापारिक क्रियायों पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।**

कीन्स का विचार (Keyne's view) :

कीन्स के अनुसार, बैंक-दर दीर्घकालीन ब्याज की दरों को प्रभावित करके आंतरिक आर्थिक स्थिति को प्रभावित करती है। बैंक-दर के बढ़ जाने से जब ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं और उधार लेने की लागतों में वृद्धि हो जाती है तो वे व्यक्ति एवं फर्में, जो बैंक से ऋण लेकर वस्तुओं के उत्पादन-कार्यों में लगे होते हैं, उधार लेना बन्द कर देते हैं। इसके स्थान पर वे अपनी प्रतिभूतियों को, धन की आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से, बेचना आरम्भ कर देते हैं। इसके साथ ही लोग अपने अतिरिक्त धन को प्रतिभूतियों में विनियोग न करके बैंकों में जमा कराना प्रारम्भ कर देंगे, क्योंकि ऐसा करने से उनको अधिक आय प्राप्त होगी। एक ओर प्रतिभूतियों की माँग गिरने तथा दूसरी ओर उनकी पूर्ति बढ़ने से उनके मूल्य बाजार में कम हो जायेंगे। दीर्घकालीन दरों के ये परिवर्तन साहसियों की निश्चित पूँजीगत वस्तुओं (Fixed capital goods) को रखने की रुचि को भी प्रभावित करेंगे। यदि दीर्घकालीन सूद की दरें नीची हैं तो प्रतिभूतियों के मूल्यों में वृद्धि होगी और नई पूँजीगत वस्तुओं का निर्माण करने के लिये साहसियों को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे देश में उत्पादन, रोजगार और आय में वृद्धि होगी। विपरीत दशा में उल्टा होगा।

बैंक-दर के सम्बन्ध में यह दोनों विचार एक दूसरे से बिल्कुल प्रथक नहीं हैं; वरन् एक ही आर्थिक क्रिया के दो भाग हैं। अन्तर केवल इतना है कि हाट्रे ने अल्पकालीन दरों को महत्व दिया जब कि कीन्स ने दीर्घकालीन दरों के परिवर्तनों को। फिर भी हाट्रे की अपेक्षा कीन्स के विचार को अधिक मान्यता प्राप्त हुई है।

बैंक-दर के परिवर्तनों के प्रभाव (Effects of Bank-Rate Fluctuations) :

बैंक-दर देश की आर्थिक-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। आंतरिक अर्थ व्यवस्था पर बैंक-दर के परिवर्तनों के प्रभाव दो प्रकार के होते हैं : प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। बैंक-दर के बढ़ने से एक ओर तो पूँजीगत वस्तुओं के मूल्य में कमी और बचतों में वृद्धि हो जाती है; परिणामस्वरूप विनियोग कम होने लगते हैं, उत्पादन भी कम होने लगता है और लाभ की मात्रा भी कम हो जाती है। दूसरी ओर वस्तुओं तथा प्रतिभूतियों के मूल्य गिरने लगते हैं। इसके साथ ही पूँजीगत वस्तुओं की कीमतों में कमी के कारण उनका उत्पादन कम होने लगता है जिससे उद्योगों में बेकारी बढ़ने लगती है, मौद्रिक आयों में कमी, उपभोक्ता-वस्तुओं की माँग कम तथा कीमतें और भी कम होने लगती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बैंक-दर की वृद्धि से विदेशी विनिमय दरों का सन्तुलन नष्ट हो जायगा। प्रतिकूल भुगतान संतुलन वाले देश में बैंक-दर को बढ़ाने से विदेशों से सोना देश में आने लगता है जबकि वास्तव में होना बिल्कुल उल्टा चाहिये। बैंक-दर के बढ़ने से मुद्रा संकुचन की दशायें उत्पन्न हो जायेंगी और वस्तुयें सस्ती होने लगेंगी। परिणामस्वरूप निर्यात प्रोत्साहित होंगे और आयातों में कमी होगी। इस प्रकार बैंक-दर के परिवर्तनों से व्यापार सन्तुलन प्रभावित हो जाता है। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि बैंक-दर नीति की सफलता दो बातों पर निर्भर करती है : प्रथम, इसको तुरन्त ही, जिस समय इसकी आवश्यकता हो, लागू करना चाहिये जिससे मौद्रिक दरों और साख के ढाँचे को तुरन्त ही प्रभावित किया जा सके। दूसरे, आर्थिक ढाँचा इतना लोचपूर्ण होना चाहिये कि उसमें तुरन्त परिवर्तन उत्पन्न हो सकें। स्थायी परिस्थितियों में बैंक दर इतनी प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती।

प्रथम महायुद्ध से पहले बहुत सी केन्द्रीय बैंकों ने अपनी बैंक-दर तथा व्यापारिक बैंकों के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करके सफलता प्राप्त की है। द्वितीय महायुद्ध के बाद से बैंक-दर का महत्व, जो प्रथम महायुद्ध से ही तेजी से गिर रहा था, काफी समाप्त हो चुका है। इसका स्थान साख-नियन्त्रण की अन्य विधियों ने ग्रहण कर लिया है। इसके चार कारण हैं : १—आजकल मुद्रा बाजार तथा साख सम्बन्धी ढाँचे में काफी परिवर्तन हो गये हैं; २—साख नियन्त्रण की प्रत्यक्ष विधियों

के प्रयोग ने बैंक-दर नीति के महत्व को समाप्त कर दिया है; ३—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान टूट जाने से बैंक-दर नीति काफी निश्क्रिय हो गई है और अब मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य विनिमय स्थिरता न रह कर आंतरिक मूल्यों की स्थिरता हो गया है; ४—अन्त में, सस्ती मुद्रा नीति (cheap money policy) के कारण भी बैंक-दर का महत्व समाप्त हो गया है। वेजमन (Wageman) ने सत्य ही कहा है कि बैंक-दर नीति के लिये एक ऐसी आर्थिक प्रणाली की आवश्यकता होती है जिससे "मूल्य मजदूरी तथा सूद की दरों में काफी परिवर्तन होते हों और जिसमें साहसी बहुत थोड़ा सा लाभ कमाते हों जिसके परिणामस्वरूप लागतों तथा लाभों में तनिक से परिवर्तन होने से भी वे प्रभावित हो जाते हों।" अत: हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि वृहतमान परिस्थितियों तथा सरकारी नीतियों के कारण बैंक-दर नीति का कार्य-क्षेत्र इतना स्वतन्त्र नहीं रहा है फिर भी यह विश्वास करना ही पड़ेगा कि साख नियंत्रण की अन्य विधियों के साथ में यह अब भी उपयोगी है।

खुले बाजार क्रियायें (Open Market operations) :

खुले बाजार क्रियाओं के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है। जिस समय केन्द्रीय बैंक यह देखती है कि व्यापारिक बैंकों की साख विस्तार नीति मुद्रा बाजार के स्थायित्व के लिये हितकर नहीं है तो यह खुले बाजार में प्रतिभूतियों का बेचना आरम्भ कर देती है और इस प्रकार व्यापारिक बैंकों का आंतरिक धन इकट्ठा करके उनकी उधार देने की शक्ति को कम कर देती है। प्रतिभूतियों का विक्रय होने से क्रेता बैंकों पर चेक लिखना आरम्भ कर देते है जिससे व्यापारिक बैंकों के नकद कोष कम हो जाते हैं और उनको साख का विस्तार कम कर देना पड़ता है। इससे बाजार में साख की मात्रा कम हो जाती है। इसी प्रकार, जब केन्द्रीय बैंक यह अनुभव करती है कि बाजार में मुद्रा की बहुत कमी है तो वह उधार देने की नीति को अधिक रुचिकर समझती है और खुले बाजार प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देती है। प्रतिभूतियों के विक्रेताओं के पास मुद्रा चली जाती है और उसे वे बैंकों में जमा करा देते हैं। बैंकों के नकद कोष पुन: बढ़ जाते हैं और बैंक अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक ऋण देना आरम्भ कर देते हैं। मुद्रा बाजार की स्थिति पुन: ठीक हो जाती है।

इस प्रकार, खुले बाजार की क्रियाओं की नीति मुद्रा बाजार को नियन्त्रित करने के लिये एक सप्रभाविक यंत्र होता है, यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों में इसका रूप भिन्न-भिन्न रहा है। इंगलैण्ड में जहाँ व्यापारिक बैंक, बैंक-आफ-इंगलैण्ड से बिलों को

नहीं भुनाती और जब प्रतिभूतियों के विक्रय के कारण उनके कोष कम हो जाते हैं, तब वे ऋण सम्बन्धी सारे वायदे समाप्त कर देती है और दिये गये ऋणों को वापस माँगने लगती हैं। अमेरिका में ऐसा नहीं होता है। वहां पर व्यापारिक बैंक अपने ऋणों को फेडरल रिजर्व बैंक से भुनाती है और इसलिये हर सदस्य बैंक के लिये एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिससे अधिक वह उधार नहीं ले सकती है। इस सीमा तक ही रहने के लिये हर सदस्य बैंक सीमा का उलंघन होने से पहले ही ऋण देना बन्द कर देती है और दिये गये ऋणों को वापस माँगने लगती है। इंगलैण्ड में बैंक-दर नीति को प्रभावशाली बनाने के लिये खुले बाजार की क्रियाओं की सहायता ली जाती है। इसके अतिरिक्त अमेरिका में अनिवार्य रूप से विधान द्वारा निश्चित नकद कोषों की एक न्यूनतम राशि रखनी पड़ती है। किन्तु इंगलैण्ड में नकद कोषों की राशि परम्परागत है और इसके लिये कानून की सहायता नहीं ली जाती। आस्ट्रेलिया में खुले बाजार की क्रियायें इतनी सफल नहीं हो सकीं, क्योंकि वहाँ पर सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार बहुत ही संकुचित था। फिर भी इस विधि की सफलता निम्न मान्यताओं पर निर्भर करती है :—

(अ) जब चलन में मुद्रा की मात्रा और व्यापारिक बैंकों के नकद कोष खुले बाजार की क्रिया के साथ-साथ घटते बढ़ते रहें।

(ब) जब व्यापारिक बैंक अपने नकद कोषों की वृद्धि एवं कमी के साथ साथ अपनी दरों में परिवर्तन करती रहे।

(स) जब इस क्रिया के साथ-साथ बैंकों से प्राप्त किये जाने वाले ऋणों की मात्रा में कमी और वृद्धि होती जाय।

(द) जब बाजार में प्रतिभूतियों की माँग हो।

बैंक-दर v/s खुले बाजार की क्रियायें (Bank Rate v/s Open Market operations)

साख नियन्त्रण की विधियों की उपयोगिता काफी विवाद का विषय बनता जा रहा है। हाट्रे का विश्वास है कि अकेले खुले बाजार की क्रियायें बाजार में साख नियन्त्रण करने के लिये पर्याप्त नहीं होतीं वरन् उनके साथ-साथ बैंक-दर की नीति का उपयोग भी आवश्यक होता है। दूसरी ओर कीन्स का विश्वास था कि खुले बाजार की क्रियायें अकेले ही साख नियन्त्रण के लिये पर्याप्त थीं, यदि उनको कुशलता एवं विस्तार के साथ उपयोग किया जाय और उनके साथ-साथ उचित विनियोग नीति भी लागू की जाय। ये क्रियायें केवल दीर्घकाल में ही प्रभावशाली सिद्ध होती हैं और उसी समय सफल हो सकती हैं जब बिल बाजार भी पूर्ण रूपेण विकसित हो।

वास्तव में साख नियन्त्रण के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये न तो अकेली खुले बाजार की क्रियायें ही और न अकेली बैंक-दर नीति ही काफी है। अतः दोनों ही नीतियों को साथ-साथ अपनाना चाहिये। यदि बैंकों के पास अतिरिक्त कोष हैं तो बैंक-दर को बढ़ाने से उद्देश्य की पूर्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि प्रतिभूतियों को बेच कर केन्द्रीय बैंक इन अतिरिक्त कोषों को बैंकों के पास से नहीं निकाल लेती। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक बिना बैंक-दर को बढ़ाये प्रतिभूतियों को बेचेगी तो सदस्य बैंक अपने कोषों को केन्द्रीय बैंक से बिलों को दुबारा भुनाकर पूरा कर सकती हैं और इस प्रकार साख को संकुचित करने का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। सच तो यह है कि स्थायी असन्तुलन को दूर करने के लिये बैंक-दर नीति का प्रयोग करना चाहिये और अस्थायी असन्तुलन खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा दूर करना चाहिये। इसीलिये क्लार्क (Clark) ने कहा है कि साख नियन्त्रण के दृष्टिकोण से बैंक-दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियायें एक दूसरे की पूरक ही हैं।

साख नियन्त्रण की अन्य विधियाँ

उपरोक्त दो विधियों के अतिरिक्त साख नियन्त्रण के लिये केन्द्रीय बैंकों ने अन्य विधियों का प्रयोग किया है। ये विधियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) **साख की राशनिंग** (Rationing of credit) : यह विधि साख नियन्त्रण की सबसे प्राचीन विधि है। बैंक आफ इंगलैण्ड ने इसका उपयोग १८वीं शताब्दी में किया था। इस बैंक ने जिस किसी दिन भी यह देखा कि बैंकों द्वारा माँगी गई कुल राशि उस धन राशि से अधिक है, जिसको किसी एक दिन में देना निश्चित किया गया था, तो उसने या तो प्रत्येक बैंक के भुनाने के अधिकार को सीमित कर दिया या भुनाने के लिये दिये गये प्रार्थना पत्र में से एक निश्चित अनुपात को काट दिया। बैंक आफ इंगलैण्ड ने १८४४ के बैंक अधिनियम के बाद से इस नीति का प्रयोग करना बन्द कर दिया और पूर्ण रूप से बैंक-दर का ही प्रयोग आरम्भ किया। ऐसी ही स्थिति अन्य देशों में उत्पन्न हुई। केवल असाधारण परिस्थितियों में ही केन्द्रीय बैंकों ने राशनिंग नीति का प्रयोग किया था। जर्मनी ने इसका प्रयोग १९२४ में किया था और रूस में यह सामान्य आर्थिक नीति की महत्वपूर्ण अंग बन गई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि साख नियन्त्रण के लिये इस नीति का सुरक्षा पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। वेजमैन (Wageman) का विचार है कि अधिक पिछड़ी हुई आर्थिक परिस्थितियों के लिये यह नीति अधिक उपयुक्त सिद्ध होती है। डी काक (Decock) के अनुसार "समाजवादी राज्यों द्वारा अपनाई गई गहन तथा विस्तृत नियोजन नीतियों की 'साख एवं पूँजी की राशनिंग' एक आवश्यक अंग है, किन्तु

इसको हर आर्थिक व्यवस्था तथा हर देश में लागू नहीं किया जा सकता। यह अन्तिम ऋणदाता के कार्य के साथ-साथ लागू करने के लिये उपयुक्त नहीं है।

(२) **प्रत्यक्ष कार्यवाही एवं नैतिक सुझाव**—प्रत्यक्ष कार्यवाही में केन्द्रीय बैंक व्यक्तिगत व्यापारिक बैंकों से प्रत्यक्ष व्यवहार करना आरम्भ कर देती है। केन्द्रीय बैंक उन बैंकों के बिलों को भुनाने से इंकार कर सकती है जिनकी ऋण सम्बन्धी नीति उनके आदेशों के अनुसार नहीं है। इस नीति का उद्देश्य साख पर गुणात्मक नियन्त्रण करना होता है। ऐसी नीति की भी दो सीमायें होती हैं : प्रथम, यह निश्चित करना कठिन होता है कि किसी भी समय किसी भी बैंक को कितनी सहायता की आवश्यकता है और दूसरे जब केन्द्रीय बैंक विभिन्न व्यापारिक बैंकों में भेद भाव करती है तो व्यापरिक बैंकों की वास्तविक स्थिति का पता लगाने की पूरी जिम्मेदारी केन्द्रीय बैंक पर निर्भर करती है, जो केन्द्रीय बैंक के लिये करना अत्यन्त कठिन होता है।

नैतिक सुझाव उतने प्रभावशाली नहीं होते जितना प्रत्यक्ष कार्यवाही होती है। ऐसा केवल इसलिये है क्योंकि सुझाव में न तो दण्ड का अंश होता है और न विवशता का ही। इस नीति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक समय समय पर व्यापारिक बैंकों को सामान्य बैंकिंग नीति को स्पष्ट करने के लिये आदेश भेजती रहती है और उनको विभिन्न प्रकार के विनियोगों की प्रकृति एवं सम्बन्धित जोखिम से परिचित कराती रहती है। इस प्रकार आदेश और सलाह द्वारा केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों की साख नीति को प्रभावित करती रहती है। अपने ही देश में दूसरे युद्ध छिड़ने के तुरन्त बाद ही रिजर्व बैंक ने व्यापारिक बैंकों को बहुमूल्य धातुओं, सरकारी प्रतिभूतियों, संयुक्त पूँजी की कम्पनियों के हिस्सों इत्यादि से सम्मिलित सट्टेबाजी की क्रियाओं में भाग लेने से मना कर दिया था। केन्द्रीय बैंक तथा उसके विभिन्न अंगों में सहयोग बने रहने से देश की बैंकिंग प्रणाली के स्थायित्व में बहुत सहायता मिलती है। इंगलैण्ड में यह नीति बहुत सफल हुई, जब कि अमेरिका में इसे कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

(३) **व्यापारिक बैंकों की नकद कोष सम्बन्धी सीमाओं में परिवर्तन करना**—केन्द्रीय बैंक नकद कोषों की उस राशि में आवश्यक परिवर्तन करके साख नियन्त्रण कर सकती है जो व्यवहारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास रखना आवश्यक होता है। यह विधि अधिक पुरानी नहीं है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग अमेरिका में सन् १९३३ में हुआ था। फेडरल रिजर्व प्रणाली के संचालक मण्डल ने उस समय कहा था कि "यह अधिक अच्छा है कि इन बेकार नकद कोषों का एक भाग उस समय ही नष्ट कर दिया जाय जब कि वे उपयोग में नहीं लाये गये हैं, इसके अपेक्षा

पहले उनके ऊपर एक साख ढाँचे को निर्मित करने की आज्ञा दे दी जाय और फिर ढाँचे की नीव को हटा दिया जाय।

अमेरिका में इसका उपयोग खुले बाजार की क्रियाओं के समान केवल व्यापार चक्र सम्बन्धी परिवर्तनों को रोकने के लिये नहीं वरन् असाधारण परिस्थितियों को ठीक करने के लिये भी किया गया था। अमेरिका की सफलता से आकर्षित होकर न्यूजीलैण्ड और मेक्सिको ने सन् १९३६ में, स्वीडन ने १९३७ में तथा आस्ट्रेलिया ने १९४१ में इस नीति को अपनाया था और अब तो लगभग सभी केन्द्रीय बैंकों ने इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया है।

यह विधि भी दोष रहित नहीं है। यह सम्भव है कि नकद कोषों के अनुपात में परिवर्तन होने से बैंक के नकद कोषों में कोई कमी न आये और यदि बैंक के नकद कोष कम भी हो जाँय तो यह आवश्यक नहीं कि साख का परिमाण भी उसी अनुपात में कम हो जाय क्योंकि व्यापारिक बैंक सदैव ही अपने विनियोगों को अपने नकद कोषों के अनुपात में बदलते नहीं रहते या इसलिये भी कि जनता को बैंक से प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा बैंक के नकद कोषों के अनुसार कम और अधिक नहीं होते।

(४) **सदस्य बैंकों के लिये द्वितीय कोष सम्बन्धी शर्तें** (Secondary Reserve Requirements for member Banks) : यह विधि अमेरिका में सन् १९५४ में अपनाई गई थी। इस सिद्धांत के अनुसार व्यापारिक बैंकों को अपने अतिरिक्त कोषों का एक निश्चित न्यूनतम भाग अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों तथा अन्य तरल आदेयों (Assets) में विनियोग करना पड़ता है। ऐसे ही प्रतिबन्ध बाद में फ्रांस, बेल्जियम, मेक्सिको, भारत, स्वीडन, नार्वे, हालैण्ड और फिलीपाइन्स आदि देशों में भी लगाये गये थे जिनका मुख्य उद्देश्य बैंकों की उधार देने की शक्ति को कम करना था। कुछ देशों में यह मुद्रा-स्फीति को कम करने का एक उपाय रहा है और अन्य देशों में इसने सरकार हीनार्थ प्रबन्धन (Defecit Financing) की नीति को सफल बनाने में सहायता पहुंचाई है।

(५) **प्रतिभूति सम्बन्धी ऋणों की सीमा में फेर-बदल** (Changes in Margin Requirements on Security Loans) : यह विधि भी अमेरिका ने सन् १९३४ में अपनाई थी। इसका मुख्य उद्देश्य प्रतिभूतियों में किये जाने वाले सट्टे को नियन्त्रित करना था। फेडरल रिजर्व बैंक को, प्रतिभूतियों की आड़ में बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की राशि को नियमित करने के लिये कानून बनाने और सीमाओं को निर्धारित करने का अधिकार दे दिया गया है। यह विधि

काफी प्रभावशाली सिद्ध हुई है किन्तु इसमें भी यही दोष है कि यह केन्द्रीय बैंक पर अत्यधिक दायित्व डाल देती है।

(६) **उपभोक्ता साख का नियमन** (Regulation of consumer's credit) : सन् १९४१ में अमेरिका के प्रेसीडेन्ट ने 'संचालक मण्डल' को यह अधिकार दिया कि वह उन शर्तों को निर्धारित करें जिनके आधीन उपभोक्ताओं को स्थायी वस्तुयें खरीदने के लिये किश्तों में भुगतान करने वाले ऋण प्रदा किये जा सकें। यह केवल उन वस्तुओं की माँग को कम करने के उद्देश्य से किया गया था जो सुरक्षा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण थीं। इसका दूसरा उद्देश्य मुद्रा-प्रसार को रोकना था क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि वस्तुओं की कमी के कारण उनकी माँग में वृद्धि होगी तो मूल्य बढ़ने लगेंगे। यह प्राथमिक रूप से युद्धकालीन उपाय था, किन्तु इसको १९५२ तक लागू किया जाता रहा। कनाडा, ग्रेटब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और बेल्जियम में भी इस नीति को लागू किया गया था।

(७) **प्रचार** (Publicity) : अनेक केन्द्रीय बैंकों ने प्रचार का उपयोग साख नियन्त्रण की विधि के रूप में किया है। यह नियमित रूप से अपने आदेयों तथा भुगतानों, साख तथा व्यापार की दशाओं, अपनी क्रियाओं तथा सामान्य मुद्रा बाजार और बैंकिंग दशाओं से सम्बन्धित आंकड़ों तथा ब्योरों को प्रकाशित करती है। कुछ केन्द्रीय बैंक केवल अपना कर्तव्य समझ कर ही आंकड़ों को प्रकाशित करती हैं और कुछ इसको विशेष महत्व प्रदान करती हैं। जनता में जागृति उत्पन्न हो जाने के कारण केन्द्रीय बैंकों द्वारा, मुद्रा बाजार तथा उसके विभिन्न अंगों से सम्बन्धित आंकड़ों को प्रकाशित करना अब आवश्यक सा प्रतीत होने लगा है।

साख नियन्त्रण की कठिनाइयाँ

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कुशल साख नियन्त्रण कोई सरल कार्य नहीं है। इसकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि बैंक-साख तथा गैर बैंक-साख, सभी प्रकार की साखों पर केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण हो। जान स्टुअर्ट मिल, लीफ, एन्डरसन तथा अन्य लेखकों ने भी इस बात को सिद्ध किया है। पोलैण्ड के अर्थशास्त्री Lewinke का कहना है कि मूल्यों में सबसे पहली वृद्धि बिना बैंक-साख के ही उत्पन्न होती है।

साख नियन्त्रण केवल उसी समय प्रभावशाली हो सकता है जब केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंकों में तथा विभिन्न व्यापारिक बैंकों में आपस में पूर्ण सहयोग हो। यदि व्यापारिक बैंकों का केन्द्रीय बैंक से सुरक्षित कोष रखने के विषय में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है (जैसा अमेरिका में है) तो साख नियन्त्रण कदापि प्रभावशाली नहीं हो सकता।

साख का पूर्ण नियन्त्रण एक कल्पना है (Perfect control a myth) :

यदि ये सीमायें न भी हों तो भी साख पर पूर्ण नियन्त्रण सम्भव नहीं है। मूल्य निर्धारण में इतनी जटिलतायें होती हैं कि उसका निश्चित शर्तों तथा निश्चित नीतियों एवं नियमों के अनुसार कार्य करना सम्भव नहीं होता है। मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन कर देने से यह आवश्यक नहीं है कि कीमत-स्तर में इच्छानुसार परिवर्तन हो जाय। इसके अतिरिक्त विश्वासनीय आंकड़ों के अभाव में परिमाणात्मक नियन्त्रण कदापि भी सम्भव नहीं हो सकता। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह निश्चित करना भी कठिन है कि मूल्य-स्तर के सारे परिवर्तन केवल मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनों के कारण ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि मौद्रिक कारणों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे भी कारण हैं जिन पर केन्द्रीय बैंक का कोई भी नियन्त्रण नहीं होता है। उदाहरणार्थ :

(१) प्राकृतिक धन के कारण वस्तुओं की कमी हो जाने के परिणामस्वरूप कीमतों में कमी हो सकती है।

(२) केवल बैंक-साख द्वारा ही वस्तुओं तथा सेवाओं को नहीं खरीदा जाता, वरन् अन्य प्रकार की साख को भी इसके लिये उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त बैंक-साख का उपयोग केवल वस्तुओं के खरीदने के लिये ही नहीं होता, वरन् प्रतिभूतियाँ भी इसके द्वारा खरीदी-बेची जाती हैं। इसलिये मूल्य बढ़ने के स्थान पर गिर सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साख नियन्त्रण नीति को प्रभावशाली बनाने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि कीमत-स्तर के परिवर्तनों के मुख्य कारणों का सही पता लगाया जाय।

(३) मुद्रा की चलन गति में परिवर्तन होने से भी कीमत-स्तर में परिवर्तन हो जाते हैं। किन्तु चलन-गति का सही अनुमान लगाना सम्भव नहीं होता, इसीलिये साख नियन्त्रण नीति की सफलता भी सन्देहजनक होती है।

(४) अन्त में, यदि केन्द्रीय बैंक साख नियन्त्रण की सभी विधियों को अपनाये तो भी उसकी नीति असफल हो सकती है, यदि व्यापारिक बैंक उसको सहयोग न दें। अतः साख पर पूर्ण नियन्त्रण एक कठिन कार्य ही है। एन्डरसन का कथन है कि आर्थिक सन्तुलन की गड़बड़ी के कारण ही मन्दी उत्पन्न होती है और यह कीमत-परिवर्तनों द्वारा ही सम्भव होता है। इससे एक भंग हुये सन्तुलत को सही बनाया जाता है। साख नियन्त्रण की नीति केवल उसी समय अपना पूरा प्रभाव डाल सकती है जब बिल तथा मुद्रा बाजार पूर्ण विकसित हों और केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंकों में परस्पर सहयोग हो।

केन्द्रीय बैंक और व्यापार चक्र (Central Bank & Trade Cycles)

कीमत स्तरों पर मौद्रिक एवं अमौद्रिक कारणों से चक्रीय परिवर्तन होते

रहते हैं जिनके कारण राष्ट्र के आर्थिक स्थायित्व को ठेस पहुंचती है। ऐसे अनेक उपायों का प्रभाव व्यापार चक्रों पर अवश्य पड़ता है। समृद्धि काल में उद्योगों की वृद्धि होती है, केन्द्रीय बैंक से प्राप्त होने वाले ऋणों की मात्रा बढ़ती जाती है तथा साख का विस्तार होता रहता है। व्यवसाय एवं उत्पादन की इस वृद्धि को नियन्त्रित रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। यह दो प्रकार से किया जा सकता है: प्रथम, ऐसे विस्तार से साख स्थिति पर दबाव पड़ता है, परन्तु साख को कम करने से कीमतें, उत्पादन, आय एवं रोजगार की दशायें कम होने लगती हैं। दूसरे, यदि मजदूरियों की अपेक्षा कीमतें अधिक बढ़ती हैं तो क्रयशक्ति की अपेक्षा उपभोग वस्तुओं की पूर्ति में अधिक वृद्धि होगी तथा समाज के विभिन्न वर्गों में आर्थिक असन्तुलन उत्पन्न हो जायगा। असन्तुलन का कार्यक्रम और तीव्र हो जायगा, यदि सूद की दरों को बढ़ाया जाय अथवा साख का संकुचन किया जाय। यद्यपि बैंक-साख औद्योगिक वित्त का महत्वपूर्ण अंग नहीं होता है फिर भी बैंकों की साख नीति उद्योगपतियों की कार्यशील पूँजी पर ही आधारित होती है। इसी से बैंकों के निक्षेप उत्पन्न होते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उनको ऋण भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार साख की स्थिति औद्योगिक क्रियाओं पर निर्भर करती है। जब तक व्यापार चक्र बैंक-साख के कारण उत्पन्न नहीं होते तब तक साख नीति का मूल्य-परिवर्तनों में कोई महत्व नहीं होता। परन्तु व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाले प्रभावों का सम्बन्ध जब बैंकों की साख से हो जाता है तो केवल व्यापार चक्रों को नियन्त्रित करने के लिये एक उचित बैंक साख नीति का अपनाना आवश्यक हो जाता है जिसके लिये केन्द्रीय बैंक का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है।

केन्द्रीय बैंकिग में आधुनिक प्रवृत्तियाँ :—

आधुनिक समय में, केन्द्रीय बैंक हर किसी देश की मौद्रिक एवं बैंकिंग प्रणालियों के संरक्षक के रूप में कार्य करती है। हाल ही में केन्द्रीय बैंकिंग व्यवसाय में निम्न मुख्य प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं :-

(१) केन्द्रीय बैंकों पर राज्य का स्वामित्व बढ़ता गया है और केन्द्रीय बैंकों को साख-नियन्त्रण के अधिक अधिकार दिये गये हैं;

(२) आर्थिक निश्चितता (Economic Rigidity), स्वर्णमान के टूटने तथा व्यवस्थित मुद्रामान (Managed Currency Standard) की स्थापना के कारण खुले बाजार की क्रियाओं का साख-नियन्त्रण नीति में महत्व बढ़ गया है;

(३) केन्द्रीय बैंक, जहाँ तक सम्भव होता है, जनता से प्रत्यक्ष व्यवहार नहीं करती और सदस्य बैंकों से प्रतियोगिता भी नहीं करती;

(४) नकद कोषों को केन्द्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है क्योंकि संकट के समय इनका अधिक मितव्ययी उपयोग हो सकता है और इससे साख नियन्त्रण में सुविधा भी प्राप्त होती है;

(५) अमेरिका, इंगलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, भारतवर्ष आदि देशों में केन्द्रीय बैंकों ने औद्योगिक साख प्रदान करना आरम्भ कर दिया है;

(६) विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है।

केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Central Banks) :

केन्द्रीय बैंकिंग व्यवसाय में आज भी स्थायित्व की बहुत कमी है। विश्व की घटनाओं के कारण आज भी इसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव में केन्द्रीय बैंकिंग सम्बन्धी सिद्धान्त पूर्ण रूप से बदल गये हैं, क्योंकि युद्ध के कारण सरकारी आय पर बहुत अधिक दबाव पड़ा है। संकटकालीन परिस्थितियों के लिये मुद्रा तथा पूँजी की तरलता को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। युद्ध की समाप्ति के बाद से आर्थिक नियोजन तथा पूर्ण रोजगार नीति ने प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है। ऐसा अनुभव होने लगा है कि एक स्वतन्त्र केन्द्रीय बैंक की उपस्थिति में कोई भी सरकार अपनी मौद्रिक नीति को कार्यान्वित नहीं कर सकती। इसीलिये बैंक आफ इंगलैण्ड का राष्ट्रीयकरण किया गया था।

नियोजित अर्थ व्यवस्था में यह आवश्यक है कि केन्द्रीय बैंक और सरकार के सम्बन्ध अधिक घनिष्ट हों। कभी-कभी सरकार को पूर्ण रोजगार स्थापित करने के लिये घाटे के व्ययों (Deficit Spending) की नीति अपनानी पड़ती है। इसलिये सूद की दरों की स्थिरता बहुत आवश्यक है। सरकार इस कार्य को ऋणी के रूप में नहीं वरन् केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रक के रूप में करती है। इसके अतिरिक्त शान्ति एवं सम्पन्नता सम्बन्धी सभी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है और इसलिये भविष्य में जो भी संगठन स्थापित किये जायेंगे वे बिना विभिन्न देशों की सरकारों की सलाह के स्थापित नहीं हो सकते। अतः केन्द्रीय बैंक सरकार के केवल एजेन्ट के रूप में कार्य करेगी। स्पष्ट है कि केन्द्रीय बैंक और सरकार के बीच उत्तम सहयोग केवल केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके ही स्थापित हो सकता है। बहुत से देशों ने, जैसे आस्ट्रेलिया ने १९४५ में, न्यूज़ीलैण्ड ने १९३६ में, कनाडा ने १९३८ में, डेनमार्क ने १९३६ में और भारत ने १९४९ में केन्द्रीय बैंक का राष्ट्रीयकरण कर दिया है।

निर्देश पुस्तकें

De Cock	:	Central Banking, Chs. I to XIII
Kisch & Elkin	:	Central Banks
Steiner & Shapiro	:	An outline of Money, Chs. II & VI
R. S. Sayers	:	Modern Banking, Chs. IV to VI
R. P. Kent	:	Money & Banking, Ch. XX
G. D. H. Cole	:	What every body wants to know about Money, Ch. III

अध्याय १४

मौद्रिक नीतियाँ

किसी भी अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुद्रा का विशेष महत्व होता है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि सामान्य जीवन की प्रत्येक गति में मुद्रा का होना आवश्यक होता है। पर इसके साथ यह भी आवश्यक समझा जाता है कि मुद्रा की पूर्ति को अच्छी प्रकार से नियन्त्रण में रक्खा जाय। ऐसा करने के लिये किसी न किसी प्रकार की मौद्रिक नीति को अपनाया जाता है। इसी उद्देश्य से मौद्रिक नीति द्वारा कभी मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखा जाता है, तो कभी उसको गिरता हुआ या बढ़ता हुआ रखा जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य सम्बन्धी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये मुद्रा की मात्रा को जिस प्रकार नियन्त्रित किया जाता है, उसे मौद्रिक नीति कहते हैं।

यद्यपि जीवन के आर्थिक क्षेत्र में मौद्रिक नीतियों का महत्व सदैव रहा है, परन्तु आजकल उनका महत्व विशेष रूप से है। परम्परावादी विचारधारा के अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) ने इनके महत्व को केवल विनिमय के सम्बन्धों तक ही सीमित रख कर, उपभोग, उत्पत्ति तथा विनिमय की क्रियाओं पर ही जोर दिया। उन्होंने मौद्रिक नीति को 'कीमत-स्थिरता' के विपरीत 'सस्ती-मुद्रा' (Cheap Money) की दशा को लाने के उद्देश्य को ही पूरा करने का एक यन्त्र समझा। आजकल 'कीमत-स्थिरता' की स्थिति को बनाये रखने का महत्व बहुत कम हो गया है। अब सभी इस बात को मानते हैं कि मुद्रा की मात्रा का कीमत-स्थिरता, रोजगार-स्थिरता एवं आय-स्थिरता से पूरी तरह से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और इसलिये देश की आर्थिक नीति पर 'मौद्रिक नीति' का सकारात्मक (Positive) प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव आज प्रत्येक देश की सरकार द्वारा अनुभूत है तथा ऐसा विश्वास किया जाता है कि आन्तरिक और वाह्य नीतियों के ऐच्छिक परिणामों को पाने के लिये मौद्रिक नीति का सहारा लेना आवश्यक होता है। संसार का आर्थिक इतिहास यह बतलाता है कि विभिन्न देशों में मौद्रिक नीतियों का प्रयोग अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया गया है। इनमें मुख्य उद्देश्य यह थे :—

(१) आन्तरिक एवं वाह्य सन्तुलन (Internal and External Equilibrium) की नीति।

(२) क्रमशः बढ़ती हुई अथवा गिरती हुई कीमतों (Slowly rising or falling Prices) की नीति।

(३) तटस्थ मुद्रा नीति (Neutral Money Policy)

(४) आय-स्थिरता अथवा रोजगार-स्थिरता (Stability in Income or Employment) की नीति।

(५) पूर्ण रोजगार एवं अधिकतम उत्पादन (Full Employment or Maximum Production) की नीति।

१—आन्तरिक एवं वाह्य सन्तुलन (Internal and External Equilibrium) **की नीति :**

बहुत समय तक मुद्रा-नीति का प्रयोग आन्तरिक या वाह्य सन्तुलन को बनाये रखने या उसको बढ़ाने के लिये किया गया है। लगभग प्रथम महायुद्ध के पूर्व देश की एक समय में, प्रत्येक देश की आर्थिक नीति को सफल बनाने के लिये आन्तरिक सन्तुलन (Internal Equilibrium) को बनाये रखना आवश्यक समझा जाता था। आन्तरिक सन्तुलन से अभिप्राय मुद्रा की क्रय-शक्ति को स्थिर बनाये रखना था। दूसरे शब्दों में आन्तरिक सन्तुलन का अर्थ कीमत स्थिरता की दशा से लगाया जाता था। इसी प्रकार कुछ देश मौद्रिक नीति का उद्देश्य 'वाह्य सन्तुलन' को बनाये रखना ही मानते थे। 'वाह्य सन्तुलन' का अर्थ, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में, आय तथा सामान्य कीमत स्तर को निश्चित विनिमय-दर के साथ समन्वय रखना समझा जाता था। साधारणतया मौद्रिक नीति के इस उद्देश्य को विनिमय-दर की 'स्थिरता' की दशा से प्राप्त किया जा सकता है। इन दोनों विचारों (आन्तरिक एवं वाह्य सन्तुलन) के समर्थकों के बीच काफी मतभेद रहा है। कुछ अर्थशास्त्री 'आन्तरिक-सन्तुलन' (कीमत स्थिरता) पर अधिक जोर देते रहे हैं, जबकि अन्य अर्थशास्त्री 'वाह्य-सन्तुलन' (विनिमय-दर-स्थिरता) को विशेष महत्व देते रहे हैं।

विनिमय-दर में स्थिरता बनाये रखने के कुछ विशेष लाभ बतलाये जाते हैं : सर्वप्रथम, किसी देश के विदेशी-विनिमय-दर में उच्चावचन (वृद्धि एवं कमी) अर्थव्यवस्था के लिये बहुत खतरनाक सिद्ध होते हैं। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि इन उच्चावचनों के कारण आंतरिक कीमत-स्तर में भी वृद्धि या कमी हो जाती है। यदि विनिमय-दर में १० प्रतिशत का परिवर्तन होता है तो साधारणतया कीमत-स्तर में भी उसी अनुपात में कमी या वृद्धि हो जाती है, जिससे अर्थव्यवस्था की अनेक दशाओं में तुलनात्मक परिवर्तन हो जाते हैं। दूसरे, विनिमय-दर के परिवर्तनों, विशेषकर उसमें वृद्धि, से देश के वित्तीय एवं व्यवसायिक सम्बन्धों में असन्तुलन आ जाता है। इससे विदेशी विनिमय बाजार में सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है और

अन्तर्राष्ट्रीय साख व्यवसायों में कमी आ जाती है। छोटे देशों को हानि होती है, विदेशी विनिमय कोषों में परिवर्तन हो जाते हैं तथा विशेष परिस्थितियों में पूँजी की वृद्धि पर रोक लग जाती है। तीसरे, आशा से अधिक, मुद्रा के विदेशी मूल्य में वृद्धि और कमी विनियोजकों में संचय की प्रवृत्ति इस अभिप्राय से पैदा कर देती है जिससे कि संकटकालीन समय में वे उसे दूसरी मुद्रा से परिवर्तित करा सकें। इस प्रकार ऐसी प्रवृत्ति विनियोजकों में स्वर्ण को संचित करने की भावना पैदा करती है, जिससे मुद्रा संकुचन की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। अन्त में, ऐसे देश में, जिनकी आर्थिक नीति दूसरे देशों की आर्थिक दशा से प्रभावित रहती है और जो विदेशी व्यापार पर विशेष रूप से आश्रित रहते हैं, बिना विनिमय-दर में स्थिरता लाये आन्तरिक सम्पन्नता को नहीं बढ़ाया जा सकता है।

इन तर्कों के आधार पर यद्यपि ऐसा माना जा सकता है कि मौद्रिक नीति में 'विनिमय-दर की स्थिरता' का बहुत महत्व है, परन्तु मौद्रिक नीति के ऐसे उद्देश्य की अनेक कमियों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। इस प्रकार की नीति आन्तरिक कीमत-स्थिरता को प्रभावित कर 'मुद्रा-संकुचन' और 'मुद्रा-प्रसार' की अवस्थायें उत्पन्न कर देती हैं। इसीलिए कैसिल (Cassel) और कीन्स (Keynes) जैसे अर्थशास्त्रियों ने **'कीमत-स्थिरता'** पर अधिक जोर दिया। कीमतों में उच्चावचनों से राष्ट्रीय आय में पुनः असमान वितरण की अवस्था पैदा हो जाती है तथा आर्थिक जीवन में असन्तुलन पैदा हो जाता है। सत्य तो यह है कि कीमतों में अस्थिरता आर्थिक व्यवस्था में चक्रीय प्रभावों के रूप में दिखलाई पड़ती है। यदि कीमतें एक बार बदल जाती हैं तो यह क्रम निरन्तर बढ़ता जाता है, और यदि कीमतें एक बार गिर जाती हैं तो यह लगातार गिरती जाती हैं। इस प्रकार के लगातार (cumulative) प्रभाव सामाजिक व्यवस्था को काफी प्रभावित करते हैं। इसीलिये कीमतों के अस्थिर होने के समय ही प्रायः आर्थिक और राजनीतिक गड़बड़ियाँ भी देखी गई हैं। इसके अतिरिक्त जब कीमतें स्थिर रहती हैं तो केवल आर्थिक नीति सम्बन्धी निर्णय ही लेना आसान नहीं होता, परन्तु अनैच्छिक बचतों तथा स्वेच्छापूर्ण बचतों के अनैच्छिक व्यय को हतोत्साहन मिलता है। ग्रेगरी (Gregory) के अनुसार स्थिर कीमतें, बैंकिग प्रणाली द्वारा, बचतों को पूँजी में परिवर्तित करने में उसी प्रकार सहायक होती हैं जिस प्रकार यह व्यक्तियों की बचतों को बढ़ाने में सहायक होती हैं। यदि 'कीमत-स्तर' को बढ़ने दिया जाता है तो जनता में शक्तिपूर्ण-बचतों (forced savings) को प्रोत्साहित किया जाता है जिससे उद्योग-पतियों की लाभ की सम्भावनायें बढ़ती हैं। यदि कीमतों को घटने दिया जाता है (जो जनता चाहती है) तो बचतें अवश्य बढ़ती हैं, पर वे बेकार हो जाते हैं क्योंकि उनका सदुपयोग नहीं हो पाता। गिरती हुई कीमतें इस बात का सूचक

होती हैं कि बैंकें साख का विस्तार नहीं कर रही हैं, और इस प्रकार ऐसे कोषों की बचतों को पूँजी में परिवर्तित नहीं कर रही हैं जो अपनी मौद्रिक-आय में से व्यय चातुर्य के द्वारा कुछ बचतें कर सकते हैं, क्योंकि कीमतों के गिरने पर भी लोग पहिले की भाँति उपभोग करेंगे। इन्हीं कारणों से 'कीमत-स्थिरता' के महत्व को सन् १९३७ में अमेरिका के 'न्यू डील प्रोग्राम' के अन्तर्गत मान्यता दी गई, जबकि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने यह बतलाया कि "यह राष्ट्रों के हित में होगा कि वे सरकारों को व्यक्तिगत उद्यमों को प्रोत्साहन प्रदान करें जिससे सामान्य कीमत-स्तर को और स्थिर बनाये रखा जा सके तथा कीमतों के उच्चावचनों को रोका जा सके।"[1] इस प्रकार कुछ लोगों के विचारानुसार मुद्रा की क्रय-शक्ति में स्थिरता बनाये रखना ही आन्तरिक स्थिरता को प्राप्त करने का रास्ता है।

फिर भी इस प्रकार (कीमत-स्थिरता) की नीति को सामान्य रूप से सर्वश्रेष्ठ एवं उचित नहीं कहा जा सकता। किसी नीति का उपयुक्त होना देश की परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि एक देश काफी बड़ा है जिसमें विदेशी व्यापार देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है तथा यदि उस देश की कीमत-प्रणाली (price mechanism) एवं लागत प्रवृत्ति (cost structure) लोचपूर्ण नहीं है तो उस देश के हित में यही होगा कि 'कीमत-स्तर' को स्थिर बना कर उससे अपने विनिमय-दर को समन्वित करे। दूसरी ओर एक ऐसे देश के लिए, जो आकार में छोटा है एवं जहाँ की अर्थव्यवस्था पर विदेशी व्यापार का प्रमुख स्थान होता है तथा जिसकी कीमत-प्रणाली एवं लागत-प्रवृत्ति में काफी लोच होता है, उसके हित में यही होता है कि वह विनिमय-दर को स्थिर बना कर उससे कीमत-स्तर तथा लागत को समन्वित करे। ऐसा भी हो सकता है कि एक ही देश में कभी (किसी एक समय) 'कीमत-स्थिरता' और कभी (दूसरे समय में) 'विनिमय-दर-स्थिरता' को बनाये रखना अधिक लाभप्रद सिद्ध हो। इतना सब कुछ होते हुये भी 'स्थिर कीमत-स्तर नीति' की अनेक कमियाँ बतलायी जा सकती हैं। सर्वप्रथम; इस प्रकार की नीति के अन्तर्गत मौद्रिक व अमौद्रिक कारणों के फलस्वरूप होने वाले कीमतों के उच्चावचनों के बीच अन्तर स्पष्ट नहीं हो पाता है। दूसरे, कीमतों को स्थिर बनाये रखने में व्यक्तिगत कीमतों के उतार-चढ़ाव पर ध्यान नहीं दिया जाता जो वास्तव में कीमत-स्तर का निर्माण करता है। ऐसा हो सकता है कि एकाकी कीमतें सामान्य कीमत-स्तर के साथ-साथ परिवर्तित न हों। तीसरे, कीमत स्थिरता की दशा को प्राप्त करने के लिए मौद्रिक नीति के संचालन में अनेक प्रकार

1. "It is to the interest of the Nations to have Governmental help to private enter-prise to gain sound general price levels and to protect these levels from vide perilous fluctuations".

की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। (जैसे साख नियन्त्रण की समस्या ऐसी कठिनाइयों से परिपूर्ण है) अन्त में, उस स्तर को निर्धारित करना बहुत कठिन है जिस पर कीमतों को स्थिर रखना उचित समझा जा सकता है। देश की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार कीमत-स्तर को परिवर्तित होना चाहिए। इन्हीं कमियों के कारण 'कीमत-स्थिरता' को मौद्रिक नीति के आदर्श उद्देश्य के रूप में बहिष्कार किया जाने लगा और उसके स्थान पर "पूर्ण रोजगार की अवस्था" को मौद्रिक नीति के आदर्श उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा।

आन्तरिक अथवा बाह्य सन्तुलन की नीति का व्यवहारिक रूप : सबसे प्राचीन मौद्रिक-नीति, जिसका उल्लेख किया जा सकता है, वणिकवादी (Mercantilists) अर्थशास्त्रियों ने अपनाया था। इस सम्प्रदाय ने आर्थिक नीति का उद्देश्य 'बहुमूल्य धातु' (स्वर्ण और चाँदी) का एकत्रीकरण ही समझा, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इन्होंने कीमत-स्थिरता पर जोर डाला। उनका विश्वास था कि ऐसा तभी सम्भव हो सकता है, जब विदेशी व्यापार का सन्तुलन अनुकूल हो। निःसन्देह इस प्रकार की आर्थिक नीति अर्थव्यवस्था को मुद्रा-संकुचन के दुष्परिणामों से बचाती है। धातु मूल्यमान का काम करती है, तथा उसकी पूर्ति में वृद्धि अथवा ह्रास चलन-मुद्रा (Currency) के परिमाण में क्रमशः वृद्धि अथवा कमी ले आती है। वे बहुमूल्य धातु की मात्रा में वृद्धि करने को ही आर्थिक नीति का उद्देश्य मानते थे, सम्भवतः जिससे कीमतों में ह्रास न हो तथा आय, रोजगार एवं उत्पादन में कमी न हो। परन्तु वणिकवाद के पतन के पश्चात्, विशेषकर श्रम-विभाजन पर आधारित नई औद्योगिक व्यवस्था के अपनाये जाने पर, मौद्रिक नीति के उस उद्देश्य में परिवर्तन होने लगा। उस समय धातुओं की मात्रा में वृद्धि को सदैव हितकर न मानकर; इस मात्रा में आवश्यकतानुसार सामंजस्य (adjustment) करना ही हितकर माना जाने लगा। इस कार्य के लिए धीरे-धीरे केन्द्रीय बैंक के महत्व को भी समझा जाने लगा। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि इस समय अपनाये गये मौद्रिक-मान एक-धातुमान अथवा द्विधातुमान के रूप में प्रचलित थे। इन मौद्रिक-मान, विशेषकर द्विधातुमान, के सफल बनाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की विशेष आवश्यकता थी, जो उस समय अप्राप्य थी। केवल किसी एक देश द्वारा इसे अपनाया जाना उसके लिये हितकर सिद्ध न होता, क्योंकि असहयोग की दशा में वह देश अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान नहीं कर सकता था तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग नहीं प्राप्त कर सकता था। गेयर (Gayer) ने अपनी 'मुद्रा नीति और आर्थिक स्थिरता' (Monetary Policy and Economic Stability) नामक पुस्तक में लिखा है कि "यदि द्विधातुमान संसार में कई देशों

द्वारा एक साथ तथा एक अनुपात में अपनाया गया होता तो प्रत्येक धातु की पूर्ति में सापेक्षिक परिवर्तन होते, पर किसी धातु का प्रयोग (चलन) से बाहर हो जाने का भय नहीं रहता।"[1] इस कारण इसे कुछ देशों ने ही अपनाया और थोड़े समय बाद ही उन्हें इसको छोड़ना पड़ा। परिणामस्वरूप स्वर्णमान के रूप में एकधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनाया गया और मुद्रामान के इसी रूप को सबसे अधिक आयु मिली। इस प्रकार के मुद्रामान के अधिक प्रचलन होने के कारण मौद्रिक-नीति का उद्देश्य 'कीमत-स्थिरता' के स्थान पर 'विनिमय-दर में स्थिरता' बनाये रखना बन गया। प्रत्येक देश की अर्थ-व्यवस्था को इस प्रकार से नियन्त्रित किया जाने लगा जिससे देश की कीमत-प्रणाली सन्तुलित विनिमय-दर से सम्बन्धित होती रहे। अतः मौद्रिक स्थिरता (monetary stability) का अर्थ मुद्रा के आन्तरिक मूल्य (internal value) के स्थान पर वाह्य मूल्य (external value) के सन्दर्भ में लिया जाने लगा। संक्षेप में मौद्रिक नीति का उद्देश्य "विनिमय-दरों में स्थिरता" बन गया और प्रत्येक देश की बैंकिंग एवं वित्तीय दशायें इस स्थिरता के साथ समन्वित होती रहीं। यहाँ पर यह दोहराने की आवश्यकता नहीं कि विनिमय-दरों में स्थिरता बनाये रखने से कभी-कभी कीमत प्रणाली इतनी अस्त-व्यस्त हो जाती थी कि लोग कीमत स्थिरता को ही मौद्रिक नीति का उद्देश्य मानने को वाध्य हो जाते थे।

प्रथम महायुद्ध के समय में स्वर्णमान टूट गया और अनेक देशों ने अपनी-अपनी दशाओं को सम्भालने के लिये अनेक प्रकार की मुद्रा नीतियों को अपनाया। युद्ध के पश्चात् देशों की अवरुद्धवादिता (Protectionism), राष्ट्रीयवादिता (Nationalism) और आपसी अविश्वास ने अनेक समस्यायें पैदा कर दीं। इनमें सर्व प्रथम समस्या मुद्रा के वाह्य-मूल्य को स्वर्ण की मात्रा के अनुसार समायोजित रखने की थी, जो १९१४ के पहिले स्वर्ण कोषों के साथ व्यवस्थित रहती थी। युद्धोत्तर काल में देशों के बीच स्वर्ण-कोषों का स्थानांतरण मुख्यतः "सुरक्षा" पाने की दृष्टि से हो रहे थे। यहाँ पर यह बतला देना जरूरी है कि संरक्षण प्रदान करने वाले देशों ने इस प्रकार के स्थानांतरण के फलस्वरूप होने वाले स्वर्ण-कोषों को प्रभावहीन (sterlise) करने की नीति अपना ली (स्वर्णमान का अध्याय देखिये)। दूसरी समस्या इंगलैण्ड व उसके समान देशों में अवसाद की अवस्था में सुधार करने की थी, क्योंकि यह देश युद्धकाल में जीर्ण हो गये थे। अन्तिम समस्या अनेक देशों में

1. "If bimetallism were adopted by most of the world at the same ratio, and approximately at the current one, neither metal could drive the other out of use, except through a quite phenomenal change in the relative supply of the two". —Gayer.

बढ़ती हुई बेरोजगारी जैसी सामाजिक बुराई को शीघ्र से शीघ्र खतम करने की थी। इन समस्याओं के सन्दर्भ में, यद्यपि मौद्रिक नीति का उद्देश्य मुद्रा-मूल्य में सन्तुलन बनाये रखना तथा उनमें परिवर्तन लाने वाली प्रवृत्तियों को दूर करना—पहले की भाँति—बना रहा, परन्तु "आन्तरिक" और "वाह्य" सन्तुलन (equilibrium) का वास्तविक अर्थ बदल गया। 'आन्तरिक सन्तुलन' (internal equilibrium) से अभिप्राय राष्ट्रीय आय को उस स्तर पर सन्तुलित करने से समझा जाने लगा जिस पर न तो साधारण रूप में बेरोजगारी होती हो और न कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति पाई जाती हो। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थिति पर आयों को स्थिर रखना तथा कीमतों को उच्चावचनों से बचाना समझा जाने लगा। इसी प्रकार "वाह्य सन्तुलन" (external equilibrium) का अर्थ विनिमय-दर को उस स्तर पर बनाये रखना बन गया जिस पर कीमत-स्तर (price levels) देशीय एवं विदेशी दशाओं से इस प्रकार समयोजित रहती हैं कि देशों के बीच भुगतान शेष (Balance of Payment) सन्तुलित रहता है। इस प्रकार, परिस्थितियों के कारण मुद्रा नीति का मुख्य उद्देश्य "कीमत स्थिरता" (Price Stablisation) बन गया और मौद्रिक नीति में "विनिमय-दर स्थिरता" के स्थान पर "आन्तरिक कीमतें" एवं "आयों की स्थिरता", का महत्व बढ़ गया। इससे देशों में स्वतन्त्र आर्थिक नीति (autonomy) अपनाने की भावनायें बढ़ गईं और ऐसा करने के उत्साह में उन देशों में 'विनिमय नियंत्रण' (Exchange Control), 'व्यापार नियंत्रण' (control of trade) आदि अनेक उपाय अपनाये जाने लगे। परन्तु इस प्रकार की मौद्रिक नीति के कार्यान्वित की जाने वाली कठिनाइयों ने, जो विशेषकर इसलिये थीं कि किसी प्रकार की भी मौद्रिक नीति कीमतों में स्थिरता नहीं ला सकती, इसके उद्देश्य को परिवर्तित कर दिया। कीमतों के तुलनात्मक परिवर्तनों ने सम्पूर्ण आर्थिक अवस्था को बहुत अस्त-व्यस्त बना दिया, और आर्थिक जीवन में अनिश्चितता को उत्पन्न कर दिया। ऐसी दशाओं ने मौद्रिक नीति के ऐसे उद्देश्य को बदलने पर बल दिया। लोगों में यह विश्वास दृढ़ होने लगा कि पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थिति पर ही "कीमत-स्थिरता" को महत्व दिया जा सकता है।

इसके पहले कि ऐसे मौद्रिक नीति ('पूर्ण रोजगार' के उद्देश्य की मौद्रिक नीति) का विवेचन किया जाय, मौद्रिक नीति के कुछ अन्य उद्देश्यों को भी समझ लिया जाय, जिनको भी अपनाने पर अनेक देशों ने इसी समय जोर दिया।

२—**क्रमशः बढ़ती और क्रमशः गिरती कीमतों की नीति** (Policy of slowly rising and slowly falling prices) :

कुछ लोगों ने यह सुझाव दिया कि कीमत-स्तर को 'पूर्ण स्थिर' रहने के बजाय धीरे-धीरे बढ़ती हुई होना चाहिए। इस प्रकार की नीति में दो विशेषतायें होती हैं : सर्वप्रथम इस प्रकार की नीति, उत्पादन को प्रोत्साहन देकर, रोजगार की अवस्थाओं को बढ़ाती है। दूसरे, इस प्रकार की नीति में मौद्रिक ऋण, जो हमारे आर्थिक जीवन की साधारण बात (feature) होती है, का वास्तविक भार कम होता जाता है। इन विशेषताओं के साथ भी इस प्रकार की मौद्रिक नीति के कुछ दोष बतलाये जा सकते हैं : सर्वप्रथम, ऐसी नीति से निश्चित आय वाले लोगों को हानि पहुंचती है, क्योंकि कीमतों के बढ़ने के कारण उनको उनकी मौद्रिक आय के बदले मिलने वाली वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में कमी हो जाती है, यद्यपि इस प्रकार की क्रमशः बढ़ता हुई कीमतों की प्रवृति एक लम्बे समय तक चलती रहती है जिसका आभास लोगों को साधारणतया नहीं हो पाता। दूसरे, साहसियों को प्रोत्साहन प्रदान करके, इस प्रकार की नीति अयोग्य (incompetent) उपक्रमियों को आश्रय प्रदान करती है। किसी उद्यम को विशेष प्रोत्साहन प्रदान करने के पहले यह जानना आवश्यक होता है कि इस उद्यम को ऐसे प्रोत्साहन की आवश्यकता है कि नहीं। यही नहीं, यदि कीमतों की वृद्धि के द्वारा उद्यमों को प्रोत्साहन प्रदान करने से उत्पादन-साधनों की कीमतों के बढ़ जाने से उत्पादन-लागत भी बढ़ जाती है तो ऐसे प्रोत्साहन का कुछ भी लाभ न होगा। इसलिए इस प्रकार की नीति को अपनाने के पहले इन सब बातों को ध्यान में रखना जरूरी होता है।

दूसरी ओर, कुछ विचारकों के अनुसार मौद्रिक नीति का उद्देश्य धीरे-धीरे गिरती हुई कीमतों का होना चाहिये। ऐसे उद्देश्य को मानने वाले दीर्घकाल में क्रमशः गिरती हुई कीमतों के अनेक लाभों की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार की नीति उद्यमों को आधुनिकतम बनाती है तथा समाज को कम कीमतों (अथवा मुद्रा की अधिक क्रय-शक्ति) द्वारा वैज्ञानिक विकास के अनेक लाभ प्रदान करती है। यदि उत्पादन के बढ़ने के साथ-साथ उसी अनुपात में कीमतें गिर जाती हैं तो मज़दूरों की वास्तविक आय में अपने–आप वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार राष्ट्रीय-समृद्धि में, बिना मज़दूरी को बढ़ाये, वृद्धि लाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त यह भी बतलाया जाता है कि गिरती हुई कीमतों के फलस्वरूप बचत और विनियोग के बीच उपयुक्त सम्बन्ध (अनुपात) स्थापित हो जाता है और इस प्रकार व्यापारिक संकट (business crisis) की दशाओं से व्यवस्था को बचाया जा सकता है। राबर्टसन (Robertson) ने अपनी 'Money' नामक पुस्तक में लिखा है कि यह सत्य है कि यदि कीमतें गिरती हैं तो बचतों का वास्तविक मूल्य बढ़ता

है, परन्तु यह उत्पादकता (उत्पादन क्षमता) में अपने आप हुई वृद्धि की प्रतिक्रिया होती है। यदि फिर कीमतों में स्थिरता लाने के लिये, साख का विस्तार किया जाता है तो इससे ऐच्छिक बचतों को औद्योगिक पूँजी में परिवर्तित करने के बजाय अस्वाभाविक बचतों को ही प्रोत्साहन मिलता है। इस दृष्टिकोण से ही संसार में, 'जन-संख्या के अनुपात में साख-विस्तार' और 'उत्पादन के अनुपात में साख-विस्तार' के बीच अन्तर है। परन्तु इस प्रकार की मौद्रिक नीति की कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ भी हैं। पूरी तरह से अपूर्ण-प्रतियोगी एवं एकाधिकारी-प्रतियोगी दशाओं में तथा एकाधिकार एवं संगठन की अवस्था में यह पहले से जानना अत्यन्त कठिन होता है कि किसी एक निश्चित समय में कीमतें कितनी गिर जायेंगी ऐसा इसलिये होता है क्योंकि आर्थिक विकास की प्रगति-दर को तब तक नहीं जाना जा सकता है जब तक वह हो न गई हो।

इस प्रकार यह स्पष्ट करना विवादास्पद है कि इन मौद्रिक नीतियों में किसको अधिक उपयुक्त समझा जाय। साधारण रूप से यह नीतियाँ दीर्घकालीन दृष्टिकोण अपनाती हैं जब कि हमारा सम्बन्ध विशेषतः अल्पकाल से होता है। इसमें मुख्य रूप से, आर्थिक जीवन को चक्रीय उच्चावचनों से बचाने तथा संसाधनों को अधिकतम उपयोग से हमारा सम्बन्ध होता है।

३—तटस्थ (neutral) मुद्रा के उद्देश्य की नीति :

कुछ अर्थशास्त्रियों ने मौद्रिक नीति के एक अन्य उद्देश्य की ओर संकेत किया है। यह लोग वास्तव में आर्थिक व्यवस्था में होने वाले उन उच्चावचनों से बहुत चिन्तित थे जो सामाजिक जीवन को भी अस्त-व्यस्त कर देते हैं। उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार के उच्चावचनों का मूल कारण "मौद्रिक दशायें" होती हैं। इसलिए वे लोग ऐसी मुद्रा-प्रणाली के अपनाये जाने के पक्ष में थे जिसमें मुद्रा 'तटस्थ' अथवा 'सक्रिय' रहती है अथवा वस्तुओं को प्रभावित नहीं करती। उनके विचारानुसार ऐसा बैंकों द्वारा सारी प्रभावपूर्ण मुद्रा (effective money) की मात्रा को और साख की मात्रा को अपरिवर्तनीय बना कर किया जा सकता है। इस नीति को अपनाने के पश्चात् 'आर्थिक क्षमता' की दशा को प्राप्त करके (जिसके फलस्वरूप उत्पादन लागत कम हो जाती है) कीमत स्तर को नीचे गिरने दिया जाता है। इस नीति के अनुसार मुद्रा की मात्रा में तभी वृद्धि होना चाहिए जब मुद्रा की गति में कमी आ जाय, अथवा जब लोगों में अधिक मुद्रा संचित करने की प्रवृत्ति में वृद्धि के कारण मुद्रा की माँग बढ़ जाय। इस प्रकार की नीति के द्वारा विनियोगियों एवं पूँजीपतियों को मिलने वाले लाभों के अतिरिक्त, मजदूरों को वास्तविक मजदूरी अधिक प्राप्त होती है। इसके बजाय कि वे अधिक मौद्रिक आय (money

income) की लगातार माँग करें, यह अच्छा होता है कि उनकी वास्तविक आय को इस प्रकार बढ़ाया जाय। मौद्रिक आय की माँग, जो (मौद्रिक मजदूरी की माँग) प्रायः कीमत-स्तरों के परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती हैं, वास्तव में अमानवीय सम्बन्धों और नेतागीरी को बढ़ाती हैं। पर इस प्रकार की नीति की भी कुछ व्यवहारिक कठिनाइयाँ होती हैं। इसकी सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि बाजारों की वर्तमान अपूर्ण प्रतियोगी दशाओं के अन्तर्गत बढ़ते हुए उत्पादन के प्रतिफल को सामान्य रूप से वितरित नहीं किया जा सकता। एक ही समय में कुछ कारखानों को तो प्रोत्साहन मिलेगा पर दूसरों को मन्दी की दशा का सामना करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इस नीति के अन्तर्गत अनेक प्रकार के भुगतानों के माध्यमों की मात्रा के परिवर्तनों को जानना असम्भव है।

४—आय-स्थिरता अथवा रोज़गार-स्थिरता के उद्देश्य की नीति :

व्यापार चक्रों (Trade Cycles) को मौद्रिक दशाओं का परिणाम मानने वाले अर्थशास्त्रियों ने आयों अथवा रोज़गार में स्थिरता बनाये रखने को ही मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य बतलाया। इन विचारकों ने इस प्रकार के उद्देश्य वाली नीति को अपनाने की सलाह इसलिये दी जिससे साख का अत्यधिक विस्तार न हो सके, क्योंकि उनका विश्वास था कि इसी के कारण ही प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था में चक्रीय उच्चावचन होते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि रोज़गार की अवस्थायें स्थिर रहें, तो आर्थिक जीवन में उच्चावचनों का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह भी बतलाया गया कि ऐसी नीति के कार्यान्वित किये जाने से बैंकिंग प्रणाली आर्थिक परिवर्तनों के (विशेषकर संकुचन की दशाओं के अन्तर्गत) अनुकूल हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि मुद्रा की एक निश्चित मात्रा प्रचलन से बाहर हो जाती है (जैसे उसका संचय कर लिया जाता है) तो इससे विनियोग और मौद्रिक आयों के स्तरों में परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसा होने के तदोपरान्त बैंकों द्वारा साख-विस्तार की नीति के अपनाये जाने की आवश्यकता होती है। इससे आयों एवं विनियोगों को अपने पिछले स्तरों पर लाया जा सकना है। इस प्रकार इन उपायों से व्यापार-चक्रों से प्रभावित होने वाली अवस्थाओं को सुधारा जा सकता है।

परन्तु इस प्रकार के मौद्रिक नीति की कुछ कमियाँ भी हैं। धन के असमान वितरण की वर्तमान दशाओं के साथ आयों को स्थिर बनाने का अर्थ यह होगा कि सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में शोषण की प्रवृत्तियाँ बनी रहें। इसी प्रकार वर्तमान स्तर पर रोज़गार की दशाओं को स्थिर बनाए रखने का अर्थ यह होगा कि आधुनिक आर्थिक प्रणाली में बेरोज़गारी की वास्तविक समस्यायें बनी रहें।

५—पूर्ण रोज़गार एवं अधिकतम उत्पादन की अवस्था को प्राप्त करने की नीति (Policy of securing Full-Employment and maximum production) :

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो इस बात का पता चलेगा कि सभी प्रकार की मौद्रिक नीतियों का किसी न किसी रूप में अन्तिम उद्देश्य दो बातों से सम्बन्धित रहता है : (अ) व्यवस्था में चक्रीय उच्चावचनों को रोकना, और; (ब) रोज़गार की उस दशा को प्राप्त करना, जिसमें समाज में रोज़गार-योग्य सभी साधनों को रोज़गार में लगाया जा रहा हो। कीन्स (Keynes) का 'पूर्ण-रोज़गार' का विचार इसी तथ्य पर आधारित है। अब हम इनकी संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

(अ) **चक्रीय उच्चावचनों को रोकना :** जहाँ तक चक्रीय उच्चावचनों का प्रश्न है, अध्याय ८ में यह बतलाया जा चुका है कि बचत और विनियोग के बीच असमानताओं के कारण ही इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। किसी भी समाज में निश्चित आय पर बचत की मात्रा वहाँ के लोगों की "उपभोग करने की प्रवृत्ति" पर निर्भर करती है। लोगों की यह उपभोग की प्रवृत्ति (propensity to consume) अनेक मनोवैज्ञानिक बातों पर, जो लोगों को खर्च करने अथवा न खर्च करने को बाध्य करते हैं, उनकी आदतों पर तथा अन्य बातों जैसे आय के वितरण, ब्याज की दर, वित्तीय नीतियों आदि पर निर्भर करती है। दूसरी ओर, विनियोग की मात्रा, प्राप्त होने वाले लाभ और ब्याज दरों पर आधारित रहती है। व्यवहारिक जीवन में लोगों में उपभोग की प्रवृत्ति के सम्भावित करने वाली बातें साधारणतया यथास्थिर, रहती हैं। अतः किसी क्षण में उत्पादन (राष्ट्रीय आय) के एक निश्चित मात्रा के साथ 'विनियोग' की मात्रा इतनी होना चाहिये जो आय के उस आधिक्य के बराबर हो, जो समुदाय द्वारा किए जाने वाले व्यय के अतिरिक्त हो। मौद्रिक-नीति के क्षेत्र में विनियोग को ब्याज की दर से नियंत्रित किया जाता है, तो भी 'साम्य' (Equilibrium) की दशा प्राप्त करने हेतु 'प्रभावशाली माँग' (Effective Demand) एवं विनियोग को नियन्त्रण रखने के लिये अमौद्रिक उपाय—जैसे पूँजी प्रसार (capital issue), सार्वजनिक निर्माण (Public works), आदि भी आवश्यक साधन माने जाने लगे हैं।

(ब) **पूर्ण-रोज़गार की अवस्था को प्राप्त करना :** सारे संसार में व्याप्त होने वाली आर्थिक मन्दी (Economic depression) के फलस्वरूप विभिन्न उद्देश्यों को अपनाने वाली उस समय की मौद्रिक नीतियों का वहिष्कार किया गया और व्यापार चक्रों (Trade cycles) को समाप्त करना ही मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य बन गया। मन्दी की दशा समाप्त होने के पश्चात् आर्थिक व्यवस्थाओं के सामने दूसरी समस्या आई। यह समस्या पूर्ण-रोज़गार (full employment) की अवस्था प्राप्त करने की थी। आर्थिक मन्दी की दशा से न केवल आर्थिक

विभिन्नतायें (उच्चावचन) उत्पन्न हो गई थीं, परन्तु इसके साथ-साथ बेरोज़गारी की समस्या उत्पन्न हो गई थी। वास्तव में यह समस्या केवल मन्दी की अवस्था में ही नहीं होती वरन् अन्य समयों में भी होती है, जब कि जनसंख्या का कुछ प्रतिशत बिना रोज़गार के रहता है। ऐसा महसूस किया गया कि यदि पूर्ण-रोज़गार की अवस्था को प्राप्त करने वाली नीति को सब देश एक साथ अपनायें तो इससे एक ही समय 'कीमत-स्थिरता' और 'विनिमय-दर-स्थिरता' की दशा को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में मौद्रिक अधिकारियों का उत्तरदायित्व विशेष रूप से आन्तरिक क्षेत्र में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता इसलिये थी कि अनेक देशों द्वारा अपनाई जाने वाली नीतियों में, जिनसे रोज़गार के उच्च स्तर और बढ़ते हुए जीवन-स्तर को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, समन्वय लाया जा सके।

साधारणतया पूर्ण-रोज़गार की दशा ऐसी अवस्था को सूचित करती है जिसमें अर्थव्यवस्था उस समय से अधिक क्षतिपूर्ण (vulnerable) होती है जबकि उत्पादन के सभी साधनों का उपयोग नहीं हो रहा होता। यह आर्थिक दशाओं की वह अवस्था होती है जब देश में उत्पादन के उपलब्ध सभी साधनों का सदोपयोग उद्देश्य-पूर्ण किया जा रहा हो। यह ऐसी सीमा होती है जिसके पश्चात् और अधिक उत्पादन के लिये साधनों को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। पूर्ण-रोज़गार की दशा के पूर्व की अवस्था समाज के प्रगति की पिछड़ी दशा का सूचक होती है। फिर भी 'पूर्ण-रोज़गार' का विचार इतना सरल व स्पष्ट नहीं है जितना यह साधारणतया समझा या बतलाया जाता है। वास्तव में हमारी रुचि पूर्ण-रोज़गार की अवस्था में नहीं होती, परन्तु साधारण रूप में 'आर्थिक संसाधनों के अधिकतम उपयोग' में होती है। इस प्रकार का उद्देश्य आवश्यक रूप में पूर्ण-रोजगार की स्थित से मेल नहीं खाता है। यह मान लेने पर भी कि आर्थिक संसाधनों का उच्चतम उपयोग हो रहा है, हर समय उपयोग न की जाने वाली निम्न कोटि की भूमि होगी, उपयोग न की जाने वाली बेकार मशीनें होंगी और श्रम-बाजार में बेकार श्रमिक मिलेंगे। यह वे श्रमिक होंगे जो अएच्छिक श्रमिकों व ऐसे श्रमिकों के भी अतिरिक्त होते हैं जो उस समय की मजदूरी-दरों पर काम करने को तैयार नहीं होते।[1] इस प्रकार उत्पत्ति के कुछ साधन यदि बेरोज़गार और बेकार रहते हैं,

1. "Assuming that an optimum utilisation of economic resources has been achieved, there will always remain unused land of lower grades, unused obsolete equipment, and in special fields of the labour market unemployed labour (besides involuntary unemployment there will also remain unused labour power of those who do not want to offer their services at existing wage rates".

तो इसका मतलब यह न होगा कि उत्पादित राष्ट्रीय आय (produced national income) उससे कम होगी यदि उन बेकार साधनों का भी उपयोग हो रहा होता। यदि उत्पत्ति के प्राप्य साधनों के पूर्ण-उपयोग से अथवा उत्पादन में प्राप्य श्रम-समूहों के रोजगार में रहने पर भी (जिससे उच्चतम उत्पादन से कम सामाजिक उत्पादन होता है) उत्पादन के कुछ प्राप्य साधनों को रोज़गार नहीं मिला होता तो भी इस प्रकार की नीति को अपनाना अच्छा होगा। उत्पादन के साधनों के बेरोजगार रहने का एक कारण पूरक-वस्तुओं (complimentary goods) की कमी हो सकती है और इस बात को सिद्ध नहीं करता कि उत्पत्ति बढ़ाई जा सकती है। इसलिए मौद्रिक नीति का उद्देश्य उत्पादन के साधनों को अधिकतम रोज़गार की अवस्थायें दिलाना होना चाहिये, जिसे उच्चतम रोज़गार का स्तर कहा जा सकता है।[1]

इस उच्चतम (optimum) रोज़गार की अवस्था को विनियोग की मात्रा को बढ़ाकर तथा बढ़ते हुये विनियोगों को सहारा देने के लिये उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) में वृद्धि पैदा कर किया जा सकता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, विनियोग की मात्रा वास्तविक एवं भविष्य की अनुमानित लाभ तथा ब्याज की दरों पर आधारित रहती है। उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) में वृद्धि इसलिये आवश्यक होती है क्योंकि एक निश्चित सीमा के पश्चात् विनियोगों को बढ़ता हुआ नहीं रक्खा जा सकता है। ऐसा पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की स्वयं कुछ कमियों के कारण ही होता है। इस प्रकार की प्रणाली के अन्तर्गत उत्पादन नियोजित (planned) नहीं रहता तथा दूसरी ओर यह शोषण (exploitation) पर आधारित रहता है। इससे साधारण लोगों के पास क्रय-शक्ति (purchasing power) की कमी होती जाती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि आर्थिक व्यवस्था में किसी न किसी प्रकार कुछ क्रय-शक्ति नष्ट होती जाती है, और इस प्रकार आय में कमी हो जाने से क्रय-शक्ति का यह भाग बाजार में उपभोग वस्तुओं की माँग को प्रभावित नहीं कर पाती। परन्तु उच्चतम रोजगार की दशा को प्राप्त कराने वाले इन दोनों उपायों में, विनियोगों की वृद्धि का उपाय, जो ब्याज की दर द्वारा प्रभावित होती है, अधिक महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार व्यापार चक्र की दशाओं को समाप्त करने और उच्चतम (optimum) रोज़गार की अवस्था को प्राप्त करने में 'ब्याज की दर' (rate of

---

1. Therefore, the objective of the monetary policy should be to achieve maximum economic employment of the resources, called as the level of optimum employment". Halm—Monetary Theory, p. 439.

interest) का मुख्य स्थान होता है। कीन्स (Keynes) के 'बचत, विनियोग एवं रोजगार' सम्बन्धी विचार प्रकाशित होने के पश्चात् मौद्रिक नीति का उद्देश्य चक्रीय उच्चावचनों को समाप्त करके आर्थिक व्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखना तथा उत्पादन के साधनों को अधिक से अधिक रोजगार में लगाना बन गया। इस सम्बन्ध में आर्थिक विचारधाराओं के अन्तर्गत मौद्रिक नीति का उद्देश्य व्यापार चक्रों के उतार-चढ़ावों (उच्चावचनों) को रोकना और पूर्ण रोजगार के स्तर पर विनियोग और बचत के मध्य समन्वय लाना है।[1] आधुनिक अर्थशास्त्री कीन्स (Keynes) द्वारा बताये गये मौद्रिक नीति के इसी उद्देश्य से ही सहमत हैं।

मौद्रिक नीति में ब्याज की दर का स्थान :

मौद्रिक नीति के उचित उद्देश्य का विवेचन हमारा ध्यान उन साधनों की ओर भी ले जाता है जिससे उन उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है। साख-नियन्त्रण, मुद्रा की पूर्ति का नियमन तथा विनिमय-स्थिरता को बनाये रखना आदि ऐसे कुछ उपाय हैं जिनके द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सकती है। विनियोगों की मात्रा, जिसके द्वारा आर्थिक जीवन के उच्चावचनों को रोका जा सकता है तथा उच्चतम रोजगार की अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है, स्वयं ब्याज की दर से प्रभावित होती है। ब्याज की दरों में परिवर्तन द्वारा विनियोग और बचत के बीच समन्वय स्थापित किया जा सकता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, कभी-कभी तो ब्याज की दरों में भारी परिवर्तन करना इसलिये अति आवश्यक हो जाता है जिससे कि व्यापार चक्रों के अमौद्रिक कारणों पर नियन्त्रण किया जा सके। प्रत्येक देश में ब्याज की दरों को बैंक-दर (Bank-rate) के परिवर्तनों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। यह दर केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रथम श्रेणी के बिल एवं प्रतिभूतियों पर वसूल की गई बट्टे की दर होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुद्रा, कीमत एवं ब्याज-दर के सम्बन्ध में विवेचन इंगलैण्ड में 'बैंकिंग' तथा 'चलन-मुद्रा' मतों के विचारकों के बीच में होने वाले विचार के रूप में होता रहा है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों (classical economists) का विश्वास था कि मुद्रा के परिमाण का बाजारों में ब्याज के दर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनका विचार था कि बैंकों द्वारा वसूल की जाने वाली ब्याज की दर लाभ के उस दर के बराबर होती है जो उधार ली गई रकम के विनियोग करने से प्राप्त होती है। परम्परावादियों के अनुसार ब्याज की दर

1. "The object of having a monetary policy should be to reduce the ebb and flow of the trade cycles and bring about equilibrium between savings and investment at the point of full employment".

किसी देश में पूँजी की माँग और उसकी पूर्ति को बराबर करती है। उनका विश्वास यहाँ तक था कि यदि विभिन्न राष्ट्रों के बीच पूँजी को बिना किसी नियन्त्रण के आने-जाने दिया जाय, तो इसके फलस्वरूप सारे संसार में ब्याज की एक ही दर समान रूप से स्थापित हो जायेगी। इस प्रकार इन विचारकों ने अपना सम्बन्ध साधारणतया दीर्घकालीन प्रवृत्तियों से ही रक्खा और उन्होंने ब्याज को पूँजी की माँग एवं दीर्घकाल में पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने के लिये एक साधन माना। कीन्स (Keynes) ने इस विचार-क्षेत्र पर 'मौलिक' परिवर्तन किया है। उनके विचारों के फलस्वरूप ब्याज को 'तरलता-वरीयता' (Liquidity preference) की कीमत समझा जाने लगा; क्योंकि तरलता-वरीयता (मुद्रा-पसन्दगी), अन्य बातों के अतिरिक्त, एक ओर मुद्रा के परिमाण पर एवं दूसरी ओर भविष्य में मिलने वाली ब्याज की सम्भावनाओं पर निर्भर करता है। अत: अल्पकालीन ब्याज की दरें एवं उनके फलस्वरूप ब्याज पर दी गई रकमों का पूँजीगत-मूल्य मौद्रिक अधिकारियों द्वारा अपनाई गई मौद्रिक नीति से बहुत प्रभावित होती हैं। इस प्रकार, कीन्सवादी (Keynesian) विचार के अनुसार ब्याज की दर का, मुद्रा के परिमाण द्वारा, उत्पादन, रोजगार एवं विनियोग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध समझा गया है।

किसी देश के आर्थिक जीवन में ब्याज के महत्व के सम्बन्ध में, कीन्स द्वारा साधारण सिद्धान्त (General Theory) के प्रतिपादन के काफी समय पूर्व से, ऐसा समझा जाता रहा है कि केन्द्रीय बैंक (Central Bank) अपने बैंक-दर (Bank-rate) के परिवर्तनों एवं अन्य साख-नियन्त्रण के उपायों द्वारा आर्थिक व्यवस्था का नियमन कर सकते हैं तथा उनमें मौद्रिक व अमौद्रिक कारणों से होने वाले चक्रीय उच्चावचनों को दूर कर सकते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात्, उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के अन्त एवं तीसरे दशक के प्रारम्भ में, केन्द्रीय बैंक द्वारा अपनाये जाने वाले साख नियन्त्रण के ऐसे उपायों का महत्व काफी बढ़ गया। परन्तु कीन्स ने अपने सामान्य सिद्धान्त (General Theory) में इस बात का तर्क प्रस्तुत किया कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं के लिये चक्रीय उच्चावचनों की समस्या इतनी गम्भीर नहीं है जितनी गम्भीर इनमें पूर्ण-वृत्ति (Full Employment) से निम्न स्तर पर साम्य (equilibrium) की दशा स्थापित होने की समस्या पाई जाती है। उनके अनुसार यह ब्याज की कम दर पर विनियोगों को प्रोत्साहन देकर (सस्ती मुद्रा की नीति) तथा उसके साथ ही साथ लोगों के व्यय को बढ़ा कर ठीक किया जा सकता है। इसके फलस्वरूप रोजगार की अवस्थायें बढ़ जाती हैं। "यदि विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को बेरोजगारी की समस्या से बचाना है, तो उनमें घाटे के बजट (हीनार्थ वित्तीय प्रबन्ध) एवं नीची ब्याज की दरें आवश्यक

रूप में अपनाई जाना चाहिये।[1] अवसाद की दशाओं के अनुभवों ने केन्द्रीय बैंकों को इसके लिये मजबूर कर दिया कि वे बैंक दर (Bank rate), जो अल्पकाल से प्रायः सम्बन्धित होता है, के स्थान पर दीर्घकालीन ब्याज की दरों पर जोर डालें, क्योंकि व्यावसायिक बैंकों के पास सरकारी पत्रों के अनुपात में व्यावसायिक पत्रों की मात्रा काफी बढ़ गई थी। इसके साथ ही बैंकों के पास निक्षेपों के अधिक होने के कारण नकदी मात्रा अधिक हो गई थी जिसकी माँग (विनियोगों के लिये) नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्ण-वृत्ति (Full-Employment) की दशा को प्राप्त करने के लिये घाटे के बजटों द्वारा सार्वजनिक व्यय बढ़ाया जाने लगा।

मौद्रिक नीति में सस्ती मुद्रा का स्थान : 'सस्ती मुद्रा नीति' का अभिप्राय साख की ऐसी नीति से होता है जो ब्याज की दर को नीची रख कर व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहन देती है। ब्याज की दर को निम्न स्तर पर उपयुक्त बैंकिग नीति द्वारा तरलता (नकदी) को बढ़ाकर, जिसकी बाजारों में माँग होती है, बनाये रखा जा सकता है। उपयुक्त बैंकिग नीति को उस समय तक प्रतीक्षा करके जब तक व्यावसायिक दशा (प्रगतिशील नीति को बनाये रखने के लिये बिना असामायिक एवं असाधारण प्रोग्राम को अपनाये बिना) नहीं सुधरती तथा सरकारी खजानों द्वारा चाही नीति के प्रति विश्वास पैदा करके संचालित किया जा सकता है। अवसाद (मन्दी) काल में ऐसी ही नीति प्रचलित रही है। द्वितीय महायुद्ध के समय तक अधिकतर देशों ने, उपरोक्त वर्णित मौद्रिक नीतियों के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये, ऐसी ही नीति को अपनाया। कम ब्याज पर मुद्रा को सस्ती बनाने की नीति का सुझाव केवल अवसाद (मन्दी) की दशाओं को दूर करने के लिये ही नहीं दिया गया, परन्तु इसका सुझाव मौद्रिक सुधार के एक उपाय के रूप में एवं सार्वजनिक ऋण के भारी भार को कम करने के लिये भी दिया गया।

इतना सब होते हुये भी, चक्रीय उच्चावचनों को दूर करने तथा पूर्ण वृत्ति की स्थिति को प्राप्त करने के लिये, इस प्रकार की नीति (सस्ती मुद्रा) की क्षमता के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किये गये हैं (अथवा सन्देह प्रगट किया गया है)। सस्ती मुद्रा की दशाओं के साथ-साथ हीनार्थ प्रबन्धन (deficit financing) द्वारा सार्वजनिक व्यय का बढ़ना आवश्यक होता है। परन्तु इसका प्रभाव स्फीतिकारी होता है। क्या इस प्रकार की दशा काफी समय तक रह सकती है? यदि नहीं, तो सरकारें किस प्रकार सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी सेवाओं, राष्ट्रीय सुरक्षा एवं कीमतों को बनाये रखने वाले आश्वासनों को पूरा कर सकती हैं? इसके साथ ही सस्ती मुद्रा

---

1. "Deficit budget and low rates of interest must become permanent features of advanced capitalistic economies, if they were to escape recurrence of unemployment".

नीति (नीची ब्याज की दर द्वारा) एवं हीनार्थ व्यय (deficit spending) के फलस्वरूप कम-उपभोग (under-consumption) के स्थान पर अत्यधिक-व्यय (over-spending) अथवा अल्प-बचत (under-saving) की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। यदि आर्थिक दशा को ऐसी अवस्था से बचाना है तो ब्याज की दर को अपने आप ऐसे स्तर पर व्यवस्थित होने देना चाहिये जिस पर ऋण-दाता (lender) की सीमांत बचतों की लागत उस कीमत के बराबर होती है जिस पर सीमांत विनियोग-कर्ता (marginal-investor) उस रकम को पूर्ण-वृत्ति की स्थित पर विनियोग के लिये लेना चाहेगा।

फिर भी, सस्ती मुद्रा की दशाओं पर महत्व, विशेषकर कीन्स द्वारा, बढ़ता गया। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने के पश्चात्, कीन्स ने इस बात को स्पष्टतया अस्वीकार किया कि ब्याज की बढ़ती हुई दर की नीति त्यागने योग्य नहीं होती। इसकी पुष्टि में कीन्स ने बतलाया कि: (क) पूर्ण-वृत्ति की स्थिति के अभाव में रोजगार की बढ़ती हुई दशाओं के फलस्वरूप बढ़ती हुई आयों से बचतें बढ़ती हैं; (ख) पूर्ण-वृत्ति की दशा आ जाने के पश्चात् उपभोग के साधनों के परिवर्तनों को कर-व्यवस्था एवं उपभोग-नियंत्रण (rationing) द्वारा ब्याज की दरों में वृद्धि की अपेक्षा, अधिक आसानी से रोका जा सकता है तथा; (ग) सरकारी कार्यों के लिये पूंजी की आवश्यकता को प्राथमिकता के आधार पर एवं बाज़ार में साख के निर्माण को नियंत्रित करके पूरा किया जा सकता है। योरुप में सस्ती मुद्रा की दशाओं को राशनिंग एवं कीमत-नियंत्रण द्वारा, पैदा किया जा सका था। योरुप के अतिरिक्त अन्य देशों में लाभ की सम्भावनाओं में एवं अंशों (shares) के मूल्यों में कमी हो जाने के कारण ब्याज की दरें नीची हुई थीं।

युद्ध की समाप्ति के पश्चात्, सस्ती-मुद्रा की नीति का महत्व और भी बढ़ने लगा। एक ओर, कुछ लोगों ने यह महसूस किया कि सस्ती मुद्रा प्रणाली को, जो अभी तक केवल व्यवस्थित मुद्रा-बाजार (money market) तक सीमित रक्खी जाती थी, अब समाज के अन्य क्षेत्रों में भी अपनाना चाहिये। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि क्योंकि सार्वजनिक व्यय में कमी हो जाने के कारण सरकार द्वारा मुद्रा की माँग में काफी कमी की सम्भावना है, अतः व्यवस्थित मुद्रा-बाजारों के क्षेत्र में ही सस्ती-मुद्रा की दशाओं को सीमित रखने से मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। दूसरी ओर ऐसे भी कुछ लोग थे जिन्होंने इस प्रकार की नीति के बहिष्कार करने की सलाह दी। इनके विचार थे कि युद्धोत्तर काल में अनेक नई समस्यायें पैदा हो गई थीं, जिनके उपचार के लिये इस बात की आवश्यकता थी कि ब्याज की दरों में परिवर्तन करके

महंगी-मुद्रा नीति (dear money policy) अपनाई जाय। युद्धोत्तर काल में अनेक देशों के अनुभवों ने इस बात की पुष्टि की कि सस्ती-मुद्रा का महत्व घट रहा था। अधिकांश योरुपीय देशों ने (स्कैन्डिनेवियन देशों को छोड़कर) मुद्रा-स्फीति की दशाओं से बचने के लिये ब्याज-दरों के उपयोग का सहारा लिया, जब कि कुछ देशों ने आन्तरिक वित्तीय समस्याओं को सुलझाने के लिये भौतिक नियंत्रण (राशनिंग एवं कंट्रोल) द्वारा तथा बजटों के बचतों को बढ़ाकर नई बचतों को प्रोत्साहित करके विनियोग एवं उपभोग को नियंत्रित किया। अन्य देशों ने साख-नियंत्रण के सहयोग के साथ उच्च ब्याज की दरों का सहारा लिया।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मौद्रिक नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये जो उपाय अपनाये जाते हैं वे देश की परिस्थितियों पर निर्भर करते हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किसी एक देश को सस्ती-मुद्रा नीति एवं दूसरे को महंगी-मुद्रा नीति अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती है। भारत की जैसी नियोजित अर्थव्यवस्था में, जिसका उद्देश्य प्राप्त संसाधनों का अधिकतम उपयोग और उच्चतम परिणामों के लिये उनका उपयुक्त वितरण करना है, ऐसी मौद्रिक नीति को अपनाना जरूरी है जिसके द्वारा संसाधनों का उपयोग योजना के लक्ष्यों के आधार पर होता हो। नियोजित अर्थव्यवस्था में वित्तीय एवं मौद्रिक नीतियाँ योजना की आवश्यकताओं के अनुसार नियमित रहती हैं और मौद्रिक नीति आर्थिक नीति के सामूहिक उद्देश्यों द्वारा नियंत्रित रहती है। तो भी ऐसी नीति का अप्रत्यक्ष उद्देश्य आर्थिक स्थिरता की दशाओं को प्राप्त करना होता है।

मौद्रिक नीतियों की सीमायें :

मौद्रिक नीति की व्याख्या मुख्य रूप से अल्पकाल से सबंधित है, क्योंकि अल्पकाल में ही मौद्रिक तत्वों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है, तथा मुद्रा का मूल्य एवं आय का वितरण विशेष रूप से परिवर्तित होता है। इस प्रकार दीर्घ-कालीन आर्थिक विश्लेषण के लिये मौद्रिक साधनों की व्याख्या को भुलाया नहीं जा सकता परन्तु इसके लिये ऐसे दीर्घकालीन आर्थिक प्रवृतियों को बतलाना कठिन होता है जो प्रयोगिक संस्थापक एवं आकार परिवर्तनो जैसे वास्तविक साधनों से प्रभावित होते हैं। इसके अतिरिक्त, यद्यपि मौद्रिक नीति एवं सार्वजनिक नीति को अलग-अलग नहीं रक्खा जा सकता है, पर यह नहीं समझना चाहिए कि मौद्रिक नीति का तुरन्त एवं पूर्ण रूप से सार्वजनिक नीति के साथ समन्वय किया जा सकता है। विश्लेषण के अनेक साधनों की भाँति मौद्रिक नीति सही निष्कर्ष निकालने का एक तरीका है। उस सीमा तक यदि मौद्रिक नीति को व्यापकता एवं व्यवहारिकता

के आधार पर सोचा या समझा जाता है तो यह आर्थिक नीति के निर्देशन का एक अच्छा साधन भी बन सकती है। ऐसी मौद्रिक नीति, जो व्यवहारिकता के सिद्धान्त पर आधारित रहती है, आर्थिक स्थिरता प्रदान करने में काफी सहायता प्रदान करती है। परन्तु इसके अन्तर्गत वित्तीय एवं अन्य उपायों का भी समावेश होना चाहिये। अपर्याप्त उत्पादन एवं असमान वितरण जैसी बुराइयों से समाज को बचाने के लिये, वित्तीय नीतियों को अमौद्रिक नीतियों का पूरक होना चाहिये क्योंकि इन बुराइयों को केवल मौद्रिक नीति द्वारा ही दूर नहीं किया जा सकता है।

निर्देश पुस्तकें

K. Kurihara : Monetary Theory & Public Policy, Introduction.
J. M. Keynes : Monetary Reform, Ch. X.
D. H. Robertson : Money.
G. N. Halm : Monetary theory, Ch. X.
A. H. Hanson : Monetary Theory & Fiscal Policy, Chs. XI&XII.
Gr. Crowther : An Outline of Money, Ch. VI.
Mitra & Roy : A Tract on Money Ch. XVII.

अध्याय १५

रोजगार का सिद्धान्त

परम्परावादी (classical) अर्थशास्त्रियों ने बेरोजगारी की समस्या के अध्ययन को विशेष महत्व नहीं दिया। वास्तव में वे इसे एक अस्थायी समस्या मानते रहे और समझते रहे कि अर्थव्यवस्था स्वयं संतुलन की स्थिति प्राप्त कर लेती है। इसके लिये उन्होंने सरकारी आर्थिक नीति का भी कोई महत्व नहीं समझा। परन्तु पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बेरोजगारी की समस्या दिन-प्रति-दिन गम्भीर होती गई। कार्लमार्क्स (Karl Marx) ने तो इसके समाधान के लिये 'समाजवादी अर्थ व्यवस्था' (Socialistic Society) की बात कही, पर कीन्स (Keynes) ने इसके लिये अपनी 'जनरल थ्योरी' (General Theory) का प्रतिपादन किया। कीन्स ने अपनी 'मुद्रा, ब्याज एवं रोजगार की जनरल थ्योरी' (General Theory of Employment, Interest & Money) नामक पुस्तक द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की कि वृहत् (सामूहिक) अर्थशास्त्र (macro-economics) के आधार पर आय-बचत-विनियोग के बीच उपयुक्त सम्बन्ध बनाये रखकर रोजगार की निश्चित दशा लाई जा सकती है। ऐसा करने में सरकार की आर्थिक व मौद्रिक नीति का विशेष महत्व होता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि रोजगार की दशा वस्तुओं व सेवाओं के प्रभावशाली माँग (effective demand) पर निर्भर होती है, और प्रभावशाली माँग उपभोग एवं विनियोग की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है।

कीन्स ने अपनी 'जनरल थ्योरी' बतलाने के लिये बचत, विनियोग, बेरोजगारी आदि की विस्तृत व्याख्या की है। इनके बीच सम्बन्ध समझाते हुये कीन्स की 'जनरल थ्योरी' को स्पष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि राष्ट्र के संदर्भ में आय, बचत, विनियोग एवं रोजगार आदि शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या की जाय।

आय (Income)

किसी समय विशेष में राष्ट्रीय आय उन वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक-मूल्य (कीमत) द्वारा सूचित की जाती है जो उस समय-विशेष में उपभोग के लिये उपलब्ध होती है। ऐसा मूल्य उसकी वर्तमान बिक्री-कीमत पर निकाला जाता

है। इसमें पूंजी की उस वृद्धि को जोड़ा जाता है जिसका मूल्य नये पूंजीगत माल की कीमत के रूप में चुकाया जा चुका है। इसमें से प्रस्तुत पूंजीगत माल के अवक्षयण (depreciation) और पुराने पड़ने (obsolescence) के व्यय को निकाल दिया जाता है तथा इस प्रकार के जोड़ और घटाने की कीमत भी चालू कीमतों के आधार पर आंकी जाती है।[1] प्रो० कालिन क्लार्क द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय आय का यह विचार काफी अंशों में पीगू के उस दृष्टिकोण के काफी निकट है, जो उन्होंने राष्ट्रीय लाभांश (National Dividened) को व्यक्त करने में अपनाया है। इस सम्बन्ध में मार्शल एवं फिशर के विचार भी उल्लेखनीय हैं। मार्शल (Marshall) के अनुसार 'देश का श्रम और पूंजी उसके प्राकृतिक स्रोतों पर कार्य करते हुए प्रति वर्ष भौतिक तथा अभौतिक वस्तुओं के शुद्ध योग, जिनमें सभी प्रकार की सेवायें सम्मिलित होती हैं, का उत्पादन करते हैं। यह देश की वास्तविक शुद्ध आय या राष्ट्रीय लाभाँश कहलाता है।"[2] इस परिभाषा की व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण ही पीगू (Pigou) ने दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। उनके अनुसार "राष्ट्रीय आय किसी देश की वास्तविक आय का, जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित होती है, वह अंश है जिसका माप मुद्रा में किया जा सकता है।"[3] यद्यपि मार्शल की अपेक्षा पीगू का यह विचार व्यवहारिक एवं संकुचित है, पर तार्किक दृष्टि से इसको उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। इसीलिये फिशर (Fisher) ने इसको और भी अन्य प्रकार से परिभाषित किया। उनके अनुसार "राष्ट्रीय आय में केवल अन्तिम उपभोक्ताओं के द्वारा उपलब्ध की जाने वाली सेवाओं का, चाहे उनकी प्राप्ति भौतिक अथवा मानवीय पर्यावरण से हुई हो,

---

1. "The national income for any period consists of money value of goods and services becoming available for consumption during that period, reckoned at their current selling value, plus additions to capital reckoned at the prices actually paid for the new capital goods minus depreciation and obsolescence of existing capital goods and adding the net accretion of, or deducting the net drawing upon stocks, also reckoned at current prices."

Colin Clark—The National Income— p. 1-2.

2. "The labour & capital of the country, acting on its natural resources, produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial including services of all kinds. This is the true net annual income or the national dividened."

Marshall— Principles of Economics p. 523.

3. "National Dividened is that part of the objective income of the community, including of course income derived from abroad, which can be measured in money." A. C. Pigou— Economics of welfare.

समावेश होता है।[1] परन्तु कुल राष्ट्रीय उपभोग की मात्रा का सही-सही गणना कर पाना सम्भव नहीं है। आधुनिक विचारधारा पीगू व क्लार्क द्वारा दी गई राष्ट्रीय आय की परिभाषाओं को ही अपनाने की है। यहाँ पर यह बतला देना उचित होगा कि क्लार्क (Clark) के अनुसार ऐसी सेवाओं का मौद्रिक-मूल्य, जो राज्य द्वारा बिना लाभ के आधार पर प्रदान की जाती हैं (जैसे डाक-तार सम्बन्धी सेवायें), वास्तविक भाड़ों की दर पर निकाली जाती हैं। इसी प्रकार जब वस्तुओं पर कर लगाये जाते हैं, तो उन वस्तुओं की कीमत निकालते समय इन करों की आय की मात्रा को बिक्री-मूल्य में शामिल नहीं किया जाता है। भारतीय राष्ट्रीय-आय जाँच विशेषज्ञ डा० वी० के० आर० वी० राव ने भी इसी से मिलता-जुलता विचार अपनाया है। उनके अनुसार राष्ट्रीय आय वस्तुओं और सेवाओं की धारा के मौद्रिक मूल्य द्वारा सूचित होती है।[2] उनके विचार में सभी कीमतें चालू कीमतों के आधार पर आंकी जाती हैं और उन आयातों की कीमत शामिल नहीं की जाती है जो बिक्री के लिये प्राप्त हैं अथवा जो बेची जाती हैं। इस प्रकार वस्तुओं और सेवाओं का जो मौद्रिक मूल्य निकाला जाता है उसमें से निम्न मदों को निकाल दिया जाता है :—

१— समय विशेष में पूंजीगत माल के अवक्षयण व्यय का मौद्रिक मूल्य;

२— ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो उत्पादन कार्य में व्यय की गई हैं;

३— ऐसी वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य जो वर्तमान पूंजी स्टाक को बनाये रखने के लिये उपयोग की गई हैं;

४— राज्य को परोक्ष करों से प्राप्त होने वाली आय;

५— व्यापाराशेष की अनुकूलता की मौद्रिक कीमत;

६— देश के विदेशी ऋण की शुद्ध वृद्धि।

राष्ट्रीय आय के नापने का तरीका : किसी भी देश की आय को अनेक विधियों से मापा जा सकता है : उत्पत्ति गणना (Census of Production) द्वारा; (ब) आय गणना (Census of Income) द्वारा; (स) व्यवसायिक गणना (Occupational Census) द्वारा, तथा (द) उत्पादन व आय गणना (Produc-

---

1. ...... National dividened or income, consists solely of services as received by ultimate consumer, whether from their material or from their human enviorenment ".... The Nature of Capital & Income, p. 104.

2. Dr. V. K. R. V. Rao— The National Income of British India.

tion & Income Census) द्वारा। पहली प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग या फर्म के 'शुद्ध उपज' (net product) को सम्मिलित किया जाता है। यह शुद्ध उपज निर्मित पदार्थों में उत्पन्न किए गए मूल्य को बतलायेगी। राष्ट्रीय आय को निकालते समय इसमें से वार्षिक अवक्षयण एवं मशीनों की मरम्मत और उनके बदलने का व्यय निकाल देना पड़ेगा। दूसरी रीति के अनुसार देशवासियों की आय का योग निकाला जाता है। यह कार्य देश के सभी परिवारों की आय की अलग-अलग गणना करके किया जा सकता है। व्यावसायिक गणना प्रणाली में लोगों की आय की उनके व्यवसायों के अनुसार गणना की जाती है। इसमें विभिन्न प्रकार के उत्पादक कार्यों में लगे हुये व्यक्तियों की आयों को आंका जाता है और इन सब का जोड़ राष्ट्रीय आय कहलाती है। चौथी प्रणाली में आय-गणना एवं उत्पादन-गणना दोनों की क्रमों को एक ही साथ उपयोग किया जाता है। इसी प्रणाली का प्रयोग डा० राव ने भारत में किया है।

यह विवाद-पूर्ण विषय है कि राष्ट्रीय आय को नापने की कौन सी विधि सबसे अच्छी है। ऐसा प्रायः बतलाया जाता है कि उत्पत्ति-गणना प्रणाली और व्यावसायिक गणना प्रणाली में एक ही आय को एक से अधिक बार गिनने की सम्भावना बराबर रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि सावधानी से काम लिया जाता है तो प्रत्येक से एक से ही फल प्राप्त होते हैं, किन्तु सबसे अधिक प्रचलन उत्पत्ति-गणना का ही है।

आय-व्यय का क्रम : हम जो कुछ उत्पन्न करते हैं अथवा जो सेवा प्रदान करने की इच्छा हम रखते हैं, उसे बेच लेने की सम्भावना के आधार पर किया जाता है। आय के उत्पन्न होने की विधि ही यह है कि कोई व्यक्ति सामाजिक उपज की मात्रा में वृद्धि करता है और इस प्रकार वह उत्पत्ति के साधनों का भुगतान करता रहता है। उपज में वृद्धि करने से आय को उत्पन्न किया जाता है, जो उत्पत्ति के साधनों की किये गये भुगतान की मात्रा के बराबर होती है। इस प्रकार सारे समाज की मौद्रिक आय सारे समाज के मौद्रिक व्यय के बराबर होती है। कीन्स ने ठीक ही लिखा है कि 'एक व्यक्ति का व्यय दूसरे की आय होती है'। जिस व्यक्ति को आय प्राप्त होती है वह भी उसे व्यय करता है और दूसरों की आयों को उत्पन्न करता है। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता है।

पर प्रत्येक बार जब एक व्यक्ति अपनी आय को व्यय करता है, आय के एक भाग को भावी उपयोग के लिये बचा लेता है। इस प्रकार की प्रकृति के निरन्तर चालू रहने से समाज की कुल आय एवं कुल-व्यय में काफी विभिन्नता

पैदा हो जाती है। इसको एक उदाहरण द्वारा अच्छी तरह से समझाया जा सकता है। यदि एक व्यक्ति को २००) वेतन के रूप में मिलते हैं, और वह अपनी इस आय में से १०% बचा कर भविष्य में उपयोग के लिये रख लेता है तथा शेष को खर्च कर देता है तो उसकी स्थिति इस प्रकार होगी : २०० रु० आय = २० रु० बचत + १८०रु० व्यय। इस व्यक्ति का व्यय दूसरों की आय होगी। यदि यह १८०) एक ही व्यक्ति को आय के रूप में मिलते हैं और उस व्यक्ति में भी १०% आय बचाने की प्रवृत्ति है तो उसकी स्थिति इस प्रकार होगी : १८० रु० आय = १८ रु० बचत + १६२ रु० व्यय। ठीक इसी प्रकार यह १६२ रु० अन्य व्यक्तियों की आय होगी : अतः १६२ रु० आय = १६.२० रु० बचत + १४५.८० रु० व्यय। यह क्रम बराबर चलता रहेगा और प्रत्येक बार आय, व्यय एवं बचत की मात्रायें घटती जायेंगी। यदि व्यय का यह चक्र १० बार चलता है तो २०० रु० के प्रारम्भिक आय के फलस्वरूप व्यय कई गुना अधिक हो जायेगा। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :

चक्र	आय	बचत १०%	व्यय ९०%
१	२०० (प्रारम्भिक)	२०	१८०
२	१८० (आय)	१८	१६२
३	१६२ ,,	१६.२०	१४५.८०
४	१४५.८० ,,	१४.५८	१३१.२२
५	१३१.२२ ,,	१३.११	११८.१०
६	११८.१० ,,	११.८१	१०६.२९
७	१०६.२९ ,,	१०.६३	९५.६६
८	९५.६६ ,,	९.५६	८६.१०
९	८६.१० ,,	८.६१	७७.४९
१०	७७.४९ ,,	७.७५	६९.७४
	२०० प्रारम्भिक आय	१३०.२२	११७०.४०

लोगों द्वारा उपयोग की जाने वाली वस्तुओं व सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय दो बातों पर निर्भर करता है : लोगों की कुल आय, (२) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)। लोगों की कुल आय से अभिप्राय 'प्रारम्भिक आय' तथा उसके फलस्वरूप होने वाली 'क्रमागत आय' से है। 'उपभोग की प्रवृति' का आशय आय के उस भाग से होता है जो उपभोग के लिये व्यय किया जाता है। आय की वृद्धि के साथ-साथ उपभोग पर किया गया खर्च बढ़ता जाता है, क्योंकि उपभोग की प्रवृति में कोई परिवर्तन नहीं होता है। उपभोग की प्रवृति में परिवर्तनों

के कारण आय में परिवर्तन नहीं होते। इसमें परिवर्तन 'विनियोग' में परिवर्तन होने के कारण ही होते हैं।

बचत (Saving)

साधारण रूप में बचत आय और व्यय के अन्तर के बराबर होती है। प्राप्त आय में से उपभोग पर व्यय करने के पश्चात् जो कुछ शेष रहता है वह बचत को सूचित करता है। कीन्स ने अपनी पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest & Money' में 'बचत' की विस्तृत व्याख्या की है। उनके अनुसार "उपभोग पर व्यय के ऊपर आय का अतिरिक्त ही बचत है"।[1] उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति की आय १००० रुपये है और यदि उसका उपभोग पर व्यय ८०० रुपये है, तो उसकी बचत २०० रुपये हुई। जब कोई व्यक्ति बचत करता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसने अपना उपभोग बन्द कर दिया है। वह केवल उपभोग को स्थगित कर देता है और ऐसा करने में वह आय के उस भाग को, जिसकी बचत कर ली गई है, भविष्य में व्यय करने का अधिकार प्राप्त कर लेता है। कीन्स द्वारा बतलाई गई बचत की परिभाषा आर्थिक व्यवस्था में कुल बचत को विवेचना के लिये समान रूप से उपयुक्त है। दोनों ही स्थितियों में बचत, आय और उपभोग पर व्यय के अन्तर के बराबर है। यदि समाज की कुल आय ५०० करोड़ रुपये है जिसमें से उपभोग पर ४०० करोड़ रुपये खर्च किये जाते हैं तो बचत १०० करोड़ रुपये होगी।

यद्यपि व्यक्तिगत बचत और समाज की बचत एक ही शब्दों में परिभाषित की गई हैं और समाज की बचत समाज की विभिन्न व्यक्तिगत इकाइयों की बचतों के परिणाम है, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तिगत बचत से सामाजिक बचत में भी वृद्धि हो। यह सम्भव है कि जब कि एक व्यक्ति बचत करता हो तो दूसरा इसकी विपरीत दिशा में कार्य करता हो। यदि एक व्यक्ति मकान खरीदता है तो कोई दूसरा उसे बेचता है। यहां पहले व्यक्ति ने तो बचत की है, परन्तु दूसरे ने विपरीत दिशा में कार्य किया है। ऐसी दशा में एक व्यक्ति की बचत दूसरे व्यक्ति की विरोधी कार्यवाही द्वारा रद्द हो जाती है और समाज के दृष्टिकोण से कुछ भी बचत नहीं हो पाती है। समाज द्वारा तो बचत तभी हो सकेगी जब एक व्यक्ति की बचत किसी दूसरे की विरोधी कार्यवाही से रद्द न होने पाये।

---

1. "Saving means the excess of income over expenditure on consumption".
Keynes— General Theory of Employment, Interest & Money, p. 61

विनियोग (Investment)

'विनियोग' आय का वह भाग होता है जो उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन के द्वारा अर्जित नहीं हुआ हो। कीन्स के विचारानुसार कुल उत्पत्ति का मूल्य कुल आय के बराबर होता है तथा कुल आय उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय और विनियोग-उत्पत्ति के बराबर होती है। उन्होंने लिखा है कि "इस से हमारा अभिप्राय एक काल के भीतर होने वाली उत्पादक क्रियाओं के परिणाम स्वरूप पूँजीगत वस्तुओं के मूल्य में होने वाली चालू वृद्धि से होना चाहिये।" इस प्रकार विनियोग वर्तमान उत्पत्ति का वह भाग होता है जो उपभोग-वस्तुओं के मूल्य से अधिक होता है। डिलर्ड ने और सरल भाषा में कीन्स के विचार को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "वास्तविक पूँजीगत आदेयों के वर्तमान स्टाक में वृद्धि ही विनियोग है"। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कीन्स ने विनियोग शब्द का प्रयोग वित्तीय-विनियोग के अर्थ में नहीं किया है। उदाहरणार्थ प्रतिभूतियों को सट्टे-बाजार में क्रय करने को भी विनियोग कहा जा सकता है, परन्तु कीन्स के विचार के आधार पर इसको ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे वास्तविक पूँजी में वृद्धि नहीं होती।

'विनियोग' दो प्रकार का हो सकता है: ऐच्छिक (Voluntary) अथवा अनैच्छिक (Involuntary)। जब व्यवसायी भविष्य में कीमतों में परिवर्तनों के फलस्वरूप होने वाले लाभ की आशा से योजनानुसार 'विनियोग' बढ़ाता है, तो इसे 'ऐच्छिक विनियोग' के नाम से जाना जाता है। परन्तु, जब व्यवसाइयों के पास, बाजार की अनेक दशाओं के कारण, उत्पादन का एक भाग बिकने से बच रहता है तो यह 'अनैच्छिक विनियोग' कहलाता है। कीन्स ने इसी को तरल पूँजी का इकट्ठा होना बतलाया है।

आय-बचत-विनियोग का सम्बन्ध

कीन्स ने अपनी पुस्तक 'General Theory of Employment, Interest & Money' में आय-बचत-विनियोग का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये यह बतलाया है कि रोजगार का स्तर प्रभावशाली माँग (Effective Demand) पर निर्भर होता है, और प्रभावशाली माँग उपभोग तथा विनियोग की मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। उनके अनुसार कुल उत्पत्ति का मूल्य कुल आय के बराबर होता है तथा कुल आय उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन से प्राप्त होने वाली आय और विनियोग-उत्पत्ति (Investment Output) के योग के बराबर होती है। इस प्रकार विनियोग वर्तमान उत्पत्ति का वह भाग होता है जो उपभोग की वस्तुओं के मूल्य से अधिक होता है।

इसलिये यह दोनों बराबर होंगे, क्योंकि बचत और विनियोग दोनों ही उपभोग पर समान मूल्य वाले तत्वों (उत्पत्ति और आय) के अतिरेक के बराबर होते हैं। इन दोनों तत्वों में समानता आय के स्तर में परिवर्तनों का परिणाम है। यदि विनियोगों में वृद्धि होती है तो उसके परिणामस्वरूप आय बढ़ जाती है। आय की यह वृद्धि बचत को प्रोत्साहित कर उसे विनियोग के बराबर कर देती है। इसके अतिरिक्त विनियोगों में कमी होने पर आय का स्तर घट कर बचतों को हतोत्साहित करता है, जिससे बचतें घटे हुये विनियोग के बराबर हो जाती हैं।

बचत एवं विनियोग सम्बन्धी विचारों की विवेचना करते समय यह उल्लेखनीय है कि कीन्स ने अपनी 'जनरल थ्योरी' में सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का विश्लेषण किया है। उन्होंने 'कुल विनियोग' (aggregate investment), कुल बचत' (aggregate savings) तथा 'कुल आय' (aggregate Income) के अर्थों में ही इन शब्दों का प्रयोग किया है। कीन्स के अनुसार यदि बचत की मात्रा विनियोग की तुलना में अधिक हो जाती है तो इसका अर्थ यह होता है कि व्यय व उपभोग कम हो गया है; उपभोग कम होने पर मांग में कमी हो जायेगी जिसके कारण विनियोग कम हो जायेंगे; विनियोग कम हो जाने पर आय कम हो जायेगी और आय कम हो जाने पर कुल बचत की मात्रा कम हो जायेगी क्योंकि 'उपभोग प्रवृति' (propensity to consume) के समान रहने पर कम आय के कारण कम बचत ही हो सकती है। यह क्रम (इस दिशा में या उल्टी दिशा में) उस समय तक चलता रहता है जब तक बचत व विनियोग बराबर नहीं हो जाते। इस सम्बन्ध की व्याख्या डिलार्ड (Dillard) ने बहुत अच्छी तरह की है। उनके अनुसार "इस तथ्य के होते हुए भी कि विनियोगकर्त्ता तथा बचतकर्त्ता व्यक्तियों के दो पृथक वर्ग होते हैं, जो पूर्णरूप से परस्पर स्वतन्त्र रह कर निर्णय करते हैं, इनके सामूहिक आचरण का परिणाम यह होता है कि एक निश्चित अवधि के भीतर विनियोग तथा बचत समान मात्रा में होती है।"[1] आय-बचत-विनियोग के इस सम्बन्ध को निम्न समीकरण द्वारा अच्छी तरह से समझाया जा सकता है:—

आय (Y) = उपभोग (C) + विनियोग (I)

बचत (S) = आय (Y) — उपभोग (C)

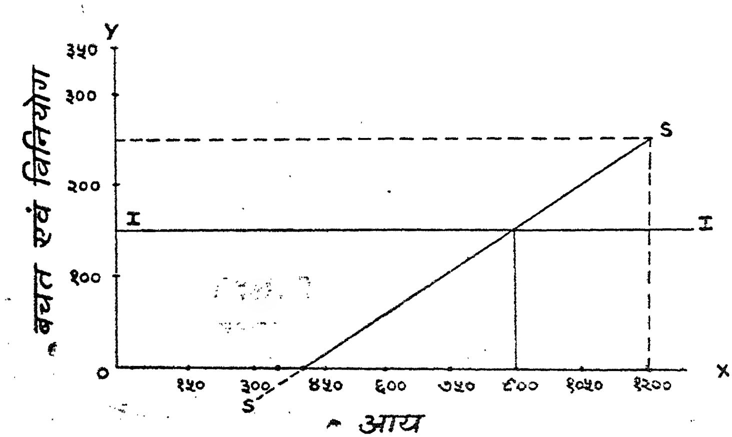
---

1. "Despite the fact that investors and savers are, as a rule, two seperate sets of persons who make their decisions freely and independently of one another, the net result of their collective behaviour is to invest and to save in the aggregate indentical amounts during any given period." D. Dillard. Economics of John Maynard Keynes, p. 62.

इसलिये उपभोग (C) + विनियोग (I) = उपभोग (C) + बचत (S)
अतः विनियोग (I) = बचत (S)

यहाँ पर एक बात और ध्यान देने योग्य है कि बचत व विनियोग Ex-ante तथा Ex-post होते हैं। Ex-ante बचत व विनियोग का अभिप्राय उस मात्रा से होता है जो अवधि के आरम्भ में होता है। Ex-post बचत व विनियोग का अभिप्राय उस मात्रा से होता है जो अवधि-विशेष के अन्त में होता है। बचत तथा विनियोग का Ex-ante तथा Ex-post रूप में अध्ययन करने का प्रमुख लाभ यह होता है कि इससे प्रक्रिया के सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिसके द्वारा अर्थव्यवस्था में बचत तथा विनियोग के बीच सन्तुलन स्थापित होता है।

रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण : कीन्स द्वारा बतलाये गए बचत-विनियोग के सम्बन्ध को निम्न रेखा-चित्र द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता :—



इस चित्र में OX रेखा पर आय व OY रेखा पर बचत एवं विनियोग दिखलाये गये हैं। SS रेखा बचत की रेखा है जो यह बतलाती है कि आय के साथ बचत की मात्रा किस प्रकार बढ़ती है। स्पष्ट है कि आय के बहुत नीचे स्तर पर यही नहीं कि बचतें न होंगी परन्तु लोग अपनी पुरानी बचतों को भी व्यय करने लगेंगे। I I रेखा विनियोग की सबकी सबसे सरल स्थिति को बतलाती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत विनियोग सभी आय के स्तरों पर बराबर मान लिये गये हैं। SS रेखा और OX रेखा के बीच अन्तर संकेत करता है कि

किसी स्तर पर आय को बनाये रखने के लिए कितने विनियोग की आवश्यकता है। उदाहरण में साम्य की दशा ९०० रु० की आय पर है, जब विनियोग एवं बचत १५० रु० के बराबर है। ४०० रु० की आय को बनाये रखने के लिये विनियोग की आवश्यकता न होगी, क्योंकि इस स्तर पर बचतें कुछ न होंगी। यदि अर्थ व्यवस्था में १२०० रु० की आय की अवस्था को प्राप्त करना है तो २५० रु० के विनियोग की आवश्यकता होगी, क्योंकि इस स्तर पर बचतें इतनी ही होंगी। अतः साम्य की दशा तभी हो सकती है जब बचत एवं विनियोग बराबर हों।

इस प्रकार कीन्स (Keynes) के विचारानुसार बचत व विनियोग के बीच जो समानता है वह आय के परिवर्तनों द्वारा स्थापित होती है। प्राचीन अर्थ-शास्त्रियों के विचार में यह समानता ब्याज की दरों में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है। कीन्स ने इस दृष्टिकोण को सही स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार यदि प्रत्येक बचत उसी के बराबर विनियोग को जन्म देती है, तो बेरोजगारी (unemployment) का प्रश्न ही नहीं उठता। बचत तथा विनियोग का सम्बन्ध आय से है और प्रत्येक वैयक्तिक बचत विनियोग को जन्म नहीं देती। बचत और विनियोग में पूर्ण वृत्ति (Full Employment) के स्तर से पूर्व ही समानता स्थापित हो जाती है जिससे वृत्तिहीनता की दशा बनी रहती है। अतः कीन्स द्वारा प्रतिपादित 'जनरल थ्योरी' में बचत और विनियोग के विश्लेषण की विशेषता यह नहीं है कि यह दोनों तत्व बराबर होते हैं, वरन् महत्वपूर्ण बात यह है कि यह दोनों साधारणतया पूर्ण-वृत्ति (Full Employment) की दशा से पहले ही बराबर हो जाते हैं जिससे आय में निम्न स्तर पर स्थिरता बनी रहती है, अर्थ-व्यवस्था पिछड़ी दशा पर बनी रहती है तथा चक्रीय उच्चावचनों से ग्रसित रहती है। इससे बचने का उपाय यही है कि बचत-विनियोग के सम्बन्ध को इस प्रकार नियंत्रित रक्खा जाये कि वृत्तिहीनता (unemployment) की दशा को दूर किया जा सके और पूर्ण-वृत्ति के स्तर पर ही इनको बराबर रक्खा जा सके।

वृत्तिहीनता (Unemployment) :

आधुनिक युग में समाज की सब से बड़ी समस्या 'बेरोजगारी की समस्या' समझी जाती है, क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि 'बेरोजगारी' (वृत्ति-हीनता) का रहना देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिये बहुत घातक होता है। कीन्स (Keynes) ने अपनी 'जनरल थ्योरी' में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि राष्ट्रीय आय देश में वृत्ति के स्तर पर निर्भर होती है;

रोजगार का स्तर जितना ऊंचा होगा, राष्ट्रीय आय उतनी ही अधिक होगी; अथवा बेरोजगारी राष्ट्रीय आय को कम करती है।

बेरोजगारी अथवा वृत्तिहीनता का अभिप्राय किसी आर्थिक व्यवस्था में उस अवस्था से होता है जिसमें '**स्वस्थ, योग्य तथा कार्य करने के लिए अयुक्त व्यक्ति प्रचलित मजदूरी की दर पर अपनी योग्यता के अनुकूल कार्य पाने में असमर्थ रहते हैं।**' इस प्रकार वृद्ध, रोगी, विक्षिप्त तथा बालक 'बेरोजगारी' की गणना में नहीं आते, क्योंकि वे किसी उत्पादक कार्य के योग्य ही नहीं होते। इसी प्रकार सन्यासी, भिक्षु आदि को वृत्तिहीन स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह अपनी इच्छा से ही अकर्मण्य रहते हैं। पर दूसरी ओर ऐसा समझना भी सदैव ठीक नहीं है। रोजगार में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति रोजगार-पूर्ण है। यदि एक व्यक्ति किसी ऐसे रोजगार में लगा हुआ है जिसमें उसके पास प्रत्येक दिन केवल कुछ ही घंटों का काम रहता है और शेष समय वह बेकार रहता है तो उसे आंशिक रूप से वृत्तिहीन समझना चाहिये। इसी प्रकार यदि एक कार्य को, जिसके लिए केवल १० श्रमिकों की आवश्यकता है, ११ श्रमिक पूरा करते हैं तो १ व्यक्ति के लिए 'अदृष्ट वृत्तिहीनता' (disguised unemployment) कही जायेगी, यद्यपि प्रत्यक्ष में वृत्तिहीनता न दिखलाई पड़ेगी।

बेरोजगारी के रूप (Forms of Unemployment) : व्यवहारिक जीवन में प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में किसी न किसी अंश में बेरोजगारी का होना अनिवार्य समझा जाता है। बेवरिज (Beveridge) ने तो अपनी 'स्वतन्त्र समाज में पूर्ण रोजगार' (full employment in free society) नामक पुस्तक में ३ प्रतिशत वृत्तिहीनता को आवश्यक स्वीकार कर लिया है। किसी भी अर्थ-व्यवस्था में पायी जाने वाली वृत्तिहीनता अनेक रूप में हो सकती है, जिनमें मुख्य यह है :—

अस्थायी बेरोजगारी		(Casual	Unemployment)	
मौसमी	"	(Seasonal	"	)
शैल्पिक	"	(Technological	"	)
संघर्षक	"	(Frictional	"	)
स्वैच्छिक	"	(Voluntary	"	)
चक्रीय	"	(Cyclical	"	)
अनैच्छिक	"	(Involuntary	"	)

जब किसी उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग में कमी हो जाने के

कारण उसमें लगे हुये श्रम की मात्रा में कमी करना आवश्यक हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उस उद्योग में अल्पकाल के लिए बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तो ऐसी अवस्था को **अस्थायी बेरोजगारी** कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित उद्योगों में ऐसी अवस्था के दर्शन होते हैं। प्रत्येक देश में कुछ ऐसे उद्योग होते हैं जिनमें श्रमिकों को केवल उसी काल में काम पर लगाया जाता है जब उत्पादन कार्य चल रहा होता है, शेष दिनों में इन्हें बेकार रहना पड़ता है। इस प्रकार की वृत्तिहीनता को **मौसमी बेरोजगारी** कहते हैं। हमारे देश का कृषि उद्योग, चीनी उद्योग, बर्फ के कारखाने इसी वर्ग में आते हैं। जब अनुसन्धान द्वारा किसी ऐसी नवीन उत्पादन रीति का पता चलता है जिसमें अपेक्षाकृत कम श्रमिकों की आवश्यकता होती हो और उसे अपना लिया जाता है तो काफी संख्या में श्रमिक बेकार हो जाते हैं। इसे **शैल्पिक बेरोजगारी** कहते हैं। अभिनवीकरण के फलस्वरूप होने वाले वृत्तिहीनता को इसी वर्ग में रक्खा जायेगा। **संघर्षक बेरोजगारी** उस समय होती है जब लोगों के पास श्रम बाजार की अपूर्णताओं के कारण अस्थायी रूप से कार्य नहीं होता।[1] इस प्रकार की बेरोजगारी के प्रमुख कारण श्रम की अगतिशीलता, कच्चे माल का अभाव, यंत्रों व मशीनों का बिगड़ जाना आदि होते हैं। निःसन्देह, यद्यपि संघर्षक बेरोजगारी को पूरी तरह समाप्त नहीं किया जा सकता, फिर भी इसके प्रभावों की गम्भीरता को कम किया जा सकता है। **स्वैच्छिक बेरोजगारी** उस समय होती है जब योग्य (potential) श्रमिक प्रचलित मजदूरी से कम पर काम करने को तैय्यार नहीं होते। हड़ताल करने वाले श्रमिक स्वैच्छिक वृत्तिहीन माने जाते हैं क्योंकि इन्हें मजदूरी की प्रचलित दर पर अथवा उससे कुछ कम पर रोजगार मिल सकता है। जब समृद्धि के बाद अवसाद का काल आता है तो कीमतों के गिरने के साथ-साथ उत्पादन में भी कमी आती जाती हैं और रोजगार का स्तर गिरता जाता है। इस प्रकार की बेकारी को **चक्रीय बेरोजगारी** (cyclical unemployment) कहा जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की बेकारी का समाधान व्यापार चक्रों के नियन्त्रण द्वारा ही सम्भव हो सकता है। **अनैच्छिक वृत्तिहीन** व्यक्ति वह है जो प्रचलित वास्तविक मजदूरी पर काम करने को तैय्यार हो, चाहे वह कम मजदूरी स्वीकार करने के लिए तत्पर हो अथवा न हो।[2] अनैच्छिक वृत्तिहीनता अनियोजित अर्थ-व्यवस्था में प्रभावशाली माँग (effective demand) में कमी के कारण उत्पन्न होती है। इसे दूर करने के

1. D. Dillard : The Economics of John M. Keynes– p. 21
2. A. P. Lerner : The General Theory– p. 115

लिए उपभोग तथा विनियोग की मात्रा को बढ़ा कर प्रभावशाली मांग में वृद्धि करना जरूरी माना जाता है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार अनैच्छिक वृत्तिहीनता जैसी स्थिति हो ही नहीं सकती। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता है।

रोजगार के सिद्धान्त :

बेरोजगारी की अवस्थाओं को बतलाने वाले रोजगार के सिद्धान्त मुख्य रूप से ३ हैं: परम्परावादी (Classical) अर्थशास्त्रियों का सिद्धान्त, कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का सिद्धान्त तथा कीन्स (Keynes) का सिद्धान्त।

परम्परावादी विचारों का विश्वास था कि अर्थव्यवस्था में सामान्य रूप से पूर्ण-रोजगार की स्थिति होती है और यदि किसी समय कुछ बेकारी हो भी जाती है तो वह अस्थाई व असाधारण होगी, जो कुछ समय में अपने आप ठीक हो जायेगी। उनका तर्क इस प्रकार था : वस्तुओं का निर्माण विनिमय के लिये किया जाता है, और इसलिये प्रत्येक उत्पादित वस्तु अन्य वस्तु की मांग पैदा करती है। उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त आय द्वारा उत्पादन में लगे साधनों का भुगतान किया जा सकता है, यदि यह साधन अपनी उत्पादकता के अनुसार ही पुरस्कार लेने को तैयार हों। यह साधन अपनी आय के द्वारा बाजार में मांग पैदा करेंगे। स्पष्ट है कि मांग उन्हीं वस्तुओं की होगी जिनका साधनों ने स्वयं उत्पादन किया है। यदि सही वस्तुओं का उत्पादन होता है तो सारे उत्पादन का विक्रय हो जायेगा। गलत उत्पादन होने पर कुछ वस्तुओं की पूर्ति स्थायी रूप से अधिक हो सकती है, परन्तु स्थायी रूप से उत्पादनाधिक्य (Overproduction) नहीं हो सकता। इसी प्रकार कुल मांग में स्थायी कमी भी नहीं हो सकती। इस प्रकार यदि श्रमिक अपनी योग्यता से अधिक मजदूरी की मांग न करें तो सभी को रोजगार मिल सकता है।

बेरोजगारी के सम्बन्ध में मार्क्स का दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार बेकारी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आवश्यक लक्षण है, और उसका स्तर पूँजीवाद के विकास के स्तर पर निर्भर करता है। पूँजी के संचय में परिवर्तनीय पूँजी (Variable Capital) तथा स्थिर पूँजी (Constant Capital) की मात्रा में वृद्धि होती है, परन्तु परिवर्तनीय पूँजी का स्थिर पूँजी की अपेक्षा अनुपात गिर जाता है। परिवर्तनीय पूँजी का अनुपात गिर जाने से बेरोजगारी बढ़ती है, जिसके फलस्वरूप मजदूरी की दर ऊपर ले जाना असम्भव ही होता है। ऐरिक

रोल ने लिखा है कि "पूँजीवादी विकास का स्तर जितना अधिक ऊंचा होगा, समाज की सम्पत्ति उतनी ही अधिक होगी और कुल श्रमिकों की जनसंख्या भी उतनी ही अधिक होगी।"[1]

बेरोजगारी के सम्बन्ध में कीन्स (Keynes) के विचार परम्परावादी विचारों के विपरीत हैं। उन्होंने वृत्तिहीनता का यथार्थ कारण विनियोगों का अभाव ही बतलाया। उन्होंने इस विचार को गलत एवं अव्यवहारिक बतलाया कि यदि श्रमिक अपनी मजदूरी में कटौती स्वीकार कर लें तो सभी श्रमिकों को कार्य मिल जावेगा। उनका यह विश्वास था कि मजदूरी की दरों में पूर्ण लोच और बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता रहते हुये भी वृत्तिहीनता हो सकती है। कीन्स के अनुसार रोजगार का स्तर प्रभावशाली मांग (Effective Demand) पर निर्भर करता है, इसलिये बेकारी का कारण प्रभावशाली मांग की अपर्याप्ता होती है। प्रभावशाली मांग की अपर्याप्ता ही रोजगार में होने वाली वृद्धि को 'पूर्ण रोजगार' के स्तर तक पहुंचने से पूर्व ही रोक सकती है और प्राय: रोकेगी। दूसरे शब्दों में वृत्तिहीनता के निवारण हेतु विनियोगों को प्रोत्साहित करने की नीति आवश्यक होती है।

पूर्ण रोजगार का अर्थ

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का विचार था कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति तब ही होगी जब कि उसमें अनिच्छक (Involuntary) बेरोजगारी का अभाव हो; अथवा अर्थव्यवस्था में यह नहीं होना चाहिये कि कार्य चाहने वाले व्यक्ति को रोजगार न मिले। आधुनिक मत के अनुसार पूर्ण रोजगार की स्थिति में प्रत्येक काम चाहने वाले को प्रचलित पारिश्रमिक दर पर कार्य मिल जाना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं होता कि देश में प्रत्येक मनुष्य, स्त्री तथा बच्चे को २४ घन्टे के लिये कार्य मिल जाना चाहिये। प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में कुछ अंश तक बेरोजगारी का बना रहना (ऐच्छिक एवं संघर्षक बेकारी के रूप में) अनिवार्य होता है। अत: इसका तो केवल इतना ही अर्थ होता है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को जो, कि कार्य कर सकता है तथा प्रचलित मजदूरी पर कार्य करने को तत्पर है, रोजगार मिला हुआ हो। कीन्स के विचारों में, पूर्ण रोजगार अनैच्छिक वृत्तिहीनता की अनुपस्थिति में होता है। इस प्रकार के स्तर पर एक अंश तक संघर्षक तथा स्वैच्छिक वृत्तिहीनता का होना सम्भव है। डिलर्ड (Dillard) के

1. "The higher the degree of capitalist development, the greater is the wealth of society, the greater is the industrial reserve army in all its branches in relation to the total labouring population."

शब्दों में "पूर्ण रोजगार वह बिन्दु है जिसके आगे प्रभावशाली माँग में वृद्धि होने पर उत्पत्ति बेलोचदार सिद्ध होती है।"[1]

पूर्ण-रोजगार का सिद्धान्त

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों, जिनमें जे०बी० से (J.B.Say), रिकार्डो (Ricardo) मिल (Mill) के नाम उल्लेखनीय हैं, का विचार था कि सामान्य रूप से अति उत्पादन (Over-production) नहीं हो सकता तथा परिणामस्वरूप बेरोजगारी भी नहीं हो सकती है। किसी विशेष उद्योग में साहसियों के माँग के गलत अनुमान लगाने से पूर्ति स्थायी रूप से बढ़ सकती है। किन्तु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये ऐसा हो जाना असम्भव है। अर्थात् सामान्य रूप से 'अति उत्पादन' अथवा उसके फलस्वरूप 'बेरोजगारी' नहीं हो सकती है। इन अर्थशास्त्रियों का यही दोष था कि जो बात व्यक्तिगत उद्योग के लिये सही है उसको सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये सही मान लिया गया। यही कारण था कि इन्होंने सामान्य अतिउत्पादन तथा परिणामस्वरूप बेरोजगारी को दूर करने का उपाय 'मजदूरी को कम कर देना' बताया। पर महामन्दी काल (Period of Great Depression) में जब बेरोजगारी को दूर करने के लिये मजदूरी को कम किया गया तो उस समय उसका कोई फल न मिला तथा अर्थशास्त्र व अर्थशास्त्रियों की हंसी उड़ाई गई।

जे. एम. कीन्स (J. M. Keynes) ने अर्थशास्त्र एवं अर्थशास्त्रियों को इस दशा से बचाने के लिये General Theory of Employment, Interest & Money लिखी, जो १९३६ (जब कीन्स ५० वर्ष के थे) में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में जो विचार कीन्स ने प्रस्तुत किये वे केवल सैद्धान्तिक न होकर व्यवहारिक भी थे, और इसीलिये उनका नाम संसार के महान अर्थशास्त्रियों के साथ है। निवमैन (Newman) ने लिखा है कि कीन्स दो युद्धों के बीच के काल में सरकारों के वित्तीय नियोजन को प्रभावित करने वालों में प्रसिद्ध व्यक्ति थे, व्यवसाय में उनकी व्यक्तिगत सफलता रिकार्डो का स्मरण कराती है और उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'The General Theory' ने एडम स्मिथ की पुस्तक 'Wealth of Nations' के बाद सार्वजनिक नीति पर सब पुस्तकों से अधिक प्रभाव डाला है।[2] कीन्स ने परम्परावादी अर्थशास्त्रियों द्वारा अपनाये गए व्यक्तिगत अर्थशास्त्र (micro-

economics) के स्थान पर सामूहिक अर्थशास्त्र (macro economics) का प्रतिपादन किया और इस प्रकार 'व्यक्तिगत इकाई' अथवा 'अर्थव्यवस्था के किसी विशेष खण्ड' (जैसे किसी विशेष वस्तु की मांग, मूल्य अथवा विशेष फर्म का उत्पादन) के अध्ययन के महत्व के स्थान पर कुल समूह (जैसे सामान्य कीमत-स्तर अथवा सामूहिक मांग, उत्पादन, आय, विनियोग, बचत, रोजगार, व्यय आदि के पारस्परिक सम्बन्धों) के अध्ययन के महत्व पर जोर डाला। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का विश्वास था कि किसी भी वस्तु की मांग व पूर्ति में असन्तुलन केवल अस्थायी प्रकृति का होता है जो अपने आप ठीक हो जाता है। पर कीन्स ने बतलाया कि ऐसा असन्तुलन हमारी आर्थिक व्यवस्था में एक साधारण लक्षण होता है और उसको दूर करने के लिये व पूर्ण उत्पादन-क्षमता बनाये रखने के लिये अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखना आवश्यक होता है। इसके लिये उन्होंने अर्थव्यवस्था के नियन्त्रण का समर्थन किया। इसके अलावा परम्परावदी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र का अध्ययन शास्त्र के सिद्धान्तों तक ही सीमित रक्खा जबकि कीन्स ने इसको राज्य के मार्ग दर्शन के लिये नीति, पद्धति व प्रबन्ध समझा।

कीन्स की 'जनरल थ्योरी' में प्रयोग की जाने वाली धारणाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण धारणा 'प्रभावशाली माँग' (Effective Demand) का विचार है। वास्तव में 'प्रभावशाली माँग' का विचार कीन्स के रोजगार सिद्धान्त का प्रारम्भिक बिन्दु है।[1] उनके अनुसार 'पूर्ण रोजगार' पूरी प्रभावशाली मांग पर निर्भर होता है और यह माँग आय के व्यय होने द्वारा स्पष्ट होती है। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि अर्थव्यवस्था में बेकारी इसी 'प्रभावशाली मांग के कमी के कारण उत्पन्न होती है। ऐसा अनुभव किया जाता है कि यद्यपि समाज की वास्तविक आय में वृद्धि के साथ-साथ उपभोग भी बढ़ता है, परन्तु उपभोग की यह वृद्धि उसी अनुपात में नहीं होती जिस अनुपात में वास्तविक आय बढ़ती है। अतः बढ़ती हुई आय (वास्तविक) के साथ समाज में उपभोग करने की प्रवृत्ति बढ़ती हुई आय के पीछे रहती है। अर्थव्यवस्था में रोजगार को सब से ऊंचे स्तर पर ले जाने अथवा बनाये रखने के लिये यह आवश्यक होता है कि विनियोग में इस प्रकार वृद्धि होना चाहिये कि आय तथा उस आय से सम्बन्धित उपभोक्ताओं की मांग के मध्य का अन्तर शून्य रहे। इसका अर्थ यह है कि 'कुल विनियोग' तथा 'कुल उपभोग' की मात्रा मिलकर कुल आय के समान रहना चाहिये। अतः

1. "The logical starting point of Keyne's Theory of Employment is the principle of Effective Demand."

—D. Dillard : The Economics of J. M. Keynes—p. 29

रोजगार की अवस्थाओं में वृद्धि लाने के लिये 'वास्तविक विनियोग को बढ़ाना आवश्यक होता है', क्योंकि उपभोग करने की प्रवृत्ति के बढ़ने की गति पीछे रहती है।

प्रभावशाली माँग (Effective Demand)

साधारण बोलचाल में मांग के दो अर्थ लगाये जाते हैं : मांग का एक अर्थ तो किसी वस्तु को खरीदने की केवल इच्छा से हुआ करता है और दूसरा अर्थ उस वस्तु को खरीदने की इच्छा के अतिरिक्त खरीदने की सामर्थ्यता से हुआ करता है। अर्थशास्त्र में केवल दूसरे प्रकार के अर्थ में ही मांग का प्रयोग किया जाता है तथा कीन्स ने शायद भ्रम को दूर करने के लिये ही 'कार्यशील' अथवा 'प्रभावशाली' शब्द को माँग के पहले जोड़ा है। मोटे तौर पर 'प्रभावशाली माँग' से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु को खरीदने की सामर्थ्यता से होता है। इस प्रकार 'प्रभावशाली माँग' किसी समुदाय की वस्तुओं को खरीदने की इच्छा के साथ-साथ उस समुदाय की उन वस्तुओं को खरीदने की सामर्थ्यता को बताती है। समुदाय की सामर्थ्यता उस समुदाय की आय पर तथा उस आय को व्यय करने की इच्छा पर निर्भर करती है। अतः 'प्रभावशाली माँग' आय के व्यय करने से प्रकट होती है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, बेरोजगारी का कारण माँग की कमी होती है; इसलिये रोजगार को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक होता है कि मांग को बढ़ाया जाय जिसके लिये विनियोग को आय एवं उपभोग के अन्तर की सीमा तक बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार कीन्स के अनुसार जो बातें प्रभावशाली माँग को प्रभावित करती हैं उनमें माँग व पूर्ति मुख्य हैं।

सामूहिक माँग (Aggregate Demand) : यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कीन्स का तात्पर्य सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की माँग व पूर्ति से है। यह माँग विभिन्न फर्मों अथवा विभिन्न उद्योगों की माँग, जो प्रायः पूर्ति तथा माँग के चित्रों में प्रदर्शित की जाती है, से भिन्न है क्योंकि एक फर्म अथवा एक उद्योग की माँग उत्पादन की उन विभिन्न मात्राओं की सूची होती है जो विभिन्न कीमतों पर खरीदी जाती है। परन्तु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की उत्पादन मात्रा सरल भौतिक इकाइयों में प्रकट नहीं की जा सकती, क्योंकि वस्तुयें भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं और उनका माप अलग-अलग तरीके से होता है। कीन्स के अनुसार किसी निश्चित रोजगार की उत्पादन मात्रा की सामूहिक माँग-कीमत (aggregate demand price) वह धनराशि होती है जो उत्पादित वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त होती है। कुल मांग वक्र उस धनराशि की सारिणी होती है जो विनियोग अथवा रोजगार की विभिन्न

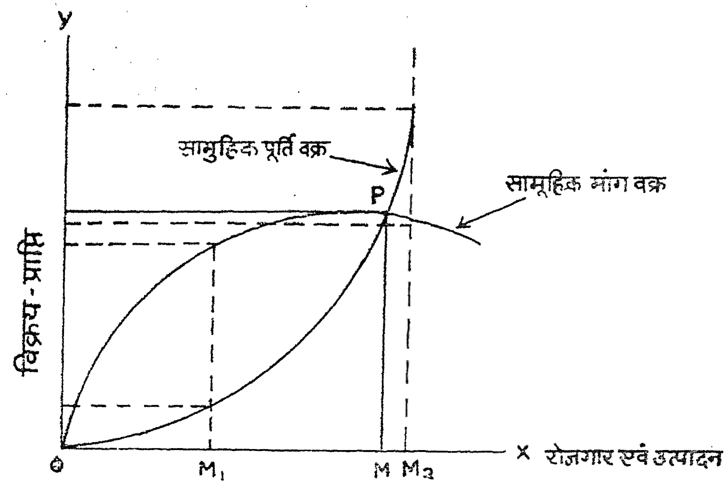
मात्राओं से उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त होती है। जैसे ही अधिक श्रमिकों का विनियोग किया जाता है उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है और इससे कीमत के रूप में प्राप्त अधिक धनराशि भी बढ़ जाती है। अर्थात् सामूहिक माँग-कीमत (aggregate demand price) रोजगार की मात्रा में वृद्धि होने के साथ बढ़ जाती है। इस प्रकार **सामूहिक माँग** वह माँग होती है जो उत्पादन (output) की विभिन्न मात्राओं के लिये प्राप्त होने वाली मुद्रा की मात्रा अथवा विक्रय प्राप्त (sale proceeds) की आशा को बतलाती है। जिस समय रोजगार की मात्रा शून्य होती है उस समय विक्रय प्राप्ति (Sale proceeds) भी शून्य होगी। ज्यों-ज्यों रोजगार की मात्रा बढ़ाई जावेगी तो विक्रय प्राप्ति की मात्रा बढ़ेगी, जिसके फलस्वरूप सामूहिक मांग कीमत वक्र ऊपर को उठेगा।

सामूहिक पूर्ति (aggregate Supply) प्रत्येक समुदाय में विक्रय प्राप्ति समुदाय के उत्पादक उत्पादन नहीं करना चाहेंगे। यह न्यूनतम मुद्रा की मात्रा ही सारे उत्पादन की पूर्ति-कीमत (Supply price) होती है। सामूहिक पूर्ति वह पूर्ति होती है जो उत्पादन (output) की विभिन्न मात्राओं की पूर्ति-कीमत के साथ सम्बन्ध को प्रदर्शित करती है कीन्स ने सामूहिक पूर्ति को विभिन्न उत्पादों (outputs) की मात्राओं की पूर्ति-कीमत को इन उत्पादों की मात्रा को उत्पादन करने के लिये आवश्यक श्रम की मात्रा के सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाली बतलाया है। अतः 'सामूहिक पूर्ति' का अर्थ "श्रम के किसी दिये हुये रोजगार स्तर के लिये, सामूहिक पूर्ति कीमत मुद्रा की वह मात्रा है जो किसी अर्थव्यवस्था में सभी साहसी संयुक्त रूप से श्रमिकों की उस दी हुई संख्या के द्वारा, यदि उस संख्या को रोजगार देना उचित हो, उत्पादित उत्पादन (output) को विक्रय करने से आवश्यमय प्राप्त करने की आशा करते हों।"[1] इस प्रकार सामूहिक पूर्ति-कीमत (aggregate supply price) उन श्रमिकों द्वारा उत्पादित उत्पादन (output) की कुल उत्पादन लागत होती है जिनको रोजगार दिया जाता है।

सामूहिक पूर्ति व माँग का संतुलन (Equilibrium of aggregate demand & supply) : ऊपर 'प्रभावशाली माँग' की व्याख्या करते समय यह बतलाया गया है कि यह बतलाती है कि मुद्रा की कितनी मात्रा को उद्योगों की उपज को खरीदने में व्यय किया जाता है। कीन्स ने 'प्रभावशाली' शब्द का प्रयोग सामूहिक मांग वक्र पर उस बिन्दु को प्रदर्शित करने के लिये प्रयोग किया है जहाँ पर इस वक्र को सामूहिक पूर्ति वक्र काटता है। सामूहिक मांग वक्र पर अनेक अन्य बिन्दु भी हो सकते हैं, किन्तु वह इस बिन्दु की भांति वास्तविक रोजगार की कुल मात्रा का निर्धारण करने में इतना अधिक प्रभावशाली (effective) नहीं हो सकते

1. Stovier & Hague : A Text Book of Economic Theory—p. 381.

हैं। इसको निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :—



उपरोक्त चित्र में X अक्षांस पर रोजगार एवं उत्पादन (output) की मात्रा और Y अक्षांस पर विक्रय-प्राप्ति (Sale proceeds) दिखलाया गया है। जिस समय रोजगार की मात्रा शून्य होती है उस समय विक्रय प्राप्ति भी शून्य होती है। ज्यों-ज्यों रोजगार की मात्रा बढ़ाई जायेगी विक्रय प्राप्ति की मात्रा भी बढ़ेगी; जिसके फलस्वरूप सामूहिक-मांग-कीमत- वक्र शीघ्रता से ऊपर को उठता है। लेकिन जिस समय रोजगार की मात्रा बढ़ जाती है तो इसका उठना कम होता जाता है। इसी प्रकार जिस समय विक्रय-प्राप्ति (Sale proceed) शून्य होगी उस समय उत्पादन (output) तथा रोजगार दोनों ही शून्य होंगे। किन्तु जिस समय विक्रय-प्राप्ति (Sale proceed) बढ़ती है उस समय उत्पादन एवं रोजगार दोनों ही बढ़ते हैं। सामूहिक-पूर्ति-वक्र आरम्भ में धीरे-धीरे ऊपर उठती है अथवा जैसे-जैसे विक्रय-प्राप्ति बढ़ती है तो रोजगार शीघ्रता से बढ़ता है (उत्पादन लागत अधिक शीघ्रता से नहीं बढ़ती)। ज्यों-ज्यों साहसियों की विक्रय-प्राप्ति बढ़ती जावेगी, त्यों-त्यों रोजगार की बढ़ौतरी धीमी होती जावेगी। एक समय ऐसा आयगा जब विक्रय-प्राप्ति के बढ़ने के फलस्वरूप रोजगार नहीं बढ़ेगा। चित्र में सामूहिक-माँग-वक्र तथा सामूहिक-पूर्ति-वक्र एक दूसरे को बिन्दु P पर काटते हैं जो साम्य की दशा का प्रतीक है। इससे निर्धारित रोजगार की मात्रा (OM) पर साहसियों को अधिकतम लाभ प्राप्त होंगे। यदि रोजगार की मात्रा OM से घट कर OM_1 हो जाती है तो विक्रय-प्राप्ति (Sale proceeds) पूर्ति-कीमत (supply price) से अधिक होगी जिसके परिणामस्वरूप साहसी रोजगार की मात्रा को बढ़ाकर लाभ

बढ़ाने के लिये लालायित रहेंगे। यदि रोजगार की मात्रा OM से बढ़कर OM_2 हो गई तो पूर्ति- कीमत (Supply price) से अधिक हो जावेगी, जिससे विक्रय-प्राप्ति साहसियों के लाभ कम हो जावेंगे और वे रोजगार को घटाने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार किसी अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा इसी साम्य बिन्दु, यानी कार्यशील-मांग, के द्वारा ही निश्चित होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कार्यशील मांग यह बतलाती है, कि मुद्रा की कितनी मात्रा को उत्पादन के खरीदने में व्यय किया जाता है। दूसरे शब्दों में प्रभावशाली मांग उत्पत्ति के साधनों के प्रतिफल के जोड़ (जिसे हम राष्ट्रीय आय कहते हैं) के बराबर होती है। क्योंकि राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य वही होता है जो सारे उत्पादन को बेचने से प्राप्त होता है, इसलिये प्रभावशाली मांग सामूहिक उत्पादन (aggregate output) के मूल्य को प्रदर्शित करती है। साथ ही, क्योंकि उत्पादन में या तो उपभोग की वस्तुयें होती हैं या विनियोग की, इसलिये प्रभावशाली मांग एक ओर उपभोग-वस्तुओं पर किये गये व्यय एवं दूसरी ओर विनियोग-वस्तुओं पर किये गये व्यय के जोड़ के बराबर होती है। अर्थात्—

प्रभावशाली मांग = राष्ट्रीय आय
= सामूहिक उत्पादन का मूल्य
= उपभोग-वस्तुओं पर व्यय + विनियोग-वस्तुओं पर व्यय

प्रभावशाली माँग को प्रभावित करने वाली बातें :

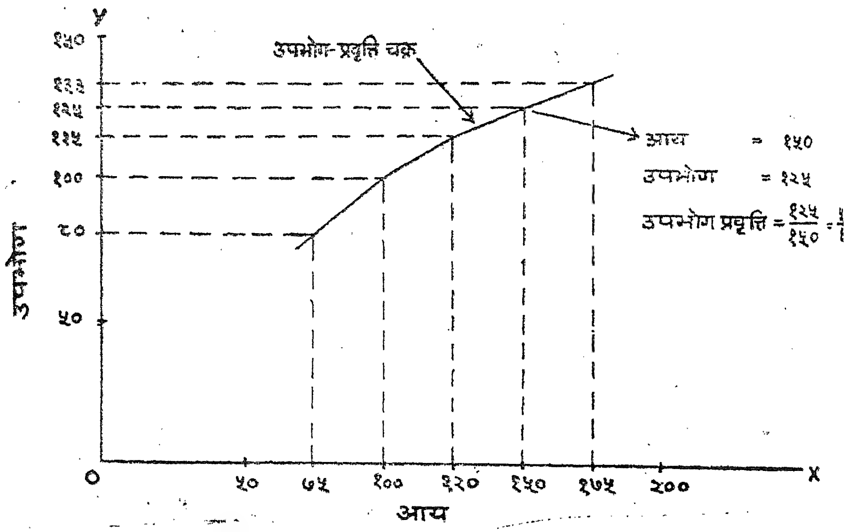
अभी तक हमने यह बतलाया है कि किसी अर्थव्यवस्था में रोजगार की मात्रा को देखने के लिये प्रभावशाली मांग को देखना पड़ता है और इस प्रभावशाली मांग के जानने के लिये उपभोग की वस्तुओं तथा विनियोग की वस्तुओं पर किये गये व्यय को देखना पड़ेगा। उपभोग वस्तुओं पर किया गया व्यय दो बातों पर निर्भर करता है: (१) समुदाय की आय, (२) समुदाय की उपभोग-प्रवृति (propensity to consume)। विनियोग-वस्तुओं पर किया गया व्यय भी दो बातों पर निर्भर करता है: (१) पूंजी की सीमान्त क्षमता (marginal efficiency of Capital) तथा (२) ब्याज की दर (rate of interest)। इस प्रकार कीन्स के सामान्य सिद्धान्त (General Theory) में प्रभावशाली मांग को स्पष्ट करने के लिये तीन नये विचारों (concepts) का समावेश है, जो 'उपभोग की प्रवृत्ति' 'पूंजी की सीमान्त क्षमता एवं' 'ब्याज की दर हैं।

उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) : जिस प्रकार मांग से

हमारा तात्पर्य केवल खरीदने की इच्छा ही न होकर, खरीदने के लिये पर्याप्त मुद्रा तथा उस मुद्रा को व्यय करने की इच्छा से भी हुआ करता है, उसी प्रकार 'उपभोग की प्रवृति' से हमारा तात्पर्य केवल उपभोग की इच्छा न होकर वास्तव में उपभोग की गई मात्रा से होता है। यह उपभोग की प्रवृति इस बात पर निर्भर करती है कि किसी देश के निवासी मुद्रा की कितनी मात्रा उपभोग करने में व्यय करते है। मुद्रा की यह मात्रा आय, चेतनात्मक प्रवृति (subjective attitude) वस्तुपरक स्थितियों (objective conditions) पर निर्भर करती है जिस प्रकार वस्तु की मांग कीमत पर निर्भर करती है। जिस प्रकार वस्तु की मांग कीमत पर निर्भर करती है, उसी प्रकार उपभोग की प्रवृति आय पर निर्भर करती है। अर्थात् उपभोग की प्रवृति तथा आय में फलनात्मक (Functional)[1] सम्बन्ध होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक समुदाय में लोगों की उपभोग-प्रवृति व्यक्तिगत रूप से 'चेतनात्मक प्रवृति' तथा 'वस्तु परक स्थितियों' पर भी निर्भर करती है। 'चेतनात्मक प्रवृति' में वे सब बातें सम्मलित होती हैं जिनको एक उपभोक्ता अपनी आय में से बचत करते समय ध्यान में रखता है। ऐसी बातें दूरदर्शिता, परिवारिक स्नेह, व्यक्तिगत स्वभाव, अधिक धन का लालच आदि होती हैं। 'वस्तुपरक स्थितियों के अन्तर्गत हम उन परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं जो ब्याज की दर, सरकारी कर-नीति, वस्तुओं के मूल्य, लाभ की आशाओं में परिवर्तन, एकाएक लाभ की सम्भावनाएं, क्षतिपूर्ति के लिये रक्खी जाने वाली रकम के रूप में होती हैं। कीन्स का विश्वास था कि अल्पकाल में (जिसमें ही आर्थिक प्रवृतियों के अध्ययन की विशेषता है) मनुष्य की मनोवैज्ञानिक विशेषतायें व सामाजिक आचरण (चेतनात्मक प्रवृति) तथा वस्तु-परक स्थितियों के परिवर्तन सामान्यतः स्थिर रहती हैं और इसलिये अल्पकाल में उपभोग की प्रवृति पर केवल आय का ही महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार उपभोग प्रविृति अंकों की ऐसी सारिणी होती है जो यह बताती है कि विभिन्न आयों पर मुद्रा की कितनी मात्रा उपभोग पर व्यय की जाती है। इस सम्बन्ध में यह एक आधारभूत तथ्य है कि ज्यों-ज्यों आय बढ़ती है उपभोग भी बढ़ता है, किन्तु यह उस मात्रा अथवा अनुपात में नहीं बढ़ता जिसमें कि आय बढ़ती है। उदाहरण के लिए ७५रु आय पर ८०रु उपभोग, १००रु की आय पर उतना ही उपभोग, १२५रु की आय पर ११५रु उपभोग, १५०रु की आय पर १२५रु उपभोग, १७५रु की आय पर १३३रु उपभोग की प्रवृति देखने को मिलेगी। इसको आय

1. Function signifies a quantity so connected with another, so that any change in the one produces a corresponding change in other.

व्यय-बचत के सम्बन्ध को बतलाते समय भी बतलाया जा चुका है। यदि इन्हीं आकड़ों को ग्राफ पर अंकित किया जाय तो इसके फलस्वरूप बनने वाले वक्र को उपभोग-प्रवृति वक्र कहा जाएगा। यह जानने के लिए कि किसी दी हुई आय पर औसत उपभोग प्रवृति क्या होगी, आय पर किए गए उपभोग पर उस आय की मात्रा से भाग देना पड़ेगा। इसको निम्न चित्र द्वारा बतलाया जा सकता है:—



उपभोग की प्रवृति को बढ़ाने के लिए कीन्स ने साधनों का भी उल्लेख किया है। उनका विचार था कि यदि अधिक आय पाने वाले व्यक्तियों से आय का हस्तान्तरण कम-आय वाले व्यक्तियों को कर दिया जाता है तो समुदाय की उपभोग प्रवृति बढ़ जाएगी। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि कम-आय-स्तर पर आय के अधिक बड़े भाग का उपभोग किया जाता है परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि धनीवर्ग द्वारा प्रस्तुत विरोध के कारण ऐसा कर सकना बहुत कठिन होता है। इसीलिये कीन्स इसके स्थान पर विनियोगों के द्वारा आय, आय के द्वारा उपभोग-प्रवृति (propensity to consume) और फिर रोजगार बढ़ाने के पक्ष में थे। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है किसी समूह की उपभोग-प्रवृति प्रायः स्थिर रहती है, और इसलिये 'प्रभावशाली माँग' विनियोगों पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर रहती है। यह बतलाने के लिये कि विनियोग किस प्रकार प्रारम्भिक-मात्रा से कई गुना अधिक आयों का निर्माण करती है, कीन्स ने गुणक (multiplier) के विचार का सहारा लिया।

गुणक (Multiplier) * : वास्तव में आर० एफ० काह्न (R. F. Kalhn) सब से पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होंने गुणक के विचार को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में रखा। उन्होंने बतलाया कि यह "विनियोजन (Investment) उद्योग में प्रारम्भिक रोजगार में थोड़ी वृद्धि करने के परिणामस्वरूप कुल रोजगार में होने वाली वृद्धि के अनुपात की माप होती है।"[1] इस प्रकार काह्न ने 'रोजगार गुणक' (Employment Multipler) का विचार प्रस्तुत किया जो इस बात पर आधारित है जब कभी किसी विनियोजन उद्योग में रोजगार को बढ़ाया जाता है तो कुल रोजगार में जो वृद्धि होती है वह ठीक उतनी ही मात्रा में नहीं होती जितनी मात्रा में वास्तव में वृद्धि की गई है अपितु वह इस वास्तविक मात्रा की कई गुना अधिक होती है। कीन्स (Keynes) ने रोजगार-गुणक (employment multiplier) के स्थान पर विनियोजन-गुणक (Investment multiplier) के विचार का प्रतिपादन किया। विनियोजन-गुणक हमें बताता है कि जब सामूहिक विनियोजन (Aggregate Investment) में वृद्धि की जाती है तो उसके फलस्वरूप कुल आय उस मात्रा में बढ़ती है जो प्रारम्भिक विनियोग के कई गुना अधिक होती है।"[2] यदि $\triangle^{i}$ सामूहिक विनियोजन में प्रारम्भिक वृद्धि को एवं $\triangle^{y}$ बढ़ी हुई कुल आय को प्रदर्शित करती है, जो $\triangle^{y}=k\triangle^{i}$ अथवा विनियोग-गुणक $=K$. इसको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। मान लीजिये किसी समुदाय की उपभोग-प्रवृत्ति $\frac{४}{५}$ है और उसमें १०० रु० की आय, किसी विनियोग के कारण, एक वर्ग को प्राप्त होती है। समुदाय अपनी उस १०० रु० की आय में से १०० $\times \frac{४}{५}=$ ८० रु० का व्यय उपभोग वस्तुओं पर करेगा। ८० रु० का यह व्यय समुदाय की दूसरे वर्ग की फिर आय होगी जिसमें से फिर ८० $\times \frac{४}{५}=$ ६४ रु० व्यय किये जायेंगे। ६४ रु० का यह व्यय समुदाय की तीसरे वर्ग की फिर आय होगी जिसमें से फिर ६४ $\times \frac{४}{५}=$ ५१.२ व्यय किये जायेंगे। यह क्रम चलता रहेगा। यदि यह सब आय जोड़ दी जाय (१०० + ८० + ६४ + ५१.२ ....) और इस प्रकार कुल आय ४०० रु० प्राप्त की जाती है तो विनियोजन-गुणक $\frac{४००}{१००}=$ ४ माना जायेगा।

इस प्रकार कीन्स ने यह बतलाने की चेष्टा की कि विनियोगों को बढ़ाकर

---

1. "......measures the ratio of the increment of primary employment in the investment industries."

2. "Investment multiplier tells us that when there is an increment of aggregate investment, income will increase by an amount which is K times the increment of investment."

* See also chapter VIII of this volume.

क्रमागत रूप में आय और फिर उपभोग-प्रवृत्ति तथा रोजगार को बढ़ाया जा सकता है। विनियोगों के बढ़ाने के लिये कीन्स (Keynes) ने दो तरीकों का उल्लेख किया : निजी एवं विदेशी विनियोगों को बढ़ाकर तथा सरकारी विनियोग बढ़ा कर। पर निजी एवं विदेशी विनियोगों का बढ़ना 'पूंजी की सीमान्त क्षमता' तथा 'ब्याज की दर' पर काफी अंशों में निर्भर करता है।

पूंजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital) : पूंजी की सीमान्त क्षमता की व्याख्या करते हुए कीन्स ने लिखा है कि "अधिक उचित रीति से, मैं पूंजी की सीमान्त क्षमता को बट्टे की उस दर के बराबर कहता हूं जो आस्तियों के जीवनकाल में प्राप्त होने वाली वार्षिक प्राप्ति की मात्रा के वर्तमान मूल्य को उसकी पूर्ति कीमत के बराबर कर देती है।"[1] अर्थात्, सीमान्त क्षमता वह दर होती है जिससे कि किसी आस्ति की एक अधिक इकाई के प्रयोग करने से होने वाली भावी उपज (prospective yield) पर बट्टा (discount) लगाया जाता है जिससे कि भावी उपज उसकी पूर्ति कीमत के बराबर हो जाय। सीमान्त क्षमता यह भी बताती है कि बट्टे की दर क्या होनी चाहिये जिससे कि साहसी को इस आस्ति (asset) की एक अधिक इकाई का विनियोग करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सके। इस प्रकार पूंजी की सीमान्त क्षमता मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करती है : (१) भावी उपज (prospective yield) तथा (२) पूर्ति कीमत (supply price)। अतः पूंजी की सीमान्त क्षमता को बढ़ाने के लिए या तो भावी उपज को बढ़ाया जाय या पूर्ति कीमत को घटाया जाय। पूर्ति कीमत को घटाया नहीं जा सकता, क्योंकि यह उत्पत्ति की भौतिक दशाओं पर निर्भर करती है, जिनमें अल्प काल में परिवर्तन असम्भव होता है। भावी उपज हमारी आशाओं पर निर्भर करता है, जो स्वयं आशावाद-निराशावाद की भावनाओं पर निर्भर करता है। सरकार व्यवसायियों को करों के द्वारा निराशावादी तो शीघ्र बना देती है पर आशावादी बड़ी कठिनता से बना पाती है।

ब्याज की दर (rate of interest) : विनियोग में परिवर्तन लाने के लिए 'ब्याज की दर' काफी उपयुक्त सिद्ध होती है। ब्याज की दर दो बातों पर निर्भर करती है : मुद्रा पसंदगी (Liquidity preference) एवं मुद्रा की मात्रा

---

1. "More precisely, I define the marginal efficiency of capital as being equal to that rate of discount which would make the present values of the series of annuities given by the returns expected from the capital asset during its life just equal to its supply price."

— General Theory – p. 135

2. See Chapter VIII of this volume.

(quantity of money) द्रवता पसंदगी मनोवैज्ञानिक धारणाओं द्वारा निर्धारित होता है तथा इसमें परिवर्तन लाना सरकार के बस में नहीं होता। मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन करके सरकार अवश्य ब्याज की दर को प्रभावित कर सकती है। पर कीन्स का मत था कि विनियोगों में परिवर्तन लाने के लिए यह साधन (ब्याज की दर) विशेष अनुकूल दशाओं में ही सफल सिद्ध होता है। 'संकट' की दशा में यह साधन भी असफल होता है जैसा कि महामन्दी काल (Great Depression) के इतिहास से विदित है।

सरकारी व्यय का महत्व :

पूंजी की सीमान्त क्षमता एवं ब्याज दर की सीमाओं (limitations) के कारण निजी एवं विदेशी विनियोग को बढ़ाकर उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume) में इस प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता जिससे प्रभावशाली माँग (Effective demand) को बढ़ाया जा सके। विनियोगों को बढ़ाने का उत्तम साधन 'सरकारी विनियोग' का बढ़ाना ही है। ऐसा कीन्स का भी विश्वास था। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सरकार ऐसी स्थिति में होती है कि वह रोजगार को बढ़ाने के उद्देश्य से प्रभावशाली माँग को बढ़ाने के लिए बिना 'पूंजी को सीमान्त क्षमता' अथवा 'ब्याज की दर' को ध्यान मे लिए विनियोग बढ़ा सकती है। सरकार द्वारा कल्याणकारी एवं अनुत्पादक व्यय के किये जाने अथवा उसके निरन्तर किये जाने के आश्वासन के फलस्वरूप नागरिकों में विश्वास उत्पन्न होगा एवं आशावाद की भावनायें बढ़ेंगी। इससे समाज की उपभोग-प्रवृति (Propensity to consume) में वृद्धि होगी और गुणक (multiplier) का मान ऊंचा होगा जिससे विनियोग की गई मुद्रा की मात्रा कई गुना अधिक आय निर्मित करेगी। इस संदर्भ में कीन्स ने यह भी विचार व्यक्त किया कि सरकार को व्यय उन्हीं कार्यों पर करना चाहिये जिन पर निजी व्यय (Private expenditure) नहीं होता। यदि सरकार उन्हीं कार्यों को हाथ में ले लेती है जिन पर निजी व्यवसायियों द्वारा विनियोगों को प्राप्त किया जा सकता है, तो उद्देश्य को प्राप्त करना कठिन होगा। अतः सरकार को सड़क, स्कूल, अस्पताल, पार्क बनवाने एवं कल्याणकारी सेवायें प्रदान करने में अपने व्यय को बढ़ाना चाहिये। कीन्स ने तो यहां तक कहा कि यदि ऐसे कार्य सम्भव न हों तो सरकार को गड्ढे खोदवाने और फिर उनको भरवाने का काम लेना चाहिये।

इस प्रकार कीन्स (Keynes) द्वारा प्रतिपादित रोजगार का सिद्धान्त परम्परावादी एवं मार्क्स के विचारधाराओं की अपेक्षा सामूहिक अर्थशास्त्र (macro-

economics) के अन्तर्गत अल्पकाल में गतिशील (dynamic) तथ्यों पर आधारित है, जो उनकी 'जनरल थ्योरी' (General Theory) के नाम से विख्यात है।

पूर्ण रोजगार की दशा लाने के उपाय :

पिछले पृष्ठों में किये गये विवेचन के फलस्वरूप हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था में पूर्ण-रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिये निम्नलिखित उपायों का अपनाना आवश्यक होता है :—

१. **उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन** देने के लिए सम्पत्ति तथा आय का पुनर्वितरण करना, जिसके लिए परोक्ष करों के स्थान पर प्रत्यक्ष एवं प्रगतिशील करों का सहारा लिया जा सकता है।

२. **विनियोगों में वृद्धि** के द्वारा सामूहिक आय में गुणात्मक रूप में वृद्धि करना, जिससे सामूहिक उपभोग की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देकर प्रभावशाली मांग को बढ़ाया जा सकता है।

३. विनियोगों को बढ़ाने के लिए **व्यक्तिगत विनियोगों को प्रोत्साहन** देना, जिसके लिये (i) ब्याज की दर को कम करके सुलभ मुद्रा नीति, (ii) उत्पादकों पर कर का भार हलका करने के लिए उपयुक्त करारोपण की नीति, (iii) सरकार द्वारा एकाधिकार— विरोधी नियमों की नीति, तथा (iv) विदेशी विनियोगों के प्रोत्साहन की नीति अपनाना आवश्यक होता है।

४. **सरकार द्वारा विनियोगी नीति**— जिस पर पूंजी की सीमान्त क्षमता (marginal efficiency of capital) एवं ब्याज की दर का प्रभाव नहीं पड़ता— का अपनाया जाना, जिससे उत्पादक तथा अनुत्पादक सेवाओं को प्रदान करने में सरकारी व्यय को बढ़ाया जा सके।

पूर्ण-रोजगार की दशा प्राप्त करने में सावधानियां :

पूर्ण-रोजगार की दशा को प्राप्त करने में इस बात से सावधान रहना चाहिये कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का काफी अंशों में हनन न हो, सरकारी व्यय के बढ़ जाने से मुद्रा-स्फीत की दशायें न उत्पन्न हो जायें और सार्वजनिक ऋण का भार अत्याधिक न होने पाये।

निर्देश पुस्तकें

J. M. Keynes : General Theory of Employment, Interest & Money, Chs. 4, 6, 7, 8.

D. Dillard : The Economics of J. M. Keynes, Ch. 4.

K. Kurihara : Monetary Theory & Public Policy, Ch. II.

अध्याय १६

भारतीय चलन एवं विनिमय व्यवस्था

(Indian Currency and Exchange)

प्रत्येक देश की मुद्रा प्रणाली के समझने के लिये दो क्षेत्र होते हैं—आंतरिक एवं वाह्य। आंतरिक क्षेत्र के अन्तर्गत देश की चलन प्रणाली की आंतरिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जबकि वाह्य क्षेत्र के अन्तर्गत देश–विदेश की चलन प्रणाली तथा अन्य विदेशों की चलन प्रणालियों का एक तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। भारतीय चलन प्रणाली का इतिहास बड़ा ही विचित्र है, जिसको अध्ययन की सुविधा के लिये हम निम्न भागों में बांट सकते हैं :

पहला भाग सन् १८०० से १८९३ तक; दूसरा भाग १८९४ से १९१४ तक; तीसरा भाग सन् १९१५ से १९१९ तक; चौथा भाग सन् १९२० से १९३९ तक; पाँचवा भाग सन् १९४० से १९४५ तक; तथा छठवाँ भाग सन् १९४६ से अब तक।

पहला भाग—(१८००—१८९३)

१८वीं शताब्दी के ब्रिटिश भारत में कोई भी प्रमाणिक सिक्का प्रचलित न था। उत्तरी भारत में चाँदी तथा सोने के सिक्के एक साथ चल रहे थे, किन्तु उनमें कोई भी निश्चित विनिमय अनुपात न था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्थापित होने के समय भारत में भिन्न-भिन्न विशुद्धता तथा भार के ९९४ चाँदी तथा सोने के सिक्के प्रचलित थे, जिनके मूल्य में दिन प्रतिदिन परिवर्तन होते रहते थे। ऐसी दशा में ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिये लगान वसूल करना तथा व्यापार करना बहुत कठिन हो गया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी की विभिन्न प्रेसीडेंसियों में विभिन्न प्रकार के सिक्के चलन में थे जिनसे भुगतानों में बहुत असुविधा हो रही थी। उसने चाँदी और सोने, दोनों सिक्कों को एक निश्चित विनिमय अनुपात पर एक साथ चलाने का निश्चय किया। किन्तु धातुओं के मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन होते रहने के कारण यह व्यवस्था अधिक दिन तक न टिक सकी। सन् १८०६ में डाइरेक्टरों ने चाँदी के रुपये को 'मूल्यमान' बनाने का निश्चय किया किन्तु, उनका अभिप्राय सोने के सिक्कों को चलन से बाहर निकालने का नहीं था।

अतः चलन प्रणाली में एकरूपता लाने के अभिप्राय से सन् १८३५ में एक अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार चाँदी के रुपये को प्रमाणिक सिक्का स्वीकार कर लिया गया और स्वतंत्र मुद्रा ढलाई की प्रणाली को स्थापित कर दिया गया।

सन् १८३५ के अधिनियम के बाद भी जनता की ओर से सोने के सिक्कों की मांग जारी रही जिसके फलस्वरूप १८४१ की एक घोषणा के अनुसार राजकीय खजानों को स्वतंत्रता पूर्वक प्रचलित सोने की मोहरों को स्वीकार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। किन्तु सन् १८४८-४९ में आस्ट्रेलिया और केलीफोर्निया में सोने की खानों का पता लग जाने तथा उसके फलस्वरूप सोने के मूल्यों में कमी हो जाने के कारण भारतीय खज़ानों से सोने के बदले चाँदी की मांग बढ़ गई। अतः सरकार ने स्वर्ण को विमुद्रित (demonetised) करके सोने में भुगतान करना तथा प्राप्त करना अस्वीकार कर दिया। व्यापार में दिन प्रतिदिन उन्नति होने के कारण जनता को अधिक मुद्रा की आवश्यकता बढ़ी और चाँदी के सिक्के समस्त मांग को पूरा करने के लिये पर्याप्त न थे। बैंकों का विकास भी इतना न हो पाया था कि वे व्यापारियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकतीं। जनता के अधिक अवरोध पर सन् १८६४ में सरकार ने (अ) सावरेन (Sovereign) तथा अर्द्ध सावरेन (Half Sovereign) —जिनका मुद्रण इंगलैंड तथा आस्ट्रेलिया की टकसालों में होता था—भारतीय १० और ५ रुपयों में परिवर्तनीय और सिक्कों के बदले में नोट प्रकाशित करने का निर्णय घोषित किया। किन्तु इन प्रयत्नों से भी स्थिति न सुधरी और जनता का विरोध बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप सही सुधार अपानने के लिये **मैस्फील्ड आयोग** (Masfield Commission) की नियुक्ति की गई। परन्तु आयोग की रिर्पोट पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भारतीय चलन प्रणाली के धात्वीक भाग का नियमन **भारतीय मुद्रण तथा टक्साल अधिनियम** १८७० के आधीन होने लगा, जिसके अन्तर्गत भारतीय चलन में प्रमाणिक सिक्का चाँदी का था पर सोने के सिक्कों का प्रचलन होता था तथा उसका गठबंधन इंगलैण्ड से कर दिया गया था जो स्वर्णमान (Gold Standard) पर था। सन् १८७१ में जर्मनी और बाद में डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन, तथा हालैण्ड ने स्वर्णमान अपनाया। दूसरी ओर फ्राँस, बेल्जियम, इटली तथा स्विटज़रलैण्ड ने आपस में मिलकर एक द्विधात्विक संघ (Bimetallic Union), जिसको Latin Monetary Union भी कहते हैं, स्थापित किया और सन् १८७४ में चाँदी के स्वतंत्र मुद्रण को तोड़ दिया। इन सब घटनाओं के परिणामस्वरूप संसार में चाँदी की मात्रा बहुत अधिक हो गई और उसके मूल्यों में स्वर्ण के

अनुपात में भारी कमी होने लगी। सोने और चाँदी के बाजारू अनुपात में परिवर्तन होने से वित्तीय सम्बन्धों में कठिनाई उत्पन्न होने लगी। विदेशी विनिमय दर नीची होने लगी और सस्ती चाँदी के आयात होने के कारण चाँदी के सिक्कों की संख्या बढ़ती गई तथा सामान्य मूल्यस्तर भी ऊंचा होने लगा। भारत सरकार को इंगलैण्ड के Home Charges का भुगतान करने के लिये अपेक्षाकृत पहले से अधिक धनराशि देनी पड़ने लगी जिसके कारण बजट में आधिक्य के स्थान पर घाटा होने लगा।

नीचे गिरती हुई विनिमय दर देश की अर्थव्यवस्था को बुरी तरह घायल कर रही थी। सरकारी बजटों का घाटा प्रतिवर्ष बढ़ता ही जा रहा था, जिनको पूरा करने के लिए करों की दर लगातार बढ़ती जा रही थी। जितनी राशि को प्राप्त करने की व्यवस्था की जाती थी वह सदैव ही आवश्यकता से कम रहती थी। कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त देश को अपने ऋण सम्बन्धी भुगतान करने के लिए पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का निर्यात करना पड़ रहा था। अनिश्चित परिस्थितियों में भावी मूल्य स्तर का अनुमान लगाना असम्भव था इसलिये उत्पादन में बहुत कमी होने लगी थी। विनियोजक (Investors) भी पूंजी का विनियोग करने के लिए तैयार न थे। योरुप तथा अमेरिका में विभिन्न देशों की मौद्रिक समस्याओं के सुलझाने के अभिप्राय से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। भारत ने भी इन सम्मेलनों से लाभ उठाने का प्रयत्न किया और अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान (International Bimetallism) में सम्मिलित हो गया। १८६७ में पेरिस सम्मेलन में यह निश्चय किया गया कि स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मान बदल दिया जाय, किन्तु सोने और चांदी का अनुपात इतनी नीची दर पर निश्चित नहीं होना चाहिये कि रजतमान (silver standard) वाले देश भी स्वर्णमान पर आ जायें।

सन् १८७८ में दूसरा सम्मेलन संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रयत्नों द्वारा हुआ, जिसका उद्देश्य सोने और चांदी के बीच एक ऐसा सामान्य अनुपात निर्धारित करना था जिससे अन्तराष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित हो जाय। तीसरा सम्मेलन जुलाई १८८१ में अन्तर्राष्ट्रीय द्विधातुमान स्थापित करने के लिए अमेरिका और फ्रांस के द्वारा हुआ। चौथा सम्मेलन भी अमेरिका ने ब्रुसेल्स (Brussels) में १८९२ में बुलाया। इसका उद्देश्य ऐसे उपाय ज्ञात करना था जिनसे विभिन्न देशों की चलन प्रणालियों में चांदी का उपयोग बढ़ जाय। परन्तु, इन सम्मेलनों का कोई प्रभाव भारत की मौद्रिक व्यवस्था पर न हुआ।

दूसरा भाग (१८९४ से १९१४ तक)

हरशल कमेटी :

चाँदी की स्वर्ण में कीमतों के गिरने के कारण रजतमान को बनाये रखने की कठिनाइयों की जांच करने तथा उसमें सुधार के उपाय बतलाने के लिये सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की। विशेषकर विदेशी विनिमय-दर के प्रभावों का **हरशल कमेटी** (Herschell Committee) ने बड़ी सावधानी से अध्ययन किया। कमेटी ने सुझाव दिया कि (अ) चाँदी के स्वतन्त्र मुद्रण के लिए टकसालें बन्द करने के साथ-साथ यह घोषित कर दिया जाय कि यद्यपि टकसालें जनता के लिए बन्द हैं, उनका प्रयोग सरकार द्वारा १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर पर सोने के बदले में रुपया ढालने के लिए किया जायगा; और (ब) सरकारी कोषागारों (Treasuries) में जनता से भुगतान में सोना पिछली दर से ही लिया जायगा। हर्शल कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया और सन् १८९३ में भारतीय मुद्रण नियम बनाया गया। चाँदी का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द कर दिया गया। साथ ही साथ (i) टकसाल पर सोने के सिक्के एवं धातु रुपयों के बदले में १ शि० ४ पें० प्रति रुपया की दर से बदले जाने; (ii) सावरेन या अर्द्ध सावरेन को क्रमश: १५ तथा ७½ रुपये की दर से भुगतानों में स्वीकार करने; तथा (iii) कागजी नोटों को सोने के सिक्कों तथा धातु के बदले में पिछली ही दर पर दिये जाने की घोषणायें की गईं।

टकसालों को बन्द करने का मुख्य उद्देश्य यह था कि 'रुपया' की संख्या कम हो जाय और उसका मूल्य बढ़ जाय, किन्तु प्रारम्भ में इसके विपरीत हुआ। पर कुछ वर्षों बाद विनिमय दर फिर से १ शि० ४ पें० हो गई, क्योंकि एक ओर तो चलन की मात्रा कम हो गई थी और दूसरी ओर भारत का व्यापार बढ़ रहा था। जबकि व्यापार में ३९% की वृद्धि हुई थी चलन की मात्रा केवल ४% ही बढ़ी थी और सब प्रकार के विनिमय माध्यमों के संदर्भ में चलन में केवल २१% की वृद्धि हुई थी। १८९३-९८ के बीच कटौती दरें (Discount Rates) ४% से ८% हो गई थीं।

फाउलर कमेटी :

देश में स्वर्णमान स्थापित करने तथा उसके लिए एक कोष की स्थापना करने तथा १८९८ के प्रस्ताव की जांच करने के लिए **फाउलर कमेटी** (Fowler Committee) नियुक्त की गई। कमेटी को उन सभी मामलों की जाँच करनी थी, जिनको वह भारत में एक संतोषजनक चलन—प्रणाली स्थापित करने के लिए आवश्यक समझती थी। यद्यपि भारत सरकार का इसके लिये प्रस्ताव इस विश्वास पर आधारित था कि

'रुपये' की विनिमय दर बढ़ने के कारण टकसालें बन्द हो गईं थीं जिससे चलन की मात्रा कम हो गई थी, किन्तु कमेटी का विचार था कि वह अन्य कारणों से ऊंची हुई थी। इसके अतिरिक्त स्थिति अब काफी सुधर चुकी थी और विनिमय दर १ शि० ४ पें० पर ही स्थिर थी। इसलिये कमेटी ने भारत सरकार के कोष सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार नहीं किया। कमेटी ने तीन बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया था : (अ) चाँदी की स्वतन्त्र मुद्रण के लिए टकसालें खुलनी चाहिये अथवा नहीं ? (ब) भारत को क्या एक ऐसे स्वर्णमान की, बिना सोने को चलन में लाये हुए या सोने को चलन में लाकर, आवश्यकता है ? और (स) विनिमय दर को कहाँ पर निर्धारित किया जाये। कमेटी टकसालों को पुनः जनता के लिये खोलने के पक्ष में नहीं थी। कमेटी ने स्वर्णमान की स्थापना के लिये तो सिफारिश की पर उसका सुझाव था कि एक **प्रभावशाली स्वर्णमान** स्थापित किया जाय क्योंकि उनके अनुसार भारत सरकार के लिए £ २,१०,९१,०६३ के मूल्य का सोना एकत्रित करना संभव न था।

कमेटी ने **प्रोबिन तथा लिन्डसे की स्वर्णमान सम्बन्धी योजनाओं** को भी, जिन्हें भारत सरकार ने अपने प्रस्तावों के साथ भेजा था, अस्वीकार कर दिया। कमेटी का पूर्ण विश्वास था कि "कोई भी प्रणाली, जिस में सोने के सिक्के चलन में नहीं होंगे अविश्वास से देखी जायगी।" फाउलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दिया कि:—

१—सावरेन को भारत का प्रमाणित सिक्का बनाया जाय; २—रुपया एक सांकेतिक सिक्का हो, किन्तु वह सीमित कानूनी ग्राह्य (Limited legal tender) हो; ३—टकसालों को बन्द रक्खा जाय; ४—सरकार को अपने स्वर्णकोष का उपयोग केवल विदेशी भुगतानों के लिये ही करना चाहिये (जब विनिमय दर स्वर्ण बिन्दु के नीचे गिर जाय और जब सोने के निर्यात की अत्यधिक आवश्यकता हो; ५—सरकार को सोने के बदले रुपया देते रहना चाहिए, किन्तु इस सीमा तक नहीं कि नये सिक्के ढालने पड़ें। सोने का अनुपात जनता की आवश्यकता से अधिक होने पर नये सिक्के ढाले जा सकते हैं; ६—एक स्वर्णकोष स्थापित किया जाय तथा सिक्कों के ढालने से जो लाभ हो वह सोने के रूप में एक अलग कोष में रक्खा जाय। स्वर्णकोष से केवल परिवर्तन की सुविधा प्रदान की जाय; तथा, ७— विनिमय दर १ शि० ४ पें० प्रति रुपया पर बनाये रक्खी जाय। भारत सरकार ने कमेटी के सुझावों को मान कर 'भारतीय सिक्का ढलाई अधिनियम १८९९' पास किया। परन्तु ब्रिटिश कोषागार (British Treasury) ने सोने के सिक्कों (Soveriegn) की टकसाल खोलने के प्रस्ताव पर आपत्ति की। इसके

साथ साथ यद्यपि भारत में सावरेन कानूनी ग्राह्य था परन्तु भारतवासी सावरेन को लौटा कर रुपयों की माँग कर रहे थे। इसके अतिरिक्त यद्यपि कमेटी द्वारा प्रस्तावित स्वर्णमान कोष तो स्थापित कर दिया गया था किन्तु उसके रूप, स्थान तथा उपयोग में पूर्ण परिवर्तन कर दिये गये थे। इस प्रकार जबकि सिद्धान्त में 'फाउलर कमेटी' के सुझावों को स्वीकार कर लिया गया था, व्यवहार में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति पूर्णरूप से स्थापित हो गई थी।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard in India)

जिस स्वर्ण विनिमय मान को स्थापित करने में सरकार को इतने वर्ष लगे थे, वह वही प्रसिद्ध 'लिन्डसे योजना' थी, जिसे फाउलर कमेटी ने अस्वीकार कर दिया था। यह मान सर्वप्रथम हालैण्ड में सन् १८७७ में स्थापित की गई थी। तत्पश्चात् १८९२ में रूस, आस्ट्रिया और हंगरी ने इसे स्थापित किया। किन्तु जैसे कि कीन्स (Keynes) ने कहा है कि पूर्ण रूप से यह सर्वप्रथम हमारे देश में ही स्थापित की गई थी। इस पद्धति की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थीं:—

१— भारतीय रुपया असीमित कानूनी ग्राह्य था और एक बहुत बड़ी सीमा तक अपरिवर्तनीय भी था;

२— सावरेन असीमित कानूनी ग्राह्य था और १५ रुपये प्रति पौंड की दर पर परिवर्तनीय था;

३— शासन की सुविधा के लिये सरकार सदैव ही उक्त दर पर रुपयों को सावरेन में बदलने के लिये तैयार थी किन्तु क्योंकि सोना सदैव ही भारत में एक बड़ी मात्रा में नहीं मिल सकता था, इसलिये इस प्रथा को बन्द भी किया जा सकता था;

४— प्रबन्ध की कुशलता के लिये सरकार कलकत्ते में रुपयों के बदले १ शि० ३-२९/३२ पें० प्रति रुपया की दर से बिलों का क्रय करती थी। अतः इस पद्धति का मुख्य उद्देश्य बिना स्वर्ण को बड़ी मात्रा में रोके हुये और सोने और सोने के सिक्कों के ढालने में बिना किसी व्यय के ही रुपया की विनिमय दर को स्थिर रखना था।

सन् १९०९—१९१३ के समृद्धि काल ने एक ओर तो रुपये के नये सिक्कों को ढालने के लिये, जिसके कारण सिक्का ढलाई से सबसे अधिक लाभ हुआ, और दूसरी ओर भारतीय सरकार को बंबई की टकसाल में सावरेन के सिक्के ढालने की आज्ञा के लिये सेक्रेटरी आफ स्टेट (Secretary of State) को प्रस्ताव भेजने

को विवश किया। सेक्रेटरी आफ स्टेट ने सभी बातों को विचार के लिये चेम्बरलेन कमीशन के सुपुर्द कर दिया।

चेम्बरलेन आयोग :

चेम्बरलेन आयोग (Chamberlane Commission) १९१३ के अनुसार भारत में स्वर्णमान बनाये रखने के लिये सिक्कों का चलाना आवश्यक न था, क्योंकि उनका विचार था कि पिछले १५ वर्षों में इसके बिना मौद्रिक मान दृढ़ता पूर्वक कार्य करता रहा। आयोग ने भारत सरकार के इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया कि भारत में सोने के सिक्कों को ढालने के लिये टकसाल स्थापित की जाय। परन्तु उन्होंने अपना यह विचार व्यक्त किया था कि यदि भारतीय सरकार उसकी लागतों को सहन करने के लिये तैयार थी तो सावरेन एवं अर्ध-सावरेन के ढाले जाने पर उनको कोई आपत्ति न थी। स्वर्णमान कोष के सम्बन्ध में आयोग के बहुमत ने यह निश्चित किया कि स्वर्णमान कोष को बढ़ने दिया जाय, इसमें चाँदी के रुपयों की ढलाई के सम्पूर्ण लाभ जमा किये जांय तथा इस कोष को लन्दन में ही रक्खा जाय। आयोग ने मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचपूर्ण बनाने के अभिप्राय से यह सुझाव दिया कि पत्र मुद्रा की मात्रा को बढ़ाया जाय जिसको मुख्य रूप से अरक्षित (Fiduciary) भाग को ही बढ़ाकर ही किया जाय। इनके अतिरिक्त आयोग ने भारत सरकार के वित्तीय प्रबन्ध को सुधारने के अभिप्राय से भी अनेक सुझाव दिये।

परन्तु इसके पहले कि उन सुझाओं पर कुछ ध्यान दिया जाता तथा उनको अपनाने के लिये कुछ वैधानिक सुविधाओं की व्यवस्था की जाती, प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

तीसरा भाग (१९१४-१९)

प्रथम महायुद्ध छिड़ने के पहले भारत के मुद्रामान में बहुत से परिवर्तन हुये थे। १८३५ में रजतमान (Silver standard) स्थापित किया गया था। १८९३ में, यद्यपि रजतमान स्थापित रहा, चाँदी के सिक्कों का स्वतन्त्र मुद्रण बन्द करा दिया गया था। १८९९ में स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard) स्थापित किया गया और १९१४ में बिना सोने के सिक्कों को चलाये हुये स्वर्णमान स्थापित करने के लिये निर्णय लिया गया था। इस सारे काल में सरकार और जनता के सम्मुख दो प्रमुख समस्यायें रहीं अर्थात् आवश्यक मुद्रामान की समस्या तथा विदेशी विनिमय दर के स्थायित्व की समस्या—यद्यपि ये दोनों समस्यायें एक

दूसरे पर अवलम्बित थीं। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय यद्यपि कि चेम्बरलेन आयोग की सभी सिफारिशों को कार्यान्वित नहीं किया गया था, परन्तु वास्तव में स्वर्णमान अपना रक्खा गया था। सोने के सिक्के (सावरेन, अर्द्ध सावरेन) चलन में थे और ये चाँदी के रुपये के सहायक सिक्कों में सम्मिलित थे। रुपया तथा सावरेन असीमित कानूनी ग्राह्य थे और दोनों का विनिमय अनुपात १ : १५ था। विनिमय दर को स्थिर रखने के लिये 'कांउसिल ड्राफ्ट' एवं 'रिवर्स कांउसिल ड्राफ्ट्स' बेचे जाते थे*। इस प्रकार सैद्धांतिक रूप में तो स्वर्णविनिमय मान था परन्तु व्यवहारिक रूप में स्वर्णमान था। युद्ध छिड़ने के तुरन्त बाद मौद्रिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन कर दिये गये : १—स्वर्णमान कोष की चाँदी सम्बन्धी शाखा को तोड़ दिया गया; २-विनिमय दर के गिरने के समय में अपनाये जाने वाले अनेक उपायों (विनिमय नियन्त्रण) का निर्णय किया गया; तथा ३- नोटों को भुनाने के लिये अधिक सुविधायें प्रदान की जाने लगीं।

भारतीय मुद्रा प्रणाली के लिये युद्ध के प्रारम्भिक वर्ष बड़े ही दुखदाई थे। इस काल में भारतीय व्यापार एवं वाणिज्य की दशा शोचनीय हो गई जिसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय दर गिरती रही। बैंकों में से लोग अपनी जमा निकालते जा रहे थे। नोटों को सिक्कों में भुनाने के लिये जनता में आतुरता बढ़ती जा रही थी और भारतीय 'स्वर्ण स्टाक' कम होते जा रहे थे। प्रारम्भ की स्थिति पर काबू पाने के लिये सरकार ने शीघ्र प्रयत्न किये और कांउसिल ड्राफ्टों की पुरानी विधि को अपनाकर विदेशी विनिमय को सुदृढ़ बनाने की चेष्टा की। युद्ध के बाद के वर्षों में भारत का व्यापार सन्तुलन अनुकूल होता गया क्योंकि निर्यात बढ़ते जा रहे थे। देश में रुपयों की मांग बढ़ती जा रही थी जिसके फलस्वरूप स्टर्लिंग के अनुपात में रुपये का मूल्य बढ़ता गया। विनिमय दर को स्थिर रखने के अभिप्राय से मुद्रा की मात्रा में विस्तार किया जाने लगा। विनिमय दर में वृद्धि और विनिमय नियंत्रण को सरकार ने बढ़ती हुई रुपये की मांग को रोकने के लिये अपनाया था। यद्यपि सरकार ने मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने के लिये २० करोड़ रुपये की चाँदी खरीदी थी फिर भी नये प्रकार के मितव्ययी सिक्कों (कम चाँदी वाले सिक्के) का ढालना शुरू किया गया।

इस प्रकार युद्ध छिड़ने के समय भारत में जो मौद्रिक प्रणाली स्थापित थी वह न तो किसी आयोग के सुझावों पर आधारित थी और न काफी सोच-विचार कर अपनाई गई थी। समय की आवश्यकतानुसार मुद्रा प्रणाली के अनेक अंशों को अपनाया गया। इसलिए युद्ध समाप्त होने के बाद सरकार के सामने फिर वही समस्या आ गई कि किस प्रकार की मौद्रिक प्रणाली को अपनाया जाय।

*विनिमय नियन्त्रण का अध्याय देखिये।

चौथा भाग— (१९२०-३९)

युद्ध के पश्चात् भारत की मुद्रा प्रणाली की विशेष समस्यायें इस प्रकार थीं—

१. युद्ध के बाद भारतीय वस्तुओं की माँग निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी क्योंकि अब इनकी आवश्यकता शांतिकालीन निर्माण के लिये प्रतीत हो रही थी।

२. चाँदी के मूल्यों में बराबर वृद्धि हो रही थी।

३. डालर स्टर्लिंग के बीच विनिमय दर के परिवर्तनों के फलस्वरूप हमारी विदेशी विनिमय दर भी परिवर्तित हो रही थी।

४. यद्यपि सन् १८९३ से जो मुद्रा प्रणाली विकसित हुई थी उसने बड़ी सफलतापूर्वक कार्य किया था किन्तु वह चाँदी के मूल्यों की वृद्धि को रोकने में असमर्थ रही।

बैबिंगटन स्मिथ कमेटी :

युद्ध के पश्चात् १९१९ में श्री बैबिंगटन स्मिथ की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गई जिसका मुख्य कार्य भारतीय परिस्थितियों को अध्ययन करना था और उसके आधार पर पर्याप्त मौद्रिक प्रणाली का सुझाव देना था।

बैबिंगटन स्मिथ (Babington Smith) कमेटी ने भारतवर्ष के लिए विनिमय स्थिरता का बड़ा महत्व बतलाया। समिति ने रुपये को 'सीमित विधि ग्राह्य' मुद्रा बनाये रखने का विरोध किया और कागज के नोट निर्गमन की अनुपातिक कोष प्रणाली अपनाने का सुझाव दिया। समिति ने स्वर्ण तथा रजत का आयात-निर्यात स्वतन्त्र रूप से करने के लिये सिफारिश की। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश विनिमय दर सम्बन्धी थी। कमेटी ने सुझाव दिया कि विनिमय दर २ शि० स्वर्ण अर्थात् २ शि० १०$\frac{1}{2}$ पें० स्टर्लिंग निश्चित की जाय। समिति ने विनिमय दर को स्वर्ण में निश्चित करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किये। (क) स्टर्लिंग के मूल्यों में बराबर उच्चावचन हो रहे थे इसलिये ऐसी मुद्रा के साथ रुपये का गठ-बन्धन करना ठीक नहीं था। (ख) सोने और चाँदी का आयात-निर्यात और उनकी मुद्राओं का स्वतन्त्र टंकन करने के लिये यह आवश्यक था कि मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निर्धारित किया जाय। समिति ने रुपये की इतनी ऊंची दर रखने के लिये अनेक कारण बतलाये। उसके अनुसार भारत को विकास के लिये पूंजीकृत वस्तुओं की आवश्यकता थी, जिनका आयात ऊंची दर पर ही लाभप्रद हो सकता था। उपभोग वस्तुओं के लाभप्रद आयात से जनता को भी वस्तुयें सस्ती मिलने

की आशा थी। इनके अतिरिक्त ऊँची दर के फलस्वरूप भारत सरकार को गृह शुल्क (Home Charges) के रूप में दी जाने वाली राशि में भी लाभ की सम्भावनायें थीं। अन्त में समिति का यह भी अनुमान था कि ऊंची विनिमय दर पर ही रुपये को साँकेतिक मुद्रा के रूप में रक्खा जा सकता है। इन सुझावों की समिति के एकमात्र भारतीय सदस्य, सर दादीवा दलाल, ने कड़ी आलोचना की। उनके अनुसार भारतीय निर्यातों तथा भारतीय उद्योगों की ऊंची विनिमय दर पर बड़ी हानि होगी।

सरकार ने **बैबिंगट स्मिथ** कमेटी के सुझावों को स्वीकार कर लिया, और उनको व्यवहारिक रूप प्रदान करने के लिए आदेश जारी किये गये। सावरेन तथा अर्द्ध सावरेन की विधि ग्राह्यता समाप्त कर दी गई और कुछ समय के लिए उनकी दर १० रुपये, ५ रुपया निश्चित कर दी गई। सोने और चाँदी के आयातों पर से सभी प्रकार के नियंत्रण हटा लिये गये तथा नोटों को रुपयों में बदलने की सुविधा भी प्रदान की जाने लगी। पत्रमुद्रा कोष का पुनर्गठन किया गया जिसके अन्तर्गत कुल राशि का ५० % भाग धातु में रक्खा जाना था। सरकार ने २ शि० स्वर्ण की दर को स्वीकार तो कर लिया परन्तु कुछ समय पश्चात् यह दर गिरनी आरम्भ हो गई। इसका मुख्य कारण सटोरियों के कार्य एवं भारत का व्यापार सन्तुलन ही था। सरकार ने विनिमय दर को ऊंचा करने के लिए अनेक प्रयत्न किये परन्तु मार्च १९२१ में यह एक शि० २$\frac{7}{8}$ पें० तक पहुंच गई। इसके परिणामस्वरूप भारतीय आयातकर्त्ताओं को बड़ा नुकसान होने लगा। चांदी का मूल्य भी गिर कर ४४ पें० प्रति औंस तक आ गया था। १९२२ के बाद विनिमय दर पुनः बढ़ना शुरू हुई और १९२३ में इस दर को १ शि० ६ पें० पर स्टर्लिंग के क्रय-विक्रय द्वारा बनाये रखने की चेष्टा की गई।

हिल्टन कमीशन

अप्रैल सन् १९२५ में इंगलैण्ड ने स्वर्णमान अपना लिया जिसके फलस्वरूप १ शि० ६ पें० स्टर्लिंग तथा १ शि० ६ पें० स्वर्ण में कोई अन्तर न रह गया। अतः यह निश्चित करना आवश्यक था कि रुपये की विनिमय दर क्या रक्खी जाय। इसके अतिरिक्त भारत को यह भी तय करना था कि देश में कौन सा मुद्रामान अपनाया जाय तथा बैंकिंग व्यवस्था के उचित नियमन के लिये क्या किया जाय। इन तीनों समस्याओं तथा इनसे सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करके उचित सुझाव देने के लिये **१९२५ में श्री एडवर्ड हिल्टन यंग** की अध्यक्षता में एक आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने तत्कालिक मुद्रा प्रणाली की जांच की और उसके अनेक दोष बतलाये। उस समय भारतीय प्रणाली में दो

प्रकार की सांकेतिक मुद्रायें— कागजी नोट एवं चांदी के रुपये— चलन में थीं। सावरेन प्रमाणिक सिक्का था परन्तु चलन में न था। सरकार विनिमय दर की स्थिरता को बनाये रखने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक स्टर्लिंग को खरीदती तथा बेचती थी। इस प्रकार भारतीय मुद्रा प्रणाली एक सरल होने के बजाय जटिल थी। समिति के अनुसार प्रणाली के सुरक्षित कोषों का दुहरा होना दोषपूर्ण था। सांकेतिक मुद्रा के मूल्य को बनाये रखने के लिए सरकार ने दो कोष स्थापित किये थे। एक तो स्वर्णमान कोष दूसरे, पत्रमुद्रा कोष। इस प्रकार भारत में स्वर्ण विनिमय मान पद्धति स्वयं संचालित न थी। इसके अतिरिक्त बैंक कोष और मुद्रा सम्बन्धी कोष अलग अलग रक्खे जाते थे। इस प्रकार प्रणाली की व्यवस्था तथा नियंत्रण में एकीकरण का अभाव था। इन सब बातों पर आयोग ने १९२६ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें निम्नलिखित प्रमुख सिफारिशें की गई थीं :—

१- स्वर्ण धातुमान— आयोग के सामने यह समस्या थी कि स्वर्ण विनिमय मान, स्टर्लिंग विनिमय मान, स्वर्ण मुद्रामान तथा स्वर्ण धातुमान में से कौन सी मुद्रा व्यवस्था अपनाई जाय। स्वर्ण विनिमय मान तथा स्टर्लिंग विनिमय मान एक ही व्यवस्था थी क्योंकि स्टर्लिंग स्वर्ण पर आधारित थी। यह व्यवस्था १९१५ तक चलती भी रही। परन्तु हिल्टन यंग कमीशन ने इसकी अनेक बुराइयों के कारण अपनाने का सुझाव नहीं दिया। इसके मुख्य कारण देश विदेश में दो कोषों का होना, सरकार को निरन्तर सतर्क रहना तथा स्वयं संचालन का अभाव थे। आयोग ने स्वर्ण मुद्रा मान को भी भारत के लिये अनुकूल न समझा क्योंकि यह व्यवस्था अत्यन्त बेलोचदार एवं अधिक खर्चीली होती है। आयोग ने स्वर्ण धातुमान को अधिक उपयुक्त समझा जिसके अन्तर्गत रुपया असीमित विधि ग्राह्य हो तथा कम से कम ४०० औंस स्वर्ण २१ रु० ३ आने १० पाई प्रति तोला की दर से खरीदने तथा बेचने के लिए आश्वासन दिया जाय। इस प्रकार सुझाये गये नये मुद्रा मान में यह गुण थे—(अ) मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील थी। (ब) विनिमय दर में अधिक उतार-चढ़ाव होने की आशंका नहीं थी। (स) स्वर्ण को केवल कोष में रहने के कारण उसके अपकर्ष की आशंका नहीं थी।

२- विनिमय दर—हिल्टन यंग कमीशन के सदस्यों में विनिमय दर के सम्बन्ध में मतभेद था। आयोग के अधिकतर सदस्य १ शि० ६ पें० के समर्थक थे जबकि सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास के अनुसार विनिमय दर १ शि० ४ पें० ही उपयुक्त थी। दोनों पक्षों द्वारा, अपने मतों की पुष्टि के लिये मूल्य, सामंजस्य, गृह शुल्क, मुद्रा की सुरक्षा, ठेके तथा ऋण के सौदे, विदेशी विनिमय तथा स्वर्ण निर्यात के

भय सम्बन्धी तर्क प्रस्तुत किये गये। अन्त में आयोग ने १८ पें० की विनिमय दर का ही सुझाव दिया।

३- **रिजर्व बैंक आफ इंडिया**—हिल्टन यंग आयोग ने भारत में मुद्रा व्यवस्था तथा बैंकिंग पद्धति का उचित नियमन तथा संचालन के लिये केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया।

भारत सरकार ने १९२७ में 'चलन अधिनियम' पारित किया जिसके अन्तर्गत सरकार ने २१ रु० ३ आने १० पाई प्रति तोले की दर से ४०–४० तोले की स्वर्ण छड़, जिनका भार कम से कम ४०० औंस हो, क्रय तथा विक्रय करने का निश्चय किया। परन्तु सरकार ने यह अधिकार सुरक्षित रक्खा कि वह विदेशों के लिये स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग दे सकती थी। कम से कम ४०० औंस (१०६५ तो०) स्वर्ण का क्रय विक्रय का अर्थ यह था कि बड़े बड़े व्यापारी इसका लाभ उठा सकते थे। अतः व्यवहार में स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग विनिमय मान को ही अपनाया गया। सरकार ने १८ पें० की विनिमय दर को भी स्वीकार कर लिया। केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी सुझाव को भी सरकार ने स्वीकार कर लिया; परन्तु अत्यधिक विरोध के कारण रिजर्व बैंक सम्बन्धी विधेयक १९३४ में ही पास किया जा सका और पहली अप्रैल १९३५ से रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ किया।

स्टर्लिंग विनिमय मान

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है १९२७ के चलन विधान द्वारा सैद्धान्तिक रूप में भारत में स्वर्ण धातुमान की स्थापना हुई। परन्तु व्यवहारिक रूप में स्वर्ण विनिमय मान ही (जिसकी हिल्टन यंग कमीशन ने बड़ी आलोचना की थी) स्थापित हो गया। १९२७ के बाद भारत का व्यापार अच्छा होने लगा और अनेक उपायों द्वारा विनिमय दर को स्थायी रक्खा गया। २१ सितम्बर १९३१ को ब्रिटेन ने स्वर्ण मान त्याग दिया जिसके पश्चात् स्टर्लिंग की सोने में परिवर्तनशीलता समाप्त हो गई और स्टर्लिंग का मूल्य गिर गया। भारत सरकार के सामने भी यह प्रश्न आ गया कि रुपये को सोने में परिवर्तनीय रखा जाय या स्टर्लिंग में। २४ सितम्बर १९३१ को एक आदेश के अनुसार रुपये का सम्बन्ध सोने से अलग कर दिया गया और १ शि० ६ पें० की दर पर स्टर्लिंग से स्थापित कर दिया गया। यह भी बतलाया गया कि सरकार किसी भी प्रमाणित बैंक को इस दर पर २५,००० £ से कम नहीं बेचेगी। सरकार ने स्टर्लिंग का क्रय केवल वास्तविक, उचित, एवं व्यापारिक आवश्कताओं की पूर्ति के

लिये ही सीमित कर दिया। इस प्रकार भारत में पूर्णतया स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित कर दिया गया।

यद्यपि सरकार ने मौद्रिक मान के लिये उचित ही नीति अपनाई परन्तु फिर भी उसकी आलोचना की गई। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था को इंगलैण्ड की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित कर दिया गया था जिसके कारण भारत की अर्थव्यवस्था पर गम्भीर प्रभाव पड़े। १९२९ से ही भारतीय मूल्य गिरने आरम्भ हो गये थे और भारत के विदेशी व्यापार के परिवर्तनों के कारण विदेशी विनिमय दर पर बुरे प्रभाव पड़ने लगे। १९३६ में जब फ्रांस ने स्वर्ण मान त्याग दिया तो उस समय भी भारतीय रुपये का स्टर्लिंग के सम्बन्ध में अवमूल्यन की मांग की गई परन्तु इसका भी प्रभाव सरकार पर न पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के पहले भारत की अर्थव्यवस्था पर नई मुद्रा-प्रणाली के, मुख्य रूप से, निम्नलिखित प्रभाव पड़े—

(अ) **निर्यातकर्ताओं को हानि**—स्टर्लिंग के सम्बन्ध में रुपये के अधिमूल्यन से निर्यातकर्ताओं को काफी हानि उठानी पड़ी और इस प्रकार पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत अनुभव के आधार पर ठीक ही निकला।

(ब) **स्वर्ण का निर्यात**—भारत से भारी मात्रा में स्वर्ण का निर्यात हुआ। स्टर्लिंग का मूल्य स्वर्ण में गिर जाने और रुपये का स्टर्लिंगमें विनिमय मूल्य यथास्थिर बने रहने के कारण रुपये में स्वर्ण की कीमत बढ़ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि देश से स्वर्ण का निर्यात होने लगा। इंग्लैण्ड में स्वर्ण की कीमत और भी तेजी से बढ़ रही थी जिसके कारण भारतीय सर्राफों ने लाभ उठाने के अभिप्राय से स्वर्ण का निर्यात करना शुरू कर दिया था।

(स) **मुद्रा तथा साख प्रणाली में लोच का अभाव**— सन् १९२७ के चलन विधान में एक दोष यह भी था कि दुहरे कोषों की व्यवस्था हो गई थी और चलन-मुद्रा और साख का नियमन अलग अलग हो रहा था। मुद्रा और साख की मात्रा में आवश्यकतानुसार विस्तार और संकुचन संभव नहीं हो पा रहा था। १९३५ में रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भारतीय चलन मुद्रा व्यवस्था में लोच का अंश उत्पन्न हो गया और उसी के ऊपर विनिमय दर को यथास्थिर बनाये रखने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया।

पांचवाँ भाग— (१९३९ से १९४४ तक)

३ सितम्बर १९३९ को द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इसका

प्रभाव देश की सारी अर्थव्यवस्था पर पड़ा परन्तु मुख्य रूप से भारतीय चलन तथा विदेशी विनिमय व्यवस्था प्रभावित हुई। इनकी विवेचना इस प्रकार की जा सकती है :—

१– स्वर्ण तथा चाँदी की कीमतों में वृद्धि एवं उनके आवागमन पर प्रतिबंध :

युद्ध प्रारम्भ होते ही देश में कीमतें बढ़ने लगीं। स्वर्ण तथा चाँदी की कीमतों में भी वृद्धि होने लगी जिसके फलस्वरूप उनके आवागमन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

२– मुद्राप्रसार :

युद्ध काल में मुद्रा की मात्रा में बड़ी तेजी के साथ विस्तार हुआ। पत्र मुद्रा जो अगस्त १९३६ में १७६ करोड़ रुपये की थी १९४४-४५ में १०८५ करोड़ रुपये की हो गई। इसी काल में कुल मुद्रा की मात्रा में ७½ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और थोक कीमतों का निर्देशांक २३६·५ हो गया। मुद्रा प्रसार का मुख्य कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार अपने युद्ध संचालन के लिए भारत से जो माल खरीदती थी उसके बदले में रिजर्व बैंक को स्टर्लिंग-पावना देती गई। १९४५-४६ में ये पावने १७३३ करोड़ रुपये के मूल्य के थे। इसी काल में नोटों, रुपयों तथा छोटे सांकेतिक सिक्कों की भारी माँग होती रही। इस मांग को पूरा करने के लिए ही १९४२ में सरकार ने ½ (आधा) आने का सिक्का चलाया और उसी वर्ष जुलाई में १ रुपये का अपरिवर्तनशील नोट चलाये जाने का आदेश दिया। इसके साथ ही साथ रिजर्व बैंक आफ इंडिया ने भी २ रुपये के नोट को भी प्रचलन में डाल दिया। १९४० में रुपया, अठन्नी, चवन्नी के सिक्कों में चांदी का अंश $\frac{11}{12}$ से घटा कर ½ कर दिया गया और पुराने सिक्कों को वापस ले लिया गया। रुपयों का संचय तथा गलाना रोकने के लिये १९४३ में नये सिक्के भी चलाये गये। इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के समय मुद्रा प्रसार के साथ-साथ भारतीय मुद्रा के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ।

३– विदेशी विनिमय दर पर प्रभाव :

युद्ध के पूर्व रुपये का मूल्य स्टर्लिंग की अपेक्षाकृत अधिक निर्धारित हो गया था और इसीलिये अवमूल्यन की काफी माँग रही। भारत का विदेशी व्यापार बढ़ने और भुगतान संतुलन अनुकूल होने के कारण विदेशी विनिमय बाजार में रुपये की माँग बढ़ती गई और अवमूल्यन अनावश्यक हो गया।

४- विनिमय नियंत्रण—

द्वितीय महायुद्ध काल में विनिमय नियन्त्रण पहली बार लागू किया गया। विनिमय नियन्त्रण का नियमन करने के लिये सरकार ने रिजर्व बैंक को सिक्कों, विदेशी मुद्राओं तथा बहुमूल्य धातुओं में किये जाने वाले व्यवसाय को नियन्त्रण करने का अधिकार सौंप दिया। साम्राज्य के सभी देशों द्वारा अर्जित दुर्लभ मुद्रा को एक जगह संग्रह कर आवश्यक कार्यों पर ही व्यय करने के उद्देश्य से 'साम्राज्य डालर कोष' (Empire Dollar Pool) की स्थापना की गई। दुर्लभ मुद्राओं से अभिप्राय डालर तथा उन देशों की मुद्राओं से था जिनका भुगतान सन्तुलन अनुकूल रहता था और फलस्वरूप जिनकी मुद्राओं की विदेशी विनिमय बाजार में ऊंची कीमतें रहती थीं।

इम्पायर डालर कोष— (Empire Dollar Pool)

सन् १९३९ में, डालर तथा अन्य दुर्लभ मुद्राओं का समुचित व्यय करने के उद्देश्य से, ब्रिटिश साम्राज्य तथा राष्ट्र मन्डल (Commonwealth) के देशों ने मिलकर 'साम्राज्य डालर कोष' की स्थापना की। इस कोष की स्थापना से ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देशों द्वारा इस प्रकार के विदेशी विनिमय को ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। यह एक प्रकार की ऐच्छिक व्यवस्था थी जिसे साम्राज्य के सभी देशों ने, युद्ध सन्चालन के लिये आवश्यक वस्तुओं के आयात के अभिप्राय से, विदेशी विनिमय को संग्रह करने के उद्देश्य से स्थापित किया था। युद्ध काल में भारत का अमरीका के साथ भी भुगतान-सन्तुलन अनुकूल रहा। भारत द्वारा जमा किया जाने वाला इस कोष में विदेशी विनिमय ४५३ करोड़ रुपया का था जिसमें ४०५ करोड़ रुपये के डालर थे। कोष में से भारत में ३३९ करोड़ रुपये के मूल्य का विदेशी विनिमय था।

छठवां भाग (१९४५ के पश्चात्)

भारत में सितम्बर १९३१ से स्टर्लिंग विनिमय मान अपनाया गया जिसको विनिमय नियन्त्रण के अनेक उपायों द्वारा द्वितीय महायुद्ध के समय में भी बनाये रक्खा जा सका। युद्धोत्तर काल में मुद्रा प्रणाली उसी प्रकार की बनी रही, यद्यपि इसमें समय-समय पर परिवर्तन होते गये। १ मार्च १९४७ को भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता स्वतन्त्र रूप से प्राप्त कर ली। उसके लिये रुपये को स्वर्ण तथा डालर में परिभाषित किया गया (१रु०=०.२६८६०१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण अथवा ३०.२२५ सेन्ट)। स्टर्लिंग के साथ विनिमय दर १ शि०

६ पें० रक्खी गई। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा स्वर्ण में परिभाषित करनी पड़ी और फिर उन सदस्य देशों के मध्य विनिमय दर स्वर्ण समताओं के आधार पर निर्धारित की गई, इसीलिये इस मुद्रा प्रणाली को 'स्वर्ण समता मान' भी कहते हैं। सदस्यता के प्राप्त होने के बाद रिजर्व बैंक ने अपने पुराने विधान में सन्शोधन किये। पहले रिजर्व बैंक का उत्तरदायित्व था कि वह निश्चित दर पर स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करे तथा साथ ही स्टर्लिंग की प्रतिभूतियों के आधार पर नोटों का निर्गमन करे। नये विधान के अनुसार रिजर्व बैंक को अन्य देशों की मुद्राओं के क्रय-विक्रय का अधिकार दे दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सदस्यता प्राप्त कर लेने के बाद भारत की विदेशी विनिमय दर में काफी स्थिरता आ गई। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय चलन प्रणाली की विशेषतायें यह थीं :–

पौंड पावनों (Sterling Balances) का भुगतान :

युद्ध काल में ब्रिटिश सरकार ने मित्र राष्ट्रों तथा राष्ट्र मंडल के देशों से तमाम सामान खरीदा। इस सामान का भुगतान तत्काल न देकर इन देशों को स्टर्लिंग प्रतिभूतियां दे दी गईं जिनके आधार पर देशों ने अपने यहां नई मुद्रा को चलन में डाल दिया। १९४५ के अन्त तक इंगलैण्ड इस प्रकार ३७० करोड़ पौण्ड का कर्जदार हो गया था, जिसमें से दो तिहाई भाग स्टर्लिंग क्षेत्र के सदस्य देशों के थे। भारत सरकार ने भी ब्रिटिश युद्ध प्रयत्नों को इस रूप में सहयोग दिया। युद्ध आरम्भ होने के समय भारत इंगलैण्ड का ३६ करोड़ पौण्ड का ऋणी था। परन्तु युद्ध काल में न केवल यह ऋण चुकता हुआ बल्कि भारत १६६२ करोड़ रुपये का लेनदार हो गया। इसके मुख्य कारण इंगलैण्ड को माल का विक्रय, ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत के युद्धकालीन व्यय, साम्राज्य डालर कोष में भारत का अन्श, व्यापारिक दशायें एवं सोने तथा चाँदी के बेचने का क्रम इत्यादि थे। युद्ध समाप्त होते ही एक ओर भारत ने पौण्ड पावनों के भुगतान का प्रश्न उठाया और दूसरी ओर इंगलैण्ड में भारतीय पौण्ड पावनों की मात्रा कम करने का एक क्रमिक आंदोलन आरम्भ हो गया। इंगलैण्ड के वित्त मन्त्री श्री डाल्टन ने पौण्ड पावनों की मात्रा 'उचित आधार' पर निश्चत करने का विचार प्रगट किया। इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल ने भी यह विचार प्रगट किया कि इंगलैण्ड ने युद्ध केवल अपने लिये ही नहीं लड़ा। अत: भारत को अपने पौण्ड पावनों को कम कर त्याग करना चाहिये। इन तर्कों से भारत में अशांति फैली क्योंकि पौण्ड पावने भारतीय जनता की खून-पसीने की कमाई थी। निःसन्देह उन्हीं के आधार पर देश में अत्यधिक मुद्रा स्फीत हुआ और देश की जनता को भूखा, नंगा तथा कष्ट में रहना पड़ा। इस वाद-विवाद के फलस्वरूप १९४७ में पौण्ड पावनों के भुगतान

के सम्बन्ध में इंगलैण्ड की लेबर सरकार' ने भारत के दावे को स्वीकार कर लिया और भुगतान को कार्यान्वित करने के लिये भारत और इंगलैण्ड के बीच अनेक समझौते किये गये ।

१९४७ का समझौता : पौण्ड-पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में पहला समझौता १४ अगस्त १९४७ को हुआ । इस समझौते के अनुसार पौण्ड-पावनों की कुल राशि १२२.५ करोड़ पौण्ड अथवा १६३४ करोड़ रुपये आंकी गई। इस रकम में से ६.५ करोड़ पौण्ड (अथवा ८७ करोड़ रुपये) का प्रयोग किसी भी प्रकार का माल किसी भी देश से खरीदने में किया जा सकता था । इस राशि को 'चालू खाते' (खाता नं० १) में जमा कर दिया गया। शेष ११६ करोड़ पौण्ड (अथवा १५४७ करोड़ रुपये) का प्रयोग स्टर्लिंग क्षेत्र से पूँजीगत माल खरीदने के काम में किया जा सकता था। इस राशि को 'अवरुद्ध खाते' (खाता नं० २) में जमा कर दिया गया । इसके अलावा चालू व्यवस्था से भारत द्वारा अर्जित स्टर्लिंग भी 'चालू खाते' में रखने का समझौता किया गया। जनवरी १९४८ में १४ करोड़ रुपये (१८ मिलियन पौण्ड) के स्टर्लिंग, खाता नं० २ से चालू खाते में, हस्तान्तरित कर दिये गये। ३० जून १९४८ तक चालू खाते से ४ करोड़ रुपये के स्टर्लिंग व्यय हुये ।

१९४८ का समझौता : जुलाई १९४८ में भारत के कुल पौण्ड-पावने १५५० करोड़ रुपये के बराबर माने गये । इसमें से (i) १३३ करोड़ रुपये भारत में छोड़े गये इंगलैण्ड के फौजी सामान के, (ii) १२४ करोड़ रुपये इंगलैण्ड में बसने वाले भारतीय अधिकारियों की पेंशन के लिये और (iii) १२६ करोड़ रुपये पाकिस्तान के हिस्से के काट लिये गये । शेष १०६७ करोड़ रुपये के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया कि अगले तीन वर्षों में भारत इनमें से २१४ करोड़ रुपये स्वतन्त्र रूप से उपयोग कर सकेगा । यह भी निश्चित किया गया कि इस राशि में से प्रतिवर्ष केवल २० करोड़ रुपये के तुल्य राशि ही स्टर्लिंग के अतिरिक्त अन्य मुद्रा में बदली जा सकती थी । इस प्रकार जून १९५१ से बाद के लिये केवल ८५३ करोड़ रुपयों के पौण्ड-पावने रह गये। भारत में इस समझौते की बड़ी आलोचना हुई ।

१९४९ का समझौता : जुलाई १९४९ में एक और समझौता हुआ । यह समझौता इसलिये आवश्यक हो गया क्योंकि भारत के व्यापार संतुलन के घाटे को पूरा करने के लिये उपरोक्त समझौते के अनुसार मिलने वाली पौण्ड-पावनों की राशि पर्याप्त न थी । इस समझौते के अनुसार भारत को ८.१० करोड़ पौण्ड (१०८ करोड़ रुपया) के मूल्य का पूँजीगत माल पौण्ड पावने की राशि में से खरीदने का अधिकार मिल गया । इसके अतिरिक्त पुराने समझौते के अनुसार निर्धारित २१४ करोड़ रुपये की राशि को २४० करोड़ रुपये की राशि में परिवर्तित कर दिया

गया। इसके साथ ही १९४८ में पौण्ड-पावनों में से तय किये गये देने के लिये ६ करोड़ डालर की राशि को १९४९ में १५ करोड़ डालर कर दिया गया। १९५०–५१ में पूँजीगत माल खरीदने के लिये यह राशि १० करोड़ पौण्ड प्रतिवर्ष के लिये कर दी गई। इन रकमों को शीघ्र ही समाप्त कर दिया गया, क्योंकि १९४९ में रुपये का अवमूल्यन होने के कारण पौण्ड-पावनों की जो राशि डालर में परिवर्तित की गई उसका मूल्य ३०.५ प्रतिशत कम हो गया।

१९५१ का समझौता : १९५१ में ६ वर्ष के लिये एक नया समझौता किया गया। इसके अनुसार ३१ करोड़ पौण्ड (४१३.३ करोड़ रुपया) की राशि का प्रयोग किसी भी प्रकार का माल, किसी भी देश से, खरीदने में किया जा सकता था। अर्थात् यह राशि अवरुद्ध खाते(खाता नं० २) में से निकालकर चालू खाते(खाता नं० १)में जमा कर दी गई। परन्तु यह राशि रिजर्व बैंक द्वारा साधारणतया चलन–निधि के लिये ही प्रयोग में लाई जा सकती थी और उसका कोई भी अंश ब्रिटिश सरकार के पूर्व अनुमति के बिना व्यय नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा इस समझौते के अनुसार प्रतिवर्ष खाता नं० २ से खाता नं० १ में जमा की जाने वाली पौण्ड पावनों की राशि ४६.६७ करोड़ रुपये के मूल्य की निर्धारित की गई। आवश्यकता पड़ने पर निश्चित वार्षिक राशि के ऊपर भी ६.६७ करोड़ रुपयों तक के पौण्ड-पावने और भी निकाले जा सकते थे। यह भी निश्चित किया गया कि १ जुलाई १९५७ को खाता नं० २ में जो भी राशि होगी वह खाता नं० १ में स्वत: ही जमा कर दी जावेगी।

पौण्ड–पावनों के भुगतान के सम्बन्ध में यह (१९५१ का) अन्तिम समझौता था। १ जुलाई १९५७ को पौण्ड-पावनों की सारी राशि पर भारत सरकार का पूरा अधिकार हो गया जिसे वह अपनी इच्छानुसार व्यय कर सकती थी। अत: १९५१ के समझौते के पश्चात् भारत सरकार पौण्ड–पावनों के प्रयोग करने में लगभग स्वतन्त्र हो गई।

योजनावधि एवं पौण्ड–पावने : प्रथम पंचवर्षीय योजना–काल के प्रारम्भ में पौण्ड-पावनों की राशि ८८४.१८ करोड़ रुपये के बराबर थी। १९५१–५२ में भुगतान शेष के प्रतिकूल होने के कारण इसमें १६१.११ करोड़ रुपये के पावनों की कमी हो गई। पर इसके बाद स्थिति में सुधार हुआ, जिससे पौण्ड–पावने लगभग यथास्थिर बने रहे। १९५४ में इनका मूल्य ७२७ करोड़ रुपये के बराबर था। स्थिति में सुधार होते रहने के फलस्वरूप १९५५–५६ में इनका मूल्य बढ़कर ७४८ करोड़ रुपये के बराबर हो गया। परन्तु द्वितीय योजना (१९५६–५७ से १९६०–६१ तक) के आरम्भ होते ही पौण्ड–पावनों पर अत्यधिक भार पड़ने लगा। १९५६–५७ में ही पौण्ड-पावनों में २१९ करोड़ रुपये की कमी हो गई, जबकि

भुगतानशेष की पूर्ति के लिये ५५ करोड़ रुपये की रकम (विदेशी मुद्रा में) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार ली गई। ऐसी परिस्थिति का ही सामना करने के लिये सरकार ने रिज़र्व बैंक द्वारा नोटों के पीछे रक्खे जाने वाले निधि में परिवर्तन करना आवश्यक समझा। आयात पर प्रतिबन्ध होने के बावजूद भी पौण्ड-पावनों पर भार पड़ता ही रहा। १७ जून १९५८ को हमारे स्टर्लिंग-पावने २१७.७२ करोड़ रुपये के थे। १९५८ के २० से २७ जून के बीच में ही इस कोष में ९.५८ करोड़ रुपये की कमी हुई। जून १९६१ में इनकी मात्रा घट कर ११३.८७ करोड़ रुपये के मूल्य के बराबर रह गई। तृतीय पंचवर्षीय योजना (१९६१–६२ से १९६५–६६ तक) के प्रथम दो वर्षों में पौण्ड पावनों की राशि में ९ करोड़ रुपये की कमी हुई। इस प्रकार मार्च १९६३ में पौण्ड-पावनों की मात्रा केवल १०५ करोड़ रुपये थी जब कि निधि के रूप में रिज़र्व बैंक को ८५ करोड़ रुपये के रूप में इनको रखना अनिवार्य है।

इस प्रकार भारत द्वारा अर्जित पौण्ड–पावने, जिनका संग्रह विशेष रूप से द्वितीय महायुद्ध काल में हुआ था, लगभग भुगतान किये जा चुके हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि यह पौण्ड-पावने भारतवासियों के खून–पसीने की कमाई थी, क्योंकि इसके संग्रह के कारण (i) इंगलैण्ड तथा अन्य मित्र राष्ट्रों द्वारा भारत में की गई खरीद, (ii) रिज़र्व बैंक की वैधानिक व्यवस्था कि वह स्टर्लिंग के बदले रुपया दे, (iii) खरीदे गये माल के बदले स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की प्राप्ति और उनके बदले नोटों की निकासी, (iv) भारत के अनुकूल भुगतान शेष के बदले में भी स्टर्लिंग प्रतिभूतियों की प्राप्ति, (v) स्वर्ण एवं चांदी का विक्रय एवं, (vi) 'साम्राज्य डालर कोष' की व्यवस्था आदि थे। पर दुख का यह विषय है कि हम इनका उच्चतम रूप से उपयोग नहीं कर पाये। हमारी सरकार को परिस्थितिवश ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में छोड़े गये माल का काफी ऊँचा मूल्य देना स्वीकार करना पड़ा। इसके साथ ही पेंशनों के रूप में जो राशि भारत की सरकार को इंगलैण्ड को देना पड़ा वह भी काफी बड़ी थी। १९४७ के बाद हमारे देश के आयातों में खाद्यान्न एवं उपभोग वस्तुओं का स्थान काफी महत्वपूर्ण रहा है। यदि पौण्ड-पावनों का उपयोग पूँजीगत वस्तुओं के आयात के लिये ही किया जाता तो अधिक अच्छा होता। परन्तु इनका उपयोग चालू व्यापार के प्रतिकूल दशाओं को भी मिटाने के लिये करना न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। इसीलिये कुछ लोगों के विचारानुसार सरकार ने पौण्ड-पावनों का उपयोग उसी प्रकार किया है कि जैसे वे राष्ट्र के लिये 'आकस्मिक आय' के रूप में प्राप्त हुये हों। पर सभी परिस्थितियों को ध्यान मे रख कर ऐसा निष्कर्ष निकालना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of Rupee)*

१८ सितम्बर १९४९ को इंगलैण्ड के सर स्टाफोर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) द्वारा यह घोषणा किये जाने, कि ब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की अनुमति लेकर पौण्ड-स्टर्लिंग में ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन करने का निश्चय कर लिया है, के दो दिन बाद भारत ने भी २० सितम्बर १९४९ को रुपये का ३०.५ प्रतिशत अवमूल्यन करने की घोषणा कर दी। इन घोषणाओं के तुरन्त बाद इंगलैण्ड के £ का मूल्य ४.०३ $ (अमेरिका के डालर) प्रति £ से घट कर २.८० $ प्रति £ और भारत के रुपये का मूल्य ३०.२२५ सेन्ट्स प्रति रुपया से घट कर २१ सेन्ट्स प्रति रुपया हो गया। भारत के इस घोषणा के फलस्वरूप रुपये का मूल्य ०.२६८६०१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण (जो I. M. F. को बतलाई गई थी) के स्थान पर ०.१८६६२१ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण हो गया। क्योंकि भारत एवं इंगलैण्ड दोनों ने ही अवमूल्यन ३०.५ प्रतिशत किया, इसलिये उनकी परस्पर विनिमय दर उसी प्रकार (१ रु०=१ शि० ६ पें०) बनी रही। पाकिस्तान को छोड़कर सभी मित्र राष्ट्रों (Commonwealth Countries) ने इस नीति को अपनाया। कनाडा ने अपने डालर का १० प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया।

पौण्ड के अवमूल्यन का मुख्य कारण—डालर संकट : युद्धोत्तर काल को डालर-संकट-काल माना जाता है, क्योंकि इसमें स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों, (विशेषकर यूनाइटेड किंगडम), का डालर क्षेत्र के देशों (विशेषकर अमेरिका) के सम्बन्ध में भुगतान शेष प्रतिकूल होता जा रहा था। इसके कई कारण थे : (i) स्टर्लिंग क्षेत्र का विस्तृत रूप से अमरीकी पूर्ति पर निर्भर होना; (ii) खाद्यान्नों की कमी एवं अन्य कारणों का पुनर्विकास (recovery) में बाधा होना; (iii) इन देशों के आन्तरिक कीमत-स्तरों का ऊँचा होना; (iv) अमरीका जैसे देशों में, अधिक दक्षता के कारण, उत्पादन लागत का कम होना एवं कच्चे माल का भी उत्पादन बढ़ना, तथा (v) व्यक्तिगत विनियोगों के महत्व का कम होना। इन कारणों से 'डालर की कमी' ने भयंकर रूप ले लिया। १९४६ में यह कमी २२६ मिलियन £ और १९४७ में १०२४ मिलियन £ थी। अनेक उपायों (विनिमय नियंत्रण, मार्शल एड, विदेशों-विशेषतया अमरीका से-ऋण, मुद्राकोष एवं विश्व बैंक की सहायतायें, भुगतान समझौते आदि) के अपनाने के बावजूद भी स्टर्लिंग क्षेत्र के देश, विशेषकर संयुक्त राष्ट्र, अपने भुगतान शेष को सामान्य की स्थिति लाने में असफल रहे। अत: इंगलैण्ड को बाध्य होकर £ का अवमूल्यन करना पड़ा, जिसको देखकर अन्य देशों ने भी अवमूल्यन किया।

* See 'Objectives of Exchange Control'.

रुपये के अवमूल्यन के कारण : इंगलैण्ड द्वारा स्टर्लिंग के अवमूल्यन कर दिये जाने के बाद भारत के सामने तीन रास्ते थे : (i) डालर एवं रुपये का पूर्व समता दर बना रहने दिया जाता, तथा स्टर्लिंग में रुपये का मूल्य बढ़ा रहने दिया जाता; (ii) रुपये को अपना मार्ग स्वयं बनाने के लिये विनिमय दर स्वतन्त्र रखने दिया जाता; (iii) रुपये का स्टर्लिंग के समान अवमूल्यन कर दिया जाता। पहला मार्ग अपनाने से देश की कठिनाइयाँ बढ़ जातीं, क्योंकि स्टर्लिंग-क्षेत्रीय निर्यात कम हो जाते तथा आयात बढ़ जाते, यद्यपि मूल्य-स्तर नीचे हो जाने के कारण खाद्यान्न एवं पूँजीगत वस्तुयें सस्ती मिलने लगतीं। दूसरे मार्ग को इसलिये नहीं अपनाया जा सकता था क्योंकि कोई भी देश अपने विनिमय को स्वतन्त्र नहीं रख सकता था। भारत के सामने तीसरा मार्ग ही खुला था। इस प्रकार भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन करने के दो प्रमुख कारण बतलाये जा सकते हैं : (१) युद्ध जर्जरित भारतीय अर्थ-व्यवस्था और डालर क्षेत्र के साथ प्रतिकूल भुगतान शेष का होना तथा, (२) भारतीय रुपये का स्टर्लिंग के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होना। एक ओर तो देश में उद्योगों तथा यातायात के साधनों में पुनर्निर्माण तथा विकास के लिये मशीनों आदि की आवश्य-कता थी और दूसरी ओर देश में खाद्य पदार्थों की कमी थी। इसके अतिरिक्त देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति थी एवं सरकार के बजटों में घाटा था। इस प्रकार भारत की निर्यात क्षमता में काफी कमी थी। दूसरी ओर आयातों में वृद्धि हो रही थी। सन् १९४८ में भारत का अमरीका के साथ २७ करोड़ रुपयों का प्रतिकूल भुगतान संतुलन था। इसके साथ ही साथ यद्यपि ८ अप्रैल १९४७ को भारत द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सदस्यता प्राप्त कर लेने पर रुपये और स्टर्लिंग का वैधानिक गठबन्धन समाप्त हो गया था, फिर भी व्यवहार में दोनों में परस्पर सम्बन्ध बनाये रखने की दिशा में भारत सरकार सदा प्रयत्नशील रही। पौण्ड-पावनों की समस्या भी साथ में लगी हुई थी। अतः भारत अवमूल्यन के सम्बन्ध में सामान्य नीति न अपनाकर काफी नुकसान उठाता और दीर्घकाल तक भारत के विदेशी व्यापार के अस्त-व्यस्त हो जाने की संभावना थी। डा० जान मेथाई ने ठीक ही कहा था कि "इस मामले में मुझे अनिवार्य रूप से तर्क पर आधारित तथा परिस्थितियों की विवशता के कारण ही कार्य करना पड़ा है। इस प्रकार भारत में अवमूल्यन किये जाने के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं :—

(क) स्टर्लिंग क्षेत्र में अपनी निर्यात-वस्तुओं के प्रतियोगी उत्पादकों के होते हुये भी अपनी व्यापार स्थिति को पूर्वतः बनाये रखना।

(ख) देश की स्टर्लिंग भुगतान की स्थिति में कमी करना, जिससे हमारे पौण्ड-पावनों (sterling balances) के समाप्त होने के पूर्व ही हम अपने खाते समायोजित कर सकें।

(ग) डालर क्षेत्रों के लिये निर्यात प्रोत्साहित करने तथा इन देशों से आयात कम करना, जिससे हमारी डालर-आय बढ़ सके ।

(घ) भारत में उत्पादन वृद्धि करना तथा उत्पादन को बिक्री हेतु डालर क्षेत्र में भेजना ।

भारत में अवमूल्यन के प्रभाव

भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अनेक पहलुओं पर रुपये के अवमूल्यन के काफी गंभीर प्रभाव पड़े । संक्षेप में ये इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं :—

(अ) **भारत के विदेशी व्यापार पर प्रभाव** : अवमूल्यन के परिणाम आशा के अनुकूल हुये, क्योंकि एक ही वर्ष के भीतर भारत का निर्यात ४८० करोड़ रुपये से बढ़कर ६११ करोड़ रुपये हो गया (डालर क्षेत्र का व्यापार ११५ करोड़ रुपये से बढ़कर १५१ करोड़ रुपये हो गया)। इस प्रकार व्यापार में लगभग २७.५ प्रतिशत की वृद्धि हो गई और व्यापार शेष का घाटा २३२ करोड़ से घटकर ५ करोड़ रुपये के लगभग रह गया । अवमूल्यन के प्रभाव को व्यापक बनाने के लिये भारत सरकार ने एक योजना बनाई जिसके अनुसार नीति सम्बन्धी कुछ नियमों का प्रतिपादन किया गया । यह इस प्रकार थे : (क) विदेशी विनिमय का प्रयोग कम से कम होना चाहिये; (ख) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से कम से कम माल आयात किया जाना चाहिये और इनको निर्यात किये जाने वाले माल पर निर्यात कर लगाना चाये; (ग) मौद्रिक नीति के उचित प्रयोग द्वारा वस्तुओं की कीमतों को कम रक्खा जाय, जनता को धन बचाने के लिये प्रोत्साहित किया जाय, आय कर तथा अन्य करों की चोरी करने वालों को रकम जमा करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय, तथा; (घ) सरकारी व्यय को कम से कम करने का प्रयत्न किया जाय ।

(ब) **भारत के भुगतान संतुलन पर प्रभाव** :— अवमूल्यन के कारण भारत के भुगतान संतुलन की स्थिति में भी काफी सुधार हुआ। सन् १९४९ में १६९.३ करोड़ रुपये का विपरीत भुगतान संतुलन था, जो सन् १९५० में ६१.५ करोड़ रुपयों के अनुकूल भुगतान संतुलन में परिवर्तित हो गया ।

(स) **औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव** :— भारत के औद्योगिक विकास पर अवमूल्यन का विपरीत प्रभाव पड़ा । जूट और सूती उद्योगों के लिये कच्चा माल पाकिस्तान से खरीदा जाता था । पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न करने से ऐसे माल की कीमतें ४४% अधिक हो गईं, जिसके फलस्वरूप भारत में कुछ तो मिलें बंद हो गईं और कुछ कीमतें बढ़ गईं ।

(द) **कीमत स्तर पर प्रभाव :**— अवमूल्यन के कारण उत्पन्न होने वाले मुद्रा-प्रसार और कीमतों की वृद्धि पर नियन्त्रण करने के लिये यद्यपि सरकार ने योजना बनाई, परन्तु इस योजना का कोई प्रभाव न पड़ा। डालर क्षेत्रों से आयात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें पहले ही अधिक हो गई थीं जिसका प्रभाव स्टर्लिंग क्षेत्र से आने वाले माल पर भी पड़ा। १९४९ के पहले ६ महीनों में कीमत स्तर निर्देशांक ३७६·२ था जो १९५१ में ४३८·६ हो गया।

पाकिस्तान एवं अवमूल्यन : राष्ट्रमण्डल के अनेक देशों की भाँति पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया जिसके फलस्वरूप उसके मुद्रा एवं डालर के बीच विनिमय दर उसी प्रकार बना रहा, पर स्टर्लिंग एवं भारतीय रुपये के संदर्भ में उसके मुद्रा का मूल्य बढ़ गया। पाकिस्तान द्वारा ऐसा निर्णय मनोवैज्ञानिक, भावात्मक, तथा राजनैतिक आधारों पर ही उचित कहा जा सकता है, यद्यपि इससे पाकिस्तान–भारत व्यापार पर भारत के लिये बुरे प्रभाव पड़े। भारत द्वारा पाकिस्तान से आयात की जाने वाली कच्चे जूट व कपास का मूल्य ४४ प्रतिशत बढ़ गया तथा पाकिस्तान पर भारत के ऋण में ८०–९० करोड़ रुपये की कमी हो गई। इससे इन देशों के आपसी व्यापार में अड़चनें आ गईं। पर कुछ ही वर्षों के बाद (३१–७–१९५५) पाकिस्तान को भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना पड़ा। इसने वी० के० आर० वी० राव के इस कथन की भी पुष्टि कर दी कि "कोषों के अभाव अस्थिर तथा अनिश्चित व्यापार संतुलन तथा प्राथमिक वस्तुओं एवं विदेशी वस्तुओं पर आधारित अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्था की स्थिति में घरेलू मुद्रा का अधिमूल्यन करना एक निर्धन देश के लिये अत्यन्त कीमती खेल सिद्ध होता है।" पाकिस्तान द्वारा अवमूल्यन न किये जाने का मुख्य कारण जूट व कपास (जिसका भारत आयात करता था) की कीमतों को ऊँची रखना ही था, यद्यपि इससे पाकिस्तान को कोरियाई युद्ध के फलस्वरूप होने वाले भारी निर्यात से और भी अधिक लाभ प्राप्त हुआ। पर कुछ समय बाद, भारत द्वारा आयात धीरे–धीरे कम हो जाने एवं कोरियाई युद्ध के समाप्त हो जाने के कारण, भुगतान शेष दिन प्रति दिन प्रतिकूल होता गया। इस लिये जूट, कपास (कच्चे व निर्मित) तथा चाय को अधिक निर्यात करके विदेशी विनिमय प्राप्त करने, स्मगलिंग (smuggling) की गतिविधियों को रोकने (जो उस समय भारत–पाकिस्तान के बीच अप्राकृतिक विनिमय दर के कारण हो रही थीं) तथा देश के विकास की गति को तीव्रता प्रदान करने के उद्देश्य से पाकिस्तान को ६ वर्षों के बाद उसी अनुपात में अवमूल्यन करना पड़ा।

रुपये के पुनर्मूल्यन (Revaluation) की मांग * : किसी एक देश द्वारा

* See Objective of Exchange Control.

अपनी मुद्रा का अधिमूल्यन करने के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे : (i) विदेशों से भारी मात्रा में खरीदारी करने की आवश्यकता, (ii) विदेशों को भारी मात्रा में भुगतान करने का उत्तरदायित्व, (iii) देश में प्रसार प्रकृति को रोकने की इच्छा तथा (iv) किसी देश के व्यापार का निर्यात पर ही निर्भर होना। भारत में अवमूल्यन के कुछ समय बाद रुपये के पुनर्मूल्यन की माँग होने लगी। १९५१ में भारत द्वारा पाकिस्तानी रुपये का समता मूल्य स्वीकार कर लेने पर ऐसी धारणा लोगों में बन गई कि भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन (revaluation) स्वाभाविक है। इसकी माँग अनेक परिस्थितियों के ही कारण हुई। लोगों ने यह दलील प्रस्तुत की कि १९४९ में अवमूल्यन देश के भुगतान शेष की स्थिति में सुधार करने तथा आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को हानिप्रद स्थिति से बचाने के लिये किया गया था। परन्तु अवमूल्यन से भारतीय अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव तत्कालिक थे। उससे भुगतान संतुलन के क्षेत्र में लाभ अवश्य हुआ, परन्तु यह लाभ उत्पादन में वृद्धि न होने के कारण दीर्घकालीन न हो सके। अतः आन्तरिक अर्थव्यवस्था की सुरक्षा की दृष्टि से रुपये का पुनर्मूल्यन बांछनीय था। ऐसा विचार किया जाता था कि पुनर्मूल्यन से हमारे आयातों, विशेषकर खाद्यान्नों एवं पूँजीगत वस्तुओं का मूल्य कम हो जावेगा। इसके अतिरिक्त ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि पुनर्मूल्यन से उपभोक्ताओं की लाभ की सम्भावनायें बढ़ेंगी, उनकी बचतों में वृद्धि होगी, आन्तरिक कीमत स्तर में सुधार होगा और औद्योगीकरण में उत्पन्न कठिनाइयों को दूर किया जा सकेगा। इन सब बातों से मुद्रा-प्रसार की दशाओं को नियन्त्रित रखा जा सकेगा। दूसरी ओर पुनर्मूल्यन के विपक्ष में भी तर्क प्रस्तुत किये गये। ऐसे लोगों का विश्वास था कि विश्व की अनिश्चितता—पूर्ण अर्थव्यवस्थाओं के कारण पुनर्मूल्यन के प्रभावों का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। यह भी कहा गया कि ऐसी नीति के अपनाने के फलस्वरूप आयातों की वृद्धि होगी, निर्यातों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा तथा विदेशी विनिमय बाजार में सट्टे की प्रवृत्तियाँ बढ़ जायेंगी। इन दलीलों को ध्यान में रखकर सरकार ने यही दृष्टिकोण अपनाया कि, परिस्थितियों के संदर्भ में, रुपये का पुनर्मूल्यन राष्ट्र के हित में नहीं है। आज भी सरकार का यही दृष्टिकोण है।

नोटों का विमुद्रीकरण तथा दशमिक मुद्रा प्रणाली :

भारत सरकार ने जनवरी १९४६ को एक आदेश के अनुसार १०० से ऊपर की राशि के सब नोटों को रद्द करने की घोषणा कर दी, और बैंकों को यह आदेश दिया कि वे अपने नकद कोष में से ५००, १०००, तथा १०,००० रुपये के नोटों का पूरा ब्योरा रिजर्व बैंकों को भेज दें। ऐसे नोटों को बदलने की व्यवस्था भी की गई जिसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को यह बतलाना आवश्यक था कि उसको वह नोट कब,

किस व्यक्ति से तथा किस कार्य के बदले प्राप्त हुये। उस समय के वित्तमन्त्री के अनुसार इस घोषणा का मुख्य उद्देश्य चोर बाजारी, घूसखोरी, करों की चोरी करने वालों को पकड़ना तथा गड़े हुये धन को उत्पादक कार्यों में लगाना था। निःसंदेह सरकार की योजना बड़ी सुन्दर थी, परन्तु इसके प्रकाशित होने के पूर्व ही कुछ बड़े व्यापारियों को इसका पता चल गया और उन्होंने रातों-रात बैंकों में अपने नोट जमा कर दिये। इसके साथ ही साथ बैंकों की सहायता से उन्होंने मध्यम वर्ग के लोगों से उनके नोटों को बट्टे पर खरीदना भी शुरू कर दिया।

परन्तु भारतीय चलन इतिहास में मुख्य परिवर्तन १९५५ में हुआ जब कि भारत में 'दशमिक प्रणाली' को स्वीकार कर लिया गया, और जिसको १ अप्रैल १९५७ से लागू किया गया। १९०६ के मुद्रण विधान के अनुसार १ रुपये में ६४ पैसे तथा चलन में अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी तथा आध आना तथा पैसे के सिक्के थे। दशमिक मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत पहली अप्रैल १९५७ से १ रुपये में १०० पैसे कर दिये गये। ३१ दिसम्बर १९६३ तक पुराने सिक्के और नये सिक्के (२ पैसा, ५ पैसा १० पैसा) साथ-साथ चलते रहे और दशमिक प्रणाली के अन्तर्गत पैसे को नया पैसा कहा गया। इस प्रकार पुरानी प्रणाली की अठन्नी और चवन्नी के स्थान पर ५० नये पैसे और २५ नये पैसे के सिक्के चलने लगे। पुरानी दुअन्नी, इकन्नी और आध आना के सिक्के बंद करके नवीन व्यवस्था के अन्तर्गत १० नये पैसे, ५ नये पैसे, २ नये पैसे तथा १ नया पै० के सिक्के चलने लगे। इस समय देश में १ रु०, ५० पैसे, २५ पैसे, १० पैसे, ५ पैसे, २ पैसे और १ पैसे के सिक्के ही चलन में हैं। इस प्रकार भारत भी संसार के कुल १४० देशों में उन १०५ देशों में सम्मिलित है जहाँ पर दशमिक मुद्रा प्रणाली अपना ली गई है। इस प्रणाली के अपनाने से यद्यपि काफी समय तक जनता को नये सिक्कों के पुराने सिक्कों में मूल्य समझने में कठिनाई हुई और उनको हानि भी उठानी पड़ी, परन्तु इस प्रणाली के अनेक लाभ अब महसूस किये जाने लगे हैं। इस प्रणाली के प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं : १-हिसाब-किताब की सुविधा, २-समय की बचत, ३-गणित के अध्ययन में सुविधा, तथा ४-अधिकांश देशों द्वारा एक ही पद्धति अपनाने की सुविधा।

रिज़र्व बैंक द्वारा 'न्यूनतम कोष प्रणाली' का अपनाया जाना :

१८६१ के ऐक्ट के अनुसार भारत में नोटों की निकासी के लिये 'निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली' (Fixed Fiduciary System) को अपनाया गया था, जो १ अप्रैल १९३५ (रिज़र्व बैंक की स्थापना) तक चलती रही। रिज़र्व बैंक के स्थापित होते ही नोट निर्गम का एकाधिकार उसे मिल गया। हिल्टन यंग कमीशन (१९२७) के सुझाव-अनुसार रिज़र्व बैंक ने नोटों की निकासी के लिये 'आनुपातिक कोष प्रणाली' (Proportional Reserve System) अपनाया। इस प्रणाली के अन्तर्गत कुल नोटों के मूल्य के बराबर 'पत्र चलन कोष' रखना पड़ता था जिसमें ४०% भाग स्वर्ण व

स्वर्ण के सिक्कों, (जिसका मूल्य, २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला की दर से, ४०.४२ करोड़ रुपया निर्धारित कर दिया गया था) एवं स्टर्लिंग प्रतिभूतियों के रूप में तथा शेष ६० % भाग रुपयों, सरकारी प्रतिभूतियाँ (३ माह के भीतर परिपक्व वाले) एवं अन्य स्वीकृत पत्रों में रखना आवश्यक था। १९४८ में, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता प्राप्त हो जाने के बाद कोष में रक्खे स्वर्ण का मूल्य ४०.०२ करोड़ रुपये (२१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला की दर से) निर्धारित कर दिया गया तथा 'स्टर्लिंग प्रतिभूतियों' के स्थान पर 'विदेशी प्रतिभूतियाँ' कर दी गई। पर ऐसा महसूस किया जाने लगा कि भारत में पत्र-मुद्रा निर्गम की 'आनुपातिक कोष प्रणाली' देश के विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ सिद्ध हो रही थी। इस प्रणाली में कीमत स्थिरता के बजाय विनिमय-दर स्थिरता को अधिक महत्व दिया गया था और इसलिये पर्याप्त लोच का अभाव था। इसके अतिरिक्त इसमें मुद्रा एवं साख सम्बन्धी आवश्यकताओं तथा मुद्रा की मात्रा के बीच उचित सामांजस्य नहीं था। पर इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह अनुभव किया गया कि इसमें काफी विदेशी मुद्रा निधि के रूप में पड़ी रहती थी जब कि उसकी आवश्यकता भारी मात्रा में हो रहे आयातों के लिये बहुत थी। इसलिये १९५६ में रिज़र्व बैंक एक्ट के संशोधन द्वारा इस प्रणाली को त्याग कर 'न्यूनतम कोष प्रणाली' अपनाई गई। इस नई व्यवस्था में पत्र मुद्रा के पीछे रक्खे जाने वाले कोष के अन्तर्गत स्वर्ण एवं विदेशी मुद्रा का 'न्यूनतम' मूल्य निर्धारित कर दिया गया। किसी भी समय कोष का मूल्य इस 'न्यूनतम मूल्य' से कम नहीं हो सकता। १९५६ के संशोधन द्वारा स्वर्ण एवं विदेशी प्रतिभूतियों का यह न्यूनतम मूल्य ४०० करोड़ रुपया निर्धारित किया गया, जिसमें कोष में रक्खे स्वर्ण का मूल्य (६२·५० रुपया प्रति तोला की दर से) ११५ करोड़ रुपया निश्चित कर दिया गया। परन्तु देश के सामने भुगतान-शेष सम्बन्धी ऐसा संकट आया जिससे रिज़र्व बैंक के पास रक्खे विदेशी प्रतिभूतियों को मुक्त कराना आवश्यक हो गया। अत: १९५७ में सरकार ने एक आदेश द्वारा रिज़र्व बैंक के पास कोष में रक्खे स्वर्ण एवं विदेशी प्रतिभूतियों का न्यूनतम मूल्य २०० करोड़ रुपया कर दिया, जिसमें स्वर्ण का मूल्य (६२.५० रु० प्रति तोला की दर से) ११५ करोड़ ही बना रहा। इस प्रकार व्यवहार में विदेशी प्रतिभूतियों के कोष की न्यूनतम सीमा ८५ करोड़ रुपया ही रह गई है। इसके साथ ही रिज़र्व बैंक को यह अधिकार दे दिया गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर, सरकार की अनुमति के बिना, कोष की इस मात्रा में भी कमी कर सकती है।

हीनार्थ प्रबन्धन एवं कीमत स्तर में वृद्धि :

हीनार्थ अर्थ-प्रबन्धन का अर्थ सरकार द्वारा अपनी आय से अधिक खर्च करना

होता है। भारतीय योजना आयोग के अनुसार 'करों की प्राप्ति, राज्य उद्योगों से प्राप्त आय, जनता से प्राप्त ऋण, जमाएँ व कोष एवं अन्य विविध साधनों से प्राप्त आय की अपेक्षा सरकार द्वारा अधिक खर्चा करना ही हीनार्थ अर्थ-प्रबन्धन होता है।" इस प्रकार के उपाय का प्रयोग अत्यन्त सावधानी के साथ करना पड़ता है क्योंकि इससे समुदाय को अतिरिक्त क्रयशक्ति प्राप्त हो जाती है, जिससे मुद्रा-प्रसार (inflation) की सम्भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु ऐसा तभी होता है जब सरकार इसको अपने अन्तिम उद्देश्य-उत्पादन वृद्धि-की प्राप्ति के लिये सावन मात्र बनाने में असफल रहती है। इस प्रकार की नीति की तुलना एक 'बेलगाम घोड़े' (unbriddled horse) से की जा सकती है जिसका सवार यदि तनिक भी जल्दबाजी से काम लेता है तो परिणाम भयंकर हो जाते हैं। हीनार्थ प्रबन्धन की पद्धति का जन्म राजाओं के युद्ध आदि के समय की धन की आवश्यकताओं से ही हुआ है, जिसकी पूर्ति वे या तो मुद्रा के निकृष्टीकरण से या पत्र मुद्रा की अधिक मात्रा को चालू करके करने लगे। १९३३ में ही अमेरिकन काँग्रेस ने वहाँ के राष्ट्रपति को तीन अरब डालर के अतिरिक्त नोट निकालने का विशेष अधिकार दिया था। इस प्रणाली का प्रयोग द्वितीय महायुद्ध काल के पश्चात् लगभग सभी देशों ने शुरू किया।

युद्धोत्तर काल में अपनाये गये पुनर्निर्माण और विकासोन्मुख योजनाओं के कारण भारत में मुद्रा स्फीति की दशायें बनीं रहीं। परन्तु १९५१ के पश्चात्, जब से देश में पंचवर्षीय योजनाओं के रूप में विकास योजनायें अपनाई गई, यह समस्या हीनार्थ प्रबन्धन के रूप में सामने आ गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में कुल परिव्यय के लगभग एक चौथाई भाग (५३२ करोड़ रुपया-२६.४%) तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में १२.६% (९८० करोड़ रुपया) के लिये घाटे की वित्त-व्यवस्था की गई। तीसरी योजना काल के लिये कुल परिव्यय के ७.३% (५५ करोड़ रुपये) को इस प्रकार पूरा करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। वित्त व्यवस्था के इस संदर्भ में कीमत-स्तर के परिवर्तनों का ज्ञान लाभप्रद होगा। सरकार के अतिरिक्त-परामर्शदाता के कार्यालय से प्रकाशित थोक कीमतों की सूचनाओं के अनुसार १९३९ को आधार वर्ष मानने पर अगस्त १९४५ में कीमत सूचकांक २४४.१ था। युद्ध समाप्ति के बाद मूल्य-स्तर बढ़ता ही रहा। थोक मूल्यों के सूचकांक १९४५ में २४४.१ से बढ़कर अप्रैल १९५१ में ४५७.५ तक जा पहुंचा। प्रथम योजनाकाल की अवधि में थोक मूल्यों के सूचकांकों में २१.७ प्रतिशत की कमी हुई। १९५०-५१ के १२५.२ (आधार १९५२-५३) में सूचकांक १९५५-५६ के अन्त तक ९८.१ रह गया। द्वितीय योजनाकाल की अवधि में सामान्य कीमत-स्तर में ३० प्रतिशत की वृद्धि हुई। तीसरी योजना के प्रथम तीन वर्षों में ही कीमत-सूचकांक १२७.५ से बढ़कर १४० और फिर जुलाई १९६४ में १५० हो गया।

इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा अथवा अब भी करना पड़ रहा है, उनमें देश के आर्थिक विकास के लिये वित्तीय साधनों के जुटाने, कीमतों के पढ़ने की तीव्र गति को नियन्त्रित रखने तथा भुगतान–संतुलन की समस्यायें गंभीर हैं। यह समस्यायें 'विकास–वित्त' (Development Finance) से सम्बन्धित हैं, जिनका अध्ययन हम आगे करेंगे।

संदर्भ पुस्तकें

D. K. Malhotra	:	History & Problems of Indian Currency
B. R. Ambedkar	:	History of Indian Currency & Banking.
Govt. of India	:	The Decimal Coinage in India.
R. B. I.	:	Bulletins & Reports on Currency & Finance.
P. C. Jain	:	Currency, Banking & Finance in India.
B. N. Ganguli	:	Devaluation of the Rupee.

अध्याय १७

भारतीय मुद्रा बाजार

(Indian Money Market)

किसी देश की मौद्रिक नीति को सफल अथवा प्रभावशाली बनाने के लिये एक विकसित मुद्रा बाजार का होना आवश्यक होता है। 'मुद्रा बाजार' का अभिप्राय किसी ऐसे व्यवस्था से होता है जिसमें उधारदेय निधियों (loanable funds) को अल्पकालीन ऋण के रूप में लिया या दिया जाता है। क्राउथर के अनुसार उन फर्मों या संस्थाओं को सामूहिक रूप से 'मुद्रा बाजार' कहा जाता है जो भिन्न-भिन्न प्रकार के मुद्रा-तुल्य पत्रों का व्यापार करते हैं।* रिजर्व बैंक द्वारा दी गई परिभाषा के अनुसार "मुद्रा बाजार अल्पकालीन मौद्रिक परिसम्पत्ति को क्रय-विक्रय करने का केन्द्र होता है। यह उधार लेने वालों की अल्पकालीन ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा उधार देने वालों को नकदी प्रदान करता है। यह वह स्थान होता है जहाँ पर व्यक्तियों के वैक्तिक तथा अन्य संस्थाओं की निवेश योग्य अतिरिक्त पूँजी का व्यक्तिगत व संस्थागत उधार लेने वाले तथा सरकार बोली लगाकर प्राप्त करते हैं।"[1] सरल शब्दों में मुद्रा बाजार वह बाजार होता है जहां उधार लेने तथा देने वाली संस्थायें, अथवा व्यक्ति, पारस्परिक लेन-देन करते हैं और अल्पकालीन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि जिस व्यवस्था के अन्तर्गत दीर्घकालीन पूँजी का लेन-देन होता है उसे 'पूँजी बाजार' कहा जाता है।

भारतीय मुद्रा बाजार मोटे तरीके से दो भागों में बाँटा जा सकता है: संगठित (organised) एवं असंगठित (unorganised)। संगठित भाग (organised sector) का आशय साधारणतया शहरी क्षेत्र से समझा जाता है, जहाँ पर उधार लेने और देने वालों के बीच मुद्रा का क्रय-विक्रय बहुत कुछ नियमित ढंग से होता है।

---

* "The money market is the collective name given to various firms and institutions that deal in various grades of Near Money."

1. "A money market is the centre of dealings, mainly of short term character in monetary assets, it meets the short term requirements of borrowers and provides liquidity or cash to the lenders. It is the place where short term surplus investible funds, at the disposal of financial and other institutions and individuals, are bid by borrowers, comprising institutions and individual and also the Government itself."

R. B. I. : Functions & Working p. 22.

इस क्षेत्र के उधारदाताओं में संयुक्त पूँजी वाले बैंकों का स्थान प्रमुख होता है, क्योंकि अल्पकालीन ऋण की माँग को अधिकतर यही बैंक पूरा करते हैं। इन बैंकों में भारतीय एवं विदेशी मिश्रित पूँजी वाले बैंक, स्टेट बैंक आफ इण्डिया एवं उसकी सहायक बैंकें तथा चोटी पर की बैंक (Apex Bank)—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया—के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि बैंकों के कुल जमा साधनों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि इस बाजार में अधिक पूँजी का लेन-देन नहीं होता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह सारी मुद्रा बाजार का सबसे अधिक सचेत अंग है। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में बीमा कम्पनी, अर्ध-सरकारी संस्थायें तथा अधिक मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियाँ भी मुद्रा बाजार में उधारदाताओं के रूप में प्रवेश करती हैं, जो विशेष रूप में दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं को ही पूरा करते हैं। भारत में दीर्घकालीन ऋण (पूँजी) की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विशेष प्रकार की संस्थाओं को स्थापित किया गया है जिनके विषय में 'औद्योगिक वित्त' के अन्तर्गत अगले अध्याय में हम ज्ञान प्राप्त करेंगे। एक संगठित मुद्रा बाजार देश की बचतों से, विनियोजन के उद्देश्य से, व्यवसाय की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, देश की पूँजी का विभिन्न क्षेत्रों में उचित वितरण करता है, देश की मौद्रिक नीति को प्रभावशाली बनाने के लिये बैंक दर के परिवर्तनों के अनुसार साख की मात्रा को—समान व्याज की दरों के कारण—वांछित स्तर पर लाता है, तथा सरकार को अपनी अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में Treasury bills के द्वारा सहायता देता है। असंगठित भाग (unorganised sector) से अभिप्राय साधारणतया ग्रामीण क्षेत्र से होता है, जिससे विशेष रूप से सजातिता (homogenity) का भारी अभाव है। इस क्षेत्र की एक विशेषता यह है कि इसमें अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये मुद्रा के क्रय-विक्रय में विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। असंगठित भाग के उधारदाताओं में 'साहूकार' व 'देशी बैंकर' प्रमुख हैं, जो लगभग ९० % ऋणों की आवश्यकता को पूरा करते हैं। देश की केन्द्रीय बैंक—रिजर्व बैंक आफ इण्डिया—मुद्रा बाजार के इन अंगों को अपने निर्देशन व नियन्त्रण में अभी तक पूरी तरह नहीं ला पाई है। देश के संगठित एवं असंगठित मुद्रा बाजार के क्षेत्रों के बीच 'सहकारी संस्थाओं' का स्थान है, जिनको 'रिजर्व बैंक' से सम्बन्धित कर इस उद्देश्य से स्थापित किया गया था कि इनके द्वारा देश के ग्रामवासी साहूकार एवं देशी बैंकरों के चंगुल से अपने को मुक्त करा लेंगे। पर वास्तव में ऐसा न हुआ। आज भी इनका महत्व देश की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने में कम नहीं है।

इस प्रकार, देश के मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों को निम्न तालिका द्वारा बतलाया जा सकता है।

भारतीय मुद्रा बाजार

संगठित अंग	सहकारी अंग	असंगठित अंग
(आधुनिक बैंकिग प्रणाली)	(सहकारी संस्थायें)	(देशी बैंकर व महाजन)

↓

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया
(केन्द्रीय बैंक)

भारत में आधुनिक बैंकिग

भारत में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास अंग्रेजी सभ्यता की देन है। ऐसा बतलाया जाता है कि प्राचीन समय में महाजन, साहूकार, सेठ आदि ही बैंकिंग कार्यों को करते थे और यही लोग व्यापारियों तथा राजाओं को आवश्यकता के समय, व्यक्तिगत तथा चल व अचल संपत्ति की प्रतिभूतियों पर, ऋण देने का कार्य करते थे। परन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के बाद इस पद्धति का ह्रास होने लगा, क्योंकि अंग्रेजों ने अपनी बढ़ती हुई व्यापारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये एजेन्सी गृहों (agency houses) का सहारा लेना शुरू कर दिया। कलकत्ता तथा बम्बई के एजेन्सी गृह ईस्ट इण्डिया कम्पनी, विदेशी व्यापारियों तथा कम्पनी के अधिकारियों के लिये 'बैंकर' का कार्य करने लगे। इस प्रकार एजेन्सी गृहों ने ही भारत में आधुनिक बैंकों की स्थापना के लिये मार्ग प्रस्तुत किया। जैसे-जैसे भारत में अंग्रेजी व्यापार और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के राजनैतिक प्रभुत्व का क्षेत्र बढ़ता गया, कम्पनी पाश्चात्य प्रणाली पर व्यापारिक बैंकों की स्थापना की छूट देती गई। इन्हीं आधुनिक एजेन्सी गृहों द्वारा १७७० में 'हिन्दुस्तान बैंक' एवं १७८५ में 'बंगाल बैंक' की स्थापना की, जो कुछ ही समय के बाद फेल हो गये।

भारतीय बैंकिग का उद्विकास (१८०६–१९१३)

मिश्रित पूँजी वाले बैंकों के रूप में १८०६ में, ५ लाख पौण्ड की पूँजी (जिसमें १ लाख पौण्ड ईस्ट इण्डिया कम्पनी का था) से 'प्रेसीडेन्सी बैंक आफ बाम्बे' की स्थापना की गई, जिसको १८१३ के ऐक्ट के अन्तर्गत १८२३ में नोट निर्गमन, शाखायें खोलने तथा विदेशी विनिमय में व्यवसाय करने का अधिकार दे दिया गया। १८१३ के ऐक्ट के अन्तर्गत भारत में मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को स्थापित करने की

स्वीकृति मिली, पर यह 'असीमित दायित्व' वाले बैंक ही हो सकते थे। इनको साधारण बैंकिंग कार्यों के अतिरिक्त नोट निर्गमन का भी कार्य करना पड़ता था। १८४० में ५० लाख रुपये की पूँजी से 'बैंक आफ बाम्बे' तथा १८४३ में ३० लाख रुपये की पूँजी से 'बैंक आफ मद्रास' स्थापित किये गये, जिनको नोट निर्गमन का भी अधिकार दे दिया गया। १८६० में भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में एक नया मोड़ आया जब कि ऐसा दूसरा विधान बनाया गया जिसके द्वारा देश में 'सीमित दायित्व' के आधार पर मिश्रित पूँजी वाले बैंकों को स्थापित करने की अनुमति दे दी गई। वैसे तो १८१३ से १८६० के बीच प्रेसीडेन्सी बैंकों के अलावा अन्य कई बैंकें स्थापित हुई, पर 'असीमित दायित्व' होने के कारण सभी फेल हो गईं। १८६० के विधान के अन्तर्गत १९वीं शताब्दी के अन्त तक ५ लाख पूँजी एवं संचित कोष वाले ९ बैंक स्थापित किये गये, जिनकी कुल परिदत्त पूँजी (paid up capital) १.२५ करोड़ रुपये और निक्षेप (Depoits) ८ करोड़ रुपये के थे। इन्ही बैंकों में 'इलाहाबाद बैंक' (१८६५), 'ऐलायन्स बैंक आफ शिमला' (१८७५) एवं 'पंजाब नेशनल बैंक' (१८९४) भी थे। भारतीय व्यवस्थापकों द्वारा स्थापित भारत में पहला व्यापारिक बैंक 'अवध कामर्शियल बैंक' था जो १८८१ में स्थापित किया गया था। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि १८६२ में, देश की करेन्सी में स्थायित्व लाने के उद्देश्य से, नोट निर्गमन का अधिकार विभिन्न बैंकों से वापस ले लिया गया था और इसे केवल 'प्रेसीडेन्सी बैंक आफ बाम्बे' को दे दिया गया।

१९०१ से १९१३ तक देश में व्यापारिक बैंकों का विकास बढ़ता गया और ५ लाख रुपये से अधिक पूँजी एवं संचित कोष वाले बैंकों की संख्या ९ से बढ़कर १८ हो गई। इनकी कुल परिदत्त पूँजी व संचित कोष ४ करोड़ रुपये और कुल निक्षेप २२ करोड़ रुपये हो गये। इस प्रगति का मुख्य कारण सम्भवतः स्वदेशी आन्दोलन था। इन्हीं बैंकों में 'पीपुल्स आफ इण्डिया' (१९०१) भी था जिसके १९१३ में फेल हो जाने से महान बैंकिंग संकट प्रारम्भ हुआ। भारत के तीन बड़े बैंक, अर्थात् 'बैंक आफ इण्डिया' (१९०६), 'बैंक आफ बड़ौदा' (१९०८) तथा 'सेन्ट्रल बैंक आफ इण्डिया' (१९११) इसी काल में स्थापित हुये थे।

भारतीय बैंकिंग का संकट काल (१९१३-१९१७) :

१८६० के पश्चात् जिस गति से, विशेषकर स्वदेशी आन्दोलन के उत्साह में, बैंकों का विकास हुआ सम्भवतः उससे अधिक तीव्र गति से उनका अवसायन १९१३, के बाद आरम्भ हो गया। १९१३ से १९१८ के युद्धकाल में ९५ छोटे-बड़े बैंक असफल हो गये। इनमें से पंजाब के ३५, बम्बई में २१ और उत्तर प्रदेश में १८ बैंक फेल हुये। युद्ध आरम्भ होते ही सरकार, व्यापारियों एवं उद्योगपतियों द्वारा ऋणों

की मांग बढ़ने लगी जिसके फलस्वरूप साख–मुद्रा का विस्तार लाभप्रद हो गया और नकद–कोषों की कमी होती गई। दूसरी ओर युद्धकालीन अनिश्चितता के कारण लोगों का बैंकों के प्रति विश्वास घट रहा था। निक्षेपों को निकालने की मांग बढ़ जाने के कारण बैंक अपने उत्तरदायित्व को निभाने में असमर्थ होते गये। इसके साथ ही देश के मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों के बीच संगठन का तथा साख प्रणाली में लोच का अभाव बढ़ता गया। परिणाम यह हुआ कि भारतीय बैंकों के लिये एक दूसरे से ऋण प्राप्त कर लेना और आवश्यकतानुसार निक्षेपों को घटाना-बढ़ाना कठिन हो गया। सबसे पहले १९१३ में 'पीपुल्स बैंक' के फेल हो जाने का सारी बैंकिंग प्रणाली पर प्रभाव पड़ा और धीरे–धीरे बैंक फेल होने लगे। भारत में इस बैंकिंग संकट के अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं, जिनमें मुख्य ये हैं :

(अ) प्रबन्धकों में बैंकिंग सिद्धान्त के ज्ञान का न होना;

(ब) धनराशि का दुरुपयोग तथा धोखेबाजी का करना (जाली प्रतिज्ञा पत्रों, झूठे देनदारों, झूठी जमा की रकमों, झूठे आंकड़ों आदि का होना) ;

(स) अंशधारियों में बैंकों के कार्यों में रुचि न रखने की प्रवृत्ति;

(द) ऐसे कार्यों का करना जिनको बैंकिंग कार्य नहीं कहा जा सकता;

(ई) ब्याज की दरों का ऊँचा होना;

(फ) उद्योगपतियों द्वारा अपने लाभ के लिये बैंकों को स्थापित करने में सक्रिय भाग लेना;

(ज) पारस्परिक असहयोग, विदेशी बैंकों द्वारा प्रतियोगिता, उचित नियंत्रण के अभाव, आदि का होना।

युद्धोत्तर काल तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंदी (१९१८–१९३९) :

महायुद्ध के अन्तिम चरण में युद्धकालीन मुद्रा–स्फीति के कारण जनता के पास अधिक धन पहुंच गया था जिसके फलस्वरूप बैंकों के निक्षेपों में वृद्धि होने लगी थी। इसके साथ ही जनता का विश्वास बैंकों पर पुन: बढ़ता गया। इससे देश में बैंकों का विकास होने लगा, यद्यपि यह विकास अनियमित एवं आकस्मिक ढंग से हो रहा था। १९२१ तक देश में बैंकों का विकास जारी रहा जबकि देश में ५ लाख रुपये से अधिक परिदत्त पूँजी तथा संचित कोष वाले बैंकों की संख्या २५ हो गई। इस काल में 'औद्योगिक बैंकों' की स्थापना पर विशेष रूप से बल दिया गया। १९२१ में तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिलाकर 'इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया' की स्थापना हुई, जिसकी परिदत्त पूँजी एवं निधि ९.७ करोड़ रुपये और निक्षेप ७३

करोड़ रुपये थे । १९२१ के पश्चात् सरकार द्वारा अपनाई गई मुद्रा संकुचन की नीति के कारण जो मंदी की स्थिति उत्पन्न हुई उससे बैंकों के असफल होने का क्रम फिर प्रारम्भ हो गया । १९२१ से १९२४ तक बैंकों का जमा धन ८० करोड़ रुपये से घट कर ५५ करोड़ रुपया रह गया और ४४७ छोटी–बड़ी बैंकें फेल हो गईं, जिनकी परिदत्त पूँजी ८ करोड़ रुपया थी । सन् १९२४ से १९२९ का काल, बैंकिंग प्रगति की दृष्टि से, कोई महत्वपूर्ण नहीं था । इस काल में इतना अवश्य हुआ कि असफल होने वाले बैंकों की संख्या कम रही ।

१९१३–१७ के बैंकिंग संकट से जनता और सरकार के सम्मुख यह स्पष्ट हो गया था कि देश में बैंकिंग के समुचित विकास के लिये उस पर नियन्त्रण आवश्यक था । पर इस दिशा में कार्य महान अवसाद (Great Depression) के प्रारम्भ होने पर ही शुरू किया गया । १९३० में सरकार ने 'केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति' (Central Banking Enquiry Committee), देश के बैंकिंग संगठन की जांच करने के पश्चात् सुधार के सुझाव देने के लिये, नियुक्त की । इस समिति ने दो महत्वपूर्ण सुझाव दिये : (१) केन्द्रीय बैंक की स्थापना किया जाना, एवं (२) बैंकिंग विधान का बनाना व उसका लागू किया जाना । इन सुझावों के परिणामस्वरूप सरकार ने 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया' को स्थापित करने के लिये १९३४ में कानून बनाया और १९३६ में सन् १९१३ के 'भारतीय बैंकिंग कम्पनीज़ एक्ट' में संशोधन किये । इतना होते हुये भी विश्वव्यापी अवसाद का प्रभाव भारत पर पड़े बिना न रह सका । बैंकों के असफल होने का क्रम जो चला तो वह फिर बिना किसी रुकावट के द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक चलता रहा । इस काल में अधिक बैंकें दक्षिणी भारत में फेल हुईं । इनमें से प्रमुख बैंक 'ट्रावनकोर नेशनल एण्ड क्युलन बैंक' थी ।

इस प्रकार दो महायुद्धों के मध्यकाल में भारतीय बैंकिंग विकास की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थीं :—

(अ) नये बैंकों के स्थापित होने और पुरानी बैंकों के असफल होने के क्रम का होना ;

(ब) अव्यवस्थित प्रगति का होना ;

(स) निक्षेपों का बड़ी बैंकों के पास केन्द्रीयकरण होना ;

(द) रिज़र्व बैंक की स्थापना ;

(इ) बैंकिंग विधान में संशोधन होना ।

द्वतीय महायुद्ध काल एवं बैंकिंग का विकास (१९३९–४५) :

महायुद्ध का यद्यपि तत्कालिक परिणाम यह हुआ कि जनता ने भारी मात्रा में निक्षेपों को निकाला, परन्तु धीरे–धीरे लोगों में विश्वास का अभाव दूर हुआ ।

लोगों की आय बढ़ जाने के कारण निक्षेपों में वृद्धि होने लगी तथा नई बैंकों की स्थापना की जाने लगी व पुरानी बैंकों की शाखायें खोली जाने लगीं। युद्धकाल में निक्षेपों में ४०६ करोड़ रु० की वृद्धि और बैंकों की संख्या में ३६७० की वृद्धि हुई। इस काल के अन्त में परिगणित (Scheduled) बैंकों* की संख्या ९३ हो गई। बैंकिंग विकास के अन्तर्गत आदेयों की तरलता में वृद्धि हुई एवं चालू जमाओं का विस्तार हुआ ; लाभ का स्तर ऊँचा रहा तथा नकद कोषों में दृढ़ता बनी रही। इस विकास के साथ देश में अनुभवी एवं योग्य कर्मचारियों की भारी कमी महसूस हुई। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाये तो युद्धकालीन बैंकिंग विकास के मुख्य कारण इस प्रकार थे : (१) युद्धकालीन मुद्रा प्रसार, (२) कीमतों में काफी परिवर्तन, (३) व्यवसाय व विनियोगों को प्रोत्साहन तथा ऋणों की मांग में वृद्धि, तथा (४) रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाई गई उदार नीति। पर बैंकिंग के इस विकास के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में अनेक दोष दिखलाई पड़े। इस विकास के साथ बैंकिंग सेवाओं का असमान तथा अनार्थिक वितरण हुआ, आपसी प्रतियोगता के कारण संचालन व्यय बढ़ा, बैंकों के अंशों में सट्टे की प्रवृत्ति बढ़ी, बैंकिंग व्यवसाय का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में चला गया जिनका मुख्य व्यवसाय व्यापार तथा उद्योग था, अनार्थिक शाखा-विस्तार के कारण लेखों में हेर-फेर करने की प्रवृत्ति बढ़ी तथा बैंकों के विलीयन का क्रम चलता रहा।

युद्धोत्तरकाल एवं बैंकिंग विकास (१९४५ के पश्चात्) :

युद्धोत्तर काल में बैंकों की ऋणदान शक्ति में वृद्धि हुई है और उनके नकद कोषों का अनुपात घटा है, चालू निक्षेपों में कमी आई है और स्थायी निक्षेप बढ़े हैं। युद्धोत्तर काल की, बैंकिंग विकास से सम्बन्धित, मुख्य बातें इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं :—

१९४६ का संकट तथा बैंकिंग विधान : युद्धकालीन दोषों का परिणाम यह हुआ कि १९४६ में बंगाल में एक संकट उत्पन्न हो गया और कई छोटी-छोटी बैंकें फेल हो गईं। इसका मुख्य कारण बिना समझे-बूझे शाखाओं का विस्तार करना, अंशों की प्रतिभूति पर भारी मात्रा में ऋण देना तथा कुशल कर्मचारियों की कमी थे। सौभाग्य से इसका कुप्रभाव अन्य स्थानों पर नहीं फैल पाया। शीघ्र ही बैंकिंग कम्पनीज़ (शाखाओं पर प्रतिबन्ध) विधान पास हुआ जिससे बैंकों द्वारा अपनी शाखाओं के विस्तार करने पर रिज़र्व बैंक को नियंत्रण करने का अधिकार मिला। बाद में इसका समावेश १९४९ के बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट में कर दिया गया।

---

* ऐसी बैंकें जिनकी परिदत्त पूँजी ५ लाख रुपये से कम नहीं होती और जिनको रिज़र्व बैंक, नियन्त्रण एवं सुविधाओं हेतु, अपनी सूची में रखता है।

देश का विभाजन एवं रिज़र्व बैंक की सहायता योजना : १५ अगस्त १९४७ को देश का विभाजन हुआ और विभाजन के व्यवसाय, व्यापार एवं सुरक्षा पर प्रभाव देश की बैंकिंग व्यवस्था को बिना प्रभावित किये न रह सके। साम्प्रदायिक दंगों के कारण बैंकों के विनियोगों और नकद कोषों का अनुपात बढ़ा तथा अग्रिमों और बिलों के अनुपात में कमी हुई। सुरक्षा के अभाव तथा कुशल कर्मचारियों की कमी के फलस्वरूप बैंकों (विशेषकर पश्चिमी पंजाब के) को भारी हानि हुई तथा उनको अपने कार्यालयों को बन्द करना पड़ा। केन्द्रीय सरकार ने रिज़र्व बैंक द्वारा इन प्रभावों से अन्य बैंकों को बचाने के लिये बड़ी तत्परता से कार्य किया। रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिला कि वह अपरिगणित बैंकों को भी प्रतिभूतियों की आड़ पर ऋण दे तथा सभी बैंकों के विषय में सरकार को रिपोर्ट दे। सरकार ने बैंकों के पुनर्विकास के लिये १ करोड़ रुपये की सहायता देने को निश्चय किया तथा एक ऐसा आदेश निकाला कि दिल्ली व पूर्वी पंजाब में स्थित बैंकों के विरुद्ध तीन मास तक भुगतान सम्बन्धी कोई भी कार्यवाही नहीं की जा सकती थी।

रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण एवं नया बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट : देश में मुद्रा एवं साख व्यवस्था पर समुचित एवं राष्ट्रीय हितों के आधार पर नियंत्रण रखने के लिये 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया' का १९४९ में राष्ट्रीयकरण किया गया। शीघ्र ही बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट १९४९ पारित किया गया। १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट का मुख्य उद्देश्य भारतीय बैंकिंग व्यवस्था के दोषों को दूर करके इसे सुदृढ़ आधार पर विकसित करना था। इसके अनुसार प्रत्येक बैंक को नई शाखा स्थापित करने अथवा वर्तमान शाखाओं का स्थान बदलने व उनका विस्तार करने से पूर्व रिज़र्व बैंक की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक कर दिया गया। रिज़र्व बैंक को इस प्रकार जो नियन्त्रण मिला है उससे भारतीय बैंकिंग के सुदृढ़ विकास में महत्वपूर्ण योग मिला है। इस विधान में १९५०, १९५३, १९५६, १९५९, १९६०, १९६२ में संशोधन किये गये जिससे नियन्त्रण सम्बन्धी दोषों को दूर किया गया।

स्टेट बैंक की स्थापना : भारतीय बैंकिंग के विस्तार का जो क्रम १९४२ में युद्ध के कारण प्रारम्भ हुआ था वह सन् १९४९ में (बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट के कारण) समाप्त हो गया। इस वर्ष से १९५३ तक बैंकों के निक्षेपों एवं लाभों में कमी हुई। अतः बैंकों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने की कोशिशें की। १९५३ में परिगणित बैंकों की संख्या घट कर ८९ रह गई। सन् १९५४ में भारतीय बैंकिंग के विकास के क्रम को पुनः चालू करने की आवश्यकता महसूस की गई। 'आल इण्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी (जिसने विशेषरूप से भारत में ग्रामीण वित्त की समस्या का अध्ययन किया था) की सिफारिशों के फलस्वरूप १ जुलाई १९५५ को इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया (जो १९२१ में स्थापित हुआ था) का राष्ट्रीयकरण कर के

स्टेट बैंक आफ इण्डिया (State Bank of India) को स्थापित किया गया ।

भारत में बैंकों की वर्तमान स्थिति : इस समय भारत में अनुसूचित बैंकों की कुल संख्या ८० है, जिनकी ५०१२ शाखायें हैं। इनके अतिरिक्त देश में लगभग ६५० अननुसूचित बैंकों की भी शाखायें हैं। भारतीय बैंकों की शाखा विस्तार स्थिति में सन् १९५३ के पश्चात् एक प्रवृत्ति यह दिखलाई पड़ती है कि अनुसूचित बैंकों की शाखाओं में निरन्तर वृद्धि तथा शेष बैंकों की शाखाओं में कमी हो रही है। वस्तुतः अननुसूचित बैंकों की संख्या १९५४ में ४०८ से घट कर १९६२ में २९२, और १९६३ में केवल २०० रह गई। ऐसी अनेक बैंक एवं उनकी शाखायें अनुसूचित बैंकों व उनकी शाखाओं में विलीन (amalgamate) की गईं। पिछले कुछ वर्षों में बैंकों के परिसम्पत्ति (Assets) एवं देयता (Liabilities) के सम्बन्ध में होने वाले परिवर्तनों का ज्ञान निम्न तालिका से किया जा सकता है :

अनुसूचित बैंक—परिसम्पत्ति एवं देयता
(करोड़ रुपये में)

		१९५०–५१	१९५५–५६	१९६१–६२	१९६२–६३	१९६३–६४
देयता	चालू जमा	५९९	६०८	७८५	९२९	११०६
	मियादी जमा	२७८	४०८	११४२	१२६७	१२०२
	बैंकों का उधार	४	३२	३८	३८	४४
सम्पत्ति	नकद सम्पत्ति	३४.६	३४.६	४७.९	५१.०	५५.८
	रिज़र्व बैंक में जमा सम्पत्ति	६०.७	५२.५	७८.१	८१.६	८३.२
	अन्य विनियोग	—	३९५	६४५	७०२	७६३
	साख	४५८.९	६३२.२	१२७८.५	१४३२.०	१५६८.१

अननुसूचित बैंक—परिसम्पत्ति एवं देयता
(करोड़ रुपयों में)

		१९५५–५६	१९६०–६१	१९६१–६२	१९६२–६३
देयता	पूँजी एवं सुरक्षित कोष	१२	६.९	५.९	६.०
	चालू जमा	२४.९	११.५	१०.२	१०.८
	जमा	२२.७	३१.७	२७.९	२७.२
सम्पत्ति	नकद धन	४.६	३.२	२.९	२ ५
	अन्य जमा धन	३.०	३.०	३.५	५.४
	साख	४१.७	२९.१	२५.३	२०.८
	विनियोग	३०.३	१४.८	१२.७	१४.९

ब्रिटिश तथा अमेरिकन बैंकिंग व्यवस्था से प्रोत्साहन प्राप्त कर भारत के कुछ बैंकों ने अपने ग्राहकों की अधिक सेवा करने के लिये कुछ नवीन योजनायें प्रारम्भ की हैं जिनको इस प्रकार बतलाया जा सकता है :—

Personal Loan Scheme के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहकों को उपभोग की वस्तुयें खरीदने के लिये व्यक्तिगत ऋण देती है और जिसकी अदायगी के लिये किश्त लेती है। ऐसी योजना देवकरण नानाजी बैंकिंग कम्पनी, इण्डियन ओवरसीज़ बैंक तथा यूनाइटेड कमर्शियल बैंक द्वारा चालू की गई है।

Mobile Banking के अन्तर्गत चलते-फिरते (मोटर में) बैंक की सेवायें छोटे-छोटे स्थानों पर प्रदान की जाती हैं। निश्चित समय पश्चात् ऐसी मोटर फिर उसी स्थान पर पहुंचती है। भारत में ऐसी व्यवस्था की सफलता का श्रेय राजस्थान बैंक को ही है।

Investment Advisory Service के अन्तर्गत विनियोजन सम्बन्धी मार्ग-दर्शन की सेवायें प्रदान की जाती हैं। बैंक अपने ग्राहकों को अपनी बचत को उचित क्षेत्र में विनियोजन करने की सलाह देते हैं और इस सेवा के बदले कुछ शुल्क प्राप्त करते हैं। भारत में यह सेवा केराला इण्डस्ट्रियल एण्ड बैंकिंग सिन्डीकेट द्वारा प्रदान की जाती है।

इनके अतिरिक्त कुछ बैंकों ने 'Minor's Saving Scheme', 'Fly now pay later scheme', 'Better Education Scheme' आदि भी चालू की हैं। इनका उद्देश्य अपने ग्राहकों को विशेष प्रकार की सेवायें प्रदान करना है।

भारतीय बैंकिंग की समस्यायें :

भारत में आधुनिक बैंक-व्यवस्था को आरम्भ हुये यद्यपि दो सौ वर्ष हो गये हैं पर यह प्रणाली सुदृढ़ एवं सशक्त नहीं बन पाई है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि भारतीय बैंक न तो जनता का विश्वास प्राप्त कर सकीं हैं और न अन्य देशों की भाँति इनको निक्षेप मिल सके हैं। यही कारण है कि प्रथम महायुद्ध काल से देश में बैंक निरन्तर फेल होते रहे हैं। भारतीय बैंकिंग प्रणाली की दुर्बलता के निम्नलिखित अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं :—

(अ) अनार्थिक बैंकों की अधिकता ; भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की पहली समस्या दुर्बल बैंकों की अधिकता है। देश में लगभग २०० ऐसी बैंकें हैं जिनकी औसत पूँजी एवं कोष ३ लाख रुपये से भी कम है, अथवा जिनकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती है। भारत में अनुसूचित बैंकों (२४%) के निक्षेप, ऋण एवं अग्रिम तथा विनियोग देश के सभी बैंकों के कुल निक्षेप, ऋण एवं अग्रिम तथा विनियोग के लगभग ९५% हैं; जबकि अननुसूचित बैंकों (७६%) की यह

रकमें २% से भी कम हैं। यह तथ्य इस ओर संकेत करते हैं कि देश में बैंकिंग विकास समुचित रूप से नहीं हो पाया है।

(ब) बैंकों का अनियमित विकास : भारत में बैंकों की शाखाओं का विकास योजना अनुसार नहीं हुआ है। इसके फलस्वरूप अधिकतर बैंकों ने बड़े-बड़े स्थानों पर ही शाखायें खोलने का प्रयत्न किया है। इससे एक ओर तो आपस में प्रतियोगिता बढ़ी है और दूसरी ओर ऐसे स्थानों पर जहाँ बैंकों की शाखायें स्थापित करना उचित था, शाखायें नहीं खोली जा सकीं। इस कारण देश का समान रूप से व्यवसायिक विकास नहीं हो पाया है। सन् १९६१ में रिजर्व बैंक ने देश के प्रमुख बैंकों को १४०० स्थानों की एक सूची भेजकर उनके शाखा-विस्तार योजना की इस बात पर जोर देकर माँग की कि उनके द्वारा शाखा-विस्तार केवल आर्थिक आधार पर किया जा सके। निःसन्देह देश में बैंकिंग विकास के इस क्रम को चालू रखने की बड़ी आवश्यकता है।

(स) सेवाओं का अभाव : देश में बैंकिंग सेवाओं का बहुत अभाव है। एक अनुमान अनुसार भारत के २६९० कस्बों में से १०१८ (३८%) में बैंकों की शाखायें नहीं थीं। इनके अतिरिक्त ऐसे स्थानों की संख्या भी काफी है जहाँ सामुदायिक विकास खण्डों के स्थापना अथवा अन्य विकास कार्यों के आरम्भ होने से उनका महत्व बढ़ गया। सारे देश में १९६१ में ५८ और १९६२ में ४७ शाखायें खोली गई। शाखाओं की कमी के साथ-साथ बैंकों द्वारा दी गई व्यक्तिगत ऋणों, उपभोक्ता साख, किश्त ऋणों जैसी सेवायें पर्याप्त एवं उपयुक्त नहीं कही जा सकतीं। अपर्याप्त एवं अनुपयुक्त सेवाओं का परिणाम यह है कि भारतीय बैंकों के निक्षेप बहुत कम हैं।

(द) निक्षेपों का कम होना : भारतीय बैंकों के प्रति व्यक्ति निक्षेप केवल ४८ रुपये हैं, जबकि लंका में यह ११८, जापान में १७१६, इंगलैण्ड १९००, अमेरिका ७८७५ एवं आस्ट्रेलिया में यह ४०६० रुपये के बराबर हैं। देश में निक्षेपों के इतने कम होने के कई कारण हैं, जिनमें प्रति व्यक्ति आय का कम होना, आय-वृद्धि के एक बड़े भाग का ग्रामीण क्षेत्रों में चला जाना, शिक्षा की असंतोषजनक प्रगति का होना, सरकार द्वारा जनता से ऋण लेना, बैंकों के संचालन में कुशलता का अभाव होना आदि मुख्य हैं।

(इ) बैंकों के कुशल संगठन में कमी : ऐसा विश्वास किया जाता है कि कर्मचारियों के अयोग्य, अकुशल एवं अनुशासनहीन होने के कारण ही भारतीय बैंकों की उत्पादकता कम है। ऐसा इसलिये है कि देश में कर्मचारियों को नियुक्त करने की पद्धति दोषपूर्ण है। पिछले कुछ वर्षों में असफल होने वाले बैंकों की जांच से यह

पता चला है कि बैंकों में ऋण तथा विनियोग सम्बन्धी नीतियाँ दोषपूर्ण हैं और संचालकों द्वारा बैंकों के धन का दुरुपयोग किया जाता है। बैंकों के प्रबन्ध–व्यय के अधिक होने का एक कारण यन्त्रीकरण का अभाव भी है।

(फ) **उपर्युक्त नियन्त्रण का अभाव** : रिजर्व बैंक के निरीक्षणों के सम्बन्ध में भी समय-समय पर आशंकाएँ प्रकट की गई हैं और यह मत व्यक्त किया गया है कि बैंकों को इसकी पूर्व सूचना मिल जाती है जिससे वे अपनी सम्पत्ति एवं दायित्वों को समयोजित कर लेते हैं और निरीक्षण अधिकारियों को वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता। 'पिलाई बैंक' के फेल होने पर जो जांच की गई उससे इसी बात की पुष्टि हुई।

(ज) **संगठन एवं एकता का अभाव** : भारतीय बैंकों की कार्य–पद्धति में समानता नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंकों की कार्य–पद्धति प्रायः पुरातन पंथी है। भारतीय बैंक संघ द्वारा बैंकिंग सुविधाओं, क्रियाओं अथवा प्रशिक्षण आदि में सुधार करने के सम्बन्ध में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये गये। देश के आर्थिक विकास को अधिकाधिक गतिशील बनाने के लिये बैंकों को रूढ़वादिता के दलदल से निकालकर नवीन योजनाओं के साथ नवीन दिशाओं में कार्यशील होना पड़ेगा।

भारतीय बैंकिंग–व्यवस्था में सुधार के उपाय—राष्ट्रीयकरण :

भारतीय बैंकिंग–व्यवस्था की अनेक समस्याओं के अध्ययन के पश्चात् यह सरलता से कहा जा सकता है कि इसको सुधारने के लिये छोटे–छोटे बैंकों का समामेलन (amalgamation) होना चाहिये, अननुसूचित एवं अनुसूचित बैंकों के बीच भेद समाप्त करना चाहिये, बैंकिंग सेवाओं में विकास एवं समानता लाना चाहिये, प्रशिक्षण की सुविधायें बढ़ाना चाहिये तथा अधिकारियों एवं कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित होना चाहिये। पर क्या यह सब बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ही सम्भव है ?

किसी भी संयुक्त–पूँजी एवं निजी क्षेत्र में स्थापित कम्पनी का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। इसी प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत साधारणतया बैंकों का निजी उद्देश्य लाभ कमाना होता है। पर दूसरी ओर किसी भी अर्थव्यवस्था में 'अधिक से अधिक उत्पादन', 'अधिक से अधिक रोजगार' तथा 'समानतम आय के वितरण' की दशाओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनाई जाने वाली मौद्रिक नीति में बैंकों का स्थान महत्वपूर्ण होता है। सच पूछा जाय तो बैंकिंग आधुनिक अर्थव्यवस्था का प्राण होता है। इसीलिये कुछ लोगों के विचारानुसार बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर इनको देश के मौद्रिक नीति के, राष्ट्रीय हित में, संचालन करने के लिये सहयोगी के रूप में ही कार्य करने देना चाहिये और

इनको 'अपने ही हित' (केवल लाभ) में ही काम न करने देना चाहिये। १९४९ में रिज़र्व बैंक तथा १९५५ में इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् देश में आर्थिक नियोजन के बढ़ते हुये महत्व के साथ तथा अनेक देशों में किये गये बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद भारत में इस विचारधारा को और बल मिला है। ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत बैंकिंग के संचालन तथा इन पर समुचित नियन्त्रण रखने की दृष्टि से इसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक है। इसके पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं : (१) राष्ट्रीयकरण से बैंकों द्वारा संचालकों के प्रभाव के कारण, जो साधारणतया बैंकों के धन को निजी स्वार्थ के लिये प्रयोग में लाते हैं, **सट्टे के लिये** प्रयुक्त की जाने वाली राशि को रोका जा सकता है; (२) राष्ट्रीयकरण से जमाकर्त्ताओं के **हितों की सुरक्षा प्रदान** की जा सकती है, क्योंकि आज भी देश के काफी बैंक हानि पर चल रहे हैं तथा फेल हो सकते हैं; (३) राष्ट्रीयकरण से व्यवसायिक हितानुसार उचित मात्रा में तथा वांछित क्षेत्रों में **साख-प्रसार व साख-संकुचन** की उपयुक्त नीति को कार्यान्वित किया जा सकता है; (४) भारतीय बैंकों की पूँजी का राष्ट्रीय हितों में उपयोग करने के लिये देश के पिछड़े व ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सेवाओं के प्रसार के लिये **बैंक-शाखाओं का खोला जाना** बहुत आवश्यक है जो राष्ट्रीयकरण के पश्चात् ही सम्भव है; (५) राष्ट्रीयकरण होने पर बैंक देश के कोने-कोने में फैल सकेंगे, देश की ग्रामीण जनता को अधिक बचत करने के लिये प्रोत्साहित कर सकेंगे तथा देश की सम्पूर्ण बचत पूँजी का प्रयोग अधिकाधिक राष्ट्रीय हित में हो सकेगा जिससे देश में **समाजवादी समाज की स्थापना** में सहयोग मिलेगा; (६) बैंकों के राष्ट्रीयकरण से देश की जनता को भारतीय बैंकिंग प्रणाली में विश्वास होगा तथा उनमें जमा-राशि में वृद्धि होगी जिससे भारतीय **योजनाओं की सफलता** में अत्यधिक सफलता मिल सकेगी; (७) राष्ट्रीयकरण से अथवा सब बैंकों के एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आ जाने से, विदेशी व्यापार के लिये वित्तीय व्यवस्था, जो अभी विदेशी बैंकों के हाथ में हैं, सुलभ हो सकेगा और भारतीयों को ही **विदेशी व्यापार का सम्पूर्ण लाभ** मिल सकेगा।

पर दूसरी ओर कुछ लोगों का यह भी विचार है कि वर्तमान परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण करना न तो लाभदायक है और न उचित ही। इनके मतानुसार सर्वप्रथम, राष्ट्रीयकरण से बैंकों में काम करने का उत्साह समाप्त हो जाने, उनमें सरकारी तानाशाही उत्पन्न होने और अत्यधिक सुरक्षित नौकरी हो जाने के कारण कर्मचारियों में सेवा-भाव में कमी हो जाने की सम्भावना है। दूसरे राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग-व्यवस्था का भार सरकार पर आ पड़ेगा जिसे सम्भालना कठिन हो जायेगा, और उसमें अधिक अकुशलता एवं अनियमितता आने का भय रहेगा। तीसरे, जमाकर्त्ताओं के हितों की रक्षा, राष्ट्रीयकरण किये बिना भी, Deposit

Insurance Corporation जैसी संस्थाओं के कार्यों को और अधिक व्यापक बनाकर की जा सकती है। चौथे, यदि राष्ट्रीयकरण करके सरकार ने बैंकों के राशि का प्रयोग सरकारी उद्यमों के विकास के लिये आरम्भ कर दिया तो निजी क्षेत्र के उद्योगों को अल्पकालीन पूँजी प्राप्त करने में कठिनाई होगी। पांचवे, ग्रामीण क्षेत्रों में शाखा–विस्तार के सम्बन्ध में यह बतलाया जाता है कि जिस कार्य को स्टेट बैंक द्वारा करने के लिये सरकारी संरक्षण के होते हुये भी Integration & Development Fund से शाखाओं की हानिपूर्ति के लिये सहायता दिया जाता है उसको निजी बैंकों द्वारा न किया जाने पर राष्ट्रीयकरण की बात करना ठीक नहीं है। अन्त में यह भी बतलाया जाता है कि राष्ट्रीयकरण से सरकार को केवल १ करोड़ रुपये के लाभ होने की सम्भावना है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि राष्ट्रीयकरण से अनेक लाभ होने की सम्भावना है, पर वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्गत बैंकों का राष्ट्रीयकरण न तो लाभदायक सिद्ध होगा और न उचित ही। आवश्यकता इस बात की है कि बैंकों के नियमन एवं नियन्त्रण के लिये रिज़र्व बैंक को समुचित अधिकार दिये जायें।

मुद्रा बाजार का असंगठित क्षेत्र–ग्रामीण वित्त :

भारतीय मुद्रा बाजार का काफी बड़ा अंग 'असंगठित' है। इस क्षेत्र की अनेक समस्याओं का उल्लेख प्रायः 'ग्रामीण वित्त की समस्याओं' के अन्तर्गत किया जाता है। भारत की जनसंख्या का ८० प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है और ७० प्रतिशत भाग कृषि को जीविकोपार्जन का साधन बनाये हुये है। कृषि एक विशेष प्रकार का कार्य है जिसकी तुलना स्वभाव, अवधि एवं विनियोजित पूँजी के प्रतिफल की भिन्नताओं के कारण वाणिज्य एवं उद्योग से किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती है। इसीलिये कृषि और औद्योगिक वित्त में बुनियादी विभिन्नतायें हैं। कृषि–पदार्थों की आपूर्ति मौसमी होती है, जबकि उनकी मांग साल भर निरन्तर बनी रहती है; कृषि–कार्य जब आरम्भ हो जाता है तो इसे इच्छानुसार निर्देशित नहीं किया जा सकता; भारतीय किसान गरीब, निरक्षर एवं अन्धविश्वासी होते हैं जिनका व्यवसाय एकाकी, व छोटे-पैमाने का तथा अस्त–व्यस्त होता है। इसीलिये देश के ग्रामीण क्षेत्रों के लिये विशेष आकार की साख–प्रणाली की आवश्यकता होती है।

भारतीय ग्रामवासियों के व्यय को मोटे तौर पर प्रत्यक्ष–उत्पादक व्यय, (जैसे चारा, औजार, पशुओं को खरीदने में) अप्रत्यक्ष–उत्पादक व्यय (जैसे लगान, पुराने ऋण का भुगतान) एवं अनुत्पादक व्यय (जैसे मुकदमेबाजी, धार्मिक उत्सव), में विभक्त किया जा सकता है। इनको पूरा करने के लिये ऋण की आवश्यकताओं

को तीन भागों में बाटा जा सकता है : (१) अल्पकालीन ऋण, (२) मध्यकालीन ऋण एवं (३) दीर्घकालीन ऋण । किसानों को अपने खेतों पर नियमित ढंग से कार्य करने तथा मौसमी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता होती है; पशुओं, यन्त्रों आदि को खरीदने के लिये मध्यकालीन ऋण की आवश्यकता होती है और भूमि पर स्थायीसुधार के लिये जैसे कुआं,नहरें,पशुशाले आदि बनवाने के लिये दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता होती है । इन आवश्यकताओं की, विशेषकर अल्पकालीन एवं मध्यकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति मुख्यतः (९०%) 'साहूकार' एवं 'देशी बैंकर' करते हैं । इन आवश्यकताओं की पूर्ति कुछ अंशों में 'सहकारी संस्थायें' भी करती हैं जिसका विवेचन हम इसी अध्याय के अगले भाग में करेंगे ।

साहूकार (Moneylenders) :

ग्रामीण साख की आपूर्ति में 'साहूकारों' का बड़ा महत्व है । ये 'व्यावसायिक' एवं 'गैर–व्यावसायिक' दोनों हो सकते हैं । व्यावसायिक–साहूकार ऋण के लेन–देन के साथ गाँव के उपजों का भी व्यवसाय करता है तथा विभिन्न राज्यों में विभिन्न नाम (जैसे बनिया, महाजन, साहूकार, किश्तवाला, पठान, नानावती, चेट्टी) से जाना जाता है । धनाढ्य किसान, अवकाश प्राप्त कर्मचारी, विधवायें आदि जो लेन–देन का भी काम करने लगते हैं, गैर व्यावसायिक साहूकार कहलाते हैं । वैसे भारतीय मुद्रा बाजार के असंगठित क्षेत्र में साहूकार जो सेवायें प्रदान करता है वह बड़े महत्व का होता है । फिर भी उसके बदले में यह बहुत बड़ी कीमत लेता है । किसानों की निरक्षरता, अज्ञानता एवं अन्धविश्वास का लाभ उठाकर वह कुछ अनुचित तरीकों को अपनाता है जिनको इस प्रकार बतलाया जा सकता है :—

१. साहूकार जब ऋण देता है तो मूलधन से साल भर का ब्याज वह पहले ही काट लेता है तथा पूरी रकम पाने की रसीद बनवा लेता है । काटे गये ब्याज की वह रसीद नहीं देता ।

२. ऋण देने के पहले साहूकार ऋणी से सादे कागज पर दस्तखत या उसके अंगूठे का निशान करा लेता है और प्रायः, विशेषकर नियमित रूप से ऋण-किश्त न भुगतान करने पर, अपनी इच्छानुसार दी गई रकम की मात्रा में हेर–फेर कर लेता है ।

३. साहूकार किश्तों के भुगतान की कोई रसीद नहीं देता और अपने खाते में ऋणों का गलत हिसाब रखता है ।

४. साहूकार ऋणियों को कुछ अनुचित खर्चों को करने के लिये बाध्य

करता है। इनमें से गिरह खोलाई, गद्दी खर्चा, सलामी, कटौती आदि जैसे अनुचित खर्चों के नाम बतलाये जा सकते हैं।

५. कभी-कभी तो साहूकार ऋणी की सम्पत्ति के बेचे जाने के कागज पर उसके दस्तखत या अंगूठा निशान करा लेता है।

साहूकारों द्वारा विभिन्न आपत्तिजनक ढंगों के अपनाने के बावजूद भी, इनका ग्रामीण वित्त व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है। ऋण के लिये उसके पास किसी समय और आसानी से पहुंचा जा सकता है। उससे ऋण लेने के लिये किसी विशेष नियम का पालन नहीं करना पड़ता। वह बहुत तत्परता के साथ ऋण देता है और यदि ब्याज चुका दिया जाता है, तो मूलधन के भुगतान के लिये दबाव नहीं डालता। वह अपने ऋणी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखता है और अनेक गाँवों में वह उनके दु:ख और सुख में भी भाग लेता है। उसका स्थानीय ज्ञान इस योग्य बना देता है कि वह बिना ठोस सम्पत्ति वाले व्यक्तियों को भी उधार दे देता है और फिर भी जोखिम से अपने को बचाये रह सकता है। कभी-कभी ग्रामवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह दुकान रक्खे हुये मिल सकता है और उनकी फसल को बेचने के लिये तैय्यार रहता है। वास्तव में यह उसकी पूँजी है जो सदा अपने दायरे में चक्कर लगाती रहती है, जिससे खलिहान में फसल पर फसल आती रहती है। उसके व्यवसाय में जो कठिनाई एवं जोखिम है और उसके पेशे में जो पीड़ा है उसके दृष्टि से वह पूर्णतया असंगत पैसा नहीं लेता।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि भारतीय ग्रामीण वित्त व्यवस्था में साहूकारों का विशेष महत्व है, यद्यपि इसकी भी बड़ी आवश्यकता है कि इनकी कार्य-प्रणाली में सुधार किया जाय। १९४५ में गेडगिल समिति (Gadgil Committee) तथा १९५४ में अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण कमेटी (All India Rural Credit Survey-Gorwala Committee) ने, सहकारी साख पर जोर देते हुये, साहूकारों द्वारा अपनाये जाने वाले तरीकों को नियन्त्रण में करने तथा ग्रामवासियों के पुराने व पुस्तैनी ऋणों में कमी करने के उपायों को अपनाये जाने की सलाह दी। इस दिशा में जो सुझाव दिये जाते हैं वे इस प्रकार हैं :

१. ऋण देने के व्यवसाय में लाइसेन्स लेने की व्यवस्था कर देना चाहिये और साहूकारों का पंजीयन होना चाहिये; उनके द्वारा ली जाने वाली ब्याज की दर की अधिकतम सीमा निर्धारित कर देना चाहिये; उनको प्रमाणिक हिसाब रखना चाहिये तथा उसके निरीक्षण की अनुमति रहनी चाहिये; ऋणी द्वारा चुकाये गये प्रत्येक रकम की रसीद देने को तथा प्रत्येक ऋणी का हिसाब अलग-अलग लिखने

को और किसी निश्चित समय इसकी एक प्रति ऋणी के पास भेज देने को उसे बाध्य करना चाहिये ।

२. ऋणी एवं ऋणदाता के बीच ब्याज की दर, समुचित हिसाब–किताब रखने एवं प्रावाधिक समझौते सम्बन्धी विषयों का नियमन कानून द्वारा किया जाना चाहिये ।

३. लाइसेन्स देने के यन्त्र और ग्रामीण साख की सुविधाओं के निरन्तर सुधार के लिये नियमों के प्रभाव का सिंहावलोकन करने के लिये पर्याप्त व्यवस्था होना चाहिये ।

४. किसानों के ऋण लेने की स्वतन्त्रता कम करना चाहिये और उनको अनुत्पादक ऋण देने में रोक लगाना चाहिये ।

५. भुगतान में तत्परता लाने के लिये किसी नियमित प्रणाली को अपनाया जाना चाहिये ।

६. साहूकारों की स्थिति में सुधार लाने और देशी बैंकों के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करने के लिये कदम उठाया जाना चाहिये ।

देशी बैंकर (Indiginous Bankers) :

'भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति' (१९३०) ने सबसे पहले 'देशी बैंकरों' की ओर ध्यान आकर्षित किया था। उनके अनुसार 'देशी बैंकर' अथवा 'देशी बैंक' वह व्यक्ति या निजी फर्म होता है जो निक्षेपों को स्वीकार करके हुण्डियों में व्यवसाय अथवा ऋण देने का कार्य करता है। भारत के विभिन्न भागों में इसे अलग–अलग नाम से जाना जाता है । बंगाल में यह महाजन, पंजाब में खत्री, बम्बई में सर्राफ, राजस्थान में सेठ आदि के नाम से ये जाने जाते हैं । साधारणतया साहूकार (Moneylenders) एवं देशी बैंकर को एक ही ऋणदाता के रूप में समझा जाता है । पर वास्तव में इनमें काफी भिन्नतायें पाई जाती हैं ।

देशी बैंकर प्राय: 'जमा' स्वीकार करते हैं और हुण्डियों का लेन–देन करते हैं, जबकि साहूकार इस तरह का काम नहीं करते हैं । देशी बैंकर ऋण देने के पहले ऋणी की भली प्रकार जांच करते हैं जबकि साहूकार ऐसा नहीं करते । देशी बैंकर साहूकारों की तुलना में कम ब्याज लेते हैं । देशी बैंकर प्राय: उद्योग और व्यापार की सहायता के लिये ऋण देते हैं जबकि साहूकार प्राय: कृषि एवं उपभोग कार्यों के लिये ऋण देते हैं । देशी बैंकर केवल बैंकिंग कार्य करते हैं परन्तु साहूकार व्यापार और रुपये का लेन–देन साथ–साथ करते हैं । देशी बैंकर के पास निजी और जमा पूँजी दोनों रहती है जबकि साहूकार निजी पूँजी से ही ऋण देने का

काम करते हैं। इस प्रकार देशी बैंकर बैंकिग व्यवसाय करते हैं; इनकी ब्याज की दर साहूकारी ब्याज की दर से कम तथा आधुनिक बैंकों की ब्याज दर से ऊँची होती है; यह निक्षेप एवं सभी प्रकार की प्रतिभूतियाँ स्वीकार करते हैं और ऋण देने की सुविधायें प्रदान करते हैं। यह हुण्डियों की निकासी, उनके क्रय-विक्रय तथा उनके भुनाने का कार्य भी करते हैं। इसके अतिरिक्त-देशी बैंकर कभी-कभी सट्टा व्यापार एवं व्यापारिक फर्मों के प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करते हैं।

देशी बैंकर और आधुनिक बैंक : साधारण रूप में इन दोनों प्रकार की संस्थाओं के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई पड़ता, पर इनकी कार्य-प्रणालियों को समझकर इनके बीच अन्तर का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है : (१) देशी बैंकर प्रायः अपने-अपने परिवार की तथा अपने सम्बन्धियों की पूँजी से व्यवसाय करते हैं, जबँकि, आधुनिक बैंकर सम्मिलित पूँजी कम्पनी के रूप में, अंशों को बेचकर, धन प्राप्त करते हैं; (२) देशी बैंकर जमा धन अथवा निक्षेपों को विशेष महत्व नहीं देते, परन्तु आधुनिक बैंकों का निक्षेप और जमा धन प्राप्त करना महत्वपूर्ण कार्य होता है; (३) देशी बैंकर प्रायः नकदी लेन-देन ही करते हैं जबकि आधुनिक बैंक धनादेशों का प्रयोग करते हैं; (४) देशी बैंकरों का कार्य-क्षेत्र सीमित होता है जबकि आधुनिक बैंक दूर-दूर तक अपनी शाखायें खोलती हैं; (५) देशी बैंकर बैंकिंग कार्य के साथ-साथ अन्य कारोबार-व्यापार, उद्योग आदि-भी करते हैं जबकि आधुनिक बैंक बैंकिंग कार्यों तक ही सीमित रहते हैं; (६) देशी बैंकर अपनी उदार नीति के कारण कभी-कभी जमानत स्वीकार नहीं करते पर ब्याज की दर ऊँची रखते हैं, जबकि आधुनिक बैंक सदा समुचित जमानत लेते हैं एवं ब्याज की दर नीची रखते हैं; (७) देशी बैंकरों द्वारा अधिकाँश ऋण कृषकों, छोटे-छोटे उत्पादकों और कारीगरों को दिया जाता है, जबकि आधुनिक बैंक विस्तृत क्षेत्र अपनाकर सभी को उचित ऋण प्रदान करते हैं; तथा (८) देशी बैंकरों की पूँजी के साधन सीमित होते हैं जबकि आधुनिक बैंक पूँजी के विस्तृत साधनों को उपयोग में लाते हैं। इतना सब अन्तर होते हुये भी देशी बैंकर प्रायः आधुनिक बैंकों से सम्बन्ध बनाये रखते हैं। ये बैंक उन्हें हुण्डियों के भुनाने आदि में सहायता प्रदान करते हैं।

देशी बैंकरों की कार्य-विधि :

हमारे देश में देशी बैंकरों द्वारा उधार के लेन-देन में अनेक तरीके अपनाये जाते हैं। कभी ऋणी और बैंकर के बीच ब्याज की दर और ऋण की पूर्ति तय हो जाने पर, बैंकर ऋणी से एक प्रतिज्ञा-पत्र लिखा लेता है, जिसमें निश्चित समय पर कुल धन के भुगतान करने का आश्वासन होता है। इस प्रतिज्ञा-पत्र पर गवाहों के

हस्ताक्षर करा लिये जाते हैं जो उस ऋण के भुगतान के लिये जिम्मेदार ठहराये जा सकते हैं। कभी-कभी एक सरल तरीके के अन्तर्गत ऋणी से एक रसीद लिखवा ली जाती है जिसमें व्याज की दर भी लिखी रहती है। कहीं-कहीं सरकारी स्टाम्प के कागजों पर, निश्चित समयावधि के बाद व्याज सहित मूलधन लौटाने का वचन लिखा लिया जाता है। कभी-कभी किश्तों के आधार पर भी देशी बैंकर रुपया उधार देते हैं। इतना सब होते हुये भी देशी बैंकर अधिकतर रेहन एवं गिरवी के आधार पर ही अधिकतर ऋण देते हैं। सोना, चाँदी, जेवरात आदि गिरवी के रूप में तथा भूमि, मकान, बागवान आदि रेहन के रूप में रक्खे जाते हैं।

देशी बैंकरों के कार्य-विधि को देखते हुये यह कहा जा सकता है इसमें अनेक दोष हैं। बैंकिंग के अतिरिक्त इनके द्वारा अन्य व्यावसायिक कार्यों का किया जाना प्रतियोगिता को जन्म देता है। इनके द्वारा ली जाने वाली व्याज की दरें काफी ऊँची रहती हैं। कोषों की कमी, कार्य-समयों में असमानता, बैंकिंग सिद्धांतों का पालन न किया जाना, आपसी सहयोग का अभाव, अपने खातों को छिपाकर रखना तथा धोखेबाजी के तरीकों का अपनाना आदि इनके कार्य विधि की अनेक कमियाँ हैं। इन दोषों के होते हुये भी इनके महत्व को इसी बात से समझा जा सकता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में अनेक संस्थाओं के होते हुये भी यह भारी मात्रा में केवल ग्रामीण-साख की पूर्ति ही नहीं करते परन्तु छोटे-छोटे कस्बों एवं शहरों में उद्योगों तथा आन्तरिक व्यापार के संचालन में इनका विशेष स्थान है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से देश के केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक आफ इण्डिया) से कर दिया जाय तो इनकी आर्थिक दशा एवं कार्यविधि में काफी सुधार हो सकता है और इनकी सेवायें सस्ती एवं सुलभ हो जायेंगी।

देशी बैंकर और रिजर्व बैंक का सम्बन्ध :— छोटे-छोटे नगरों व ग्रामीण क्षेत्रों में साख की पूर्ति देशी बैंकर करते हैं। इस समय ये 'स्वतन्त्र निकाय' हैं और रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण से लगभग परे हैं। इन्हें नियन्त्रण में लाने के लिये निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं। वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत कम से कम दो लाख रुपये से व्यवसाय करने वाले बैंकरों को रिज़र्व बैंक की 'सूची' में सम्मिलित किया जाता है, और उनके गैर-बैंकिंग कार्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। पर रिज़र्व बैंक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने के लिये इन बैंकरों से आवश्यक विवरण प्राप्त करना, समय-समय पर प्रकाशित पत्रों के द्वारा नियन्त्रित करना, तथा इनके संघों का निर्माण करना बहुत आवश्यक है जिससे इन्हें रिज़र्व बैंक की अनेक सुविधायें प्राप्त हो सकें। ऐसा अनुभव किया जाता है कि देशी बैंकर किसी प्रकार रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण में आने के लिये तैयार नहीं हैं। सर्वप्रथम वे उस लाभदायक व्यापार या

व्यवसाय को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होते जो वे साथ में अपनाते हैं। दूसरे, इम्पीरियल बैंक व अन्य व्यापारिक बैंकों से अब तक जो इन्हें सहायता मिलती रही है इससे उन्हें रिज़र्व बैंक से सम्बन्धित होने में कोई विशेष लाभ नहीं दिखाई पड़ता। तीसरे, वे अपने हिसाब–किताब का निरीक्षण कराने के लिये तैयार नहीं होते और कुछ तो इसे अपमानजनक समझते हैं। तो भी इन बैंकरों को रिज़र्व बैंक के नियन्त्रण में लाने के लिये प्रयास करने की बड़ी आवश्यकता है। ऐसा ही हो सकने के बाद भारतीय मुद्रा बाजार संगठित हो सकता है और रिज़र्व बैंक साख का नियन्त्रण कर सकेगा, देशी बैंकरों व आधुनिक बैंकरों के मध्य सहकारिता की भावना पैदा होगी, प्रतियोगिता का पतन और व्यापार स्वत: बढ़ जायगा, जन-समुदाय का इन पर विश्वास बढ़ जायगा तथा आवश्यक विवरण मिलते रहने से इनकी आर्थिक–दशाओं का सही-सही अनुमान लगाने में सुविधा होगी।

भारतीय मुद्रा बाजार का सहकारी अंग

भारत में 'सहकारिता आन्दोलन' का श्री गणेश १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में, कृषकों की ऋण–ग्रस्तता का निवारण करने के लिये, उन्हें बहुत कम ब्याज की दर पर आर्थिक सहायता देने के लिये एवं उन्हें महाजनों के चंगुल से छुड़ाने के लिये, हुआ था। १९०४ में पहला 'सहकारिता विधान' (Co-operative Act) बनाया गया और जैसे-जैसे आन्दोलन प्रगति करता गया उसके दोष उत्पन्न होते गये, जिनको दूर करने के लिये या तो विधानों में संशोधन किये गये और या नये विधान बनाये गये। १९११ तक सहकारिता की प्रगति बहुत धीमी रही। सन् १९१२ में दूसरा सहकारी अधिनियम पास किया गया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस आन्दोलन का शीघ्रता से विस्तार हुआ। सन् १९२९ के आर्थिक संकट ने सहकारिता के समक्ष संकट उपस्थित कर दिया। १९३५ में रिज़र्व बैंक की स्थापना का इस आन्दोलन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। १९४५ में सरकार ने सहकारी योजना कमेटी नियुक्ति की जिसने आन्दोलन के विकास हेतु, अनेक सिफारिशें कीं। देश में सन् १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गई। देश के योजनाबद्ध विकास के लिये ग्रामीण साख की समस्याओं की जांच करने के लिये रिज़र्व बैंक ने १९५१ में अखिल भारतीय सर्वेक्षण कमेटी (All India Rural Credit Survey Committee —Gorwala Committee) नियुक्त की। इस कमेटी ने उपयुक्त साख व्यवस्था के लिये 'सहकारी आन्दोलन' को प्रोत्साहन देने पर बहुत जोर दिया। दूसरी एवं तीसरी योजनाकाल में उसी के सुझावानुसार सहकारिता का नियमन किया गया।

भारत में संघीय आधार पर सहकारी साख प्रणाली का संगठन किया गया है। सबसे नीचे ग्रामीण अथवा नगर साख समितियां हैं। इन समितियों के ऊपर

केन्द्रीय बैंक हैं और सबसे ऊपर प्रान्तीय सहकारी बैंक या Apex बैंक है। प्रारम्भिक समितियों एवं केन्द्रीय बैंकों के बीच यूनियनें होती हैं, जो सम्पर्क स्थापित करने के साथ-साथ निरीक्षण कार्य भी करती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :

ग्रामीण प्रारम्भिक सहकारी–साख समितियाँ : कोई भी १० या इससे अधिक व्यक्ति (अधिकतम संख्या १००) मिलकर सहकारी साख समिति स्थापित कर सकते हैं। इन समितियों का कार्य-क्षेत्र साधारणतया एक गाँव ही होता है, जिससे कि पारस्परिक नियन्त्रण एवं निरीक्षण से समिति का कार्य सफलतापूर्वक चल सके। इनको शेयर–पूँजी, प्रवेश–शुल्क, सदस्यों की जमायें, सुरक्षित कोष तथा सहकारी, केन्द्रीय व प्रादेशिक सहकारी बैंकों से ऋण के रूप में पूँजी प्राप्त होती है। इन समितियों द्वारा सदस्यों को साख की सुविधायें उत्पादक कार्यों के लिये ही मिलती हैं। समिति के प्रबन्ध के लिये सब सदस्य मिलकर एक कार्यकारिणी समिति चुनते हैं जिसका मन्त्री वेतन भोगी होता है। प्रत्येक समिति को एक निश्चित रूप में अपना हिसाब–किताब रखना पड़ता है, जिनका अंकेक्षण (audit) रजिस्ट्रार द्वारा नियुक्त किये गये अंकेक्षकों द्वारा किया जाता है। देश में इन समितियों की संख्या लगभग १.६० लाख, इनके सदस्यों की संख्या ७८ लाख, इनकी कार्यशील पूँजी ८० करोड़ रु० और इनके द्वारा दिया जाने वाला ऋण ५० करोड़ रु० है।

नगर सहकारी साख समितियाँ : छोटे-छोटे कस्बों व नगरों में स्थापित इन समितियों का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक मजदूरों, दस्तकारों व अन्य अल्प साधन वाले व्यक्तियों को लाभ पहुंचाना होता है। सीमित दायित्व वाले समितियों की पूँजी मुख्यतः शेयर बेच कर प्राप्त होती है, यद्यपि इनको सदस्यों व असदस्यों के जमाओं द्वारा भी काफी पूँजी मिलती है। समिति के प्रबन्ध के लिये सदस्यों द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध–कारिणी समिति एवं वेतनभोगी कार्यकर्त्ता होते हैं। ये भी मुख्यतः उत्पादक कार्यों के लिये अल्पकालीन ऋण देते हैं। इनका भी अंकेक्षण रजिस्ट्रार कराता है। देश में इन समितियों की संख्या लगभग १० हजार, इनके सदस्यों की संख्या ३१ लाख तथा कार्यशील पूँजी ८६ करोड़ रुपया है।

केन्द्रीय सहकारी बैंक : प्रारम्भिक सहकारी साख संस्थाओं के साधन उनकी आवश्यकताओं की तुलना में बहुत कम होते हैं; अतः इनकी सहायता के लिये केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थापना की गई है। इनके सदस्य व्यक्ति एवं समितियाँ, दोनों ही, होते हैं। इन्हें अपनी कार्यशील पूँजी अंशों के विक्रय से, सदस्य–समितियों की संचित राशि से, जनता के डिपाजिट से व ऋणों से प्राप्त होती है। इन बैंकों का प्रमुख कार्य प्राथमिक सहकारी साख समितियों को सहायता देना होता है, यद्यपि ये अन्य बैंकिंग कार्य भी करते हैं। देश में इनकी संख्या लगभग ५०० तथा

इनकी कार्यशील पूँजी लगभग १०० करोड़ है। कुछ राज्यों में यह गैर-साख कार्य भी करते हैं।

प्रान्तीय सहकारी बैंक : प्रत्येक राज्य में इन Apex बैंक की स्थापना का उद्देश्य केन्द्रीय सहकारी बैंकों का संगठन व नेतृत्व करना, सहकारी साख समितियों तथा मुद्रा बाजार में समन्वय स्थापित करना व राज्य में सहकारी आन्दोलन का मार्गदर्शन कराना है। इनका प्रबन्ध एक बोर्ड आफ डाइरेक्टर्स द्वारा किया जाता है, जिनमें समितियों व व्यक्तियों के प्रतिनिधि होते हैं। इन्हें अपनी पूँजी शेयरों के विक्रय, सदस्य समितियों के डिपाजिटों, व्यापारिक बैंकों, स्टेट बैंक तथा सरकार से प्राप्त होती है। इनके पास केन्द्रीय बैंकों की राशि भी जमा रहती है। इनको रिज़र्व बैंक से ऋण की अनेक सुविधायें प्राप्त होती हैं। देश में इन बैंकों की कार्यशील पूँजी लगभग ७० करोड़ रु० है।

इस प्रकार सहकारी आन्दोलन के अन्तर्गत, हमारे देश में ऋण देने का कार्य चार श्रेणियों में होता है : व्यक्तियों को ऋण प्राथमिक समितियों से मिलता है; प्राथमिक समितियों को ऋण केन्द्रीय बैंकों से मिलता है; इन दोनों प्रकार की संस्थाओं को प्रान्तीय सहकारी बैंक से ऋण मिलता है, तथा; प्रान्तीय बैंकों को स्टेट बैंक व रिज़र्व बैंक से ऋण की विशेष सुविधायें मिलती हैं।

भूमि-बन्धक बैंक : देश के सहकारी आन्दोलन में इन बैंकों का उल्लेख करना आवश्यक है। प्राथमिक साख समितियाँ केवल अल्पकालीन ऋण की सुविधायें प्रदान करती हैं; दीर्घकालीन ऋण की पूर्ति का क्षेत्र भूमि-बन्धक बैंकों के लिये सीमित कर दिया गया है। यह संस्थायें किसानों को पुराने ऋणों के परिशोध के लिये, भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिये व भूमि के क्रय करने के लिये भूमि की बन्धक पर दीर्घकालीन ऋण देती हैं। ऐसी बैंकें दक्षिण में विशेष रूप से पाई जाती हैं।

भारत में सहकारिता आन्दोलन की आधुनिक प्रवृत्तियाँ :

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में अपनाई जाने वाली सहकारी ऋण से सम्बन्धित नीति को अखिल भारतीय ग्रामीण-साख सर्वेक्षण कमेटी (गोरवाला कमेटी) की सिफारिशों ने सब से अधिक प्रभावित किया है। इस कमेटी को रिज़र्व बैंक ने १९५१ में देश की ग्रामीण साख व्यवस्था के सम्बन्ध में जांच-पड़ताल करने तथा आवश्यक सुझाव देने के लिये नियुक्त किया था। समिति ने पता लगाया कि किसानों को ऋण देने में सरकार और सहकारी आन्दोलन का हाथ क्रमशः ३.३ एवं ३.१ प्रतिशत था, जबकि साहूकारों एवं ग्रामीण व्यापारियों द्वारा ७०% ऋण दिया जाता

है। समिति ने यह भी पता लगाया कि सरकार एवं सहकारी समितियाँ कृषकों के अल्पकालीन ऋणों के केवल १४% मांग की पूर्ति करती हैं। कमेटी ने यह राय व्यक्त की कि ग्रामीण साख की सुविधायें न तो पर्याप्त हैं, न उपयुक्त हैं और न सही व्यक्ति को मिल पाती हैं। इस प्रकार जिस सहकारी आन्दोलन को देश की जनता के लिये 'आशा की एक मात्र किरण' समझाया गया था उसको सर्वेक्षण समिति ने अत्यन्त विफल पाया। साख की भावी नीति बनाने के आधारों के विषय में चर्चा करते हुये कमेटी ने बतलाया कि सहकारी आन्दोलन के प्रोत्साहन हेतु अपनाये गये अधिकांश सुधार ऐसे उपायों से सम्बन्धित रहे हैं जिनमें दुर्बलों की विजय के लिये कोई स्थान नहीं रहा है। परिस्थितियों के सुधारने के लिये ग्रामीण-अर्थव्यवस्था के प्रत्येक पहलू को ग्रामीण साख के क्षेत्र से सम्बन्धित करने, बाहरी सहायता (जो केवल सरकार से ही प्राप्त हो सकती है) के बल पर सहकारिता को इतनी शक्तिशाली बनाने (कि न केवल वह अपनी सहायता करने लगे वरन् दूसरों की सहायता पर उसकी निर्भरता समाप्त हो जाय) तथा सरकार को सहकारी समितियों के साथ मिलकर कार्य करने पर समिति ने जोर दिया। इन आधारों पर कमेटी की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं :—

१. **आन्दोलन के प्रत्येक स्तर पर सरकार की साझेदारी :** भारत में सहकारी आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिये समिति ने सरकार द्वारा इसमें सक्रिय भाग लिये जाने की आवश्यकता बतलाई। इसने राज्य सहकारी बैंकों के ५१% अंशों को सरकार द्वारा खरीदे जाने की सलाह दी। ऐसी साझेदारी के लिये बड़ी-बड़ी प्रारम्भिक समितियाँ एवं केन्द्रीय बैंक भी उपयुक्त बतलाये गये। पर इसके साथ-साथ समिति ने ऐसी संस्थाओं की प्रकृति की सुरक्षा बनाये रखने तथा उनकी कार्यप्रणाली में हस्तक्षेप न करने की बड़ी दलील दी। ऐसी साझेदारी का होना उसी समय तक आवश्यक समझा गया जब तक उसको ग्राम्य-स्तर को किसी स्थिति तक लाने की जरूरत थी।

(२) **विशेष कोषों का निर्माण करना :** समिति ने विभिन्न कोषों को निम्नलिखित संस्थाओं के अन्तर्गत तथा कार्यों के लिये स्थापित करने की सलाह दी।

संस्था के अन्तर्गत	कोष का नाम	कोष का निर्माण	कोष के कार्य
रिज़र्व बैंक	राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष [National Agricultural Credit (Long Term) operation Fund]	१० करोड़ रु० +५ करोड़ रु० प्रतिवर्ष	(१) अंश खरीदने के लिये राज्य सरकारों को ऋण देना; (२) कृषि कार्यों के लिये मध्यकालीन ऋण देना; (३) केन्द्रीय भूमि-बन्धक बैंकों को ऋण देने के लिये।

संस्था के अन्तर्गत	कोष का नाम	कोष का निर्माण	कोष के कार्य
,,	राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष [National Agricultural Credit (stabilisation) Fund].	१ करोड़ रु० +१ करोड़ रु० प्रतिवर्ष	अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन में बदलने के लिये राज्य सहकारी बैंकों को ऋण देने के लिये।
खाद्य व कृषि मंत्रालय, (केन्द्रीय सरकार)	राष्ट्रीय कृषि साख (रिलीफ व गारेन्टी) कोष [National Agricultural Credit (Relief & Guarantee) Fund]	१ करोड़ रु० प्रतिवर्ष	साख सहकारी समितियों को ऋण देने के लिये।
राष्ट्रीय सहकारिता विकास एवं भण्डारागार विकास बोर्ड	राष्ट्रीय सहकारिता विकास कोष [National Co-operative Development Fund.]	—	राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण देने के लिये जिससे वे प्रकिपण व विपणन में भाग लेने वाली समितियों की शेयर पूँजी में भाग ले सकें।
,,	राष्ट्रीय भण्डारागार विकास कोष [National Warehousing Development Fund.]	—	(१) भण्डारागार निगम की शेयर पूँजी में भाग लेने के लिये; (२) इसी के लिये राज्य सरकारों को ऋण देने के लिये; (३) निगमों को सहायता देने के लिये।

(३) **रिज़र्व बैंक को अधिकतम सहयोग देना** : ग्रामीण क्षेत्रों में साख की सेवाओं को बढ़ाने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक द्वारा (i) भूमि–बन्धक बैंकों को 'दीर्घकालीन कोष' से प्रत्यक्ष ऋण व ऋण–पत्रों को क्रय करके रकम दिये जाने; (ii) राज्य सरकारों की गारेन्टी पर साख सहकारिताओं को अल्पकालीन ऋण के दिये जाने; (iii) अल्पकालीन ऋणों के न चुकाये जाने पर उनकी व्यवस्था मध्यकालीन ऋणों ('स्थायित्व कोष' से) के रूप में किये जाने आदि के लिये समिति ने सुझाव दिये।

(४) **स्टेट बैंक की स्थापना :** कमेटी का एक महत्वपूर्ण सुझाव 'स्टेट बैंक' के स्थापित किये जाने का था। समिति ने ऐसे बैंक को (इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके) इस आश्वासन पर स्थापित करने की सलाह दी कि यह कम से कम ५०० शाखायें ५ वर्ष में खोले। ऐसा करने के लिये समिति ने एक 'समन्वय एवं विकास कोष' (Integrated & Development Fund) लाभदायक शाखाओं को खोलने के खर्च को पूरा करने के लिये स्थापित करने की भी सलाह दी।

(५) **सहकारिता की शिक्षा एवं प्रशिक्षण :** कमेटी ने एक ऐसा कर्मचारी वर्ग तैय्यार करने की सिफारिश की जो न केवल टेकनीकल योग्यता से सम्पन्न हो वरन् जिसके हृदय में ग्रामीण जीवन के प्रति प्रेम और सहानुभूति भी हो जिससे उक्त योजना के अन्तर्गत जो नये कर्तव्य उत्पन्न हो जायें उन्हें कुशलतापूर्वक तथा जनता के लाभार्थ निष्पादित कर सकें।

(६) **उपज की उचित बिक्री :** कमेटी ने इस बात की बड़ी आवश्यकता समझी कि कृषि वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व तथा कृषक की साख एवं अन्य आर्थिक क्रियाओं में घनिष्ट सम्बन्ध रहे। इसके लिये अखिल भारतीय भण्डारागार निगम तथा विभिन्न राज्यों में भी इसी प्रकार के राज्य-निगम स्थापित किये जाने की सलाह दी। कृषकों के हितों की रक्षा करने के लिये कमेटी ने अग्रिम बाजारों के उचित नियन्त्रण का भी सुझाव दिया।

(७) **अन्य सुझाव :** समिति ने और भी अनेक सुझाव दिये जिनमें (i) साहूकारों के कार्यों तथा उनकी ब्याज दरों पर नियन्त्रण करने, (ii) साख समितियों के आधार, क्षेत्र एवं दायित्व को विस्तृत करने, (iii) यातायात के साधनों में पर्याप्त विश्वास करने, (iv) कुटीर-उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने, (v) ग्रामीण बचतों को इकट्ठा करने आदि, जैसे सुझाव उल्लेखनीय हैं।

सर्वेक्षण कमेटी की सिफारिशों का कार्यान्वयन :

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे कमेटी की सिफारिशों को काफी सीमा तक कार्यान्वित किया जा चुका है और इसीलिये सहकारिता आन्दोलन की वर्तमान प्रवृत्ति के बनाने में इस कमेटी का प्रमुख स्थान माना जाता है। अप्रैल १९५५ में, इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण कर, स्टेट बैंक को स्थापित किया गया, जिसने ५ वर्षों में ४०० शाखायें खोलने के उत्तरदायित्व को पूरा कर लिया। भण्डारागार एवं विपणन की सेवाओं के विकास के साथ-साथ स्टेट बैंक का कार्य-क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। कुटीर-उद्योगों की सहायता के लिये यह बैंक निरन्तर प्रयास करता जा रहा है। १९५५ में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायित्व) कोष की स्थापना की गई, जिसमें क्रमशः लगभग ४०

वह ६ करोड़ रुपया जमा हो चुका है। मार्च १९५७ में केन्द्रीय भण्डारागार निगम (Central Warehousing Corporation), जो कृषि उपज के लिये गोदामों तथा बिक्री की व्यवस्था करता है, स्थापित किया गया। देश में बैंकिंग कार्यों को सुचारु रूप से चालू रखने के लिए तथा योग्य व कुशल व्यक्तियों की पूर्ति के हेतु बम्बई में एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज खोला गया। इनके अतिरिक्त देश में सहकारिता आन्दोलन को ग्रामीण विकास का आधार बनाने के उद्देश्य से और भी अनेक सिफारिशों को कार्यान्वित किया जा चुका है।

भारत में सहकारी आन्दोलन के दोष एवं उनके उपाय :

यद्यपि भारत में सहकारी आन्दोलन को प्रारम्भ हुए १५० वर्ष से भी अधिक हो गये, पर देश की अर्थव्यवस्था पर इसका विशेष प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। कुछ वर्ष पूर्व तो यह नग्न था। भारत में सहकारी साख आन्दोलन के असंतोषजनक प्रगति के अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं। संक्षेप में यह इस प्रकार हैं: (i) संस्थाओं की कार्यविधि में अत्यधिक हस्क्षेप, (ii) जनता एवं कार्यकर्ताओं में सहकारिता के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता, (iii) समितियों के प्रबन्ध में अकुशलता तथा उनके त्रुटिपूर्ण हिसाब-किताब एवं अंकेक्षण का होना, (iv) दीर्घकालीन साख का अभाव, (v) समितियों के अपर्याप्त आर्थिक साधनों का होना तथा उनके द्वारा दोषपूर्ण ऋण नीति का अपनाया जाना।

इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से ही अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वे समिति ने अपनी सिफारिशें की थीं, जिनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि उस समिति की सिफारिशों के कार्यान्वित किये जाने से आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन मिला है, पर फिर भी इन प्रयासों को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। आज भी (i) सहकारिता के सिद्धान्तों की शिक्षा एवं प्रचार करने, (ii) बहुउद्देशीय समितियों को स्थापित करने, (iii) ऋण नीति में सुधार करने, (iv) ग्रामीण बचतों को इकट्ठा करने, (v) विभिन्न स्तरों पर सरकार की साझेदारी का होना, (vi) प्रबन्ध में सुधार करने, आदि की उतनी ही आवश्यकता है जितनी १० वर्ष पहले थी। इसी प्रकार लगातार कार्य करते रहने पर ही भविष्य में सुधार की आशा की जा सकती है।

भारतीय मुद्रा बाजार के दोष :

भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों का विवरण प्राप्त कर लेने के पश्चात् यह सरलता से जाना जा सकता है कि इसकी कौन-कौन सी कमियाँ हैं।

भारत की अर्थ-व्यवस्था की भाँति भारतीय मुद्रा बाजार भी अविकसित है। इसकी प्रमुख कमियां इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं :—

१—**असंगठित अंग का होना :** भारतीय मुद्रा बाजार की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता इसकी द्विशाखिता (dichotomy) है। असंगठित बाजार में साहूकारों व देशी बैंकरों का प्रभुत्व है, जो न तो रिज़र्व बैंक के नियंत्रण में हैं और न बाजार की दरों से प्रभावित होते हैं। इस कारण देश में साख की मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं हो पाता। सहकारी संस्थाओं के विकास के फलस्वरूप इस दिशा में कुछ सुधार हो सका है, पर आवश्यकताओं को देखते हुये यह बहुत कम है।

२—**सहयोग का अभाव :** भारत में काफी समय तक व्यापारिक बैंकों, इम्पीरियल बैंक ऐवं विदेशी बैंकों में पारस्परिक सहयोग का अभाव रहा है जिसके फलस्वरूप इनकी ऋण नीतियों, विनियोग सिद्धान्तों एवं ब्याज की दरों में बहुत भिन्नता पाई जाती रही है। १९४९ के बैंकिंग विधान से इन नीतियों में बहुत कुछ एकरूपता आ गई है। परन्तु ब्याज की दरों की भिन्नता अभी समाप्त नहीं हुई है। ब्याज की दरों के सम्बन्ध में एक तथ्य जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है वह यह है कि गत दस वर्षों में प्रमुख बैंकों के निक्षेप लगभग समान स्तर पर आ गए हैं। इसका मुख्य कारण बैंकों द्वारा किया गया समझौता है जिसके अन्तर्गत वह निर्धारित दर से अधिक ब्याज न देने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

३—**मौसमी आवश्यकता :** भारतीय मुद्रा बाजार में साख की मांग मौसमी होती है, जिसका मुख्य कारण यहाँ की अर्थ-व्यवस्था पर मौसमों का प्रभाव होता है। व्यस्त काल में प्राय: ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं, क्योंकि फसलों के तैयार हो जाने के कारण व्यापारी इनको इकट्ठा करने के लिये साख की माँग बढ़ा देते हैं। रिज़र्व बैंक भी ऐसे काल में मुद्रा की पूर्ति बढ़ा देती है। यद्यपि रिज़र्व बैंक द्वारा कृषि बिलों की अवधि १५ मास तक बढ़ा देने से मुद्रा के इस मौसमी अभाव की समस्या कुछ कम तो हो गई है, पर पूरी तरह नहीं सुलझ पाई है।

४—**बैंकिंग सुविधाओं का असमान वितरण :** किसी देश में बैंकिंग सुविधाओं के समान रूप से फैले होने के कारण उस देश में साख तथा पूँजी का अभाव नहीं अनुभव होने पाता। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि बैंक आवश्यकतानुसार अपने-अपने क्षेत्र में साख प्रसारित कर देते हैं। भारत में बैंकों की शाखायें लगभग २००० स्थानों पर ही केन्द्रित हैं और काफी बड़े क्षेत्र में बैंकिंग सेवायें सुलभ नहीं हैं। इससे लोगों की अतिरिक्त आय को जमा करके मुद्रा तथा साख की मात्रा का यथेष्ट नियमन नहीं हो पाता।

५—**विशेष संस्थाओं का अभाव :** इंगलैण्ड व अमेरिका जैसे देशों में विशेष प्रकार की वित्तीय संस्थाओं को काफी मात्रा में स्थापित किया गया है जो उपभोक्ताओं, बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं को साख की सुविधायें प्रदान करती हैं। भारत में 'अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति' की सिफारिशों के फलस्वरूप ही कुछ विशेष संस्थानों को स्थापित किया गया है (जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है)। पर इनके द्वारा मिलने वाली सुविधाओं को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता।

उत्तम बिल बाजार की कमी : भारत में आज भी एक नियमित बिल बाजार का अभाव है। इसका कारण यही है कि बिल तथा हुण्डियां अनेक प्रकार से लिखी जाती हैं जिससे विभिन्न स्थानों पर उन्हें प्राप्त करने तथा भुनाने में कठिनाई होती है। यदि इस प्रकार की सेवाओं का काफी प्रचलन हो जाय तो बिलों के माध्यम से व्यापारिक वित्त व्यवस्था करने में क्रेता, विक्रेता एवं बैंक तीनों को लाभ हो सकता है।

भारतीय मुद्रा बाजार में सुधार के उपाय :

यद्यपि भारतीय मुद्रा बाजार की व्यवस्था में सुधार लाने के लिये समय-समय पर दिये गए सुझाओं को कार्यान्वित करने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं, फिर भी मुद्रा बाजार में सुधार लाने के लिये निम्नलिखित उपाय बतलाये जा सकते हैं :—

१—साहूकार तथा देशी बैंकरों को देश की केन्द्रीय बैंक के नियन्त्रण में लाना आवश्यक है, जिसके लिये एक ओर तो बैंकिंग सेवाओं का विस्तार करना और दूसरी ओर सहकारी बैंकों के पक्ष में उचित वातावरण तैयार करना आवश्यक है।

२—रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाये गये नियन्त्रण के कानूनों को अधिक सावधानी एवं तत्परता से लागू करने की आवश्यकता है।

३—देश के विभिन्न क्षेत्रों में उत्तम बिल बाजार की व्यवस्था करना भी आवश्यक है, जिसके लिये व्यापारिक बिलों एवं देशी हुण्डियों का प्रमापीकरण करना जरूरी है।

४—साख पत्रों के सुविधाजनक भुगतान के लिये देश में अधिक समाशोधन गृहों (clearing house) तथा बैंकों की शाखाओं की व्यवस्था होनी चाहिये।

—:०:—

संदर्भ पुस्तकें

Reserve Bank of India, Bulletines
Trend & Progress of Banking in India (1949-62)
Statistical Tables relating to Banks in India
Banking & Monetary Statistics of India

अध्याय १८

भारतीय पूँजी बाजार—औद्योगिक वित्त व्यवस्था

किसी देश में जिस व्यवस्था के अन्तर्गत दीर्घकालीन पूँजी का लेन-देन होता है उसे पूँजी बाजार कहा जाता है। इस प्रकार की पूँजी की आवश्यकता यद्यपि औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्र दोनों में होती है, परन्तु इसका महत्व विशेष रूप से औद्योगिक क्षेत्र में होता है। उद्योगों में पूँजी की आवश्यकता दो प्रकार के कार्यों के लिये होती है : (अ) पूँजीगत साधनों एवं स्थायी परिसम्पत्ति (fixed assets) को खरीदने के लिये, तथा (ब) कच्चे व तैयार माल के स्टाक रखने एवं मजदूरी के भुगतान आदि के लिये। प्रथम प्रकार की पूँजी को Block Capital (अचल पूँजी) और दूसरे प्रकार की पूँजी को Working Capital (कार्यकर पूँजी) भी कहते हैं। अचल अथवा प्रारम्भिक पूँजी की नये उद्योगों को अपना कार्य आरम्भ करने के लिये तथा पुराने उद्योगों को अपने विस्तार एवं प्रस्थापन के लिये आवश्यकता होती है, जो लगभग स्थायी प्रकृति की होती है। कार्यशील पूँजी की प्रकृति कुछ तो अल्पकालीन होती है और कुछ दीर्घकालीन भी। प्रारम्भिक तथा कार्यशील पूँजी का अनुपात उद्योग की प्रकृति पर निर्भर करता है। प्रारम्भिक पूँजी की आवश्यकता विशेष रूप से दीर्घकाल से सम्बन्धित होती है जो पूँजी-बाजार से प्राप्त होती है।

औद्योगिक वित्त पूँजी के स्रोत[1]

उद्योगों को 'कार्यशील पूँजी' विशेष रूप से व्यापारिक बैंकों से अपने स्टाक एवं अन्य तरल आदेयों की आड़ पर प्राप्त करनी होती है। पर प्रारम्भिक अथवा दीर्घकालीन पूँजी का प्रमुख स्रोत जनता द्वारा प्राप्त 'शेयर पूँजी' है जिसको अंशों (अथवा शेयरों) को बेच कर प्राप्त किया जाता है। कुछ समय बाद औद्योगिक संस्थायें अपने 'लाभ' को भी ऐसी पूँजी के रूप में उपयोग करने लगती हैं। इस प्रकार शेयर पूँजी तथा अतिरिक्त लाभ कम्पनी की 'अपनी पूँजी' कहलाती है। 'ऋण-पत्र' (debentures) बेच कर या जनता से 'उधार' लेकर भी पूँजी बढ़ाई जाती है। इस प्रकार से बढ़ाई गई पूँजी को 'व्यक्तिगत उधार पूँजी' कहा जाता

१—विदेशी पूँजी के विषय में 'विकास वित्त' नामक अध्याय देखिये।

है। इसके साथ-साथ सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत क्षेत्रों (Public & Private Sectors) में अनेक संस्थायें, जैसे बीमा कम्पनियाँ, औद्योगिक निगम, व्यापारिक एवं विकास बैंक आदि, सरकार की सहायता से स्थापित की जाती हैं जिनका उद्देश्य ऋण के रूप में दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था करना होता है। ये सब मिलकर हमारे उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१—शेयर पूँजी एवं ऋण :

रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार भारतीय औद्योगिक कम्पनियों के कुल वित्तीय साधनों का २८% भाग शेयर पूँजी से प्राप्त किया जाता है। १९५२ में ऋण पत्रों एवं शेयरों की बिक्री से लगभग ५ करोड़ रुपये इकट्ठा किया गया, जो १९५८ में २५ करोड़ रुपया, १९५९ में ४३ करोड़ रुपया, १९६० में ५६ करोड़ रुपया, १९६१ में ६० करोड़ रुपया और १९६२ में ९८ करोड़ रुपया हो गया। पर १९६३ में शेयरों एवं ऋण पत्रों की बिक्री से इकट्ठी की गई धनराशि कम होकर ५१ करोड़ रुपये रह गई।[1] नये शेयरों तथा ऋण पत्रों की बिक्री के लगातार वृद्धि से दो बातों का पता चलता है: प्रथम, लोगों की विनियोग करने की क्षमता में सुधार हुआ है; तथा द्वितीय, मध्यम वर्ग के लोगों में विनियोग करने की रुचि बढ़ रही है, यद्यपि इनकी बचतें कम हो रही हैं। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि नई पूँजी में साधारण शेयरों (ordinary shares) की प्रधानता रही है, तथा निश्चित लाभ देने वाले प्रतिभूति-पत्र जैसे अधिमान हिस्से (preference shares) एवं ऋण-पत्र का बाजार सीमित रहा है। अधिमान हिस्सों की बिक्री से १९५९ में ९·७ करोड़ रु० प्राप्त हुये पर यह प्राप्ति १९६२ में २·६ करोड़ रु० रह गई। इसी प्रकार ऋण-पत्रों की बिक्री की राशि १९५९ में ५·३ करोड़ रु० से गिर कर १९६१ में १·१ करोड़ रु० रह गई। जनता से पूँजी प्राप्त करने में पिछले वर्षों में एक बाधा यह रही है कि पूँजी बाजार में ब्याज की दरें अधिक बढ़ गई हैं और सरकार प्रतिवर्ष काफी मात्रा में ऋण ले लेती है। इसके फलस्वरूप जनता की बचत का एक महत्वपूर्ण अंश नियमित रूप से निक्षेपों अथवा ऋणों के रूप में विनियोजित होने लगा है।

भारतीय उद्योग प्राय: उधार पर अधिक निर्भर करते हैं। इनकी अपनी शेयर पूँजी कम होती है। इसके कई करण हैं: (i) ब्याज-दर पूँजी की मांग को देखते हुये आज भी कम है; (ii) उधार पर दिया गया ब्याज खर्च गिना जाता है

१—केन्द्रीय सरकार और वैयक्तिक कम्पनी द्वारा चालू की गई 'आयल इण्डिया लि०' को १९६३ में भारी धक्का लगा जिससे यह धन राशि कम हो गई।

तथा इस पर कर नहीं लगता; (iii) विनियोग करने वालों में शीघ्रातिशीघ्र पूँजी मूल्य वृद्धि (capital appreciation) के द्वारा लाभ कमाने की इच्छा बढ़ती जा रही है; (iv) उद्योगों के promoters इनके प्रबन्ध को अपने हाथ में रखना चाहते हैं। भारत में कृषक वर्ग अपनी बचतों से या तो भूमि खरीदना या जेवर बनवाना, या मकान बनवाना या बहुत से बहुत अपने पड़ोसियों को ऋण देना अधिक पसन्द करता है। मध्यम वर्गीय व्यक्ति भी अपनी बचतों को सम्पत्ति अथवा सरकारी संस्थाओं में विनियोग करना अधिक लाभप्रद समझते हैं। वे औद्योगिक प्रतिभूतियों में अपनी बचतों का विनियोग करने की ओर पूर्णतया उदासीन रहते हैं। इसका कारण यही है कि हमारे देश में ऐसी वैत्तिक संस्थाओं का अभाव है जो औद्योगिक प्रतिभूतियों में व्यापार करते हों। इसके अतिरिक्त लोग सरकारी प्रतिभूतियों में अपनी बचतों को विनियोग करना अधिक सुरक्षित समझते हैं। यू० एस० ए० जैसे प्रगतिशील देशों में बीमा कम्पनियां, विनियोग ट्रस्ट, इमारत बनाने वाली समितियाँ जैसी संस्थायें ऐसी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय में भाग लेती हैं और इस प्रकार उद्योगों को इस साधन द्वारा पूँजी प्राप्त कराने में सहायता देती हैं।

शेयर पूँजी एवं ऋणों को इकट्ठा करने में प्रबन्धाभिकर्ताओं का स्थान : ऐसा विश्वास किया जाता है कि भारतीय उद्योगों की स्थापना तथा विकास का प्रमुख श्रेय प्रबन्धाभिकर्ता प्रणाली को है, क्योंकि इस वर्ग ने न केवल प्रारम्भिक वर्षों में विभिन्न उद्योगों के लिये आवश्यक पूँजी की व्यवस्था की बलिक उनका ठीक प्रकार प्रबन्ध कर उन्हें स्वस्थ बनाने में काफी योगदान दिया है। प्रबन्धाभिकर्ता कम्पनियों के अंश तथा ऋणपत्र खरीदते हैं और प्रतिभूतियों के बिकने में सहायक होते हैं। कभी-कभी ये अपनी कम्पनियों के लिये जनता से सामयिक निक्षेप भी प्राप्त करते हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि कुल पूँजी में से लगभग १५% प्रबन्धाभिकर्ताओं द्वारा खरीदी होती है। स्वयं पूँजी लगाने के अतिरिक्त प्रबन्धाभिकर्ता औद्योगिक संस्थानों को ऋण भी देते हैं तथा अपनी गारेन्टी पर उनके लिये ऋणों की व्यवस्था करते हैं। एक अनुमानानुसार प्रबन्धाभिकर्ताओं द्वारा व्यवस्थित वृहदाकार कम्पनियों द्वारा प्राप्त ऋण का १·३% तथा मध्यम आकार वाली कम्पनियों के ऋणों का ७% स्वयं प्रबन्धाभिकर्ताओं द्वारा दिया हुआ था।

प्रबन्धाभिकर्ताओं पर एक कम्पनी की पूँजी को दूसरी में विनियोजित करने तथा स्वयं अत्यधिक शुल्क लेने के आरोप आज भी लगाये जाते हैं, यद्यपि इन दोषों को १९५६ में बनाये गये कम्पनी अधिनियम द्वारा काफी सीमित करने की चेष्टा की गई थी। अधिनियम के अनुसार कोई भी व्यक्ति या संस्था दस से अधिक कम्पनियों का प्रबन्धाभिकर्ता (managing agent) नहीं हो सकता तथा कम्पनी के

प्रबन्ध का सम्पूर्ण व्यय[1] ११% से अधिक नहीं हो सकता है। इसके साथ-साथ प्रबन्धाभिकर्ता की नियुक्ति के लिये भारत सरकार से सहमति लेना आवश्यक होता है। इन प्रतिबन्धों के फलस्वरूप दोषों के बढ़ने पर रोक अवश्य लग गई है, पर इनको दूर नहीं किया जा सका है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह तब तक सम्भव नहीं है जब तक उद्योगों के विकास के लिये यथेष्ट पूँजी अन्य स्रोतों से उपलब्ध नहीं होती।

२—लाभ का पुनः विनियोग :

व्यापारिक दूरदर्शिता इस बात की पुष्टि करती है कि लाभ में से कुछ भाग बचा लिया जाय और इसको उद्योग के विस्तार के लिये उपयोग किया जाय। इस प्रकार के स्व: वित्त से कम्पनी के अपने साधनों में वृद्धि होती है, non-subscribed पूँजी में वृद्धि होती है जिससे कम्पनी पर लाभांश का भार कम हो जाता है, लभांश वितरण में समानता आती है, तथा कम्पनी की वित्तीय शक्ति स्थायी बनती है। विगत वर्षों में हमारे देश में वैयक्तिक सीमित कम्पनियों के वित्तीय साधनों का २५% भाग और वैयक्तिक सीमित कम्पनियों का १८ प्रतिशत भाग लाभ के पुनः विनियोग से प्राप्त किया गया है। यद्यपि यह सार्वजनिक सीमित कम्पनियों में वित्त का महत्वपूर्ण साधन है, पर दूरदर्शी उद्योगपति भी अपने लाभ को पुनः निवेशित कर देते हैं। इस प्रकार का स्व-वित्त अनिवार्य, प्रेरित या फिर ऐच्छिक हो सकता है। भारत में इस साधन के द्वारा उद्योगों की पूँजी बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है।

३—बैंकों की सहायता :

बैंकिंग संस्थायें अल्पकालीन ऋणों के अतिरिक्त विनियोग करके भी उद्योगों को वित्तीय सुविधा प्रदान कर सकती हैं। यद्यपि भारतीय व्यापारिक बैंक, ब्रिटिश बैंकों की भाँति, अधिकतर अल्पकालीन ऋण देते हैं क्योंकि इनका दृष्टिकोण कुछ संकीर्ण है एवं इनमें जोखिम उठाने की प्रवृत्ति का अभाव है तथा उनके पास औद्योगिक संस्थानों की सम्पत्ति का उचित मूल्यांकन करने के साधनों की कमी है, फिर भी कुछ अंशों में यह औद्योगिक वित्त की भी व्यवस्था करते हैं। भारतीय बैंकों द्वारा उद्योगों को दी जाने वाली सहायता के सम्बन्ध में तीन बातें बतलाई जा सकती हैं : (i) विगत वर्षों में बैंकों ने केवल इंजीनियरिंग एवं चीनी उद्योगों को ही विशेष रूप में सहायता प्रदान की है, (ii) छोटे पैमाने के उद्योगों को कुल

१—प्रबन्धाभिकर्ता, संचालकगण, सचिव मण्डल, कोषाध्यक्ष, व्यवस्थापकों को दिया गया वेतन एवं शुल्क। इसमें भत्ता सम्मिलित नहीं किया जाता।

अनुसूचित बैंकों की साख में से केवल तीन प्रतिशत ऋण प्राप्त हुआ है। अनुसूचित बैंकों ने १९५१ में उद्योगों को २०८·६ करोड़ रुपया उधार दिया था जो बैंकों द्वारा दिये गये एडवान्स का ३६% था। १९६४ में यह रकम ११०४ करोड़ रुपया (एडवान्स का ५९·२%) हो गयी। यह सहायता इन्जीनियरिंग, चीनी, सूती वस्त्र, एवं जूट उद्योगों को प्राप्त हुई। यह उल्लेखनीय है कि भारत में वाणिज्य बैंकें अधिकतर सुरक्षित ऋण प्रदान करती हैं। वस्तुओं के बदले ऋण दिये जाते हैं तथा व्यवस्थापक एजेन्टों से व्यक्तिगत गारन्टी ले ली जाती है। ऋण देने की जो सामान्य पद्धति अपनाई जाती है उसे अधिवर्कश (over-drawing) कहते हैं जिसमें बैंक ग्राहक को एक निश्चित राशि तक प्रतिवर्ष उधार लेने का अधिकार दे देता है। उधार दी गई रकम को बैंकें किसी भी समय वापस माँग सकती हैं। ऋण की सुरक्षा के रूप में दी जाने वाली वस्तुओं पर बैंकों को कानूनी अधिकार मिल जाता है। कभी-कभी बैंक उद्योगों में विनियोग करके भी वित्तीय सुविधा प्रदान करते हैं। १९५१ में अनुसूचित बैंकों का इस प्रकार से २·१ करोड़ रुपया लगा हुआ था जो १९६१ में बढ़कर ६८·६ करोड़ रुपया हो गया। फिर भी यह बैंकों के सरकारी और व्यक्तिक आरक्षों का केवल दस प्रतिशत है।

४—बीमा कम्पनियों की सहायता :

औद्योगिक वित्त में बीमा कम्पनियों का काफी महत्व होता है, क्योंकि इनके पास काफी धनराशि होती है जिसे वे इस प्रकार से विनियोग करना चाहती हैं जिनसे उन्हें अच्छा लाभ मिल सके। युद्ध से पूर्व भारत में जीवन बीमा कम्पनियों ने अपनी सारी सम्पत्ति (assets) का ६·८% प्रतिशत भारत उद्योगों में लगा रक्खा था। १९४५ में यह प्रतिशत ९.४ थी। १९५६ में राष्ट्रीयकरण के पश्चात् जीवन बीमा निगम के कार्य और निवेषित योग्य धन में काफी वृद्धि हुई है। जीवन बीमा निगम के विनियोग के कार्य एक विनियोग समिति को सौंप दिया गया है जिसकी देख-रेख में (i) नियमित कोष का कम से कम ५० प्रतिशत सरकार या अनुमोदित आरक्षणों में विनियोग किया जाता है; (ii) २५ प्रतिशत अनुमोदित आरक्षों में लगाया जा सकता है; (iii) शेष १५ प्रतिशत अन्य आरक्षों में लगाया जा सकता है। निजी क्षेत्र की कम्पनियों में जीवन बीमा निगम द्वारा इस समय १२० करोड़ रुपये से अधिक धन निवेशित है। हाल ही में इसने भवन निर्माण में सहायता करने के लिये कई योजनायें अपनाई हैं। आगामी वर्षों में निगम द्वारा विनियोग की जाने वाली धनराशि में वृद्धि होने की काफी सम्भावना है।

५—निवेषी-न्यास अथवा विनियोग प्रन्यास :

निवेषी-न्यास (Investment-trust) विनियोग और बचत के प्रोत्साहन के लिये महत्वपूर्ण साधन होते हैं। निवेषी-न्यास उन कम्पनियों को कहते हैं जो उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करते हैं। भारत में इनका विकास अधिक नहीं हुआ है, जबकि पश्चिमी देशों में यह बचत को बढ़ाने और इसके सही उपयोग के लिये महत्वपूर्ण साधन समझे जाते हैं। १९५९ में देश में ५९५ निवेषी-न्यास कम्पनियाँ थीं जिनकी प्रदत्त पूँजी ३७·७ करोड़ रुपये थी, जबकि १९४८ में ऐसी ४६५ कम्पनियाँ थीं जिनकी प्रदत्त पूँजी १८ करोड़ रुपया थी। निवेषी-न्यास अपने कोष का विभिन्न आरक्षों में विनियोग करते हैं। इनमें सरकारी आरक्षण, अधिमान हिस्से तथा सहकारी आरक्षण मुख्य हैं। सबसे अधिक धन साधारण शेयरों में लगाया गया है।

भारतीय पूँजी बाजार में निवेषी-न्यासों का यद्यपि महत्वपूर्ण स्थान नहीं है, परन्तु उचित ढंग के निवेषी-न्यासों के विस्तार की फाफी गुंजाइश है। पिछले कुछ वर्षों में आय के वितरणों का प्रभाव इन पर काफी पड़ा है जिससे इनके सफल होने की सम्भावना काफी बढ़ रही है। भारत सरकार द्वारा स्थापित यूनिट ट्रस्ट इस दिशा में एक अच्छा कदम है।

५—केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें :

किसी देश के औद्योगिक विकास में वहाँ की सरकार द्वारा अपनाई गई नीति तथा दी गई सुविधाओं का बहुमूल्य प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीय हित में ऐसे उद्योगों का विकास बहुत आवश्यक होता है जिनको, या तो स्थापित करने में इतनी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होती है जिसे साधारण साधनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, और या जिनसे काफी समय बाद ही लाभ मिलने की आशा होती है। ऐसे उद्योगों को कोई भी साहसी स्थापित नहीं करना चाहता। अतः इनको स्थापित करने के लिये या तो सरकार को स्वयं पूँजी लगानी पड़ती है, और या निजी उद्योगपतियों को, अनेक प्रकार की सुविधायें प्रदान कर, पूँजी लगाने के लिये प्रोत्साहित करना पढ़ता है। । कभी-कभी तो यह सब करने के लिये सरकार को स्वयं अंश खरीदना पड़ता है। औद्योगिक इकाई को सहायता देने के लिये सरकार स्वयं उधार देती है अथवा विभिन्न संस्थाओं से ऋण प्राप्त करने में गारेन्टी देकर सहायता कर देती है। वित्तीय सुविधाओं को प्रदान करने के उद्देश्य से कभी-कभी सरकार 'वित्त निगम' जैसी स्थापित संस्थाओं के सहायतार्थ उनके अंशों को खरीदती है तथा उन्हें ऋण देती है। सरकार समय-समय पर कुछ औद्योगिक

इकाइयों को, अपने माल को उचित दाम पर बेच सकने के लिये, आकस्मिक सहायता भी देती है। इस प्रकार सरकार अंश खरीद कर, ऋण देकर, गारेन्टी द्वारा, वित्त निगम जैसी संस्थाओं को ऋण देकर अथवा उनके अंश प्राप्त कर तथा आकस्मिक सहायता देकर उद्योगों को वित्त प्राप्त करने में योग देती है।

भारत में भी केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करती हैं। यह सहायता उद्योगों को राजकीय सहायता कानून (State Aid to Industries Act) के अन्तर्गत दी जाती है। इस सहायता के कई रूप होते हैं जैसे, बैंकों से लिये गये ऋणों की गारेन्टी, उचित दर पर भूमि, मशीन या कच्चा माल, ऋण-पत्रों एवं शेयरों पर न्यूनतम प्रति लाभ की गारेण्टी आदि। साधारणतया ऐसे ऋण १० से २० वर्ष तक के लिये दिये जाते हैं। केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को ऋण देती है और राज्य सरकारें फिर उद्योगों को ऋण देती हैं। इन ऋणों में केन्द्रीय और राज्य सरकारों का अनुपात २ : १ का होता है। राज्य सरकारें कभी-कभी अपने क्षेत्र के बड़े-बड़े उद्योगों के शेयरों को खरीद कर भी ऋण प्रदान करती रही हैं। केन्द्रीय सरकार ने निजी क्षेत्र की इस्पात एवं जहाज़रानी जैसी कम्पनियों को काफी सहायता दी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में इस्पात, उर्वरक (fertilisers) कोयला, औषधि, रसायन, सीमेन्ट, तेल, कागज आदि उद्योगों के विकास में केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने काफी पूँजी लगाई है। पंचवर्षीय योजना के आधीन राज्यों के बढ़ते हुये उत्तरदायित्व के कारण १९५१ से इस प्रकार की सहायता में निरन्तर वृद्धि हो रही है। उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये सरकार ने कुछ **विशिष्ट संस्थानों** को स्थापित किया है, जिनका पूँजी-बाजार में दिन प्रति दिन महत्व बढ़ता जा रहा है।

औद्योगिक वित्त की विशिष्ट संस्थानें

१—भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (Industrial Finance Corporation of India) :

औद्योगिक वित्त निगम देश की सबसे पुरानी विशिष्ट वित्त संस्थान है, जिसको मध्यम एवं दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के लिये जुलाई १९४८ में स्थापित किया गया था। निगम की प्रदत्त-पूँजी (paid-up capital) ७ करोड़ रुपये है जो ५००० रुपये के हिस्सों में बटी है। इसकी अधिकृत पूँजी १० करोड़ रुपये है। यह पूँजी भारत सरकार, रिजर्व बैंक आफ इण्डिया, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों बीमा कम्पनियों, निवेषी-न्यासों तथा अन्य वित्त-संस्थानों द्वारा खरीदी गई है। इसकी दो तिहाई पूँजी पर केन्द्रीय सरकार एवं सार्वजनिक क्षेत्र की संस्थानों (जैसे जीवन बीमा निगम) का अधिकार है। भारत सरकार ने निगम के प्रारम्भिक

५ करोड़ रुपये के हिस्सों पर २.२५% का और २ करोड़ रुपये के अतिरिक्त शेयरों पर ४% का लाभांश चुकाने की गारन्टी दी है। इसके अतिरिक्त निगम को (क) बन्ध-पत्रों या ऋण-पत्रों को बेच कर, (ख) रिज़र्व बैंक से ऋण लेकर, (ग) ५ वर्ष की अवधि की जमायें (deposits) अथवा जनता, राज्य सरकारों एवं स्थानीय संस्थाओं से ऋण लेकर, (घ) केन्द्रीय सरकार से ऋण लेकर, तथा (ङ) विश्व बैंक या अन्य संस्थाओं से विदेशी मुद्रा उधार लेकर अपने साधनों को सुदृढ़ बनाने का अधिकार प्राप्त है।

निगम की व्यवस्था के लिये निर्देशकों का एक मण्डल नियुक्त किया गया है, जिसका अध्यक्ष पूर्णकालिक वेतन प्राप्त व्यक्ति है। इसके सदस्य २ भारत सरकार, २ अनुसूचित बैंक तथ २ अन्य वित्त-संस्थाओं के प्रतिनिधि तथा १ सरकारी अधिकारी हैं। इसका प्रधान कार्यालय नई दिल्ली में है तथा इसके नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्देशित किया जा सकता है। निगम का कार्य देश के उद्योग, वाणिज्य तथा साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए व्यापारिक सिद्धान्तों पर चलाया जाता है। यह निगम अनेक प्रकार से वित्तीय सहायता प्रदान करता है : (क) रुपयों के अग्रिम धन या ऋण प्रदान करके या औद्योगिक संस्थाओं के ऋण-पत्रों को खरीद कर (जो २५ वर्षों में अभिदेय होते हों तथा जिनको निगम की इच्छा पर स्टाक या शेयरों में बदला जा सके); (ख) विभिन्न स्रोतों से प्राप्त विदेशी मुद्रा को ऋण के रूप बाँट करके; (ग) विभिन्न संस्थानों से प्राप्त हो सकने वाले ऋणों की गारन्टी करके; (घ) औद्योगिक संस्थाओं के स्टाक, हिस्से, ऋण-पत्र आदि की हामीदारी (underwriting) करके। पर निगम को यह सब कार्य निश्चित सीमाओं के अन्दर ही करना पड़ता है। इसको एक स्वामित्व वाली (Private Limited Co.,) तथा साझेदारी वाली संस्थाओं को ऋण देने का अधिकार नहीं है। यह किसी भी संस्था को, बिना सरकार की आज्ञा के, १ करोड़ रुपया से अधिक ऋण नहीं दे सकता।

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने जुलाई १९६४ तक लगभग १९७ करोड़ रुपये का ऋण स्वीकृत किया। प्रत्येक वर्ष में दी गई ऋण राशि भिन्न रही। सबसे अधिकतम (३८ करोड़ रुपये) रकम १९६३-६४ में और सबसे कम (१.४४ करोड़ रुपया) धनराशि १९५२-५३ में स्वीकृति की गई। कुल स्वीकृति धनराशि में से लगभग १२५ करोड़ रुपये का परिव्यय (disbursment) किया जा चुका है। कुल सहायता में से लगभग ७०% उन कारखानों को दिया गया है जिन्होंने १५ अगस्त १९४७ के बाद से उत्पादन प्रारम्भ किया है। निगम ने जिन उद्योगों को वित्तीय सहायता दी है उनमें प्रमुख स्थान चीनी उद्योग, कागज उद्योग, वस्त्र उद्योग, रसायन

उद्योग तथा सीमेन्ट उद्योग हैं। ऋण वितरण में एक राज्य से दूसरे राज्य में काफी अन्तर है। महाराष्ट्र में स्थित उद्योगों को सबसे अधिक सहायता मिल पाई है। इसके बाद पश्चिमी बंगाल एवं मद्रास का स्थान है। अधिकांश ऋण ४०–५० लाख रुपये तथा १२ वर्ष के रहे हैं। जुलाई १९६२ से ऋणों पर ७½% की दर से ब्याज लिया जाता है, पर ब्याज एवं किश्त चुकाने पर ½% की छूट दी जाती है। निगम द्वारा किया गया हामीदारी (underwriting) का कार्य काफी धीमा रहा है। इसने अनेक औद्योगिक संस्थानों द्वारा विदेश से आयात किये गये पूँजीगत माल के मूल्य की अदायगी की गारेन्टी भी ली है। अपने प्रारम्भिक वर्षों में यह सरकार पर निर्भर करता था, पर व्यापारिक दृष्टि से निगम की स्थिति अब काफी सुदृढ़ होती जा रही है। इसने अपने १९६१-६२ के लाभ से सरकार के राजकीय प्रदान (subvention) को पूर्णत: वापस कर दिया है।

प्रारम्भ में निगम का कार्य असन्तोषजनक रहा। इस पर ऋण देने में पक्षपात तथा गुटबाजी का आरोप लगाया गया। साथ ही इसका खर्च अधिक एवं कार्यक्षमता असन्तोषप्रद पाया गया। इसको अधिक ब्याज-दर लेने के लिये दोषी भी ठहराया गया। इन आरोपों की १९५२-५३ में एक समिति द्वारा जाँच की गई। समिति की सिफारिशों को लागू करने के फलस्वरूप निगम के कार्य में काफी सुधार हुआ है। प्रारम्भ में निगम का विकास अवश्य धीमा था, लेकिन १९५४ से ऋण-स्वीकृति और राशि-परिव्यय (disbursment) के कार्य में गतिशीलता आ गई है। निगम ने हामीदारी (underwriting) के सम्बन्ध में सख्त और अनुचित नीति अपनाई है। इसके दो मुख्य कारण बतलाये जाते हैं : (i) देश के चलन-बाजार में पूँजी की असन्तोषजनक अवस्था, एवं (ii) जनता की अनिश्चित प्रतिक्रिया। पर १९५७-५८ से निगम ने हामीदारी और गारेन्टी के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रयास किया है। ऐसा बतलाया जाता है कि निगम द्वारा दी गई वित्तीय सहायता विशेष नहीं रही, क्योंकि उद्योगों में विनियोग की गई रकम और उनकी आवश्यकता की तुलना में यह काफी कम ही रही है। पर यह नहीं भूलना चाहिये कि निगम एक सीमित ऋणदाता है और तभी उधार देता है जब कि अन्य उपाय उपलब्ध नहीं होते। इसको साहस एवं सावधानी से काम करना पड़ता है क्योंकि निगम को कई बार अपने कार्य के विस्तार में कोष की कमी का सामना करना पड़ा है। जहाँ तक विदेशी मुद्रा का प्रश्न है, निगम ने १९६१-६२ से विदेशी मुद्रा उधार देने की प्रक्रिया में तीव्र वृद्धि की है। भविष्य में इस क्षेत्र का विकास इस बात पर निर्भर करता है कि देने के लिये इसको स्वयं कितनी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। निगम द्वारा अधिक ब्याज लेने का आरोप तर्क संगत नहीं कहा जा सकता, यदि पूँजी बाजार की वर्तमान अवस्था को ध्यान में रक्खा जाय। इसे

अपने सदस्यों को लाभांश देने और स्थायी कोष को बनाने के लिये उचित दर पर ब्याज लेना पड़ता है। अब तक मिली सफलता के आधार पर ऐसी आशा की जा सकती है कि दिन प्रति दिन इसके कार्यों का विकास होता जायेगा और इसकी स्थिति सुदृढ़ होती जायेगी।

२–राज्य वित्त निगम (State Finance Corporation) :

भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना करते समय ही प्रायः यह निश्चित था कि यह देश के सभी प्रकार के उद्योगों को यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं दे सकेगा। उस समय यह स्पष्ट किया गया कि छोटे एवं मध्यम उद्योगों के लिये वित्त की व्यवस्था करने के लिये राज्यों में वित्त निगम स्थापित करना आवश्यक होगा। इस आश्वासन के फलस्वरूप १९५१ में 'राज्य वित्त निगम अधिनियम' पारित किया गया जिसके अन्तर्गत देश के विभिन्न राज्यों में 'राज्य वित्त निगम' स्थापित किये गये हैं।

यद्यपि अधिनियम के अनुसार राज्य वित्त निगमों की अधिकृत पूँजी ५० लाख से ५ करोड़ रुपये तक हो सकती है, पर वास्तव में अधिकतर राज्य निगमों की अधिकृत पूँजी २ करोड़ रुपये तथा प्रदत्त पूँजी १ करोड़ रुपये है। जम्मू काश्मीर, मद्रास तथा आँध्र प्रदेश निगमों की प्रदत्त पूँजी क्रमशः ५० लाख, १·३२ करोड़ तथा १·५ करोड़ रुपये है। देश के सभी राज्य वित्त निगमों की कुल प्रदत्त पूँजी १५·३२ करोड़ रुपये है तथा इसे राज्य सरकारों, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों तथा बीमा संस्थानों ने खरीद रक्खा है। जनता द्वारा लगभग ४% भाग खरीदा गया है। निगमों की पूँजी एवं उस पर न्यूनतम लाभांश की राज्य सरकारों द्वारा गारन्टी दी गई है,[1] पर कोई भी राज्य निगम ५% से अधिक लाभांश नहीं दे सकता।

पूँजी के अतिरिक्त राज्य वित्त निगम ऋण-पत्र निर्गमित कर अतिरिक्त धन प्राप्त कर सकते हैं, पर यह पूँजी तथा कोष के पाँच गुने से अधिक नहीं हो सकते। ऋण-पत्रों के निर्गमन की शर्तें रिजर्व बैंक स्वीकृत करती है और उनके मूलधन व ब्याज की गारन्टी राज्य सरकारें करती हैं। साधनों को बढ़ाने हेतु राज्य वित्त निगम जनता से ५ वर्ष के निक्षेप प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इनकी राशि प्रदत्त पूँजी से अधिक नहीं हो सकती है। यह उल्लेखनीय है कि अभी तक केवल आन्ध्र प्रदेश

---

१. ११ राज्यों के निगमों की पूँजी पर ३·५%, पंजाब व मद्रास निगमों की पूँजी पर ३% तथा मैसूर व जम्मू-काश्मीर निगमों की पूँजी पर ४% लाभांश की सरकार द्वारा गारन्टी है।

केरल तथा मद्रास निगमों ने इस ओर प्रयास किया है। राज्य वित्त निगम रिज़र्व बैंक से ९० दिन, अथवा मांग पर भुगतान योग्य ऋण प्राप्त कर सकते हैं। महाराष्ट्र, उड़ीसा, पंजाब, मद्रास, राजस्थान आदि के वित्त निगमों ने नियमित रूप में रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त किये हैं।

राज्य वित्त निगमों को औद्योगिक संस्थाओं को २० वर्षीय ऋण देने अथवा उनके ऋण-पत्र खरीदने, (ii) २० वर्ष तक के लिये प्राप्त ऋणों की गारन्टी करने, (iii) निर्मित अंश, बांड अथवा डिबेंचरों का अभिगोपन करने के अधिकार प्राप्त हैं। साथ ही यदि अभिगोपन के फलस्वरूप निगम को कुछ अंश अथवा ऋण-पत्र खरीदने पड़ते हैं तो उन्हें ७ वर्ष के भीतर बेच देना आवश्यक होता है। राज्य निगम एक संस्था को १५,००० रुपये से १० लाख रुपये तक के ऋण दे सकते हैं और औद्योगिक इकाइयों के सम्पत्ति निर्माण, विस्तार अथवा नवीनीकरण आदि के लिये चालू पूँजी दे सकते हैं। यदि ऋण लेने वाली संस्था सार्वजनिक सीमित कम्पनी या सहकारी समिति हैं तो २० लाख रु० तक का ऋण दिया जा सकता है। मूल एवं ब्याज को समय पर भुगतान करने पर छूट की व्यवस्था है।

प्रत्येक निगम का प्रबन्ध १० निर्देशकों के मण्डल द्वारा होता है। राज्य सरकार, रिज़र्व बैंक के सुझावानुसार, प्रबन्ध निर्देशक तथा ३ अन्य निर्देशकों को नियुक्त करती है, जिसमें से एक की नियुक्ति प्रधान के पद पर कर दी जाती है। रिज़र्व बैंक तथा भारतीय औद्योगिक वित्त निगम एक-एक निर्देशक नियुक्त करते हैं। वित्तीय संस्थायें तीन निर्देशकों का चुनाव करती हैं, जिसमें से एक अनुसूचित बैंकों, एक सहकारी बैंकों तथा एक अन्य वित्तीय संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य हिस्सेदारों (shareholders) का प्रतिनिधित्व उनके द्वारा निर्वाचित एक निर्देशक करता है।

१९६३-६४ के अन्त तक देश के सारे राज्य निगमों ने उद्योगों को ७५ करोड़ रुपये की सहायता स्वीकृत की, जिसमें से लगभग ३/५ भाग की अदायगी हो चुकी थी। १९६३ के अन्त में बाहरी उधार दिये गये ऋणों एवं अग्रिम धन के बकाया का कुल योग ३४ करोड़ रुपया था। इनके कुल परिसम्पत्ति (assets) में ऋणों एवं अग्रिम-धन के भाग का अनुपात ५७% था। अधिकतर राज्य निगमों द्वारा शुद्ध ब्याज ६·५% लिया जाता है, जिसमें से समय पर ब्याज के चुकाने पर ०·५% की छूट दी जाती है। यद्यपि १९५९-६० के पश्चात् वित्त निगमों की क्रियाओं में अकस्मात वृद्धि हुई है, पर वित्त निगमों का कार्य, विशेष रूप से, ऋण देने मात्र तक सीमित रहा है। मद्रास निगम के अतिरिक्त अन्य किसी भी निगम ने अभिगोपन अथवा गारन्टी कार्य की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई है। ऐसा भी

विश्वास किया जाता है कि इन निगमों से कुटीर उद्योगों की अपेक्षा मध्यम श्रेणी के उद्योगों को सहायता अधिक मिली है। महत्व के क्रमानुसार वस्त्र, इंजीनियरिंग, विद्युत-शक्ति, चीनी, रसायन एवं चाय उद्योगों को सहायता दी गई है। निगमों के कार्यों में आयु की भिन्नता, औद्योगिक विकास के स्तरों तथा शासन की कुशलता के कारण काफी भिन्नता रही है। यद्यपि इनके द्वारा दी गई सहायता में निरन्तर वृद्धि हुई है, पर उद्योगों की कुल आवश्यकताओं के कुछ ही भाग को ही यह पूरा कर सके हैं। कुछ ही समय पहले एक परीक्षक दल ने राज्य वित्त निगमों के कार्यों का निरीक्षण किया और इसमें सुधार के लिये सिफारिशें की हैं। बढ़ते हुये अवसरों को ध्यान में रखकर यह आशा की जा सकती है कि इनका महत्व दिन प्रति दिन बढ़ता जायेगा।

३—औद्योगिक साख एवं विनियोग (निवेषी) निगम (Industrial Credit & Investment Corporation) :

१९५३ में भारत सरकार एवं विश्व बैंक के एक समिति ने यह सुझाव दिया था कि भारत में निजी क्षेत्र (private sector) के उद्योगों की दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अर्ध सरकारी स्वभाव की एक विशिष्ट वित्त संस्था की नितान्त आवश्यकता है। इसके फलस्वरूप १९५५ (जनवरी) में एक सार्वजनिक सीमित कम्पनी (Public Limited Company) के रूप में 'औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम' की स्थापना की गई। यह निगम (i) निजी उपक्रमों के स्थापन, विस्तार, एवं आधुनिकीकरण में सहायता करने, (ii) आन्तरिक एवं वाह्य (दोनों) प्राइवेट पूँजी को ऐसे उद्योगों में भाग लेने को प्रोत्साहन देने, (iii) औद्योगिक विनियोग के प्राइवेट स्वामित्व को प्रोत्साहित करने, तथा विनियोग बाजारों को विकसित करने के लिये स्थापित किया गया था।

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ और प्रदत्त पूँजी ५ करोड़ रुपया है। इसकी प्रारम्भिक पूँजी १७·५ करोड़ रुपया थी, जिसमें अमेरिका के 'टेक्नीकल सहयोग कोष' का ७$\frac{1}{2}$ करोड़ रु० ($ में) तथा विश्व बैंक का ५ करोड़ रु० (विभिन्न विदेशी मुद्राओं में) ऋण के रूप में सम्मिलित है। इसकी प्रदत्त पूँजी में अमरीकी विनियोजकों का $\frac{1}{2}$ करोड़ रुपया ($ में), ब्रिटिश विनियोजकों का १ करोड़ रुपया (£ में), भारतीय बैंकों व बीमा कम्पनियों का २ करोड़ रुपया तथा भारतीय जनता का १$\frac{1}{2}$ करोड़ रुपया है। निगम को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह अपनी कार्यशील पूँजी को बढ़ाने के लिये अपनी चुकता पूँजी, रिजर्व फण्ड एवं भारत सरकार द्वारा दिये गये प्रथम ऋण के तीन गुने तक अन्य साधनों से ऋण ले सकता है। P.L. 480 (Counterpart Funds) से इसे २० करोड़ रुपया (४$\frac{1}{2}$%

ब्याज की दर पर) प्राप्त हुये हैं। विश्व बैंक ने इसे २८.५६ करोड़ रुपये (६ करोड़ $) के ४ ऋण प्रदान किये हैं। निगम ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था द्वारा ५० लाख $ (२.३८ करोड़ रुपया) का ऋण अमरीका सरकार से भी लिया है।

'औद्योगिक एवं विनियोग निगम' अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जिन कार्यों को करने का अधिकारी है, वे इस प्रकार हैं: (i) यह निजी क्षेत्र के उपक्रमों को १५ वर्षीय अवधि के भीतर लौटाये जाने वाले सुरक्षित ऋण (secured loans) दे सकता है; (ii) यह उनके शेयरों व ऋण-पत्रों का अभिगोपन कर सकता है; (iii) पूँजीगत सामान के लिये स्थगित रुपया-भुगतानों (deferred rupee payments) की गारन्टी कर सकता है; (iv) विदेशों से पूँजीगत सामान माँगने के लिये विदेशी मुद्रा के ऋण दे सकता है; तथा (v) उद्योगों को परामर्श दे सकता है, अन्य स्रोतों से मिलने वाले ऋणों की गारन्टी कर सकता है एवं कोषों को पुन: विनियोग के लिये उपलब्ध कर सकता है।

निगम कम से कम ५ और अधिक से अधिक १५ निर्देशकों के मण्डल द्वारा संचालित है। सरकार को एक निर्देशक नियुक्त करने का अधिकार है। निगम का साधारण प्रबन्ध एक वेतन-प्राप्त व्यवस्थापक द्वारा किया जाता है। समझौते के अनुसार, निगम किसी एक दल या कम्पनी से सम्बद्ध व्यक्तियों से नियन्त्रित नहीं हो सकती।

पिछले कुछ वर्षों में निगम के कार्यों में काफी विस्तार हुआ है। प्रारम्भ से १९६३ तक के कार्य का विवरण निम्न तालिका से जाना जा सकता है:—

	(करोड़ रुपयों में) स्वीकृत	दी गई
१—ऋण एवं गारन्टी (रुपयों में)	२१.७	१०.४
,, (विदेशी मुद्रा में)	३९.५	१७.४
२—हामीदारी (underwriting) (साधारण शेयर)	७.७	२.४
,, (अधिमान शेयर)	३.९	१.७
,, (ऋण-पत्र)	५.३	२.३
३—प्रत्यक्ष खरीद (साधारण शेयर)	३.०	२.७
,, (अधिमान शेयर)	०.६	०.६
,, (ऋण-पत्र)	१.५	१.५
कुल	८३.२	३९.०

उपरोक्त तालिका से यह पता चलता है कि निगम के कुल व्यापार में ऋण

तथा गारन्टी ही प्रमुख रही है क्योंकि दीर्घकालीन ऋण देने वाली इस संस्था ने अधिकांश सहायता इसी रूप में दी है। तालिका से यह भी पता चलता है कि निगम ने विदेशी मुद्रा के रूप में भी उद्योगों को काफी सहायता दी है। विदेशी मुद्रा के अभाव में यह सहायता और भी अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। निगम द्वारा दिये गये रुपयों के ऋणों पर $६\frac{1}{2}\%$ तथा विदेशी मुद्रा के ऋणों पर $७\frac{3}{4}\%$ ब्याज लिया जाता है। उधार लेने वाली संस्था के प्रबन्ध में निगम साधारणतया किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता, पर जरूरी समझने पर यह संस्था के निर्देशन मण्डल में अपना प्रतिनिधि रख देता है। निगम ने जिन उद्योगों की सहायता की है उनमें कागज एवं लुगदी, लोहा तथा इस्पात, रसायन तथा रसायन-पदार्थ, स्वचालित गाड़ियाँ तथा साइकिल, मशीन निर्माण, शीशा, मिट्टी के बर्तन उद्योग के नाम उल्लेखनीय हैं।

निस्सन्देह निगम ने निजी क्षेत्र के उद्योगों को पूँजी प्रदान करके एक प्रशंसनीय कार्य किया है। इसने विदेशों से पूँजी इकट्ठी की है और साथ ही विश्व बैंक से ऋण प्राप्त किये हैं। इसके कार्यों के फलस्वरूप आज देश में शेयरों तथा ऋण-पत्रों की हामीदारी सम्बन्धी सुविधायें पहले से कहीं ज्यादा हैं। वास्तव में विदेशी मुद्रा के ऋण और हामीदारी कार्य को प्रोत्साहन इस निगम की दो प्रमुख सफलतायें हैं। इस प्रकार 'औद्योगिक साख तथा निवेशी निगम' का देश के औद्योगिक वित्त व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान है और दिन पर दिन इसके महत्व के बढ़ते रहने की आशा है।

४—राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम (National Small Industries Corporation) :

फोर्ड फाउन्डेशन दल की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने फरवरी १९५५ में 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' की स्थापना की। इसकी स्थापना एक निजी (सरकारी) कम्पनी के रूप में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य सरकार से विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के आदेश प्राप्त करना है। निगम इन आदेशों को लघु उद्योगों में बाँट देता है और माल की पूर्ति के लिये कुछ समय दे देता है। इसने स्टेट बैंक से यह समझौता कर लिया है कि बैंक निगम द्वारा आदेश प्राप्त करने वाली औद्योगिक इकाइयों को कच्चा माल खरीदने के लिये माल की पूरी रकम का ऋण दे सकता है। यह निगम इस प्रकार के ऋणों की आवश्यक मात्रा में गारन्टी करता है। एक उद्योग को २५,००० रुपये तक की गारन्टी प्राप्त हो सकती है। निगम लघु उद्योगों को क्रयावक्रय (Hire-Purchase) आधार पर देश अथवा विदेश से मशीनें आदि प्राप्त करने में भी सहायता करता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आवेदनकर्ता को साधारण मशीनों के लिये २० प्रतिशत तथा विशिष्ट मशीनों के

लिये ३३$\frac{1}{3}$% पेशगी देना पड़ता है। मशीन की बाकी कीमत छः-छः महीनों की किश्तों में चुकानी पड़ती है। १५,००० रुपयों तक के मूल्य की मशीनों पर ४$\frac{1}{4}$% तथा इससे अधिक मूल्य की मशीनों पर ६% ब्याज लिया जाता है। सहकारी संस्थाओं को क्रमश: $\frac{3}{4}$% एवं १% की छूट दी जाती है। विदेशों से आयात की गई मशीनों को किश्तों पर प्रदान करने के लिये निगम ने १९६०-६१ में अमरीकी विकास ऋण कोष (U. S. Development Loan Fund) से १ करोड़ डालर का दीर्घकालीन ऋण भी लिया है। इस ऋण के आधीन किसी भी लघु उद्योग को ५०,००० $ के मूल्य की मशीन किसी भी देश से मंगाई जा सकती है। इससे अधिक मूल्य की मशीनें अमरीका से ही मंगाई जा सकती हैं। अन्य देशों से मशीनें मंगाने के लिये निगम ने इसी प्रकार १९६१-६२ में जापान से ३० लाख रुपये, इंगलैंड से १० लाख रुपये तथा पश्चिमी जर्मनी से ११९ लाख रुपये के ऋण प्राप्त किये थे। इसके अतिरिक्त लघु उद्योग निगम लघु औद्योगिक इकाइयों के माल के लिये बाजार खोजता है और उनका माल बेचवाने में सहायता करता है। विदेशों से प्राप्त आदेशों का माल निर्मित करवाकर यह निर्यात करने की व्यवस्था भी करता है।

इस प्रकार १० लाख रुपये की अधिकतम पूँजी से सरकार द्वारा स्थापित यह निगम वास्तव में एक वित्तीय संस्था नहीं है। यह केवल परोक्ष रूप में लघु उद्योगों को आर्थिक योग प्रदान करता है। १९५९ में इसकी अधिकृत पूँजी बढ़ाकर २ करोड़ रुपये कर दी गई थी।

५—औद्योगिक पुनर्वित्त निगम (Industrial Refinance Corporation)

अगस्त सन् १९५६ में भारत तथा अमेरिका की सरकारों में एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत अमेरिका द्वारा 'सार्वजनिक नियम ४८०' के अन्तर्गत भारत को बेचे गये माल की विक्रय राशि में से ३६ करोड़ रु० की रकम निजी उद्योगों के विकास के लिये अलग रखने को निश्चय किया गया। इस राशि का प्रयोग करने के लिये 'पुनर्वित्त निगम' की स्थापना की गई। इसे भारतीय कम्पनीज् अधिनियम (सन् १९५६) के अन्तर्गत रजिस्टर करवाया गया और इसने ५ जून सन् १९५८ से कार्य आरम्भ कर दिया। सितम्बर १९६४ में इसको 'औद्योगिक विकास बैंक' से मिला दिया गया।

निगम की अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रुपये थी, परन्तु इसमें से केवल १२·५ करोड़ रुपये की पूँजी ही निर्गमित की गई। निगम के अंश रिजर्व बैंक, जीवन बीमा निगम, स्टेट बैंक आफ इण्डिया तथा महत्वपूर्ण अनुसूचित बैंकों द्वारा खरीदे गये। इसकी प्रदत्त पूँजी केवल २·५ करोड़ रुपये थी। साधनों को बढ़ाने के लिये

पुनर्वित्त निगम भारत सरकार से १६ करोड़ रुपये तक उधार ले सकता था। सन् १९६३ तक ऐसी उधार राशि ११ करोड़ रुपये थी, जिस पर ३ प्रतिशत ब्याज देना पड़ता है।

पुनर्वित्त निगम विशेष रूप से मध्यम आकार की औद्योगिक इकाइयों (जिनकी कार्यशील पूँजी ५ लाख रुपये से २.५ करोड़ रुपये तक है) को दिये गये ऋणों के लिये पुनर्वित्त व्यवस्था करता था। भारत के बैंक उद्योगों को मध्यम कालीन ऋण देने में हिचकते हैं क्योंकि उनके निक्षेप प्राय: अल्पकालीन होते हैं। पुनर्वित्त निगम बैंकों की इस हिचक को दूर करता था; क्योंकि किसी बैंक को, जिसने उद्योगों को ऋण दिया हो, यदि निर्धारित अवधि से पहले पूँजी की आवश्यकता पड़ जाती थी तो वह बैंक पुनर्वित्त निगम को ऋण सम्बन्धी कागज पत्रादि (जिससे प्रमाणित हो जाय कि ऋण अनुमोदित उद्योग को ही दिया गया है) दिखला कर निगम से पूँजी प्राप्त कर सकता था। पुनर्वित्त निगम द्वारा प्रारम्भ में पुनर्वित्त की सुविधा केवल १५ अंशधारी बैंकों को देना आरम्भ किया था, पर उद्योगों के लिये धन की सुविधाओं में वृद्धि करने की दृष्टि से सन् १९६० में पुनर्वित्त योजना की सुविधा ४३ और व्यापारिक बैंकों, १४ राज्य वित्त निगमों तथा ३ राज्य सहकारी बैंकों को भी दे दी गई। सन् १९६१ से पुनर्वित्त निगम भारत सरकार की साख गारन्टी योजना के अन्तर्गत लघु उद्योगों को दिये जाने वाले ऋणों के लिये भी पुनर्वित्त व्यवस्था करने लगा। यह निगम प्रारम्भ में ३ से ७ वर्ष तक की अवधि के लिये वित्त-व्यवस्था करता था, परन्तु १९६० से विशेष परिस्थितियों में यह अवधि दस वर्ष तक के लिये बढ़ाई जा सकती थी। सन् १९६२ से राज्य वित्त निगमों तथा दो या अधिक बैंकों तथा वित्त निगमों द्वारा सम्मिलित रूप में दिये गये औद्योगिक ऋणों के लिये १० वर्ष से अधिक अवधि के लिये भी पुनर्वित्त व्यवस्था की जा सकती थी। निगम द्वारा पुनर्वित्त की ब्याज दर ५ प्रतिशत निर्धारित की गई थी जिसे सन् १९६२ में बढ़ा कर ५.५ प्रतिशत कर दिया गया था। सन् १९६० में भारत सरकार द्वारा निर्यातों के लिए साख सुविधाओं के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए नियुक्त किये गये दल की सिफारिशों के फलस्वरूप सन् १९६३ से निगम ने निर्यात साख की राशि से पुनर्वित्त व्यवस्था करना आरम्भ कर दिया। निगम द्वारा इस प्रकार के ऋणों पर केवल ५ प्रतिशत वार्षिक दर पर ब्याज लिया जाने लगा। यह सुविधा प्रारम्भ में केवल पूँजीगत अथवा इंजीनियरिंग सम्बन्धी सामान तथा मशीनें, छोटे इंजन, टेलीफोन, साइकिलें, पंखे आदि के निर्यात करने पर दी जा सकती थी परन्तु, उचित समझी जाने पर अन्य सामान के लिए भी यह सुविधा बढ़ाई जा सकती थी। यह सुविधा मुख्यत: विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिये लाइसेंस प्राप्त बैंकों को ही दी जाती थी तथा निजी क्षेत्र में उत्पादन करने

वाले उद्योगपतियों द्वारा किये गये निर्यातों पर ही प्राप्त हो सकती थी। एक इकाई के निर्यातों पर पुनर्वित्त की न्यूनतम राशि १ लाख रुपये और अधिकतम राशि ५० लाख रुपये निश्चित की गई।

पुनर्वित्त निगम को अपने जीवनकाल के ६ वर्षों में पुनर्वित्त के लिये लगभग १०० करोड़ रुपये के मूल्य के ४५० प्रार्थना-पत्र स्वीकृत हुए। इसमें से १०·८३ लाख रुपये की सहायता निर्यात-साख (export credit) के रूप में दी गई। सन् १९६२ के अन्त तक निगम द्वारा लगभग १५ करोड़ रुपये की पुनर्वित्त राशि वितरित की गई। निगम द्वरा जिन उद्योगों के लिये पुनर्वित्त की व्यवस्था की गई उनमें कोयला, कागज, लकड़ी, रसायन, धातु, मशीन, यातायात, वस्त्र, होटल तथा बिजली उत्पन्न करने वाले उद्योग प्रमुख हैं। सितम्बर १९६४ से पुनर्वित्त निगम को नवस्थापित 'औद्योगिक विकास बैंक' में मिला दिया गया।

६—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (The National Industrial Development Corporation) :

इस निगम की स्थापना सन् १९४५ में, निजी कम्पनी के रूप में भारत सरकार द्वारा की गई। इसकी अधिकृत, निर्गमित तथा प्रदत्त पूँजी १ करोड़ रुपये है जो पूरी भारत सरकार द्वारा खरीदी गई है। इसके अतिरिक्त राशि की आवश्यकता की पूर्ति भारत सरकार द्वारा ऋण तथा अनुदानों द्वारा की जाती है। विकास निगम का उद्देश्य सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में औद्योगिक विकास की सहायता करना है। निगम नये उद्योगों की स्थापना तथा विकास के लिये योजना बनाता है तथा इनके सम्बन्ध में शोध-कार्य करता है। इन योजनाओं को कार्यान्वित करते समय निगम इस बात का प्रयत्न करता है कि देश में उपलब्ध औद्योगिक सामान, अनुभव तथा कौशल का अधिकतम उपयोग हो सके। उद्योगों के लिये प्राविधिक व्यवस्था करने तथा शोध कार्य करने के अतिरिक्त निगम द्वारा किसी भी उद्योग को ऋण भी दिया जा सकता है। प्रारम्भ में केवल पटसन तथा सूती वस्त्र उद्योगों के पुनर्स्थापन तथा नवीनीकरण के लिये ऋण देने की व्यवस्था की गई थी परन्तु कुछ समय पश्चात् ही मशीन-उपकरण (Machine tools) निर्माण करने वाली इकाइयों को भी ऋण देने का निश्चय किया गया।

इस निगम द्वारा ऋण मुख्यत: पुनर्स्थापन तथा नवीनीकरण के उद्देश्य से मशीनों को खरीदने के लिये दिये जाते हैं। निगम साधारणत: ५·७ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेता है, परन्तु ऋण तथा ब्याज का समय पर भुगतान करने पर ब्याज केवल ५ प्रतिशत वार्षिक की दर से लिया जाता है। मार्च १९६४ तक लगभग कुल २८·२ करोड़ रुपये के ऋण स्वीकृत किये गये, जिनमें से केवल १४·९ करोड़ रुपये ही

वितरित किये गये हैं। प्रदत्त ऋण का लगभग १८ प्रतिशत वापिस लौटाया जा चुका है। कुछ समय पूर्व निगम द्वारा दीर्घकालीन ऋण देने के अतिरिक्त पटसन तथा सूती वस्त्र उद्योगों को क्रयावक्रय (Hire-purchase) आधार पर भारत में निर्मित मशीनें देना आरम्भ कर दिया है। इस योजना के अन्तर्गत ऋण के प्रार्थी को मशीन की लागत का २५ प्रतिशत अग्रिम जमा करना पड़ता है तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं (Managing agents) की गारन्टी दिलानी पड़ती है। यदि गारन्टी दिलाने की व्यवस्था नहीं हो पाती तो मशीन की लागत का ४० प्रतिशत अग्रिम जमा करना पड़ता है। ऋणी संस्था द्वारा कुल ऋण पाँच किश्तों में चुकाना पड़ता है और शेष राशि पर ६ प्रतिशत वार्षिक ब्याज देना पड़ता है। अन्य उद्योगों के लिए भी इस प्रकार की सुविधा की व्यवस्था अपेक्षित है।

निगम का कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित रहा है क्योंकि इसने अभी तक केवल तीन उद्योगों को ऋण देने के लिए चुना है। देश की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए चीनी, कागज तथा रसायन उद्योगों के लिए भी ऋण की आवश्यकता है। चीनी उद्योग का तो विशेषकर पुनर्स्थापन करना आवश्यक हो गया है और अनेक इकाइयों की मशीनों का बदलना अनिवार्य सा हो गया है। जिन तीन उद्योगों को निगम द्वारा ऋण स्वीकृत किये गये हैं उनमें भी संतुलन का अभाव है।

७—औद्योगिक विकास बैंक (Industrial Development Bank)

जुलाई १९६४ में स्थापित औद्योगिक विकास बैंक, वित्तीय सहायता के लिये स्थापित संस्थाओं में सबसे नया है तथा रिजर्व बैंक की सहायक संस्था है। रिजर्व बैंक के आधीन इसकी सारी अधिकृत पूँजी ५० करोड़ रुपया है, लेकिन रिजर्व बैंक, सरकार की आज्ञा से इसे १०० करोड़ रुपये तक बढ़ा सकता है। अभी तक बेची गई पूँजी १० करोड़ रुपये ही है। बैंक के कार्यों की देख-रेख, प्रबन्ध तथा संचालन का उत्तरदायित्व एक निर्देशक मण्डल को सौंपा गया है, जो रिजर्व बैंक का केन्द्रीय निर्देशक मण्डल भी है।

औद्योगिक विकास बैंक का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत रक्खा गया है। यह किसी भी उद्योग को वित्तीय सहायता दे सकता है। यह सहायता या तो सीधी दी जा सकती है या अन्य संस्थाओं के द्वारा दी जा सकती है। विकास बैंक को पुनर्वित्त सम्बन्धी सहायता देने का विशेष रूप से अधिकार है। क्योंकि पुनर्वित्त की सुविधा प्रदान करना विकास बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है, अतः कानून में यह व्यवस्था की गई कि औद्योगिक पुनर्वित्त निगम को बैंक से मिला दिया जाय। बैंक

द्वारा उद्योगों को दी जाने वाली सीधी सहायता कई प्रकार से की जा सकती है : उद्योगों को ऋण या अग्रिम दिया जा सकता है; इनके शेयर, ऋण-पत्र, बाण्ड इत्यादि खरीदे जा सकते हैं या इनको हामीदारी किया जा सकता है; आवश्यकता पड़ने पर उद्योगों के ऋण, अग्रिम इत्यादि को फर्म की पूँजी में बदला जा सकता है; औद्योगिक फर्मों द्वारा भावी भुगतान पद्धति (deferred payment system) के आधीन आयात पर बैंक अपनी गारन्टी दे सकता है; फर्मों के वचन-पत्रों, बिलों इत्यादि की खरीद, भुगतान या पुनर्भुगतान में यह भाग ले सकता है।

विकास बैंक के आधीन 'विकास सहायता कोष' (Development Assistance Fund) की स्थापना की व्यवस्था की गई है। इस कोष का उपयोग उन विशेष महत्व के उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिये किया जाना है जिनमें प्रारम्भिक विनियोग बहुत अधिक होता है या जिनसे कुछ समय तक लाभ होने की आशा नहीं होती। इस कोष से सहयता देने के लिए सरकार की पूर्वस्वीकृत अनिवार्य है।

विकास बैंक का कार्य उद्योगों को वित्तीय तथा इसी प्रकार की अन्य सहायता तक ही सीमित नहीं है। यह विपणन एवं विनियोग का अन्वेषण एवं सर्वेक्षण और तकनीकी बातों के आर्थिक अध्ययन की व्यवस्था कर सकता है। यह उद्योगों की स्थापना, विस्तार तथा प्रबन्ध के सम्बन्ध में तकनीकी तथा अन्य सहायता भी दे सकता है।

विकास बैंक की स्थापना १ जुलाई १९६४ को हुई थी। सितम्बर १९६४ में पुनर्वित्त निगम को इससे मिला दिया गया। नवम्बर १९६४ तक विकास बैंक ने कुल मिलाकर १·६२ करोड़ रुपये की हामीदारी सोदे पूरे किये। इसी समय में इसने ७०·६८ करोड़ रुपये के ऋण मंजूर किये जिनमें से ४६·५७ करोड़ रुपये दिये जा चुके हैं।

उपरोक्त विवरण से यह पता चलता है कि देश में उद्योगों के लिये वित्तीय सुविधाओं की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है तथा सरकार ने देश के पूँजी बाजार में अपने सहयोग को काफी बढ़ा दिया है। भविष्य में उद्योगों के विस्तार के साथ-साथ इनकी वित्तीय आवश्यकताओं में विस्तार होना अनिवार्य है। इसलिये वित्तीय व्यवस्था में और सुधार की

आवश्यकता अनुभव की जा रही है। हमें बचतों को बढ़ाने, उनके एकत्रित करने तथा उनके सही उपयोग करने की दिशा में अपने प्रयत्न चालू रखने चाहिये ।

निर्देश पुस्तकें

Rosen G. : Some Aspects of Industrial Finance in India

Basu S. K. : Industrial Finance in India

Jain P. C. : Industrial Finance in India

Reserve Bank of India Bulletins

Committee on Finance for the Private Sector

अध्याय १६

रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया

(Reserve Bank of India)

प्रत्येक देश में एक 'चोटी की बैंक' (apex bank) होती है जो उस देश की मुद्रा व साख का नियमन करती है और देश की 'केन्द्रीय बैंक' कही जाती है। भारत में ऐसी केन्द्रीय बैंक 'रिजर्व बैंक आफ इण्डिया' के नाम से जानी जाती है। देश की मौद्रिक व्यवस्था के अध्ययन के लिये यह आवश्यक है कि रिज़र्व बैंक का संक्षिप्त विवरण प्राप्त किया जाय।

रिज़र्व बैंक की स्थापना :

भारत में 'केन्द्रीय बैंक' की स्थापना की दिशा में होने वाले प्रयासों का इतिहास काफी लम्बा है। भारत में ऐसे बैंक को स्थापित करने के प्रयासों का प्रथम संकेत वारेन हेस्टिंग्स के उस पत्र से मिलता है जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सेक्रेटरी को 'जनरल बैंक आफ बंगाल एण्ड बिहार' के स्थापित किये जाने की सिफारिश की थी। इसके पश्चात् १८५९ में वित्तीय सदस्य विल्सन ने, १८७० में परिषद सदस्य एलिस ने, १८९८ में फाउलर कमेटी ने तथा १९१३ में चेम्बरलेन कमीशन के उत्साही सदस्य कीन्स ने क्रमशः देश के लिये एक केन्द्रीय बैंक के स्थापित किये जाने के विचार का समर्थन किया। अतः भारत सरकार ने चलन-मुद्रा में एकरूपता लाने तथा विशेष रूप से स्वर्णमान को सफल बनाने के उद्देश्य से १९२१ में देश के तीनों प्रेसीडेन्सी बैंकों का विलीनीकरण करके 'इम्पीरियल बैंक' की स्थापना की। पर मुद्रा निर्गमन का कार्य, जो किसी देश की केन्द्रीय बैंक का प्रमुख कार्य होता है, सरकार ने अपने हाथ में ही रक्खा। इस प्रकार देश की मुद्रा व साख पर दोहरा नियन्त्रण हो गया। यह व्यवस्था असन्तोषजनक प्रतीत होने लगी और हिल्टन कमीशन (१९२६) ने भारत में इस दोहरे नियन्त्रण तथा विभाजित उत्तरदायित्व की आलोचना की। कमीशन ने देश में विशुद्ध केन्द्रीय बैंक के स्थापित किये जाने की जोरदार सिफारिश की। अन्य सिफारिशों के साथ, भारत सरकार ने कमीशन की इस सिफारिश को भी स्वीकार कर लिया और विधान सभा में ऐसे बैंक के स्थापित किये जाने के सम्बन्ध में एक बिल प्रस्तुत किया। पर कुछ राजनैतिक कारणों से

बिल पारित न हो सका और मामला टल गया। १९३१ में प्रकाशित होने वाली 'केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति' की रिपोर्ट ने इस मामले को फिर उठाया और जोरदार शब्दों में एक 'केन्द्रीय बैंक' के स्थापित किये जाने की सिफारिश की। हिल्टन यंग कमीशन तथा 'केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति' ने देश में शुद्ध केन्द्रीय बैंक के स्थापित किये जाने की सिफारिशें इसलिये कीं कि देश की आर्थिक एवं वित्तीय स्थिरता के लिये, साख की उचित व्यवस्था करने के लिये (जिसे करने में इम्पीरियल बैंक असफल रहा), चलन-मुद्रा (रुपया) का आन्तरिक मूल्य स्थिर रखने के लिये, बैंकिंग के संगठित विकास के लिये तथा सम्पूर्ण मुद्रा बाजार को एक दृढ़ शृंखला में बाँधने के लिये एक केन्द्रीय बैंक की बड़ी आवश्यकता थी। पर शुद्ध केन्द्रीय बैंक के स्थापित किये जाने का इन सबसे भी एक महत्वपूर्ण कारण यह हो गया कि १९३५ के संविधान के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का वित्तीय विभाग धारा सभा के प्रति उत्तरदायी भारतीय मन्त्री के हाथ में चला जाना था और अंग्रेज सरकार देश की मुद्रा व साख व्यवस्था को भारतीय राजनीतिज्ञों के हाथ में देना नहीं चाहते थे।[1] अतः १९३४ में रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया जिसके अन्तर्गत 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया' एक अंशधारी केन्द्रीय बैंक के रूप में स्थापित किया गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सरकार ने न तो इम्पीरियल बैंक को, जो १९२१ से काफी अंशों में केन्द्रीय बैंक के कार्य कर रही थी, शुद्ध केन्द्रीय बैंक बनाया और न रिज़र्व बैंक को एक 'राष्ट्रीय सरकारी बैंक' के रूप में स्थापित किया। यहाँ पर इसके कारणों का संक्षिप्त ज्ञान प्राप्त कर लेना लाभप्रद होगा।

इम्पीरियल बैंक को शुद्ध केन्द्रीय बैंक के रूप में परिणित न करने के अनेक कारण बतलाये जा सकते हैं: सर्वप्रथम, इम्पीरियल बैंक की देश में इतनी शाखायें थीं, कि यदि इस बैंक को शुद्ध केन्द्रीय बैंक बनाया जाता और इसे अपने व्यापारिक कार्यों को छोड़ना पड़ता तो देश के बैंकिंग विकास के लिये यह उचित न होता। दूसरे, यद्यपि इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को सम्पादित करता रहा, पर फिर भी यह मुख्य रूप से व्यापारिक बैंक था तथा इसका प्रधान उद्देश्य समाज की सेवा करना न होकर अंशधारियों के लिये लाभ अर्जित करना था। तीसरे, इम्पीरियल बैंक (एक व्यापारिक बैंक होने के कारण) स्वयं अन्य बैंकों से प्रतियोगिता करता था और उनके मित्र, मार्गदर्शक एवं दार्शनिक के रूप में कार्य

1. "The immediate cause which brought Reserve Bank into existence was not the monetary & banking needs of the country but impending changes in the Central Government which involved transfer of the Finance Portfolio & Finance Department to minister responsible to a Federal Legislature".

S. K. Muranjan, Modern Banking in India—p. 284-85.

नहीं करता था। अन्त में, इस बैंक का स्वामित्व एवं प्रबन्ध काफी बड़ी सीमा तक विदेशियों के हाथ में था जिसके कारण अन्य बैंकों का इसमें अधिक विश्वास नहीं था। अतः यही निर्णय लिया गया कि इस बैंक के स्थान पर एक नये बैंक को 'केन्द्रीय बैंक' के रूप में स्थापित किया जाय।

रिज़र्व बैंक को एक अंशधारी बैंक के रूप में स्थापित करने के भी कई कारण थे। यद्यपि रिज़र्व बैंक पर सरकारी स्वामित्व के पक्ष में दिये गये तर्क, कि (i) ऐसी बैंक राष्ट्र के हित में कार्य करेगी तथा (ii) इसको जनता का सबसे अधिक विश्वास प्राप्त होगा, सरकार को मान्य थे; पर इसको अंशधारियों का बैंक बनाने के पक्ष में दिये गये तर्क अधिक उपयुक्त समझे गए। सर्वप्रथम, राष्ट्र के आर्थिक हितों की दृष्टि से ऐसे बैंक को राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त रखना आवश्यक था और यह तब ही सम्भव हो सकता था जब इसको अंशधारी बैंक के रूप में स्थापित किया जाता। दूसरे, बैंकिंग के सफल संचालन के लिये यह आवश्यक था कि उसके प्रबन्ध में सभी आर्थिक वर्गों का प्रतिनिधित्व होता और यह भी तभी सम्भव था जब इसकी स्थापना अंशधारियों के बैंक के रूप में होती। तीसरे, तत्कालिक विदेशी सरकार होने के कारण मौद्रिक नीति में राष्ट्रीयता का गुण उत्पन्न करने के उद्देश्य से भारतीय जनमत 'केन्द्रीय बैंक' को अंशधारी बैंक के ही रूप में चाहता था। अन्त में, उस समय आर्थिक नियन्त्रण के उपायों में मौद्रिक नीति का स्थान महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता था और इसीलिये विश्व के सभी केन्द्रीय बैंक अंशधारियों के बैंक के रूप में स्थापित किये गए थे।

अतः १९३४ में देश में अंशधारी बैंक के रूप में शुद्ध केन्द्रीय बैंक स्थापित करने के लिये 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट' पास हुआ, तथा १ अप्रैल १९३५ से रिज़र्व बैंक ने इस रूप में कार्य करना प्रारम्भ किया। इसकी अधिकृत अंश पूँजी १०० सौ रु० के मूल्य के ५ लाख पूर्ण-शोधित अंशों में बाटी गई। फिर भी, इसलिये कि कहीं अंशों का केन्द्रीयकरण कुछ लोगों के हाथ में ही न हो जाये, सारे देश को क्षेत्रों में बाँट दिया गया तथा हर क्षेत्र से प्राप्त की जाने वाली पूँजी की मात्रा निश्चित कर दी गई। यह भी व्यवस्था की गई कि किसी भी व्यक्ति को ५ से अधिक अंश न दिये जावें तथा कोई भी अंशधारी २०,००० रुपयों[1] से अधिक के अंश नहीं खरीद सकता था। २,२०,००० रुपये के मूल्य के अंश केन्द्रीय सरकार को इस उद्देश्य से दिये गये थे कि जिससे सरकार द्वारा रिज़र्व बैंक के केन्द्रीय संचालन मण्डल में सदस्य नियुक्त करने में कोई कठिनाई न हो। लाभांश के दर की सीमा ५% निर्धारित कर दी गई। यद्यपि विधान परिषद इसकी नीति को नियन्त्रित

१—यह व्यवस्था १९४० के संशोधन ऐक्ट में की गई।

कर सकती थी, पर रिज़र्व बैंक अपने कार्यों के लिये विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं था। सबसे विशेष बात यह हुई कि रिज़र्व बैंक की स्थापना होने पर इम्पीरियल बैंक एवं रिज़र्व बैंक के बीच एक १५ वर्षीय समझौता (जो १९५१ में फिर किया गया) हुआ, जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक को कमीशन पर रिज़र्व बैंक का एजेन्ट नियुक्त किया गया। इस समझौते का प्रमुख कारण इम्पीरियल बैंक की देश में फैली शाखाओं का होना तथा उसको ऐसे कार्यों को करने का पुराना अनुभव होना ही था।

रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण : 'रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया' एक अंशधारी बैंक के रूप में कार्य करता रहा। पर द्वितीय महायुद्ध काल तथा युद्धोत्तर काल में कुछ ऐसी आर्थिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनके फलस्वरूप इसका राष्ट्रीयकरण किया गया। सर्वप्रथम, महायुद्धकाल में विदेशी सरकार ने रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया को ऐसा कुछ करने को मजबूर कर दिया कि देश में अनावश्यक रूप में मुद्रा-प्रसार हो गया तथा यह तर्क बेकार सिद्ध हो गया कि एक अंशधारी बैंक को राजनैतिक प्रभाओं से मुक्त रक्खा जा सकता है। दूसरे, युद्धकाल के आर्थिक अनुभवों ने केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता को प्रकट कर दिया था तथा इसीलिए युद्धोत्तरकाल में इंगलैण्ड व फ्रांस जैसे देशों तक में केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। तीसरे, १५ अगस्त १९४७ को मिलने वाली स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में आर्थिक नियोजन की सफलताओं की प्राप्ति हेतु रिज़र्व बैंक की मौद्रिक नीति एवं देश की आर्थिक नीति में सामंजस्य लाने तथा केन्द्रीय बैंक की नियन्त्रित मौद्रिक नीति का लाभ उठाने के लिये रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण अनिवार्य सा हो गया। चौथे, यद्यपि रिज़र्व बैंक ऐक्ट १९३४ एवं उसमें किये गये संशोधन में ऐसी अनेक व्यवस्थायें थीं जिससे इसके स्वामित्व का एकीकरण न होने पाये, किन्तु धीरे-धीरे इसके अंशों का बम्बई क्षेत्र में केन्द्रीयकरण हो गया तथा पूँजीपतियों द्वारा स्वामित्व के दुरुपयोग का भय उत्पन्न हो गया[1] जिससे इसका राष्ट्रीयकरण आवश्यक हो गया। पाँचवें, राष्ट्र की बैंकिंग व्यवस्था को दृढ़ करने के लिये सरकार इसे विशेषाधिकार प्रदान करना चाहती थी, क्योंकि अंशधारियों के बैंक के रूप में रिज़र्व बैंक भारतीय मुद्रा बाजार को सुव्यवस्थित एवं संगठित

१—१ अप्रैल १९३५ से ३१ दिसम्बर १९४८ के बीच अंशधारियों की संख्या ९२ हजार से कम होकर ६० हजार रह गई। १९४० का संशोधन, 'कि कोई भी व्यक्ति अपने नाम से अथवा साझे में २०,००० रुपयों से अधिक मूल्य के अंश नहीं खरीद सकता', अंशों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने की प्रवृत्ति को रोकने में असफल रहा।

करने में असफल रहा, और यह तभी हो सकता था जब इसका राष्ट्रीयकरण हो जाता। अन्त में, केन्द्रीय बैंक का एक प्रमुख कार्य सूचनाओं का इकट्ठा करना होता है पर सरकार की सत्ता न होने के कारण अन्य बैंक रिज़र्व बैंक को सूचनाओं को भेजने में संकोच करते थे।

यद्यपि राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में भी तर्क दिये गये कि (i) राष्ट्रीयकरण से रिज़र्व बैंक उन कुशल एवं अनुभवी व्यवसाइयों से बंचित हो जायेगा जो इसे अंशधारी बैंक के रूप में होने से प्राप्त होते हैं तथा (ii) राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार तथा राजनीतिज्ञों का मौद्रिक मामलों में हस्तक्षेप अधिक हो जायेगा, पर इनका कोई विशेष महत्व न दिखाई दिया। अतः रिज़र्व बैंक का १९४८ के (Transfer to Public Ownership) ऐक्ट के अन्तर्गत राष्ट्रीयकरण हुआ और १ जनवरी १९४९ से इसका स्वामित्व सरकार के पास चला गया। इसके पुराने अंशधारियों को प्रत्येक १०० रुपये के अंश के लिये ११८ रु० १० आने (११८.६२) मुआवजे के रूप में दिये गये। इसमें से प्रत्येक अंश में १८ रु० १० आने का भुगतान नकद दिया गया तथा शेष भुगतान ३% ब्याज के प्रतिज्ञापत्र से किया गया।

रिज़र्व बैंक की व्यवस्था (Set-up of the Reserve Bank of India)

(i) **पूंजी (Capital) :** जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, १ जनवरी १९४९ से रिज़र्व बैंक एक राष्ट्रीय केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य कर रही है और इसके सारे अंशों पर सरकार का स्वामित्व है। १ अप्रैल १९३५ को जब यह स्थापित किया गया था उस समय इसकी अधिकृत अंश पूंजी ५ करोड़ रुपये थी जो १०० रु० के ५ लाख पूर्णतया शोधित (fully paid) शेयरों में बँटी हुई थी। इसमें से २,२०,००० रुपये के मूल्य के अंश केन्द्रीय सरकार के पास थे और शेष अंश व्यक्तिगत लोगों को बँटे हुए थे। इसलिये कि शेयरों का केन्द्रीयकरण न होने पाय, रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट १९३४ में ऐसी व्यवस्था कर दी गई थी कि (i) किसी भी व्यक्ति को ५ से अधिक अंश न दिये जायें तथा (ii) सारे देश को ५ क्षेत्रों में बाँट दिया गया एवं प्रत्येक क्षेत्र से इकट्ठी की जाने वाली पूँजी की मात्रा निर्धारित कर दी गई। पर यह वैधानिक व्यवस्था अपर्याप्त सिद्ध हुई। अतः सन् १९४० में सरकार ने संशोधन द्वारा विधान में यह व्यवस्था की कि कोई व्यक्ति स्वयं या साझे में २०० अंश से ज्यादा नहीं खरीद सकता। पर यह व्यवस्था भी अंशों को बम्बई क्षेत्र में इकट्ठे होने से न रोक सके। १९४९ में बैंक के राष्ट्रीयकरण से सारे अंशों पर सरकार का स्वामित्व हो गया क्योंकि सरकार ने सभी अंशधारियों को प्रत्येक १०० रु० के अंश के लिए ११८ रु० १० आना का भुगतान मुआवजे के रूप में किया। अतः अब इसकी ५ करोड़ रुपये की सारी अधिकृत पूंजी पर सरकार का अधिकार है।

(ii) **प्रबन्ध (management)** बैंक का सम्पूर्ण संचालन भार १५ सदस्यों के

एक केन्द्रीय संचालक मण्डल में निहित है।[1] इनमें से १ गवर्नर व ३ डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। चारों स्थानीय मण्डलों से एक-एक संचालक केन्द्रीय मण्डल के लिए मनोनीत होते हैं तथा ६ संचालक (व्यापार, उद्योग, सहकारिता आदि के विशेषज्ञ) व १ सरकारी अधिकारी (प्रायवित्त सचिव) भारत सरकार अलग मनोनीत करती है। गवर्नर तथा डिप्टी गवर्नरों का कार्यकाल ५ वर्ष होता है तथा ये बैंक के पूर्णकालिक (whole time) अधिकारी होते हैं और इन्हें वेतन मिलता है। गवर्नर बैंक का प्रमुख प्रशासनाधिकारी होता है तथा तीनों डिप्टी गवर्नर उसकी विभिन्न कार्यों में सहायता करते हैं। स्थानीय मण्डलों से मनोनीत संचालक स्थानीय मण्डल की सदस्यता काल में ही केन्द्रीय मण्डल के सदस्य रहते हैं। शेष ६ संचालकों की कार्य अवधि चार वर्ष होती है। सरकारी अधिकारी सरकार द्वारा निर्धारित समय तक के लिये संचालक बना रह सकता है। संचालकों को केवल सभाओं में भाग लेने पर यात्रा-व्यय तथा भत्ते आदि देने की ही व्यवस्था है।

केन्द्रीय संचालक मण्डल के अतिरिक्त चार स्थानीय मण्डल कलकत्ता, बम्बई, मद्रास तथा नई दिल्ली में हैं। इनके ५-५ सदस्य होते हैं जो भारत सरकार द्वारा सम्बन्धित क्षेत्र से ४-४ वर्ष के लिये मनोनीत किये जाते हैं। प्रत्येक स्थानीय मण्डल का एक अध्यक्ष होता है जो सभी सदस्यों द्वारा चुना जाता है। स्थानीय मण्डल का कार्य समय-समय पर स्थानीय तथा अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में केन्द्रीय मण्डल को सलाह देना होता है।

(iii) **रिज़र्व बैंक के विभाग (Departments of Reserve Bank)** : रिज़र्व बैंक का प्रधान कार्यालय बम्बई में है, जिसके अन्तर्गत प्रधान लेखा अधिकारी (Chief Accountant) एवं सेक्रेटरी के कार्यालय तथा विभिन्न विशिष्ट विभागों के कानूनी विभाग हैं। अपने कार्यों को भली भाँति संपादित करने के लिये रिज़र्व बैंक ने स्थानीय कार्यालय बंगलौर, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, मद्रास, नागपुर तथा नई दिल्ली में और एक शाखा लन्दन में खोल रक्खे हैं। अन्य स्थानों पर स्टेट बैंक आफ इन्डिया (पुराना इम्पीरियल बैंक), स्टेट बैंक आफ हैदराबाद, एवं बैंक आफ मैसूर इसके अभिकर्ता (agent) के रूप में कार्य करते हैं।

१—१९४९ के पहले तथा १९३४ के अधिनियम के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक का प्रबन्ध १६ संचालकों के एक केन्द्रीय मण्डल के हाथ में था। इनमें से १ गवर्नर, २ डिप्टी गवर्नरों की नियुक्ति, उनके वेतन, कार्यालय आदि का निर्धारण गवर्नर जनरल आफ इण्डिया के हाथ में था। एक सरकारी संचालक तथा ४ विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले संचालकों की नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था। शेष ८ संचालक स्थानीय मण्डलों से चुन कर आते थे।

रिज़र्व बैंक का कार्य दो प्रमुख विभागों में बँटा हुआ है : (१) निर्गम विभाग (Issue department) तथा (२) बैंकिंग विभाग (Banking department) निर्गम विभाग का प्रमुख कार्य नोटों का निर्गमन करना है। इसके दो उप-विभाग हैं : (अ) कोषाध्यक्ष विभाग, तथा (ब) साधारण विभाग। कोषाध्यक्ष विभाग का कार्य पत्र-मुद्रा निर्गमन तथा नोटों को देश की प्रधान और गौण मुद्राओं में परिवर्तन करना है। साधारण उपविभाग सरकारी चलन विभाग का संचालन करता है। नोट-निर्गमन के पीछे रक्खी जाने वाली स्वर्ण निधि भी इसी विभाग के देख-रेख में रहती है। **बैंकिंग विभाग** में अन्य बैंकों को लाइसेन्स देने, अनुसूचित बैंकों की जमाओं को रखना, उनको सहायता वह परामर्श देने, उनका निरीक्षण करने, उनकी राशि को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने, सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था करने, सरकारी बैंकर के रूप में कार्य करने आदि का काम किया जाता है।

इन दो प्रमुख विभागों के अतिरिक्त कुछ अन्य विभाग भी हैं जो विशेष प्रकार के कार्यों से ही सम्बन्ध रखते हैं। **कृषि साख विभाग** का कार्य कृषि साख सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करना, इससे सम्बन्धित समस्याओं पर शोधकार्य करना तथा परामर्श देने के लिये विशेषज्ञों की व्यवस्था करना होता है। **विनिमय नियंत्रण विभाग** विनिमय दरों को स्थिर बनाये रखने के उद्देश्य से अपने नियुक्त किये गये अभिकर्त्ताओं द्वारा विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियंत्रण रखता है। अगस्त १९४५ से स्थापित **बैंकिंग क्रियाओं का विभाग** का प्रधान कार्य भारतीय बैंकिंग कलेवर पर नियंत्रण रखना और उसका निरीक्षण करना है। इस विभाग के भी कई उपविभाग हैं। (i) संचालन विभाग, (ii) निरीक्षण विभाग, व (iii) निस्तारण विभाग। एक बैंक के रूप में किये जाने वाले कार्यों को **संचालन उपविभाग** देखता है। **निरीक्षण उपविभाग** बैंकों का वार्षिक निरीक्षण करता है और देखता है कि रिज़र्व बैंक के निर्देशों का कहाँ तक पालन किया जाता है। **निस्तारण (Liquidation) उपविभाग** बैंकों के बन्द होने की दशा में आवश्यक कार्यवाही करता है। अक्तूबर १९५० से स्थापित **बैंकिंग विकास विभाग** का कार्य छोटे नगरों तथा ग्रामों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करना तथा ग्रामीण वित्त की समस्याओं का अध्ययन कर उनका समाधान करना है। **शोध एवं संकलन विभाग** का कार्य चलन तथा बैंकिंग से सम्बन्धित समस्याओं पर शोध कार्य करना तथा सम्बन्धित विषयों के आँकड़े संकलित व प्रकाशित करना है।

रिज़र्व बैंक के कार्य

रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है और इस नाते यह उन सारे कार्यों को सम्पन्न करता है जिनका विवेचन हम 'केन्द्रीय बैंकिंग' नामक अध्याय

के अन्तर्गत कर चुके हैं। परन्तु देश की अर्थ व्यवस्था अन्य देशों की तुलना में कुछ भिन्न है जो इसलिये रिजर्व बैंक को कुछ विशेष उत्तरदायित्वों को निभाना पड़ता है। अध्ययन की सुविधा हेतु रिज़र्व बैंक द्वारा कार्यान्वित किये जाने वाले कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

१. नोट निर्गमन का एकाधिकार:

केन्द्रीय बैंक का सबसे प्रमुख कार्य मौद्रिक मान की स्थिरता को बनाये रखना होता है जिसके लिये उसे नोट निर्गमन का पूरा अधिकार दिया जाता है। यह व्यवस्था केवल इसलिये की जाती है कि बैंक को पत्र मुद्रा के स्थायित्व को बनाये रखने में सफलता प्राप्त करने के लिये देश की मुद्रा एवं साख प्रणाली पर बैंक का सम्पूर्ण एवं एकमात्र नियंत्रण रहे। अन्य देशों की केन्द्रीय बैंकों की भाँति रिज़र्व बैंक को भी देशों में नोटों[1] (एक रुपये के नोट के अतिरिक्त) को जारी करने का एकाधिकार प्राप्त है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये बैंक का एक पृथक विभाग है जिसे 'निर्गम विभाग' (Issue Deptt.) कहते हैं। इस प्रकार से निर्गमित नोटों में जनता का विश्वास बनाये रखने के लिये रिजर्व बैंक उनके पीछे सोने के सिक्कों, स्वर्णपाट, विदेशी प्रतिभूतियों, १ रुपये के सिक्के व नोट तथा रुपया-प्रतिभूतियों का कोष रखता है। यू. एस. ए. तथा फ्रांस की भाँति १९३४ के विधानानुसार रिज़र्व बैंक ने 'अनुपातिक कोष प्रणाली' अपनाई जिसके अन्तर्गत कुल आदेयों (नोटों के कुल मूल्य) का कम से कम ४०% भाग सोना एवं विदेशी प्रतिभूतियों (स्टर्लिंग) में रक्खा जाता था। इसमें से स्वर्ण पाटों का मूल्य (८४·७५१२ ग्रेन प्रति रुपया अथवा २१·२४ रु० प्रति तोला की दर से) किसी भी समय ४० करोड़ रुपये से कम नहीं हो सकता था। कोष का शेष भाग रुपयों के सिक्कों, सरकार की रुपया प्रतिभूतियों तथा भारत में अदा होनेवाले विनिमय विपत्रों में रखा जाता था। सरकार की पूर्व अनुमति लेकर प्रतिभूतियाँ रख सकता था। रिज़र्व बैंक इस कोष में ४० प्रतिशत से कम के स्वर्ण सिक्के, स्वर्ण पाट एवं विदेशी रुपया-प्रतिभूतियाँ कोष के कुल मूल्य के १/४ भाग य ५० करोड़ रु० (जो भी अधिक हो) से अधिक नहीं हो सकते थे। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के समय तक बैंक के आदेय उसके दायित्वों की अपेक्षा (निकासी विभाग में) बहुत अधिक रहे थे। युद्ध के फल स्वरूप सरकार कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) के आधार पर रिज़र्व बैंक से अधिक नोटों का निर्गमन करा कर ऋण लेना

१—रिज़र्व बैंक को २ रुपये, ५ रुपये, १० रुपये, १०० रुपये व १००० रुपये के नोटों का निर्गमन करने को अधिकार है। १९४६ के आर्डिनेन्स द्वारा ५,००० व १०,००० रुपये के नोटों को निकालने का अधिकार वापस ले लिया गया था।

चाहती थी। अतः १९४१ में एक आर्डीनेंस द्वारा रुपया-प्रतिभूतियों के अधिकतम सम्बन्धी आयोजन में संशोधन किया गया जिससे निर्गमन विभाग में रक्खी जाने वाली रुपया-प्रतिभूतियों की सीमा को समाप्त किया गया।

स्वतन्त्र भारत में प्रारम्भ होने वाले योजना बद्ध विकास के संदर्भ में मुद्रा प्रणाली को लोच पूर्ण बनाना अनिवार्य तथा नोट निर्गमन सम्बन्धी कोष में विदेशी मुद्रा को (जिसकी आवश्यकता भारी मात्रा में किये गये आयातों के भुगतानों के लिये बहुत थी) अनावश्यक रूप में जमा रखना अनुपयुक्त सा लगने लगा। अतः अक्तूबर १९५६ में १९३४ के विधान में संशोधन कर नोटों के निर्गमन के लिये 'अनुपातिक निधि प्रणाली' के स्थान पर 'न्यूनतम निधि प्रणाली' को अपनाया गया। संशोधन के अनुसार सुरक्षित कोष में कम-से-कम कुल ५१५ करोड़ रुपये के स्वर्ण सिक्के, स्वर्ण पाट एवं विदेशी विनिमय को निधि के रूप में रखना अनिवार्य कर दिया गया। इसमें से स्वर्ण का मूल्य ६२·५० रु० प्रति तोला अथवा २·८८ ग्रेन स्वर्ण प्रति रुपया[1] (जो स्वर्ण का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य था तथा जिस दर पर भारत सरकार ने रुपये का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष में घोषित किया था) की दर से ११५ करोड़ रुपया भी निर्धारित कर दिया गया। इस प्रकार से कोष में रक्खे ४०० करोड़ रुपये के अतिक्ति विदेशी मुद्रा आयातों के भुगतान के लिये उपलब्ध हो गई। तत्पश्चात् भुगतान कोष की अवस्था खराब हो जाने के कारण अक्तूबर १९५७ में रिज़र्व बैंक अधिनियम में फिर संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार निर्गमन कोष में स्वर्ण-सिक्कों, स्वर्ण पाट एवं विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में रक्खी जाने वाली निधि की न्यूनतम मात्रा २०० करोड़ रुपया कर दी गई। इसमें से स्वर्ण-सिक्कों व स्वर्ण-पाट का मूल्य उसी प्रकार ११५ करोड़ रुपया बना रहा। साथ ही, इस संशोधन के अनुसार केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से रिज़र्व बैंक विदेशी प्रतिभूतियों के कोष को पूर्णतया समाप्त भी कर सकता है, किन्तु ऐसी हालत में कम-से कम ११५ करोड़ रुपये की स्वर्ण मुद्रा एवं स्वर्ण पाट का होना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में रिज़र्व बैंक अपने आदेयों (assets) एवं दायित्वों (liabilities) का ब्योरा प्रकाशित किया करता है। कुछ वर्षों के यह आँकड़े निम्न तालिका में दिये जा रहे हैं जिससे नोटों की निकासी की प्रगति का ज्ञान होता है।

१—१९३९ के विधान के अनुसार कोष में जमा सोने का मूल्य २१.२४ रु० प्रति तोला के हिसाब से ४०·०२ करोड़ रुपया था। उतना ही सोना नये दर से ११७·७६ करोड़ रुपये के लगभग का हो गया।

रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (निर्गमन विभाग)

(करोड़ रुपयों में)

दायित्व (Liabilities)				आदेय (Assets)			
वर्ष अन्तिम शुक्रवार	चलन में नोट	बैंकिंग विभाग में नोट	कुल नोटों का मूल्य	स्वर्ण मुद्रा व धातु	प्रतिभूतियाँ विदेशी	प्रतिभूतियाँ रुपया	सिक्के व चलन मुद्रा
१९५०-५१	११६६·२	१७·१	११८०·४	४०·०	६२८·३	४५८·४	५७·२
१९५५-५६	१३३९·३	१७·०	१३५६·४	४०·०	६५६·५	५५३·०	१०६·८
१९६०-६१	१८२३·१	१८·९	१८४२·०	११७·७	१८६·१	१५०२·४	१२६·८
१९६१-६२	१९५७·४	१९·५	१९७७·०	११७·७	११५·९	१५२१·६	१२१·६
१९६२-६३	२११७·८	२०·२	२१३५·१	११७·७	९३·८	१८०४·६	११९·३
१९६३-६४	२३१०·५	२०·३	२३३०·८	११७·७	९९·०	१९९७·७	११६·३

२. सरकारी बैंकर के रूप में कार्य :

संसार की अन्य केन्द्रीय बैंकों की भांति रिजर्व बैंक भी सरकार की बैंक के रूप में कार्य करता है। यह भारत सरकार तथा राज्यों की सरकारों के लेन-देन का हिसाब-किताब रखता है, उनके खातों में रकमों को जमा करता है और उनकी ओर से भुगतान करता है। यह सब करने के लिये रिजर्व बैंक सरकारों के नकद कोष रखता है जिस पर इसे कोई ब्याज नहीं देना पड़ता। यह उनकी ओर से विदेशी विनिमय सम्बन्धी भुगतानों को करता है तथा राजकीय ऋणों की व्यवस्था करने के साथ-साथ अन्य बैंकिंग सेवायें प्रदान करता है। केन्द्रीय व राज्य सरकारों के किसी भी अवधि की प्रतिभूतियों का यह क्रय विक्रय करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर मांग पर शोधनीय अथवा ९० दिन के भीतर होने वाले शोधनीय काम-चलाऊ अग्रिम (Ways and Means advances) देता है। पर यह ऋण उचित एवं पर्याप्त प्रतिभूतियों के आधार पर ही दिये जाते हैं। यह केन्द्रीय सरकार के कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) का विक्रय करता है, जिस पर २% की दर से इसे कमीशन मिलता है। राजकीय ऋणों की व्यवस्था के बदले में बैंक को प्रत्येक ६ महीने के लिये १ करोड़ रुपयों के ऋण पर १००० रुपयों का कमीशन प्राप्त होता है। अपने इन कार्यों को करने के लिये इसने स्टेट बैंक आफ इण्डिया को अपना एजेन्ट बना रखा है। यह सरकारों को नये ऋणों के चालू करने, पुराने ऋणों को बदलने, कोषों का विनियोग करने तथा कृषि साख, सहकारी बैंकिंग

एवं साख सम्बन्धी विषयों या उनके अधिनियमों को बनाने इत्यादि में सलाह देता है। यह वित्तीय एवं आर्थिक मामलों पर भी सरकार को परामर्श देती है।

३. बैंकों की बैंक :

बैंकों के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक वह समस्त कार्य करता है जो देश के अन्य बैंक अपने ग्राहकों के लिए सम्पन्न करते हैं यह उनके जमाओं को स्वीकार करता है, उनको ऋण प्रदान करता है, उनके पारस्परिक लेन-देनों को सरलतापूर्वक निबटाने के समाशोधन गृह कार्यों को करता है तथा अन्तिम समय के ऋणदाता के रूप में संकट-काल में बैंकों की मदद करता है। रिजर्व बैंक को इस योग्य बनाने के लिये यह वैधानिक व्यवस्था (रिज़र्व बैंक ऐक्ट १९३४ के अन्तर्गत) की गई थी कि सभी अनसूचित बैंक (scheduled banks)[१] अपने माँग दायित्वों (demand liabilities) का ५% तथा समय दायित्वों (time liabilities) का २०% नकद कोष के रूप में अपने पास रक्खें। १९५६ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (संशोधित) ऐक्ट के द्वारा रिजर्व बैंक को यह अधिकार दिया गया कि वह अनुसूचित बैंकों की माँग दायित्व प्रतिशत में ५ से २० तक तथा समय दायित्वों में २ से ८ तक परिवर्तन कर सकता है। असूचीबद्ध बैंकों (non-scheduled bank) को अपने माँग दायित्वों के ५% तथा समय दायित्वों के २% रकम को अपने पास अथवा रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता है। कुछ बैंक स्वेच्छापूर्वक इस नकद कोष को रिजर्व बैंक के पास रखते हैं। इन जमाओं पर रिजर्व बैंक को कोई ब्याज नहीं देना पड़ता। यह उल्लेखनीय है कि यह व्यवस्था बैंक-निधि के केन्द्रीयकरण करने के अतिरिक्त बैंकिग व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने तथा निक्षेपदाताओं के हितों की रक्षा करने के लिये भी की गई है। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों को स्वीकृत बिलों की पुर्नकटौती तथा मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियों के आधार पर अग्रिम देकर आर्थिक सहायता प्रदान करता है। यह उन पर अनेक विधियों द्वारा नियन्त्रण रखता है तथा उनका पथ-प्रदर्शन भी करता है। इस उद्देश्य से कि देश में बैंकिग व्यवसाय सुरक्षित एवं स्वस्थ रहे, रिजर्व बैंक प्रार्थी बैंक द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिभूतियों की प्रकृति की ओर ही ध्यान नहीं देती वरन् उसकी वित्तीय दशा, उसके व्यापार करने का ढंग तथा उसकी ऋण एवं विनियोग

१—बैंकिग कम्पनीज़ विधान १९४९ के अनुसार प्रत्येक बैंकिग व्यवसाय वाली ऐसी कम्पनी जिसकी अपरिदत्त पूँजी (paid up capital) तथा संचित कोष ५ लाख रुपयों से अधिक होता है, रिज़र्व बैंक की दूसरी सूची में सम्मिलित कर ली जाती है और अनसूचित बैंक (scheduled banks) कहलाती हैं। शेष बैंकों को असूचीबद्ध बैंक कहते हैं।

सम्बन्धी नीतियों के सम्बन्ध में भी अपने को सन्तुष्ट करती है। इसको इस बात का अधिकार है कि यह बिना किसी कारण का उल्लेख किये किसी भी अनुसूचित बैंक के विपत्र को दुबारा भुनाने से इन्कार कर सकती है। यह तीन माह के लिए अनसूचित बैंकों को जिन चीज़ों की जमानत पर ऋण देता है वे इस प्रकार हैं: (क) उन स्टाकों, कोषों तथा प्रतिभूतियों के आधार पर एक ट्रस्टी को ट्रस्ट अधिनियम के आधीन ट्रस्ट मुद्रा को विनियोग करने का अधिकार प्राप्त है; (ख) सोना, चाँदी तथा उनसे सम्बन्धित विपत्र, (ग) किसी भी अनसूचित बैंक या सहकारी बैंक के प्रतिज्ञा पत्र जो कृषि सम्बन्धी कार्यों को वित्त प्रदान करने के लिए या उचित व्यापारिक सौदों को सम्पन्न करने के लिए बैंक के पास गिरवी रखे गए हैं या बैंक को हस्तांतरित किये गए हैं, तथा (द) ऐसे विनिमय बिल तथा प्रतिज्ञा पत्र जिनको खरीदने अथवा दुबारा भुनाने का अधिकार प्राप्त है। रिज़र्व बैंक ९० दिन में पारपक्व होने वाले विनिमय बिलों व प्रतिज्ञा पत्रों का, जितका भुगतान भारत में ही होने को होता है, क्रय-विक्रय करती हैं तथा उनको दुबारा भुनाती है। किन्तु यह ऐसा तभी करती है जब इन पर दो अच्छे हस्ताक्षर होते हैं। अन्त में यह बैंकों को व्यवसाय सम्बन्धी सलाह देती है। तथा उनके अधिकारियों के प्रशिक्षण की सुबिधायें प्रदान करती हैं।

४. चलन-मुद्रा (currency) की पूर्ति :

रिज़र्व बैंक चलन-मुद्रा, जो सरकार की ओर से निकाली जाती है, की पूर्ति की व्यवस्था करता है। चलन-मुद्रा में अपने नोटों की परिवर्तनशीलता को बनाये रखने के लिए भारी मात्रा में १ रु० के नोटों, सिक्कों व अन्य छोटे सिक्कों के स्टाक रखने पड़ते हैं। यद्यपि यह सरकार की ओर से निकाले जाते हैं, पर इनकी व्यवस्था एवं निकासी रिजर्व बैंक को ही करना पड़ता है।

५. विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय एवं विनिमय नियन्त्रण :

रुपये के विनिमय मूल्य की स्थिरता को बनाए रखने के लिए बैंक किसी भी अधिकृत व्यक्ति से विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करता हूँ। पर क्रय-विक्रय की जाने वाली राशि दो लाख रुपये से कम नहीं होती ऐसा क्रय-विक्रय भारत सरकार के द्वारा निर्धारित शर्तों के आधीन होता है। द्वितीय महायुद्ध के समय से फरवरी १९४७ तक रिज़र्व बैंक विनिमय नियंत्रण उपायों को भारत सरकार की ओर से 'भारत की सुरक्षा सम्बन्धी अधिनियमों' के अधीन किया करती थी। इसके अनुसार निम्न प्रतिबन्ध लागू किये गए थे :—

(अ) भारतवासी विदेशी मुद्रा नहीं प्राप्त कर सकते थे;

(ब) केवल रिजर्व बैंक से अधिकृत संस्थायें विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय कर सकते थे; [1]

१—रिज़र्व बैंक ने एक आदेश द्वारा उन सभी बैंकों को लाइसेन्स दे दिये जो भूतकाल में विदेशी विनिमय में व्यापार करती थीं और उनको भारत से स्टर्लिंग

(स) विदेशी मुद्रा केवल रिज़र्व बैंक की स्वीकृत के पश्चात् उपयुक्त व्यापारिक आवश्यकताओं, भ्रमण सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत खर्चों आदि के लिए प्राप्त की जा सकती थी ।

इन नियमों का मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखना, विदेशों को पूंजी के स्थानांतरण से रोकना विदेशी मुद्रा में सट्टे की क्रियाओं को असम्भव बनाना था । भारत के निर्यातों से प्राप्त होने वाले भुगतानों को नियंत्रित करने के लिए निर्यात नियन्त्रण योजना' चालू की गई थी । इसके दो उद्देश्य थे : (१) यह निश्चित कर लेना कि विदेशी मुद्रा विदेशियों के पास न रहकर भारत को ही प्राप्त हो, एवं (२) इस व्यवस्था के आधीन निर्यातों का वित्त प्रबंध कुछ विशेष विधियों के अनुसार किया जाय जिससे रुपये को अधिकतम विनिमय मूल्य प्राप्त हो । योद्धोत्तर कालीन विदेशी मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं के उपचार हेतु, भारत के 'सुरक्षा सम्बन्धी नियमों' को 'विदेशी विनिमय नियंत्रण अधिनियम १९४७' के रूप में स्वीकार कर लिया गया । अधिनियम ने रिज़र्व बैंक को विदेशी विनिमय एवं प्रतिभूतियों सम्बन्धी सौदों, बहुमूल्य धातुओं एवं आयात-निर्यात को नियंत्रित करने के लिए अधिकार दे दिये थे । इन नियंत्रणों के लागू करने की विधि एवं सीमा देश के भुगतान संतुलन की स्थिति से निश्चित होती है । इसके साथ-साथ सरकार को 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' द्वारा प्राप्त अधिकारों के अनुसार भी विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी नियमों का निर्धारण होता है । योजनाबद्ध विकास के अन्तर्गत भारत में विनिमय नियंत्रण नीति को और भी कड़ा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिससे हमारी योजनाओं के लिये अधिक से अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त हो सके । १९५६-५७ में रिज़र्व बैंक ने भारतीय बैंकों को यूरोप की कुछ मुद्राओं में क्रय-विक्रय करने की सुविधायें दे दीं थीं, किन्तु भुगतान संतुलन की स्थिति खराब होते ही उन प्रतिबन्धों को फिर कड़ा कर दिया गया । इस समय 'नियन्त्रण' का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना, पूंजी के स्थानान्तरण को रोकना, रुपये की बहुदिशायी (multilateral) परिवर्तनशीलता को सम्भव बनाये रखना तथा आवश्यक आयातों के लिए विदेशी विनिमय को सुरक्षित रखना है, जो देश के योजनाबद्ध विकास के लिए नितांत आवश्यक हैं ।

६. साख नियंत्रण एवं बैंकिंग व्यवस्था का नियमन :

साख नियंत्रण से केन्द्रीय बैंकिंग नीति के महत्वपूर्ण प्रश्न सम्बन्धित रहते हैं, उसके द्वारा अन्य सभी कार्य संगठित होते हैं एवं संयुक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होते हैं । साख नियन्त्रण के कार्य द्वारा केन्द्रीय बैंक मौद्रिक नीति के

क्षेत्र के विभिन्न देशों को होने वाले भुगतान की नि:शुल्क सुविधायें प्रदान कर दी थीं ।

उद्देश्यों--विनिमय स्थिरता, कीमत स्थिरता एवं आर्थिक स्थिरता—की पूर्ति करता है। अतः साख का नियंत्रण, जो बैंकिंग व्यवस्था के नियमन से प्राप्त होता है, साधारणतया केन्द्रीय बैंक का प्रधान कार्य माना जाता है। मुद्रा निर्गमन का एकाधिकार रखने के साथ-साथ रिज़र्व बैंक साख का भी नियंत्रण करता है और इसके लिये रिज़र्व बैंक को लगभग वे सभी साधन प्राप्त हैं जो किसी भी केन्द्रीय बैंक के पास हो सकते हैं। पर इनके होते हुए भी इस दिशा में रिज़र्व बैंक को अधिक सफलता नहीं मिल सकी है। इसका मुख्य कारण भारतीय मुद्रा बाजार का असंगठित होना ही है।

साख दो प्रकार की होती है: बैंक साख एवं पूंजीगत साख। जहाँ तक मुद्रा बाजार के संगठित भाग का सम्बन्ध है, बैंक साख पर इसका प्रत्यक्ष नियंत्रण रहता है, जब कि पूंजीपत साख पर इसका नियंत्रण केवल अप्रत्यक्ष ही होता है। रिज़र्व बैंक में बैंकों की साख-निर्माण शक्ति को नियंत्रित करने की सामर्थ उत्पन्न करने के लिये बैंकिंग विधान में ऐसी व्यवस्था है कि देश के सभी बैंकों को रिज़र्व बैंक के पास एक न्यूनतम कोष रखना पड़ता है। इसके अतिरिक्त सरकार के बैंकिंग कार्यों को सम्पन्न करने के लिये रिज़र्व बैंक के पास सरकारी कोष भी जमा रहते हैं। जिनके द्वारा (अन्तिम ऋणदाता के रूप में) देश की साख स्थित को नियंत्रित करने में इसे बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु साख नियंत्रण नीति की प्रभावशीलता मुद्रा बाजार की उस प्रकृति पर निर्भर करती है जिसमें केन्द्रीय बैंक अपने कार्यों को सम्पन्न करती है, अर्थात् मुद्रा बाज़ार जितना अधिक सुसंगठित होता है उतना अधिक वह केन्द्रीय बैंक की साख नीति से प्रभावित होता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, अनेक प्रयासों के उपरान्त भी भारतीय मुद्रा बाजार न तो सुसंगठित है और न विकसित है: संगठित मुद्रा बाजार की हर इकाई काफी अंशों में अपने-अपने क्षेत्र में आज भी स्वावलम्बी एवं स्वतंत्र नीति अपनाने वाली है। असंगठित भाग में महाजन व देशी बैंकर देश के दूर-दूर क्षेत्रों में संगठित भाग से इतने अलग हैं कि केन्द्रीय बैंक उस पर नियंत्रण ही नहीं रख पाती। परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में आज भी विभिन्न मौद्रिक दरें देखने को मिलती हैं। १९५५ के पहले इम्पीरियल बैंक को रिजर्व बैंक की साख नियंत्रण की सफलता में सबसे बड़ा रोड़ा माना जाता था तथा मौद्रिक एवं बैंकिंग नियंत्रण एक ही संस्था के अधीन न होने के कारण मौद्रिक एवं शाख प्रणालियों में लोच का अभाव था। पर इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् रिज़र्व बैंक मौद्रिक एवं साख नियंत्रण के सभी साधनों से पूर्ण है। रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाई गई साख-नियंत्रण के अनेक विधियों का अध्ययन हम आगे करेंगे।[१]

७. कृषि वित्त की व्यवस्था:

रिज़र्व बैंक ग्रामीण क्षेत्र की अल्पकालीन, मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन सभी

१—देखिये पृष्ठ ४२१।

प्रकार की आवश्यकतायें पूरी करने की चेष्टा करता है। वैसे तो भारतीय कृषि की अनेक समस्यायें हैं, परन्तु उनमें प्रमुख समस्या वित्त अथवा साख का अभाव है। प्रारम्भ में ही रिज़र्व बैंक अधिनियम में एक कृषि साख विभाग बनाने की व्यवस्था की गई थी। इस विभाग का कार्य (i) कृषि साख की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये विशेषज्ञों के दल को रखना जो केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, सहकारी बैंकों तथा अन्य बैंकों को परामर्श दे सकें, एवं (ii) विभिन्न वित्तीय साधनों में समन्वय स्थापित करना है। स्थापित होने के तुरन्त बाद रिज़र्व बैंक ने, सर मैल्कम डार्लिंग की रिपोर्ट के अनुसार, सहकारी समितियों, साहूकारों तथा प्रान्तीय सरकारों से कृषि साख सम्बन्धी सूचनायें इकट्ठी कीं और फिर उनके आधार पर अपनी नीति बनाई। स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं राष्ट्रीयकरण के बाद इस दिशा में अपने कर्तव्यों को निभाने के लिये रिज़र्व बैंक ने गोखाला कमेटी (Rural credit survey committee) द्वारा ग्रामीण साख की दशाओं का सर्वेक्षण कराया तथा उसके बतलाये हुये ग्रामीण साख की सर्वतोमुखी योजना (integrated scheme) में अपना योगदान देना शुरू कर दिया। इसके अन्तर्गत रिज़र्व बैंक कृषि के लिये समस्त साख राज्य सहकारी बैंकों के माध्यम से देता है, जो १५ मास कृषि विनिमय पत्रों तथा रियायती ब्याज-दर पर ऋण ले सकते हैं। इस सुविधा के अन्तर्गत माल बेचने अथवा सँवारने के लिये भी साख दी जाती है। अनुमोदित कुटीर उद्योगों (हथ-कर्घा उद्योग) में माल उत्पादन करने तथा बेचने के लिये १२ मास तक के बिलों व प्रतिज्ञापत्रों की रिज़र्व बैंक रियायती कटौती-दर पर पुनः कटौती करता है। इन सेवाओं के अतिरिक्त, कृषि साख को अधिक उदारतापूर्ण सहायता देने के लिये रिज़र्व बैंक ने १९५६ में दो कोषों का (राष्ट्रीय कृषि साख—दीर्घकालीन-कोष, तथा राष्ट्रीय कृषि साख-स्थायीकरण-कोष) निर्माण किया है, जिनका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। जहाँ तक दीर्घकालीन ऋण का प्रश्न है, १९४८ में रिज़र्व बैंक ने यह निर्णय किया था कि वह केन्द्रीय भूमिबन्धक बैंकों द्वारा निर्गमित ऐसे ऋण-पत्रों का २० प्रतिशत खरीदेगा जिनके मूल तथा ब्याज की राज्य सरकारों द्वारा गारंटी की गई हो। ग्रामीण बचतों को प्रोत्साहित करने के लिये १९५७-५८ में रिज़र्व बैंक ने एक 'ग्रामीण ऋण पत्र योजना' अपनाई जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक ७ वर्ष के ऋण पत्र निर्गमित कर सकते हैं, और ऋण पत्रों की न बिक सकने वाली राशि को रिज़र्व बैंक को बेच सकते हैं। देश में कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिये १९६०-६१ में 'गहरी खेती योजना' लागू की गई थी जिसको सफल बनाने के लिये सहकारी समितियों तथा बैंकों को रिज़र्व बैंक द्वारा व्यापक सहायता दी जा रही है। निःसन्देह भारत में रिज़र्व बैंक अपनी उपस्थिति के औचित्य को सिद्ध नहीं कर पाता, यदि इसने अपने कार्यों को केवल औद्योगिक क्षेत्र

तक सीमित रखा होता और कृषि क्षेत्र की उपेक्षा की होती जिसकी समृद्धि पर बहुत हद तक औद्योगिक विकास निर्भर करता है।[1]

८. औद्योगिक वित्त की व्यवस्था :

किसी देश के आर्थिक विकास में केन्द्रीय बैंक का महत्व मौद्रिक एवं साख नीति के निर्देशन के लिये ही नहीं होता, वरन् वहाँ पर हो रहे औद्योगिक विकास के लिये उपयुक्त वित्तीय साधनों के जुटाने के लिये भी होता है। भारत में रिज़र्व बैंक अपने इस उत्तरदायित्व को निभाने में पीछे नहीं है। योजनाबद्ध विकास के अन्तर्गत देश में अधिकाधिक औद्योगिक इकाइयाँ स्थापित होती चली जा रही हैं, जिसके लिये वित्त की माँग निरन्तर बढ़ रही है। इसकी पूर्ति के लिये देश में अनेक 'संस्थानों' को स्थापित किया गया है।[2] इनमें 'औद्योगिक वित्त निगम', 'औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम', 'राज्य वित्त निगम' तथा 'पुनर्वित्त निगम' के नाम उल्लेखनीय हैं। यही नहीं कि इन संस्थानों में रिज़र्व बैंक ने करोड़ों रुपये की अंश-पूंजी लगाई है, आवश्यकता पड़ने पर इन्हें रिज़र्व बैंक से पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त होता है। लघु-उद्योगों को यथेष्ट मात्रा में ऋण उपलब्ध कराने के उद्देश्य से जुलाई १९६० से जो साख गारंटी योजना चालू की गई है, उसमें रिज़र्व बैंक का विशेष योगदान है।

९. आँकड़ों का संकलन एवं प्रकाशन :

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त, रिज़र्व बैंक मुद्रा, साख, बैंकिंग, विदेशी विनिमय, उत्पादन कीमत, विदेशी व्यापार, भुगतान संतुलन आदि विषयों से सम्बन्धित आँकड़े इकट्ठा करती है और फिर उन पर अपने नोट प्रकाशित करती है। इसके द्वारा प्रकाशित वार्षिक एवं मासिक बुलेटिन (Bulletin) देश की अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का व्यापक ज्ञान कराते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रिज़र्व बैंक द्वारा किये जाने वाले कार्य काफी विस्तृत ही नहीं अपितु विभिन्न प्रकार के भी हैं। संसार के किसी भी केन्द्रीय बैंक को इतने उत्तरदायित्वों को नहीं निभाना पड़ता जितना रिज़र्व बैंक को निभाना पड़ता है। इसका कारण यही है कि अन्य देशों की अपेक्षा हमारे देश की अर्थव्यवस्था अनेक बातों में भिन्न है जिसके कारण रिज़र्व बैंक को कुछ अतिरिक्त उत्तरदायित्वों को भी निभाना पड़ता है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से उपरोक्त वर्णित रिज़र्व बैंक के कार्यों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : केन्द्रीय बैंक के कार्य व साधारण बैंक के कार्य। प्रथम श्रेणी में मुद्रा निर्गमन, सरकारी बैंकर, बैंकों के बैंक, विनिमय नियंत्रण, कृषि एवं औद्योगिक वित्त व्यवस्था एवं संकलन व प्रकाशन के

1—Sir B. R. Rao—Evolution of Central Banking in India—p. 63.

२—पिछला अध्याय देखिये।

कार्यों को सम्मिलित किया जा सकता है। द्वितीय श्रेणी में व्यापारिक विनिमय बिलों एवं प्रतिज्ञा-पत्रों का क्रय-विक्रय व कटौती करना, बिना ब्याज दिये निक्षेप स्वीकार करना, विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना, विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करना, बहुमूल्य पदार्थों को सुरक्षित रखना, विभिन्न राष्ट्रों के केन्द्रीय बैंकों के साथ खाता खोलना व ऋण लेना, अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं से लेन देन करना आदि को बतलाया जा सकता है।

साख नियंत्रण एवं रिज़र्व बैंक

मुद्रा के नियन्त्रण से अभिप्राय सिक्कों एवं पत्र मुद्रा के नियमन से होता है, जिसके निर्गमन के लिये रिज़र्व बैंक को एकाधिकार प्राप्त है। इसके साथ ही साख नियंत्रण के अनेक साधन इसे प्राप्त हैं। इसके द्वारा साख व्यवस्था के नियमन के वैधानिक आधार रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया अधिनियम तथा बैंकिंग कम्पनीज़ अधिनियम हैं। रिज़र्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत इसे वे सभी तरीके प्राप्त हैं जो किसी भी केन्द्रीय बैंक के पास होते हैं। बैंकिंग अधिनियम द्वारा इसे व्यापारिक बैंकों की क्रियाओं के नियमन हेतु कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं। इतना होते हुये भी रिज़र्व बैंक को इस क्षेत्र में पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है। रिज़र्व बैंक द्वारा अपनाई गई साख नियंत्रण की विधियों का अध्ययन हम नीचे करेंगे :—

१. **बैंक दर**—प्रथम महायुद्ध के पहले, स्वर्णमान के अन्तर्गत, बैंक दर का उपयोग केवल स्वर्ण कोषों को ऊँचे स्तर पर बनाये रखकर आन्तरिक एवं वाह्य मूल्यों में संतुलन स्थापित करने के लिये दिया जाता था। पर स्वर्णमान के टूटते ही व्यवस्थित-पत्र-मुद्रा-प्रणाली के स्थापित होने के साथ-साथ बैंक दर के महत्व में वृद्धि होने लगी। द्वितीय महायुद्ध काल में एवं उसके पश्चात् बैंक दर, साख नियंत्रण एवं बैंकिंग व्यवस्था के नियमन का एक अनावश्यक साधन बन गया। फिर भी जब कि संयुक्त राज्य में बैंक दर नीति को पर्याप्त सफलता मिली, अमरीका में इसे अच्छा साधन न बनाया जा सका। इसका मुख्य कारण यही था कि इंगलैण्ड की अपेक्षा अमरीका के मुद्रा बाजार के विभिन्न अंग एक दूसरे से इतने अलग हैं कि उनमें समन्वय का अभाव है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, बैंक दर नीति की सफलता तीन बातों पर निर्भर करती है :—

(अ) उन पत्रों की प्रकृति जिनको केन्द्रीय बैंक दुबारा भुनाने योग्य समझती है;

(ब) उन ग्राहकों के चुनाव सम्बन्धी प्रतिबन्ध जो विपत्रों को दुबारा भुनाने के लिये प्रार्थना करते हैं;

(स) बैंक दर का बाजार के अन्य दरों से सम्बन्ध।

रिज़र्व बैंक द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों का उल्लेख करते हुये हम

उन प्रतिभूतियों के विषय में बतला चुके हैं जिनको भुनाने के लिये यह स्वीकार करता है। यह भी बतलाया जा चुका है कि सहायता प्रदान करते समय रिज़र्व बैंक केवल प्रतिभूतियों की प्रकृति को ही दृष्टि में न रख कर प्रार्थी की आर्थिक अवस्था की ओर भी ध्यान देता है। इतना होते हुये भी यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के पहले की अपेक्षा बाद में रिजर्व बैंक, बैंक-दर के परिवर्तनों द्वारा साख को नियन्त्रण करने में बहुत कुछ सफल हुआ है, पर इसे भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इसका एकमात्र कारण मुद्रा बाजार का असंगठित होना ही है। १ जुलाई १९३५ (जब रिज़र्व बैंक स्थापित हुआ था) से १५ नवम्बर १९५१ तक बैंक दर समान रूप से ३% बनी रही। १९३५-५१ की सुलभ मुद्रा नीति (Easy money policy) से न केवल साख का असाधारण रूप से विस्तार हुआ, पर इससे मुद्रा स्फीति व व्यापारिक क्षेत्र में सट्टेबाजी को भी प्रोत्साहन मिला जिससे भुगतान संतुलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। १९५१ में देश में साख का विस्तार तेजी से हो रहा था जिसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ११-५-१९५१ को बैंकों द्वारा कटौती किये गये बिलों की राशि तथा ऋणों की रकम मिलाकर ५८६ करोड़ रु० तक पहुँच गई। कोरियाई युद्ध के आरम्भ से ही कीमतों में वृद्धि विशेष रूप से हो रही थी और इसके बढ़ने की आगे भी आशंका थी। ऐसी ही स्थिति को नियन्त्रित करने के लिये डेन्मार्क, बेल्जियम, केनेडा, जर्मनी, स्वेडन, अमेरिका एवं नेदरलैण्ड से सन् १९५० के उत्तरार्द्ध में अपनी बैंक दरें बढ़ा दी थीं। सन् १९५१ में फ्रांस, जापान एवं इंगलैण्ड ने भी बैंक दर में वृद्धि कर दी। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये रिजर्व बैंक ने नई मुद्रा नीति का निर्माण किया और १५ नवम्बर १९५१ से बैंक दर ३% से बढ़ा कर ३½% कर दिया। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने यह घोषणा की कि वह सरकारी प्रतिभूतियों की धरोहर पर ऋण तो देगा परन्तु उन्हें खरीदेगा नहीं। बैंक दर के बढ़ने के फलस्वरूप होने वाले अनेक दरों के परिवर्तन तो स्वाभाविक एवं वांछनीय थे परन्तु प्रतिभूतियों के सम्बन्ध के निश्चय के कारण प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट आनी शुरू हो गई। बैंक दर के इस परिवर्तन के परिणामस्वरूप १९५१-५२ के व्यस्त काल में बैंक साख में केवल ९० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जबकि गत व्यस्त काल में १८० करोड़ रुपये की हुई थी।

भारतीय बैंक दर में दूसरा परिवर्तन १ फरवरी १९५७ से किया गया जब बिलों पर स्टाम्प ड्यूटी बढ़ जाने के कारण रिज़र्व बैंक को बैंक दर ४% कर देना पड़ा। इस परिवर्तन की विशेष बात यह थी कि लगभग ३½ महीने तक बैंक दर तथा कटौती दर (Bank Rate and Discount Rate) में अन्तर रखा गया। अन्तत: कटौती दर भी १६-५-१९५७ से ४% कर दी गई। बैंक दर के इस वृद्धि के फलस्वरूप आगामी व्यस्त काल में बैंक साख में कुल लगभग ७५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जब कि गत वर्ष १५१ करोड़ रुपए की हुई थी।

१ अक्तूबर १९६० से रिजर्व बैंक ने व्यवहारिक रूप में एक दर के स्थान पर बहुमुखी दर (तीन दरों) की प्रणाली अपनाई। इसके अन्तर्गत प्रत्येक बैंक के लिए एक राशि (quota) निश्चित कर दी गई (जो प्रत्येक बैंक द्वारा रिजर्व बैंक में जमा की जाने वाली रकम का ५०% निश्चित किया गया), जिस सीमा तक प्रत्येक बैंक ४% ब्याज पर उधार ले सकता था। परन्तु इसके ऊपर कोटा के २००% तक बैंक दर से १ प्रतिशत अधिक और इससे अधिक ऋण लेने पर २% अधिक ब्याज की दर निश्चित की गई। २ जुलाई १९६२ से इस प्रणाली में परिवर्तन कर चतुर्मुखी ब्याज दर प्रणाली अपनाई गई। इसके अन्तर्गत अभ्यंश राशि के १०० प्रतिशत ऋण तक ४%, १०१ से २०० प्रतिशत ऋण तक ५%, २०१ से ४०० प्रतिशत ऋण तक ६% एवं ४०० प्रतिशत से अधिक ऋण पर ६·५% ब्याज की दरों की व्यवस्था की गई। ३१ अक्तूबर १९६२ से ऐसी प्रणाली समाप्त कर दी गयी और यह निश्चय किया गया कि प्रत्येक बैंक को अपने वैधानिक कोष की प्रथम २५% तक राशि रिजर्व बैंक से उधार लेने पर ४%, अगली २५% राशि पर ५% तथा प्रणाली ५०% राशि पर ६% ब्याज देना पड़ेगा।

३ जनवरी १९६३ से बैंक दर को बढ़ा कर ४½% कर दिया गया। परन्तु इस समय बैंक दर के बढ़ाने का तात्पर्य रिज़र्व बैंक द्वारा बाजार में ऊँची दरों का अनुमोदन मात्र करना था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि बैंक दर के बढ़ जाने पर भी १९६२ के प्रथम चार महीनों में बैंक साख में १७१ करोड़ रुपये की वृद्धि की उपेक्षा १९६३ के उन्हीं महीनों की वृद्धि का योग १८६ करोड़ रुपया था। इसी समय बहुमुखी दर प्रणाली में भी परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार प्रत्येक बैंक को उसके अभ्यंश के ५०% तक उधार ४·५% पर और उससे अधिक कोई भी राशि ६% दर पर देने की घोषणा की गई। अर्थव्यवस्था पर मुद्रा प्रसार की शक्तियों के दबाव के निरन्तर बढ़ते रहने के कारण २५ सितम्बर १९६४ से रिज़र्व बैंक ने बैंक दर को ४½% से बढ़ाकन ५% कर दिया। पर इससे विशेष सफलता न दिखलाई पड़ी तथा कीमतों के निरन्तर बढ़ते रहने के कारण एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई। रिजर्व बैंक ने साख-व्यवस्था पर और कड़ा नियंत्रण रखने के उद्देश्य से १० फरवरी १९६५ से बैंक दर ६% कर दिया। बैंक दर में वृद्धि के साथ-साथ रिज़र्व बैंक ने बैंकों से ली जाने वाली सूद की दर को उनकी तरलता स्थिति के साथ सम्बन्धित किया है। जिन बैंकों की तरलता अनुपात ३०% या इससे अधिक होती है वे रिज़र्व बैंक से ऋण ६% (अर्थात् बैंक दर) ब्याज पर ले सकते हैं। किन्तु जिनका यह अनुपात इससे कम होगा, उन्हें प्रत्येक १% की कमी के लिये ½%अधिक ब्याज देना होता है।

२. **खुले बाजार की क्रियायें:**—इस विधि का प्रयोग साधारणतया बैंक दर

नीति के साथ-साथ किया जाता है किन्तु कभी-कभी इसका उपयोग स्वतन्त्र रूप से भी किया गया है। इस नीति का मुख्य उद्देश्य मुद्रा की पूर्ति में उचित परिवर्तन उत्पन्न करके बाजार के मौद्रिक दरों एवं साख सम्बन्धी दशाओं को प्रभावित करना होता है। रिज़र्व बैंक इस इस नीति का प्रयोग अपनी स्थापना के समय से ही करता चला आ रहा है। रिज़र्व बैंक द्वारा सम्पन्न की जाने वाली खुले बाजार की क्रियाओं में विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा पत्रों, सरकारी पत्रों, सोने के सिक्कों तथा धातुओं का खुले बाजार में क्रय-विक्रय एवं राजकीय ऋणों की व्यवस्था सम्बन्धी क्रियाएँ भी सम्मिलित की जाती हैं। जिस प्रकार बैंक दर की प्रभावशीलता अनुसूचित बैंकों की रिजर्व बैंक से उधार लेने की इच्छा पर निर्भर करती है, उसी प्रकार खुले बाजार की क्रियाओं की प्रभावशीलता बैंकों की अपने ग्राहकों को उधार देने की इच्छा पर निर्भर करती है। इन क्रियाओं के द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करके व्यापारिक बैंकों की नकदी को कम या अधिक किया जाता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, इस विधि की प्रभावशीलता तीन बातों पर निर्भर करती है: (अ) उन साधनों का आकार जिनको रिर्वज़ बैंक इस कार्य के लिए एकत्रित करती है, (ब) आदेशों की मात्रा एवं उनके गुण जिनके क्रय-विक्रय की वह आज्ञा देती है, और (स) मुद्रा बाजार की शक्ति एवं संगठन।

भारतवर्ष में खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता सीमित रही है क्योंकि (१) भारतीय मुद्रा बाजार अल्प-विकसित है, तथा (२) रिज़र्व बैंक केवल कुछ ही प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है। इतना होते हुये भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् खुले बाजार की क्रियाओं ने रिज़र्व बैंक की बैंक-दर नीति को प्रभावशाली बनाने में काफी सहयोग दिया है। रिज़र्व बैंक ने स्थापित होते ही खुले बाजार की क्रियायें आरम्भ कर दीं, पर प्रारम्भिक काल में केवल व्यापारिक बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया गया। १९५१ के पहले अनुसूचित बैंक आवश्यकता के समय रिज़र्व बैंक को सरकारी प्रतिभूतियाँ बेच कर किसी भी सीमा तक धन प्राप्त कर सकते थे। इसके फलस्वरूप रिजर्व बैंक को १९४४ से १९५१ तक ६८४.५७ करोड़ रुपये की प्रतिभूतियों को, जिन्हें युद्ध काल में बैंकों ने खरीद रखी थीं और जिनको बनाये रखना अब कम लाभदायक हो गया था, खरीदना पड़ा जब कि इसी काल में उनकी विक्रय राशि ३९१·६९ करोड़ रुपये थी। परन्तु १५ नवम्बर १९५१ के बाद रिज़र्व बैंक ने सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इन प्रतिभूतियों की आड़ पर ऋण देना तो स्वीकार किया पर उनको खरीदने के लिए मना कर दिया। इस व्यवस्था बैंक दर अधिक प्रभावशाली बन गया। सन् १९५२ के 'बिल बाजार योजना' के आरम्भ हो जाने से रिज़र्व बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं का क्षेत्र विस्तृत हो गया है।

नवम्बर १९५६ से रिज़र्व बैंक ने मुद्रा बाजार में धन की कमी को दूर करने के उद्देश्य से कुछ विशेष प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर दिया था, पर सन् १९५७ में फिर रिज़र्व बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के बेचने को अधिक महत्व दिया जाने लगा। १९५२-५३ से १९५९-६० तक कुल २४२·२३ करोड़ रुपये की सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय तथा ५०४·८५ करोड़ रुपये का विक्रय किया गया। उसके प्रश्चात् खुले बाजार की क्रियाओं में कुछ नई प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ने लगीं। जहाँ १९५९ में रिज़र्व बैंक द्वारा ६६ करोड़ रुपये की सरकारी प्रतिभूतियों का शुद्ध विक्रय हुआ, वहाँ १९६० में उनका १०४ करोड़ रुपये का शुद्ध क्रय करना पड़ा। १९६१ में केवल ६ करोड़ रुपये की प्रतिभूतियाँ खरीदी गईं। इस प्रकार रिज़र्व बैंक अन्य बैंकों के कोषों को प्रभावित कर साख कर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करता है।

३. **कोषानुपात में परिवर्तन**—रिज़र्व बैंक अधिनियम १९३५ के अन्तर्गत प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी चालू जमा का ५% तथा स्थाई जमा का २% रिज़र्व बैंक के पास जमा करना अनिवार्य था। परन्तु यह सीमाएँ निश्चित थीं और रिज़र्व बैंक को इनमें कमी अथवा वृद्धि करने का अधिकार नहीं था। १९५६ के अधिनियम (संशोधन) द्वारा रिज़र्व बैंक को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्थाई जमा की २% को ८% तक तथा चालू जमा की ५% को २०% तक बढ़ा सकता है। भारत में बैंकों में चालू, बचत तथा स्थाई खाते होते हैं। यह वर्गीकरण स्वयं बैंकों के हाथ में होने के कारण वह बचत जमाओं का अधिकांश भाग स्थाई जमाओं में सम्मिलित करते थे, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें रिज़र्व बैंक में कम नकद कोष जमा रखने पड़ते थे। इस व्यवस्था का अन्त १९६२ के संशोधित अधिनियम के अन्तर्गत किया गया तथा बैंकों के द्वारा रिज़र्व बैंक के पास रक्खे जाने वाले नकद कोष के अनुपात को उनकी कुल जमा का ३% निश्चित कर दिया गया है, जिसे रिज़र्व बैंक १५% तक बढ़ा सकता है। बैंकिंग कम्पनीज़ अधिनियम के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों (non scheduled banks) के लिए भी इसी अनुपात में रिज़र्व बैंक के पास नकद कोष रखना अनिवार्य कर दिया गया है। यदि कोई बैंक रिज़र्व बैंक के पास अपने न्यूनतम कोष नहीं रख पाता, तो उसे जुर्माने के रूप में अग्रिमों पर ऊँचा सूद देना पड़ता है तथा वह नये निक्षेपों को तब तक स्वीकार नहीं कर पाता जब तक वह न्यूनतम राशि जमा नहीं कर देता।

रिज़र्व बैंक ने परिवर्तनशील कोषानुपातों का प्रत्यक्ष रूप में एक बार भी प्रयोग नहीं किया। परन्तु १९५९ के अन्तिम महीनों में बैंक साख में तीव्र गति से वृद्धि होनी आरम्भ हो गई एवं व्यस्त काल में (फरवरी १९६० तक) लगभग १६० करोड़ रुपये से यह बढ़ गई। यह वृद्धि गत वर्षों की तुलना में अधिक थी। इसके साथ ही कीमतों में वृद्धि हो गई एवं स्कन्ध बाजार में तेजी का वातावरण हो गया। अतः

१२ मार्च १९६० से बैंकों द्वारा प्राप्त होने वाले नये जमाओं का २५ % रिजर्व बैंक में जमा करना आवश्यक कर दिया गया। साथ ही साधारण अंशों पर दिये जाने वाले ऋणों पर ५० % margin रखना अनिवार्य तथा बदले के सौदों व व्यक्तिगत जमानत पर ऋण देना बन्द कर दिया गया। १ अक्तूबर १९६० से अन्य साख नियन्त्रण के उपाय अपनाये गये। इन कारणों से मुद्रा बाजार में अत्यधिक दुर्लभता की स्थिति उत्पन्न हो गई। अत: जनवरी १९६१ से नये निक्षेपों के एक अंश को रिजर्व बैंक में जमा करवाने की व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

४. **चुना हुआ साख नियन्त्रण (Selective Credit Control) :** बैंकिंग कम्पनीज़ अधिनियम पास होने के पहले रिजर्व बैंक साख नियन्त्रण के लिये बैंक दर नीति तथा खुले बाजार की क्रियाओं जैसी परम्परागत विधियों का ही प्रयोग करता था, जिनसे वह केवल साख की मात्रा को नियन्त्रित कर सकता था और साख के प्रयोग पर उसका किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता था। सन् १९४९ के ऐक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक का साख पर विशिष्ट रूप से नियन्त्रण करने के लिए कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं। वे अधिकार, जिनकी सहायता से रिजर्व बैंक साख का नियन्त्रण करने लगा है, इस प्रकार हैं :—

(क) वह देश के हित में समस्त बैंकों अथवा किसी एक बैंक की ऋण सम्बन्धी नीति निर्धारित कर सकता है तथा उन को आदेश दे सकता है कि किन-किन उद्देश्यों के लिए ऋण तथा अग्रिम दिये जायें, ऋणों के पीछे कितनी आवश्यक सीमा (margin requirement) रक्खी जाय व ब्याज की क्या दरें ली जायें।

(ख) वह किसी भी बैंक को लिखित आदेश द्वारा ऐसे ऋण देने से मना कर सकता है जो जमाकर्ताओं के हितों के विरुद्ध हों अथवा निश्चित अवधि के भीतर इस प्रकार के ऋणों को वापस माँगने के लिए बाध्य कर सकता है।

(ग) वह बैंकों को किसी विशेष प्रकार के सौदे न करने की चेतावनी दे सकता है अथवा उन्हें ऐसा करने से रोक सकता है।

इस प्रकार के विस्तृत अधिकार प्राप्त हो जाने के पश्चात् रिजर्व बैंक ने साख के प्रयोग पर नियन्त्रण करना आरम्भ कर दिया। सबसे पहला आदेश अप्रैल १९५६ को जारी किया गया जिसके द्वारा बैंकों को यह आदेश दिया गया कि वे कम्पनियों के अंशों की आड़ पर ऐसे व्यक्तियों को ऋण न दें जो उद्योग धन्धों पर संचालन अधिकार प्राप्त करना चाहते हों। इसके तुरन्त बाद, १७ मई १९५६ को एक निर्देश द्वारा बैंकों से अनुरोध किया गया कि वे धान व चावल की आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों को कम करें तथा उनके सम्बन्ध में आवश्यक सीमा (margin requirement) को १० % बढ़ा दें। यह नियन्त्रण नवम्बर १९५६ में हटा लिया गया पर फरवरी १९५७ में अन्य प्रतिबन्धों के साथ इसे फिर लगा दिया गया। सितम्बर

१९५६ में सूती कपड़ों के सम्बन्ध में इसी प्रकार का निर्देश दिया गया। ७ जून १९५७ को सभी खाद्यान्नों की आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों को और कम करने का पुनः आदेश दिया गया। १९५९ में तेलहन पर भी विशिष्ट साख नियन्त्रण लागू कर दिया गया। मार्च १९६० में कम्पनियों के अंशों पर दिये जाने वाले अग्रिमों पर भी और कमी करने के लिए बैंकों से कहा गया। १९६१ में साख नियन्त्रण के इन उपायों का प्रयोग विस्तृत रूप से किया गया। वस्तुओं की पूर्ति एवं कीमत-स्तर पर सुधार होने के फलस्वरूप धान, चावल, तेलहन एवं कम्पनियों के अंशों के आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों पर नियंत्रण कम कर दिया गया; चीनी एवं जूट के आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों पर नियन्त्रण हटा लिए गए तथा गेहूँ के आड़ पर दिए जाने वाले ऋणों को बिलकुल बन्द कर दिया गया। २७ अप्रैल १९६३ को चीनी पर दिए जाने वाले अग्रिमों को फिर नियन्त्रित कर दिया गया और उस पर कम से कम ३५% आवश्यक सीमा (margin requirement) निश्चित कर दी गई। फरवरी १९६४ में तेलहनों (मूँगफली) की आड़ पर दिये जाने वाले ऋणों के लिए आवश्यक सीमा ५% बढ़ा दी गई तथा अप्रैल १९६४ में गेहूँ की आड़ पर दिये जाने वाले अग्रिमों के लिए आवश्यक सीमा ३५% निश्चित कर दी गई। जून १९६४ में धान एवं चावल पर साख-नियन्त्रण कठोर कर दिया गया। साख-नियन्त्रण के इन उपायों से बैंक साख से उत्पन्न होने वाली माँग कम अवश्य हो गई। पर यह अनुमान लगाना कठिन है कि चुने हुए साख-नियन्त्रण का कीमतों पर क्या प्रभाव पड़ा है क्योंकि 'कीमत-स्तर' एक ऐसी जटिल समस्या है जो वस्तु की माँग एवं पूर्ति की स्थानीय कमी व आधिक्य, यातायात आदि की उपलब्धि जैसे कारणों से भी प्रभावित होती रहती है। हमारे देश में विशिष्ट साख नियन्त्रण की मुख्य कठिनाई असंख्य छोटे-छोटे बैंकों (विशेष कर अनुसूचित बैंक) की साख नीति को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में उत्पन्न होती है। इसके होते हुए भी इस प्रकार से साख नियन्त्रण हमारे देश की साख नीति में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

५. **अन्य उपाय :** साख नियन्त्रण के उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त रिज़र्व बैंक को बैंकिंग व्यवसाय के नियमन सम्बन्धी ऐसे अधिकार भी प्राप्त हैं जो बैंकों को रिज़र्व बैंक द्वारा निर्देशित नीति का पालन करने के लिए बाध्य करते हैं। इसके अन्तर्गत लाइसेन्स देने, प्रबन्ध करने, शाखा विस्तार का नियमन करने, निरीक्षण करने, अवसायन व विलीयन करने, आदि से सम्बन्धित अधिकार सम्मिलित हैं। भारतीय बैंकिंग कम्पनीज़ ऐक्ट के अधीन हर वह कम्पनी जो भारत में बैंकिंग व्यवसाय में भाग लेती है और जिसकी परिदत्त पूँजी (Paidup Capital) एवं वास्तविक मूल्य के कोष ५ लाख रुपयों के होते हैं (जिनका निर्धारण बैंक द्वारा उचित निरीक्षण के बाद होता है, बैंक की दूसरी सूची (scheduled) में सम्मिलित की

जाती है। प्रत्येक बैंक, विशेषकर अनुसूचित बैंक, प्रत्येक सप्ताह रिज़र्व बैंक को अपना आय-व्यय ब्योरा भेजता है जिनका एकीकरण कर रिज़र्व बैंक एक सामूहिक ब्योरा प्रकाशित करता है। इससे सभी लोगों को देश की मौद्रिक दशाओं का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। यदि कोई बैंक अपने आय-व्यय सम्बन्धी ब्योरा नहीं भेजता तो उसको १०० रु० प्रति दिन की दर से जुर्माना देना होता है। दोषी बैंक के संचालकों एवं अफसरों के ऊपर जुर्माना किया जाता है यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वे अपने दोषों को छुपाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसके अतिरिक्त, बैंकिंग व्यवसाय को स्वस्थ रखने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक प्रार्थी बैंक द्वारा प्रस्तुत की गई प्रतिभूतियों की प्रकृति की ओर ही ध्यान नहीं देता वरन् उसकी वित्तीय दशा, उसके व्यापार करने का ढंग, उसकी ऋण व विनियोग सम्बन्धी नीति आदि के विषय में भी अपने आपको संतुष्ट करता है। यह अधिनियम के आधीन आने वाली सभी बैंकों का समय-समय पर निरीक्षण करता है, उनको दोषों को सुधारने के उपाय बतलाता है तथा निक्षेपकर्त्ताओं के हितों की रक्षा करता है। उपयुक्त विधियों के साथ-साथ साख नियन्त्रण के लिए रिज़र्व बैंक अपने नैतिक प्रभाव को भी प्रयोग में लाता है। १९४९ में अवमूल्यन के पश्चात् रिज़र्व बैंक ने बैंकों से अनुरोध किया कि वे सट्टे के लिए ऋण न दें। जून १९५७ में उनसे यह फिर अनुरोध किया गया कि वे औद्योगिक वित्त की मात्रा को कम किए बिना कृषि वस्तुओं पर दिए जाने वाले अग्रिमों की मात्रा को कम कर दें। फरवरी १९५९ में एक पत्र के द्वारा बैंकों से यह कहा गया कि वे फसल के अवसर पर अपने अग्रिमों को कम करने का प्रयत्न करें। इन सब बातों का बैंकों की साख नीति पर अच्छा प्रभाव पड़ा है और रिज़र्व बैंक को उसमें समयानुसार परिवर्तन करने में सहायता मिली है।

रिज़र्व बैंक की साख-नियन्त्रण में सफलता : जैसा कि उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है, यद्यपि रिज़र्व बैंक साख-नियन्त्रण के सभी साधनों से सम्पन्न है पर इसे इस क्षेत्र में इतनी सफलता नहीं मिली है जितनी मिलना चाहिए थी। इसके मुख्य कारण इस प्रकार हैं : (१) हमारे देश में मुद्रा बाजार का संगठन दोषपूर्ण होने के कारण उसके विभिन्न अंगों में सम्पर्क एवं सहयोग का अभाव रहता है जिसके फलस्वरूप रिज़र्व बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावशाली नहीं हो पाई है। (२) देश में अव्यवस्थित बिल बाजार का विकास नहीं हो पाया है जिससे खुले बाजार की क्रियाओं का क्षेत्र सीमित रहा है। (३) बहुत प्रयत्न करने पर भी रिज़र्व बैंक देशी बैंकर्स पर नियन्त्रण नहीं कर सका है जिससे वे आधुनिक बैंकिंग व्यवस्था से अलग रहते हैं। (४) देश में बैंकों के पास नकद कोषों की अधिकता रहती है जिससे रिज़र्व बैंक पर उनकी निर्भरता कम हो जाती है और साख-नीति अधिक सफल नहीं हो पाती।

(५) देश की अर्थ-व्यवस्था में लोच का अभाव है जिससे बैंक दर के परिवर्तनों के साथ-साथ कीमतों, मजदूरी, ब्याज दरों आदि में परिवर्तन नहीं हो पाते ।

रिजर्व बैंक के वर्जित कार्य :

इसलिए कि रिजर्व बैंक अन्य बैंकों से किसी भी प्रकार प्रतिस्पर्धा न करने लगे, रिज़र्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट में कुछ ऐसे कार्यों का उल्लेख कर दिया गया था जिनको रिज़र्व बैंक नहीं कर सकता है । ऐसा इसलिए आवश्यक समझा गया क्योंकि रिज़र्व बैंक एक संयुक्त पूँजी वाली बैंकिंग संस्था के रूप में स्थापित हुई थी । यह कार्य इस प्रकार हैं :—

(१) रिज़र्व बैंक किसी भी प्रकार के व्यापार एवं वाणिज्य आदि में भाग नहीं ले सकता है;

(२) यह अचल सम्पत्ति पर ऋण नहीं दे सकता है;

(३) माँग पर शोधनीय विपत्रों के अतिरिक्त पत्रों को रिज़र्व बैंक न तो लिख सकता है, न स्वीकार कर सकता है और न भुना सकता है;

(४) रिजर्व बैंक को अपनी स्वयं की सुरक्षा के लिये अरक्षित ऋण देने का अधिकार नहीं है;

(५) यह कम्पनियों के अंशों को क्रय न तो कर सकता है और न उनकी प्रतिभूति पर ऋण दे सकता है;

(६) यह ब्याज देकर निक्षेप प्राप्त नहीं कर सकता ।

रिज़र्व बैंक की केन्द्रीय बैंक के रूप में सफलता :

उपरोक्त अध्ययन ने इस बात की पुष्टि होती है कि यद्यपि रिज़र्व बैंक की कार्य प्रणाली में कुछ दोष अवश्य रहे, पर जो आशायें उससे लगाई गई थीं उन्हें उसने काफी सीमा तक पूरा किया है तथा केन्द्रीय बैंक के रूप में वह काफी सफल हुआ है । बैंक की प्रमुख सफलतायें इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं :—

(१) **रिजर्व बैंक देश में ब्याज की दरों को नियन्त्रित करने में सफल हो सका है :** रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व बैंक-दर ७% से ९% के बीच रहती थी । इसके स्थापित हो जाने के बाद यह दर ३% निर्धारित हुई जो १९५१ तक उसी प्रकार बनी रही । मुद्रा स्फीति को नियन्त्रित करने के लिये यह १९५१ में ३½% कर दी गई । १९५७ में इसे बढ़ाकर ४% कर दिया गया, पर यह वृद्धि स्टाम्प ड्यूटी के बढ़ जाने के कारण आवश्यक हो गई । साख नियन्त्रण के उद्देश्य से इसे बढ़ाकर जनवरी १९६३ में ४½%, सितम्बर १९६४ में ५% तथा फरवरी १९६५ में ६% निश्चित कर दिया गया । यद्यपि विकासशील अर्थव्यवस्था के लिये सुलभ मुद्रा नीति अधिक सुविधाजनक होती है, पर कीमतों में स्थिरता बनाये रखना भी उतना ही जरूरी होता है । बैंक दर में हाल के परिवर्तन इसी उद्देश्य की पूर्ति के

लिये किये गये थे। इससे देश के ब्याज की दरों में सामयिक परिवर्तनों को कम किया जा सका है तथा उनको नियन्त्रित किया जा सका है।

(२) नोटों के निर्गमन कार्य का सफल संचालन : रिजर्व बैंक ने नोटों के निर्गमन का कार्य पूर्णतः सन्तोषजनक ढंग से किया है। नोट निर्गमन कोष में स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण पाट की मात्रा कभी भी १९५६ के पहले ४० करोड़ रुपये तथा उसके पश्चात् ११७·७ करोड़ रु० से कम नहीं होने पाई तथा रुपया-प्रतिभूतियाँ (Rupee securities) कुल देय धन का ⅕ से अधिक नहीं होने पाईं। इस कोष में मार्च १९६४ में ९९ करोड़ रुपया विदेशी मुद्रा के रूप में था। ३० जून १९६४ तक लगभग २३१० करोड़ रुपये के नोट निर्गमित किये जा चुके थे, जिनमें से २२९०·३१ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे एवं २०·२६ करोड़ रुपये के नोट बैंकिंग विभाग में सुरक्षित थे।

(३) रुपये की विनिमय दर में स्थायित्व : देश की विनिमय दर अथवा रुपये का विदेशी मूल्य को स्थिर बनाये रखने में रिज़र्व बैंक का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् १९२७ में रुपये की विनिमय दर १८ पेंस निश्चित की गई थी। १९४६ में जब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बना, उस समय उसी दर को आधार बनाते हुये रुपये का स्वर्ण मूल्य ०.२६८६०१ ग्राम घोषित किया गया। सितम्बर १९४९ में, इंगलैण्ड की भाँति, भारत ने भी उसी अनुपात में रुपये का अवमूल्यन कर स्वर्ण मूल्य ०.१८६६२१ ग्राम कर दिया। इस प्रकार रुपये का स्टर्लिंग में विनिमय दर उसी भाँति बना रहा, यद्यपि डालर के संदर्भ में यह परिवर्तित हो गया। इस प्रकार रिज़र्व बैंक ने विनिमय नियंत्रण के अनेक उपायों की कुशलतापूर्वक व्यवस्था कर के रुपये के विदेशी मूल्य में स्थायित्व लाने में सहायता की है।

(४) सार्वजनिक ऋणों की सु-व्यवस्था : सरकारी बैंकर के रूप में रिज़र्व बैंक ने सार्वजनिक ऋणों की कुशलतापूर्वक व्यवस्था की है। इसने केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को पर्याप्त मात्रा में तथा कम ब्याज पर ऋण दिलाने का प्रयास किया है। केन्द्रीय सरकार का कुल ऋण मार्च १९५१ में २५२३·४४ करोड़ (४९·८१ करोड़ विदेशी) रुपया, मार्च १९५६ में ३२०९·०८ करोड़ (१३८·८१ करोड़ विदेशी) रुपया, मार्च १९६१ में ६३२४·१८ करोड़ (८४६·२२ करोड़ विदेशी) रुपया, मार्च १९६३ में ७६९१·७१ करोड़ (१३७९·०३ करोड़ विदेशी) रुपया तथा मार्च १९६४ में ८७११·१६ करोड़ (१८०९·०८ करोड़ विदेशी) रुपया था। इसमें से लगभग ५५% सार्वजनिक (आन्तरिक) ऋण के रूप में, २०% ट्रेजरी बिल्स तथा १८% अल्प बचतों द्वारा प्राप्त किया गया। इनमें से अधिकतर ऋण ३½% व ४% ब्याज पर लिये गये हैं। राज्यों के ऋण मार्च १९६४ में ६५८·८६ करोड़ रुपये के थे जिसमें से ५.०८ करोड़ रुपये के ऋणों पर कोई ब्याज नहीं देना पड़ेगा। १९६३-६४ के

अन्त में केन्द्रीय सरकार की जमाएँ रिज़र्व बैंक के पास १९·० करोड़ रुपया (१९६२-६३ में १०९·९६ करोड़) तथा राज्य सरकारों की अधिविकर्ष २३·९७ करोड़ रुपया (१९६२-६३ में २·६१ करोड़) थे।

(५) **कृषि व्यवस्था में योगदान :** कृषि सम्बन्धी साख की समस्याओं को सुलझाने के लिये आरम्भ से ही रिज़र्व बैंक ने प्रयास किया पर यह प्रयास अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण रिपोर्ट १९५४ के प्रकाशित हो जाने के बाद विशेष रूप किये जा रहे हैं। नई योजना के अन्तर्गत अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने के उद्देश्य से रिज़र्व बैंक सहकारी संस्थानों को विशेष सुविधायें प्रदान करने में संलग्न है। इसी अभिप्राय से इसने दो कोष—राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष तथा राष्ट्रीय साख (स्थानीयकरण) कोष—स्थापित करने में सक्रिय कदम उठाया है। १९६३-६४ में राज्य सहकारी बैंकों ने ११८·२० करोड़ रुपया मौसमी कृषि कार्यों एवं फसलों के विपणन के लिये तथा २·२८ करोड़ रुपया गहन कृषि-सुधार योजनाओं के लिये रिज़र्व बैंक से बैंक-दर से २% कम ब्याज पर उधार ले रक्खा था। इसी प्रकार राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष में मार्च १९६४ में कृषि कार्यों के लिये रिज़र्व बैंक का ८·६३ करोड़ रुपया था।

(६) **बैंकों की बैंक के रूप में सफलता :** रिज़र्व बैंक की स्थापना के पश्चात् हमारी बैंकिंग व्यवस्था सुदृढ़ तथा सुव्यवस्थित हो गई है। यह अनेक प्रकार के बैंकों पर पर्याप्त नियंत्रण रख सका है तथा उनकी नीति को देश के आर्थिक हित में चलाने में सफल रहा है। यही कारण है कि इसके स्थापना के बाद फेल होने वाले बैंकों की संख्या कम हो गई। यह इस बात से स्पष्ट है कि १९६३-६४ में अनुसूचित बैंकों का रिज़र्व बैंक के पास जमा न्यूनतम कोष (७४·३३ करोड़) से १०·५५ करोड़ रुपया अधिक था जब कि १९५५-५६ में न्यूनतमकोष (४०·०९ करोड़) से ८·८१ करोड़ रुपया अधिक था। राज्य सरकारी बैंकों का भी ८० लाख रुपया अधिक (न्यूनतम १३४ लाख) जमा था। १९६३-६४ के अन्त में अनुसूचित बैंकों पर रिज़र्व बैंक का ८४·१६ करोड़ रुपये का तथा राज्य सरकारी बैंकों पर १३३·९८ करोड़ रुपये का ऋण था जब कि १९५०-५१ के अन्त में ये क्रमशः १२.४१ करोड़ एवं ३·४२ करोड़ रुपये थे।

(७) **साख नियन्त्रण के क्षेत्र में सफलता :** रिज़र्व बैंक विभिन्न विधियों के द्वारा देश में मुद्रा के साथ-साथ साख की मात्रा को बहुत कुछ नियन्त्रित कर सका है। यद्यपि यह नहीं बतलाया जा सकता है कि रिज़र्व बैंक को मुद्रा प्रसार की शक्तियों के प्रभाव को कम करने में कहाँ तक सफलता मिली है, पर ऐसा बिश्वास किया जाता है कि आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जो कदम जरूरी होंगे उन्हें उठाने में वह पीछे न हटेगा। पिछले कुछ वर्षों में जिस

प्रकार कीमतें बढ़ी हैं उससे यह प्रतीत होता है कि रिज़र्व बैंक द्वारा अन्य वित्तीय एवं मौद्रिक उपायों के साथ, इस दिशा में कठोर कदम उठाने की बड़ी आवश्यकता है।

(८) **औद्योगिक वित्त की व्यवस्था :** औद्योगिक वित्त की सुविधाओं को प्रदान करने में रिज़र्व बैंक ने बड़ा सराहनीय काम किया है। इसके सहयोग एवं पथ-प्रदर्शन से उद्योगों के लिये दीर्घकालीन ऋणों की व्यवस्था करने हेतु १९४८ में 'औद्योगिक वित्त निगम' की स्थापना हुई है। १९५२ से यह निगम के द्वारा अल्पकालीन साख देने लगा है तथा मध्यकालीन वित्त व्यवस्था के लिये 'पुनर्वित्त निगम' के स्थापित किये जाने पर जोर देने लगा, जो बाद में स्थापित किया गया। १९६१ में लघु उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं के संदर्भ में किये गये सर्वेक्षण से पता चला कि लघु उद्योगों के ऋण कुल अनुसूचित बैंकों के साख के २½% तथा सहकारी संस्थाओं के साख के १% से भी कम थे। विशेष प्रकार की सुविधाओं के साथ, रिज़र्व बैंक ने जनवरी १९६३ से ऐसे उद्योगों के लिये 'साख गारन्टी योजना' चलाई है।

(९) **ट्रेनिंग एवं शिक्षा की व्यवस्था :** रिज़र्व बैंक के संरक्षण में १९५४ में एक बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज स्थापित किया गया। व्यापारिक और सहकारी बैंकों के लिये कर्मचारी वर्ग की ट्रेनिंग, शिक्षा व संवर्धन करने की नीति के अन्तर्गत बैंक विभिन्न श्रेणियों के कर्मचारियों के लिये उपर्युक्त कोर्स चलाता रहता है। इस कालेज ने अब तक लगभग ३७ सीनियर कोर्स तथा ११ जूनियर कोर्स चलाये हैं, जिनसे ११७३ अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने लाभ उठाया है। इस कालेज की सुविधायें न केवल अननुसूचित बैंकों को सुलभ हैं पर ५ से २५ लाख तक के जमा वाले अनुसूचित बैंकों को भी प्राप्त हैं। १९६१ में रिज़र्व बैंक द्वारा आयोजित सेमिनार के सुझाव पर इस कालेज के एडवाइज़री काउन्सिल ने यह निर्णय लिये : (i) 'विदेशी विनिमय विषय' से सम्बन्धित एक विशेष कोर्स चलाया जाय, (ii) सीनियर कोर्स की अवधि बढ़ा दी जाय, तथा (iii) सीनियर कोर्स में औद्योगिक वित्त, स्टाफ प्रबन्ध एवं बैंक-अग्रिम विषय बढ़ा दिये जायें। इस प्रकार रिज़र्व बैंक ट्रेनिंग व प्रशिक्षण का समुचित प्रयास कर रहा है।

(१०) **पंचवर्षीय योजनाओं का कुशल अर्थ प्रबन्धन :** पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में अपनाये जाने वाले विकास-कार्यक्रमों के लिये वित्तीय व्यवस्था करने में भी रिज़र्व बैंक का योगदान महत्वपूर्ण है। इन कार्यक्रमों पर व्यय करने के लिये केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों के लिये इसने वित्त की समुचित व्यवस्था की है। इसी के माध्यम से हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) का सरकार ने सहारा लिया है, यद्यपि इसके फलस्वरूप बढ़ने वाली कीमतों की प्रवृत्ति सभी के लिये एक चिन्ता का विषय बन गई है।

(११) बैंकिग पर समुचित नियन्त्रण के लिये बैंकिग विधान का निर्माण : १९३४ के रिज़र्व बैंक ऐक्ट के अन्तर्गत बैंकिग को सुदृढ़ बनाने तथा सुव्यवस्थित ढंग से चलाने के लिये रिज़र्व बैंक को जो अधिकार मिले थे, वे पर्याप्त तो थे पर मुद्रा बाजार के असंगठित होने के कारण अधिक प्रभावशाली नहीं थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इसने सरकार को बैंकिग विधान के बनाने एवं उसमें संशोधन करने की सलाह दी। १९४९ में एक बैंकिग विधान का निर्माण किया गया (जिसमें बाद में कुछ संशोधन भी किये गये), जिससे रिज़र्व बैंक को निरीक्षण एवं नियन्त्रण सम्बन्धी विशेषाधिकार मिले। अब यह किसी भी बैंक अथवा सम्पूर्ण बैंकिग प्रणाली की ऋण-नीति का निर्धारण कर सकता है तथा आदेशों के उल्लंघन करने वाले बैंक के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। बैंकिग संस्थाओं का समय-समय पर निरीक्षण करके तथा आर्थिक समय में उनकी सहायता करके इसने जो उनका सहयोग प्राप्त किया है उससे बैंकिग व्यवस्था के दोष शनैः शनैः दूर होते जा रहे हैं।

(१२) धन के हस्तान्तरण एवं समाशोधन गृह की सुविधायें : रिज़र्व बैंक ने केन्द्रीय व राज्य सरकारों, जनता, अनुसूचित बैंकों, सहकारी साख संस्थाओं, तथा अननुसूचित बैंकों (विशेष शर्तों पर) को धन की, एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत न्यूनतम दरों पर हस्तांतरित करने तथा भुगतान सम्बन्धी आपसी समझौते कराने की सुविधायें प्रदान की हैं। इसके अभाव में इस प्रकार की कुशल सुविधाओं की आशा नहीं की जा सकती थी।

(१३) अनुसंधान तथा प्रकाशन करना : रिज़र्व बैंक के अनुसंधान एवं सांख्यिकी विभाग ने मुद्रा, साख, कृषि उत्पादन लाभांश, ब्याज की दर, मुद्रा-बाजार आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर आवश्यक अनुसंधान करके समय-समय पर तत्सम्बन्धित आँकड़ों को प्रकाशित किया है। इससे सभी को अर्थव्यवस्था के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिली है।

रिजर्व बैंक की सफलता का लेखा-जोखा करने से पता चलता है कि वह सरकार के प्रतिनिधि, बैंकर तथा सलाहकार के रूप में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है; उसने देश में साख सम्बन्धी क्रियाओं को देश के आर्थिक हितों के अनुरूप व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है तथा भुगतान व समाशोधन गृहों की सेवा सुलभ की है। पर अनेक दिशाओं में यह असफल अथवा अपेक्षाकृत शिथिल रहा है जिससे इसके कार्यान्वियन के विरुद्ध कई आरोप लगाए जा सकते हैं।

सर्वप्रथम, **देश की मुद्रा एवं साख नति पर विचार करने से पता चलता हैं कि मुद्रा के मूल्य पर उचित नियन्त्रण रखने में रिजर्व बैंक सफल नहीं रहा है।** योद्धोत्तर काल में तो स्फीतकारी दशाओं के फलस्वरूप कीमतें बढ़ती रहीं, पर योजनाबद्ध विकास होते हुए भी कीमतों के बढ़ने की वर्तमान प्रवृत्ति चिन्ता का विषय

बन गई है। १९५२-५३ से १९५५-५६ तक कीमतों में स्थिरता बनी रही पर उसके पश्चात् कीमतों में वृद्धि ऐसी तेजी से होने लगी कि १९६१-६२ के अन्त में निर्देशांक १२२·९ (आधार १९५२-५३ = १००) हो गया। रिज़र्व बैंक द्वारा अनेक उपायों के अपनाये जाने पर भी १९६२-६३ के अन्त में निर्देशांक १२७·४ तथा १९६३-६४ के अन्त में १३१·३ पहुँच गया। १९६४-६५ एवं उसके पश्चात् कीमतों के बढ़ने की गति तो और भी तेज हो गई। इसका प्रभाव यह हो रहा है कि देश की मध्यम वर्गीय जनता की वास्तविक आय दिन प्रति दिन कम होती जा रही है। पर रिज़र्व बैंक के समर्थक यह बतलाते हैं कि यदि रिज़र्व बैंक सक्रियता से मुद्रा एवं साख नियन्त्रण की नीति न अपनाता तो सरकार की राजकोषीय नीति (जिसके माध्यम से योजना कार्यान्वियन के लिए निरन्तर अधिक मुद्रा चलन में डाली गई है) से मुद्रा-स्फीति और भी अधिक होती।

दूसरे, **रिज़र्व बैंक रुपये के विदेशी मूल्य को स्थिर रखने में असफल रहा है**। यद्यपि वैधानिक रूप से रुपये की विनियम दर १३·३३ रु० प्रति पौण्ड रही, भारतीय रुपये की खुले बाजार की दर १९६१ में १५-१८ रु० प्रति पौण्ड, १९६२ में २०-२१ रु० प्रति पौण्ड तथा १९६३ व १९६४ में इसे और भी अधिक हो गई। इसके मुख्य कारण असंतुलित भुगतान शेष, विदेशी विनिमय की चोरी तथा स्वर्ण का तस्कर व्यापार हैं। यहाँ के व्यापारी कम राशि के निर्यात-बिलों को बनाकर (under invoicing) तथा अधिक राशि पर आयात-बिलों को बनवाकर (over-invoicing) अतिरिक्त आय प्राप्त करते हैं, जो विदेशी मुद्रा के रूप में अन्य देशों में व रुपये के रूप में अपने पास चोरी से रखते हैं। एक अनुमान के अनुसार लगभग १००० करोड़ रुपये वार्षिक का विदेशी विनियम इस प्रकार रखा जाता है। सरकार एवं रिज़र्व बैंक दोनों को राजकोषीय तथा मौद्रिक नीतियों के सहयोग से मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

तीसरे, **रिजर्व बैंक देश की बैंकिंग प्रणाली को सुसंगठित करने तथा इस पर पूर्ण नियन्त्रण रखने में अभी तक सफल नहीं हो पाया है**। इस असफलता का कई पहलुओं से अध्ययन करना आवश्यक है : बैंकों का निरीक्षण, बैंकों के लिये लाइसेंस नीति तथा बैंकों की असफलता। देश की बैंकिंग प्रणाली को सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित करने के लिए रिज़र्व बैंक को निरीक्षण, नियमन, निर्देशन तथा विलीयन सम्बन्धी अधिकार दिये गये हैं। आलोचकों का यह मत है रिज़र्व बैंक के अधिकांश निरीक्षण केवल नैत्यक (Routine) होते हैं, तथा निरीक्षण के फलस्वरूप किसी बैंक की कार्य-विधि अथवा अर्थ-नीति में जो दोष प्रकट होते हैं उन्हें दूर करवाने में रिजर्व बैंक प्रायः असफल रहा है। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि सन् १९५४ से लगभग ३०० बैंक बन्द हुये।[1] यहाँ तक कि सन् १९६० के उत्तरार्द्ध और उसके पश्चात् क्लाई

1—Statsitical Tables relating to Banks in India, 1961. ps. 40-41.

सेन्ट्रल बैंक एवं लक्ष्मी बैंक (अकोला) के अतिरिक्त कम से कम दस और अनुसूचित बैंक असफल हुए हैं। यह ऐसी स्थिति है जिसके दायित्व से रिज़र्व बैंक को अलग नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि रिज़र्व बैंक ने दुर्बल बैंकों को बड़े बैंकों में मिलाने की नीति अपना रखी है। निश्चय ही ऐसी नीति की देश को बड़ी आवश्यकता है।

चौथे, भारतीय मुद्रा बाजार को संगठित करने में भी रिज़र्व बैंक को पर्याप्त सफलता नहीं मिली है। यह मुद्रा-बाजार की विभिन्न साख संस्थाओं में आवश्यक सहयोग स्थापित नहीं कर पाया है और स्वदेशी बैंकर्स, जो भारतीय मुद्रा बाजार का एक महत्वपूर्ण अंग हैं, पर रिज़र्व बैंक प्रत्यक्ष एवं सप्रभावी नियंत्रण नहीं स्थापित कर सका है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि श्राफ कमेटी (Shroff Committee) ने देशी बैंकर्स को संगठित मुद्रा बाजार में सम्मिलित करने तथा रिज़र्व बैंक के साथ उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में कई रचनात्मक सुझाव दिये थे, परन्तु रिजर्व बैंक ने उन सबको ठुकरा दिया। यद्यपि 'सहकारी बैंकिंग' के प्रोत्साहन हेतु रिज़र्व बैंक ने सक्रिय कदम उठाये हैं, यह कृषि-साख की समुचित व्यवस्था नहीं कर सका है। इसका मुख्य कारण कृषि-साख के प्रदायकों पर उचित नियन्त्रण का अभाव है।

अन्त में, **रिज़र्व बैंक देश में समुचित बिल-बाजार के विकास करने में भी असमर्थ रहा है।** एक अच्छे बिल बाज़ार के अन्तर्गत ऐसे डीलर्स का होना आवश्यक होता है जो सदैव बिलों के क्रय-विक्रय करने को तत्पर रहते हों तथा वास्तव में उनका क्रय-विक्रय होता हो। जनवरी १९५२ से देश में एक 'बिल बाजार योजना' चालू की गई पर उसके अन्तर्गत एक सुसंगठित बिल बाजार का निर्माण नहीं हो सका है। इसका मुख्य कारण देश के बैंकों द्वारा अपने जमाओं के काफी बड़े अनुपात में नकद रखने की नीति है। बैंक केवल अपने ग्राहकों को अपनी नकद-साख या ऋणों का एक भाग बिलों में परिणित करने के हेतु प्रेरित करते हैं और फिर ऐसे बिलों को आवश्यकता पड़ने पर रिज़र्व बैंक से भुना लेते हैं।

अत: रिज़र्व बैंक को यद्यपि अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में पर्याप्त सफलता नहीं मिली है, पर इसने इस प्रकार अपने कार्यों को सम्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है जिससे यह कहा जा सकता है कि देश में आर्थिक स्थायित्व एवं मौद्रिक नीति के निर्देशन के क्षेत्र में एक नया युग आ गया है। योजनाबद्ध विकास के संदर्भ में इससे भविष्य में बड़ी आशा की जा सकती है।

निर्देश पुस्तकें :

Deshmukh C. D. : Central Banking in India.
Iyengar H. V. R. : Evolution of Central Banking in India.
Reserve Bank of India, its functions and working.
Reserve Bank of India—Annual Reports.
Reserve Bank of India—Trends and Progress of Banking in India.

अध्याय २०

विकास-वित्त के पहलू
(Aspects of Development Finance)

संसार को, लोगों के रहन-सहन के स्तर के आधार पर पूर्ण-विकसित, अपूर्ण-विकसित तथा अर्द्ध-विकसित एवं पिछड़े क्षेत्रों में वर्गीकृत किया जा सकता है। यह वर्गीकरण अनेक तरीकों से किया जा सकता है। अर्द्धविकसित क्षेत्रों का पता लगाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय प्रति-व्यक्ति आय की तुलना दूसरे क्षेत्रों से करना है। इससे विचारधीन क्षेत्रों के रहन-सहन के तुलनात्मक स्तरों का पता लगता है। किसी देश के आर्थिक विकास की उपलब्धियों के स्तरों का पता लगाने का दूसरा तरीका यह है कि उस राष्ट्र के लोगों की कुल मशीनी-शक्ति ज्ञात की जाय। पिछड़े क्षेत्रों का पता लगाने का एक तरीका यह भी है कि विभिन्न क्षेत्रों के कृषि उत्पादनों के अन्तर को देखा जाय। ऐसा इसलिये है कि क्योंकि किसी देश के आर्थिक दृष्टि से विकसित होने की क्षमता, अर्थ-व्यवस्था के विकास शील क्षेत्रों के लोगों के लिये पर्याप्त खाद्य पदार्थों के उत्पादन करने की क्षमता, पर निर्भर होता है। इन सब विभिन्न बातों पर विचार करने पर संसार को हम, इस दृष्टि से, तीन समूहों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम समूह में पूर्ण-विकसित अर्थ व्यवस्थाओं को, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियट रूस, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि, रखा जा सकता है। द्वितीय समूह में आंशिक रूप से पूर्ण-विकसित राष्ट्रों को, जैसे फिनलैण्ड, आस्ट्रिया, इटली आदि, रखा जा सकता है। तीसरे समूह में भारत, दक्षिणी-अमेरिका के देश, बर्मा, इण्डोनेशिया आदि जैसे देशों को रखा जा सकता है और इन्हें अर्द्ध-विकसित क्षेत्र बतलाया जा सकता है। अन्त-र्राष्ट्रीय दृष्टि से पिछड़े एवं अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों का आर्थिक विकास न केवल इस दृष्टि से आवश्यक होता है कि उस क्षेत्र के लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊपर उठे, बल्कि इसकी आवश्यकता संसार की अर्थव्यवस्थाओं में एक प्रकार का सन्तुलन लाने की दृष्टि से भी है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में आय के अधिक सम-वितरण के द्वारा यह सम्भव है।

राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारणों से ही कोई क्षेत्र अर्ध विकसित या आर्थिक विकास की दृष्टि में पिछड़ा रह जाता है। राजनैतिक कारणों में से सब से प्रमुख कारण वह होता है जब राजनैतिक स्थिरता जबरदस्ती लादी जाती है या

जब सरकार उस क्षेत्र के आर्थिक कल्याण की ओर ध्यान नहीं देती। ऐसी परिस्थिति साधारणतया 'विदेशी अधिपत्य' में होती है। अनेक कारणों से सामाजिक कारक भी किसी क्षेत्र के अर्धविकसित होने के लिये उत्तरदायी होते हैं। अधिकांश अर्द्धविकसित देशों की पिछड़ी हुई सामाजिक व्यवस्था ही, सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण के निम्न स्तर के लिये जिम्मेदार होती है। ऊपर का वर्ग, जिसमें साधारणतया छोटे पूँजीपति, स्वेच्छाचारी और भ्रष्ट वर्ग सम्मिलित किये जा सकते हैं, निचले वर्ग का शोषण कर समाज में अपना स्थान बनाये रखते हैं। इस सामान्य व्यवस्था के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर दूसरी सामाजिक व्यवस्था भी होती है जो जाति-प्रथा पर आधारित रहती है, जो श्रम की गतिशीलता (स्थानान्तरण) में बाधक बन कर देश की आर्थिक प्रगति में अड़चन उत्पन्न करती है। श्रम की गतिशीलता एवं उत्पादन में विनियोजन के ऊपर परिवार प्रथा का भी बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। परन्तु इन सब सामाजिक कारणों में जनसंख्या का सर्वाधिक प्रभाव होता है। अधिकांश अर्द्ध-विकसित देशों में उत्पादन के वर्तमान स्तर पर जनसंख्या के अत्यधिक दबाव के कारण प्रति व्यक्ति आय (per capita income) अत्यन्त कम है और जब तक जनसंख्या में, बिना उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि हुए वृद्धि होती जायेगी तब तक यह कठिन समस्या बनी रहेगी। आर्थिक कारकों में, अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों की सबसे कठिन आर्थिक समस्या अपर्याप्त उत्पादन की होती है। भूमि पर श्रम एवं पूँजी के अधिक उपयोग तथा सह-कार्य से ही आर्थिक गति की तीव्रता के परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ सकता है। अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में भूमि उपयोगहीन पड़ी रहती है और श्रम की बहुलता रहती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थाओं में पूँजी, जो कि समाज के एक छोटे से वर्ग के हाथ में होती है, का कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार, अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था में राजनैतिक तथा सामाजिक बाधाओं को दूर कर तथा श्रम की उत्पादकता बढ़ा कर ही आर्थिक विकास संभव होता है। इससे बचत में वृद्धि होगी जिससे पूँजी का एकत्रीकरण संभव होगा और परिणामस्वरूप आर्थिक विकास किया जा सकता है।

विकास के विविध पहलू:

अर्द्ध-विकसित देशों में आर्थिक विकास के लिये उपयुक्त नीति के अपनाने में अनेक आर्थिक कारकों को ध्यान में रखना होता है। वे कारक इस प्रकार हैं:—

(१) कृषि उत्पादन में वृद्धि;

(२) सरकार द्वारा आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं का निर्माण, तथा;

(३) औद्योगीकरण की आवश्यकतायें।

(१) **कृषि उत्पादन में वृद्धि :** अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यस्थाओं में जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि में लगा रहता है। ऐसा दो मूलभूत कारणों से होता है। प्रथम,

लोग जीविकोपार्जन के लिए भूमि पर कार्य करते हैं और दूसरे रोजगार के दूसरे साधन उन्हें कठिनाई से ही उपलब्ध हो पाते हैं। इन परिस्थितियों में, दो समस्याओं को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास की प्रक्रिया का अनुसरण करना होता है। एक तो विकासशील उद्योगों तथा गैर-कृषि व्यवसायों में रोजगार के अतिरिक्त साधन उपलब्ध करने होते हैं ताकि अतिरिक्त खेतिहर मजदूरों को काम मिल सके और कृषि पर उनकी सीधी निर्भरता कम हो सके। दूसरे, विकास की क्षमता को बढ़ाना होता है जिसमें कृषि क्षेत्र के श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाने के तरीके, प्रणालियाँ एवं कार्यक्रम सम्मलित हैं। ऐसी परिस्थितियों में अन्तिम लक्ष्य, न केवल देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाना होता है बल्कि औद्योगिक क्षेत्र में कच्चे माल की माँग की पूर्ति की ओर भी ध्यान देना होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राज्य को कृषि शिक्षा (जिसमें अनुसन्धान सम्मिलित है) की व्यवस्था करने, भूमि कानूनों को बदलने (ताकि कृषि उत्पादक को प्रोत्साहन प्राप्त हो) तथा कृषि प्रणाली में सुधार की दृष्टि से अन्य सुविधाओं की व्यवस्था करने की दिशा में, सक्रिय कार्य करना होता है। इन उपायों से कृषि में क्रान्तिकारी सुधार होते हैं और अतिरिक्त कृषि-श्रमिक (surplus agricultural labour) उपलब्ध होते हैं जिन्हें उद्योगों तथा अन्य दूसरे प्रकार की आर्थिक कार्यवाहियों में लगाना होता है।

(२) **सामाजिक या आर्थिक सेवाओं का निर्माण :** अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों के विकास के लिए न केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि और जनसंख्या को कृषि की ओर आकृष्ट करना आवश्यक होता है बल्कि इसके लिए आवश्यक सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं, जैसे-शिक्षा एवं स्वास्थ्य की सुविधाएँ, यातायात व्यवस्थाएँ, विद्युत उत्पादन संयन्त्र आदि, का भी व्यवस्था करना आवश्यक होता है। जब तक इन सुविधाओं को उपलब्ध नहीं किया जायेगा तब तक कृषि सुधार संभव नहीं है। परन्तु इस प्रकार सुविधाओं के विकास में वित्तीय भार बहुत अधिक होता है और कम से कम कुछ अवधि तक तो इसका कोई प्रतिफल नहीं मिलता। अर्द्ध-विकसित देशों में बड़े विनियोग जैसे परिवाहन, सिंचाई तथा विद्युत आदि साधारणतः पूंजीपतियों द्वारा नहीं किये जाते, क्योंकि इससे तुरन्त कोई लाभ नहीं होता जो कि निजी विनियोजक का एक मात्र लक्ष्य होता है। अतएव, ऐसी परिस्थितियों में सरकार का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह एसे कामों में विनियोजन (investment) करे जो ऐसी सामाजिक पूंजी के लिए मूल भूत रूप से आवश्यक हों और साथ ही उसे निजी साहसियों को प्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचानी चाहिए।

(३) **औद्योगिक विकास :** कृषि में सुधार होने तथा न्यूनतम सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं (सामाजिक पूंजी) की व्यवस्था होने के बाद भी औद्योगीकरण की

प्रक्रिया, जो कि विकासशील अर्थव्यवस्था की आधारशिला है, अनेक कारणों पैसे देश के प्राकृतिक साधनों तथा मानवीय साधनों पर निर्भर होती है। यदि किसी अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में कच्चे माल जैसे कोयला, तेल लोहा आदि पर्याप्त हो या उसके पर्याप्त पूर्ति की गारन्टी हो तो औद्योगिक विकास सरल और अवश्यम्भावी हो जाता है। परन्तु जहाँ एसे साधन उपलब्ध नहीं होते, औद्योगिक विकास में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त विकास शील अर्थ-व्यवस्था में औद्योगीकरण की प्रक्रिया, मानवीय साधनों पर भी बहुत निर्भर होती है। जिस देश के पास मशीन दिमाग से युक्त तथा सचेत-श्रम-शक्ति होती है, वही देश अपनी-आर्थिक प्रगति के लिए प्राकृतिक साधनों के भरपूर कोषों को अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से काम में ला सकता है। श्रम-शक्ति को मशीनी दिमाग से युक्त तथा सचेत बनाने में, सामाजिक-आर्थिक रचना का बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है इसलिए यह आवश्यक है कि विकसित देशों में अपनाये गये तरीकों को अर्द्ध-विकासित देशों के उपयुक्त उनमें संशोधन और सुधार कर के देशों के विकास में उनका प्रयोग किया जाना चाहिए जिससे देश का आर्थिक विकास तेजी से हो सके। मानवीय साधनों से सम्बन्धित दूसरी समस्या जनसंख्या की होती है क्योंकि अर्द्ध-विकसित देशों की जनसंख्या की वृद्धि इस तेजी से होती है कि उनके द्वारा की गई आर्थिक प्रगति का प्रभाव अनुकूल पड़ने के बजाय प्रतिकूल होता जाता है। इस प्रकार, आर्थिक विकास के हित में नियोजित परिवार की नीति के अपनाये जाने का बहुत महत्व होता है। यहाँ तक अतिरिक्त कृषि जनसंख्या को उद्योगों में लगाने का प्रश्न है, इस प्रक्रिया में अर्द्ध-विकसित राज्यों में शीघ्र समयोजन नहीं हो पाता और जहाँ जनसंख्या की बृद्धि की दर अधिक होती है वहाँ तो यह समस्या और भी गंभीर हो जाती है।

विकास योजनाओं के लिये धन की व्यवस्था :

अर्द्ध विकसित देशों द्वारा आर्थिक विकास के समय जिन धन सम्बन्धी कठिनाइयों का अनुभव किया जाता है उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है: (क) पूंजी की आवश्यकता; (ख) पूँजी के साधन; तथा (ग) भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी समस्यायें।

(क) पूंजी की आवश्यकता :

विकास के विभिन्न पहलुओं के लिये, जिनका संक्षिप्त विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, पूंजी की आवश्यकता होती है। सर्वप्रथम, कृषि के 'पुर्नसंगठन एवं पुर्नजीवन' के लिये पूंजी की बड़ी आवश्यकता होती है। दूसरे, पर्याप्त सामाजिक पूंजी या विभिन्न सामाजिक तथा आर्थिक सेवाओं की व्यवस्था करने के लिये भी पूंजी की काफी आवश्यकता होती है। अन्त में, प्राकृतिक साधनों के प्रभावशाली प्रयोग तथा मौलिक-भारी-उद्योगों के निर्माण के लिये, अत्यन्त आवश्यक खर्चों को पूरा करने के लिये, विशेष प्रकार एवं पर्याप्त मात्रा में धन की आवश्यकता होती है।

(ख) पूंजी के साधन :

विकासकीय वित्त व्यवस्था के साधनों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। (१) आन्तरिक साधन; (२) घाटे की वित्त व्यवस्था; तथा (३) विदेशी सहायता। उनकी विवेचना नीचे की गई है।

१. आन्तरिक साधन :

इसमें बचत के द्वारा किये गये **निजी विनियोजन,** तथा **करारोपण** एवं **सार्वजनिक ऋण** के द्वारा सार्वजनिक विनियोजन सम्मिलित हैं।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि अर्द्धविकसित देश में जनसंख्या के एक थोड़े भाग के पास पूंजी रहती है और यह वर्ग सामाजिक और आर्थिक सेवाओं के विकास में अपना धन लगाने के लिये कभी तैयार नहीं होता। वे केवल उपभोक्ता सामग्रियों का उत्पादन करने वाले उद्योगों में धन लगाने को तैय्यार रहते हैं पर ऐसा वे तभी करते हैं जब श्रमिकों की मौद्रिक आय एवं उसके फलस्वरूप उनकी माँग बढ़ जाती है। **निजी विनियोजन** (Private investment) लोगों की बचतों के मात्रा पर निर्भर करता है। अर्द्धविकसित एवं अविकसित देश में जनसंख्या के अधिकांश भाग में बचतें या तो बहुत कम होती हैं और या होती ही नहीं। ऐसे देश में निर्धनता का एक दूषित चक्र चलता रहता है; अर्थात् आय कम होने से बचतें कम होती हैं, पूंजी का निर्माण कम होता है, उत्पादन-शक्ति कम होती है जिसके फलस्वरूप आय और भी कम हो जाती है। नीची आय के कारण नागरिकों की क्रय-शक्ति कम हो जाती है जिससे वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग कम होने लगती है, विनियोजन हतोत्साहित होता जाता है, उत्पादन गिरता जाता है जिससे आय और भी कम होती जाती है। इस कारण बीमा या राष्ट्रीय बचत-प्रमाण-पत्रों के द्वारा अत्यधिक लाभ प्राप्त होने के प्रलोभन का प्रभाव भी अर्द्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में नगण्य होता है। इस चक्र के रोकने का एक मात्र उपाय पूंजी-निर्माण की गति का बढ़ाया जाना है, जो सुरक्षित एवं लाभप्रद उपक्रमों में व्यक्तिगत विनियोग या अन्य उपक्रमों में सार्वजनिक विनियोग बढ़ाकर और फिर बढ़ी आय से बचतों को प्रोत्साहित करके ही हो सकता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि बचत का अर्थ यह नहीं होता कि लोग अपने उपभोग को कम करके आय के शेष भाग को अपने पास जमा (hoarding) करें। बचतों से हमारा अभिप्राय बची हुई राशि के विनियोजन, जैसे बैंक में जमा करने, से होता है। पर उत्पादकता की वृद्धि के कारण जब लोगों की आय बढ़ जाती है तो ऐसी अर्थव्यवस्था में लोग प्राय: कंजूसी करने के स्थान पर आराम प्राप्त करने में अपने बढ़ी आय को खर्च करने लगते हैं, जिससे विकास की अवधि में अतिरिक्त बचतों की सम्भावनायें कम होती जाती हैं। इससे न केवल निजी-विनियोजन में बाधा पहुँचती है, बल्कि देश के भीतर ऋण प्राप्त करने में भी कठिनाई होने

लगती है। ऐसा विशेषकर विकास की प्रारम्भिक अवस्था में होता है। इस प्रकार अर्द्ध-विकसित एवं अविकसित अर्थव्यवस्थाओं में 'निजी विनियोजन' के बढ़ाये जाने की सम्भावनायें सीमित ही होती हैं।

आन्तरिक स्रोत के दूसरे साधन सार्वजनिक विनियोजन के लिये कर-आय एवं सार्वजनिक ऋण (आन्तरिक) हैं। अर्द्ध-विकसित एवं अविकसित देश में सरकार विनियोजन सम्बन्धी अपने खर्चों को पूरा करने के लिये, करारोपण का सहारा ले सकती है और समाज को पूंजीगत वस्तुएँ व सेवाएँ प्रदान कर सकती है। कर देने की क्षमता के दृष्टिकोण से देश में कर का अधिकांश भार अचल सम्पत्ति वाले व भूमिपतियों तथा छोटे पूँजीपति-वर्ग पर ही पड़ना चाहिये। परन्तु विकास के कारण इस वर्ग का लोप होने लगता है अतएव इस स्रोत से आय भी कम होने लगती है। ऐसी अवस्था में सरकार साधारण नागरिकों को, जिनकी आय विकास के कारण बढ़ती जाती है, उपभोग को घटाने के हेतु बाध्य करके उनसे अनिवार्यत: बचतें करों के रूप में प्राप्त कर सकती है। पर करारोपण का लोगों में काम करने व बचाने की इच्छा एवं शक्ति तथा आय के वितरण पर प्रभाव पड़ता है। करारोपण से नागरिकों के काम करने व बचाने की शक्ति एवं इच्छा पर हेय प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये, अन्यथा परिणाम घातक सिद्ध हो सकते हैं। अधिक करारोपण से नागरिकों की अपनी नितांत आवश्यक वस्तुओं का भी उपभोग कम करना पड़ सकता है, जिससे उनके उत्पादन-शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, जो उनके विनियोजन एवं बचत करने की शक्ति पर बुरा प्रभाव डाल सकता है। अत: अर्द्धविकसित एवं अविकसित क्षेत्रों में कराधान (Taxation) की एक सीमा होती है। ऐसे देशों में करारोपण की नीति ऐसी होना चाहिये कि एक ओर सरकार को अधिक से अधिक धन प्राप्त हो सके तथा बचतें व विनियोग हतोत्साहित न हों और दूसरी ओर उपभोग व उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ समाज में आर्थिक विषमता उत्पन्न न हो जाये। विकासशील अर्थव्यवस्था में प्रत्यक्ष करारोपण के स्थान पर अप्रत्यक्ष करारोपण अधिक उपयुक्त होता है। देश से निर्यात की जाने वाली प्रमुख वस्तुओं पर निर्यात कर तथा देश में आयात होने वाली महत्वपूर्ण विदेशी वस्तुओं पर आयात कर ही कराधान के मुख्य साधन होते हैं।

आन्तरिक साधनों में **सार्वजनिक ऋणों** का भी महत्वपूर्ण स्थान होता है। अविकसित एवं अर्द्धविकसित देशों में सरकारें व्यक्तिगत बचतों का सहारा लेकर, सार्वजनिक विनियोगों के लिये लोगों से उनके बचतों को उधार लेती हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ऐसे क्षेत्रों में बचतों की बहुत कमी होती है और जो कुछ होती भी है वह समाज के एक वर्ग के पास सीमित रहती है। अत: प्रारम्भ में सरकारों को ऋण मिलने की सम्भावनायें काफी सीमित रहती हैं। पर जैसे-जैसे

विकास होने के फलस्वरूप लोगों की आय बढ़ती जाती है, यह सम्भावनायें भी बढ़ती जाती हैं, यदि लोग बढ़ी आय के एक भाग को बचतों में परिवर्तित करते जाते हैं। फिर भी बचतों का ऋणों के रूप में मिलना अनेक बातों पर निर्भर करता है। इनमें मुख्य यह हैं: (i) ऋणों पर दी जाने वाली ब्याज की दर, (ii) ऋणों को इकट्ठा करने वाली संस्थायें, एवं (iii) सरकार तथा उसकी ऋण-आदेय क्षमता पर जनता का विश्वास। इस प्रकार विकासशील अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक ऋणों के प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक होता है कि देश में ऐसी संस्थायें स्थापित की जायें जो व्यक्तिगत बचतों को ऋण के रूप में सरकार की ओर से प्राप्त करें, ब्याज की दर को आकर्षक बनाया जाय, लाटरी जैसी पद्धति पर ऋण-जमाओं पर इनाम देने की व्यवस्था अपनाई जाय, सरकार एवं उसके ऋण-आदेय क्षमता पर लोगों में विश्वास उत्पन्न कराया जाय तथा जनता को मुद्रा-प्रसार के भय से मुक्त रखा जाय। इतना सब होते हुये भी, कभी-कभी निम्न आय-स्तर, बढ़ी आय के फलस्वरूप बढ़े उपभोग, लोगों में बचतों को स्वर्ण व अचल सम्पत्ति में बदलने की रुचि तथा विकसित वित्तीय बाजार के अभाव आदि कारणों से ऐच्छिक बचतों के रूप में वांछनीय राशि एकत्रित नहीं हो पाती। ऐसी दशा में आर्थिक-विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों को पूरा करने के लिये सरकार 'अनिवार्य बचत योजना' चालू करती हैं। पर ऐसी योजना प्रायः विकास का एक निश्चित स्तर प्राप्त करने के पश्चात् ही सफल हो पाती है।

कुछ लोगों का विचार है कि आन्तरिक साधनों में **सार्वजनिक साधनों के अतिरेक** का भी काफी महत्व होता है। पर ऐसा विचार ठीक नहीं कहा जा सकता। समाजवादी तथा साम्यवादी देशों के अतिरिक्त पूँजीवादी देशों में सार्वजनिक-क्षेत्रीय उपक्रम सरकार की आय का महत्वपूर्ण स्रोत नहीं होता है। इसके अतिरिक्त एक विकसित अर्थव्यवस्था में ही सार्वजनिक उपक्रम, अर्थव्यवस्था के किसी भी अन्य क्षेत्र की तरह, साधनों को विकास की ओर स्थानान्तरित करने की दिशा में महत्वपूर्ण भाग लेते हैं।

२. हीनार्थ-प्रबन्धन अथवा घाटे की वित्त-व्यवस्था :

जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है, किसी भी अर्द्ध-विकसित या अविकसित अर्थव्यवस्था में साधारणतया आन्तरिक ऋण एवं करोरापण विकास-वित्त व्यवस्था के लिये पर्याप्त साधन नहीं होते। ऐसी परिस्थिति में अर्ध-विकसित देशों की सरकारें प्रायः ऐसे सार्वजनिक निर्माण कार्य-क्रमों के लिये हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit financing) द्वारा धन की व्यवस्था करती हैं जो मूलभूत से सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जरूरी होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार जनताकी कुल क्रय-शक्ति को यथावत् बनाये रखने के लिये जानबूझ कर घाटे का बजट बनाती है। पश्चिमी देशों में हीनार्थ प्रबन्धन का आशय सरकार द्वारा पूँजीगत व्यय को सम्मिलित करते हुये, जिसमें आय

शब्दों में, जब सरकार का व्यय उसकी आय से अधिक हो जाता है (अर्थात् सरकार को जितनी आय प्राप्त होती है उससे अधिक मात्रा में व्यय कर देने से जो बजट में घाटा होता है), तो घाटे को पूरा करने के लिये (i) विदेशी ऋण (ii) आन्तरिक-ऋण व (iii) अतिरिक्त निर्गमित मुद्रा की जो व्यवस्था की जाती है उसे हीनार्थ-प्रबन्धन कहा जाता है। पर हमारे देश में इसका अर्थ विभिन्न दृष्टिकोण से लगाया जाता है। राष्ट्रीय योजना आयोग (National Planning Commission) के अनुसार 'हीनार्थ प्रबन्धन' की धारणा का बजट के घाटे द्वारा कुल राष्ट्रीय व्यय में प्रत्यक्ष वृद्धि से उपयोग किया जाता है, चाहे यह घाटा आगम या पूँजीकृत खाते में हो। ऐसी नीति का स्वरूप इस बात से निर्धारित होता है कि सरकार करारोपण, सार्वजनिक उपक्रमों से प्राप्त आय, जनता से प्राप्त ऋण, निक्षेप एवं कोष तथा अन्य मदों से उपलब्ध आय से अधिक व्यय करती है। सरकार इस घाटे की पूर्ति या तो एकत्रित राशि से कर सकती है अथवा बैंकिंग पद्धति से उधार लेकर (मुख्यतया देश की केन्द्रीय बैंक से और इस प्रकार मुद्रा का सृजन करके) पूर्ति कर सकती है।[1] इस प्रकार हीनार्थ-प्रबन्धन की पाश्चात्य एवं भारतीय धारणाओं में मुख्य अन्तर यह है कि पश्चिमी देशों के अनुसार इसका अर्थ सरकार द्वारा चालू व्यय की अपेक्षा अधिक व्यय करने से लगाया जाता है तथा इस घाटे की पूर्ति ऋणों द्वारा की जाती है; भारतीय दृष्टिकोण से इसका अर्थ सरकार द्वारा करों, आय के अन्य स्रोतों तथा बाजारू ऋणों से प्राप्त चालू आय की तुलना में अधिक व्यय से लगाया जाता है तथा इसकी पूर्ति केन्द्रीय बैंक से उधार लेकर अथवा सरकार के कोषों को कम करके की जाती है।

तीसी के महामन्दी काल (period of Great Depression of 1930s) की अवधि तक सार्वजनिक-वित्त से सम्बन्धित अधिकारी 'ठोस वित्त-व्यवस्था' नामक नीति का अनुसरण करते थे। इसके अनुसार यह आवश्यक था कि सरकारी बजट ऋण की राशि भी सम्मिलित हो, से अधिक व्यय करने से लगाया जाता है। साधारण

1—"The term deficit financing is used to denote the direct addition to gross national expenditure through budget deficits, whether the deficits are on revenue or capital account. The essence of such a policy lies, therefore, in Government spending in excess of the revenue it receives in the shape of taxes, earnings of state enterprises, loans from the public, deposits and funds and other miscellaneous sources. The Government may cover the deficits either by running down its accumulated balances or by borrowing from the banking system (mainly from the Central Bank of the country and thus creating money)". First Five Year Plan, P. 60.

प्रतिवर्ष सन्तुलित कर लिया जाय। परन्तु महामन्दी की समस्या ने विभिन्न देश की सरकारों के सम्मुख एक नई 'माँग' उपस्थित कर दी। निजी विनियोजन कार्यों में कमी तथा बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण यह सुझाव प्रस्तुत किया जाने लगा कि निजी विनियोजन के क्षेत्र में कमी को सरकारी विनियोजन में वृद्धि के द्वारा, सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रमों के माध्यम से, पूरा किया जाना चाहिए। यह भी सुझाव दिया गया कि महामन्दी के काल में 'राजकीय ऋणों' का उपयोग किया जाना चाहिए। इसके अन्वेषण से हीनार्थ-प्रबन्धन की प्रक्रिया आर्थिक नीति का एक तत्व बन गई। सारांश रूप में यह स्वीकार कर लिया गया कि घाटे की वित्त-व्यवस्था से युक्त सार्वजनिक व्यय राष्ट्रीय आय, सम्पूर्ण माँग तथा सम्पूर्ण रोजगार को उच्च-स्तर पर बनाये रखने का प्रभावशाली अस्त्र है, क्योंकि तभी अतिरिक्त मुद्रा का सृजन (creation) होगा जिससे समाज में कुल व्यय योग्य कोष में वृद्धि होगी। पर द्वितीय महायुद्ध काल में हीनार्थ-प्रबन्धन के उद्देश्य में परिवर्तन हो गया। युद्ध काल में सभी साधनों को मुद्रा के रूप में युद्ध प्रयत्नों में लगाने की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति सरकार के साधारण साधनों द्वारा नहीं की जा सकती। अतः ऐसे समय में अतिरिक्त मुद्रा के सृजन के रूप में हीनार्थ प्रबन्धन का महत्व होता है। इससे एक ओर क्रय-शक्ति तथा वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती जाती है तथा दूसरी ओर वस्तुओं की पूर्ति में कमी होती जाती है जिससे अर्थव्यवस्था में अत्यन्त स्फीतिकारी प्रभाव देखने को मिलते हैं। ऐसी ही दशा द्वतीय विश्वयुद्ध-काल में अनुभव की गई थी जिसके कारण अनेक देशों में अनावश्यक मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। युद्धोत्तर काल में इस प्रकार की वित्तीय-व्यवस्था का उद्देश्य देश में उत्पादन की मात्रा तथा रोजगार की दशाओं को बढ़ाना हो गया, जिसके लिए यह बलात् बचत एवं विनियोजन का मार्ग प्रस्तुत करने वाला बन गया।

इस प्रकार 'हीनार्थ प्रबन्धन' की कल्पना इस मान्यता पर आधारित है कि सरकार के पूंजी एवं चालू खातों के कुल व्यय करों, ऋणों, शुल्कों आदि से होने वाली कुल आय से अधिक होते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि चलन सम्बन्धी कानूनों की उन 'लचीली व्यवस्थाओं' से जिसके अनुसार कोषों की स्थायी अथवा अस्थायी कमी को पूरा करने के लिये व्यापारिक बिलों के बदले चलन-मुद्रा का विस्तार किया जाता है, इसमें पर्याप्त भेद है।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सरकारी बजटों के ऐसे घाटों को उधार लेकर या नई मुद्रा के निर्मित करके पूरा किया जा सकता है। प्रत्येक प्रणाली से एक विशेष समस्या उत्पन्न होती है जिसका यहाँ संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। यदि, वित्त व्यवस्था के सार्वजनिक क्षेत्र के घाटे को ऋणों से पूरा किया जाता है तो सरकार, उस सीमा तक, पूँजी-बाजार में प्रतिस्पर्धी हो जाती है, और इसका

निजी क्षेत्र के विनियोजन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। जब जनता यह देखती है कि राजकीय प्रतिभूतियों में धन लगाना अधिक लाभदायक है तो वह, अन्य प्रतिभूतियों की अपेक्षा, सरकारी ऋणों में अधिक पैसा लगाती है। इस नीति का यह भी परिणाम हो सकता है कि जनता अपने सामान्य उपभोग तथा विनियोजन को बिना कमी किये अपनी नकद बचतों को सरकारी ऋणों में लगावे, या वह अपनी पुरानी बचतों या सुरक्षित धन (Hoardings) को कम करके उसे सरकारी ऋणों में लगावें। परन्तु, सार्वजनिक ऋणों में वृद्धि होने से भविष्य में करारोपण की सम्भावनाओं में वृद्धि होती है, जिससे विनियोजन की सम्भावनाओं में भी कमी हो जाती है। जब घाटे की व्यवस्था को नई-मुद्रा के निर्माण द्वारा पूरा किया जाता है, तो और अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता हो जाती है। यह सावधानी विशेष रूप में इसलिये आवश्यक होती है कि इसके फलस्वरूप, उसी अनुपात में उत्पादन न बढ़ने के कारण, प्रायः कीमतें बढ़ने लगती हैं। अर्द्ध विकसित एवं अविकसित अर्थव्यवस्थाओं की उत्पादन संरचना सामान्यतः स्थिर होती है जिसके कारण उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि होना सम्भव नहीं होता। हीनार्थ-प्रबन्धन के प्रभावस्वरूप समाज के विशाल निम्नस्तरीय वर्ग के हाथ में अतिरिक्त क्रय-शक्ति आ जाने से बचत की अपेक्षा उपभोग की प्रवृत्ति ही अधिक बढ़ती है। फलतः एक ओर उपभोग्य वस्तुओं की माँग बढ़ती है तथा दूसरी ओर वस्तुओं के उत्पादन में तेजी से वृद्धि न होने के कारण कीमत-स्तर ऊँचा होता चला जाता है। इससे उत्पादन के साधनों के वे तत्व, जो मूल्य-वृद्धि के अनुपात में अपना संशोधित पारितोषिक पाते हैं, तो अप्रभावित रहते हैं; परन्तु अन्य तत्वों के लिये वास्तविक आय उतने ही अनुपात में कम हो जाती है, जितना कीमतें बढ़ती हैं। यदि नवीन मुद्रा के निर्माण के बाद, ऋण के ढाँचे में विस्तृत आधार पर वृद्धि होती है तो इसका प्रभाव वर्तमान समय तक ही सीमित न रहकर भविष्य पर भी पड़ता है। इस प्रकार 'हीनार्थ प्रबन्धन' की नीति अर्धविकसित एवं अविकसित अर्थव्यवस्थाओं पर स्फीतिकारक प्रभाव उत्पन्न करके सबसे भयंकर खतरा प्रस्तुत करती है। दूसरे शब्दों में इस व्यवस्था के अन्तर्गत चलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ यदि वस्तुओं और सेवाओं में उसी अनुपात में वृद्धि नहीं होती तो मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो जाती है। मुद्रा स्फीति की दशा एक ऐसी अवस्थाओं का क्रम होता है जिसमें कीमतों की एक वृद्धि आगे की वृद्धि के प्रोत्साहन हेतु आधार बन जाती है और यही क्रम बराबर चलता रहता है। कोई भी घाटे की वित्त व्यवस्था किस सीमा तक मुद्रा स्फीतिकारक होगी, इसे आरम्भ में बतलाना कठिन होता है। ऐसा हो सकता है कि विशेष परिस्थितियों में नवीन निर्मित मुद्रा अर्थव्यवस्था में चलन में न आये। उदाहरण के लिये, अवसाद (depression) के समय, सरकारी व्यय का वह भाग, जो निजी विनियोजन की कमी को

पूरा करता है, स्फीतिकारक नहीं होता। दूसरे शब्दों में यदि इस व्यवस्था के द्वारा किया गया सार्वजनिक व्यय उत्पादक प्रकृति का है तो स्फीतिकारक प्रभाव समाप्त हो सकते हैं। साधारण परिस्थिति में, जब सरकार विकास की योजनाओं पर व्यय के लिये बजट में घाटे की वित्तीय-व्यवस्था करती है तो ऐसी दशा में कुछ समय के लिये ऐसा व्यय अवश्य ही स्फीतिकारक होता है जो समय के विलम्ब (Time-lag) पर निर्भर करता है। अवधि के अन्त में मुद्रा स्फीति के तत्व समाप्त हो सकते हैं, पर उसी सीमा तक जितनी कि नवीन उत्पादक व उपभोग वस्तुएँ बाजार में आती हैं। परन्तु यदि समय की अवधि में कीमतों के बढ़ जाने के कारण उत्पादन लागत के कुछ तत्व मँहगे हो जाते हैं तो अर्थव्यवस्था पर कम या अधिक परिमाण में यह भार स्थायी हो जाते हैं। ऐसा निजी विनियोजन के स्तर पर भी बहुत कुछ निर्भर होता है। जब यह कम होता है तो हीनार्थ-प्रबन्धन में स्फीतिकारी शक्ति कम या अनुपस्थित होती है और जब यह अधिक होता है तो इसमें स्फीति शक्ति भी अधिक होती है। अतः हम कह सकते हैं कि आर्थिक विकासार्थ हीनार्थ प्रबन्धन स्फीतिकारक हो सकता है, पर सदैव नहीं। यह स्फीतिकारक शक्तियों को उत्पन्न करेगा या नहीं यह इस बात पर निर्भर करता है कि यह किस उद्देश्य से किया गया है, इसकी सीमा क्या है तथा इसे नियन्त्रित करने के लिये कौन-कौन से उपाय अपनाये गये हैं। घाटे की वित्त व्यवस्था के कारण होने वाली मुद्रा स्फीति की मात्रा को, निम्नलिखित में से कोई या सभी उपाय अपनाने पर पर्याप्त रूप से नियन्त्रित किया जा सकता है :—

(क) शीघ्र उत्पादन करने वाली विकासशील योजनाओं पर व्यय को बढ़ाकर;

(ख) उपभोग के लिये आवश्यक वस्तुओं, जैसे खाद्य पदार्थ, वस्त्र आदि की पूर्ति को बढ़ाकर;

(ग) कीमतों में मुद्रा स्फीति के कारण बढ़ोत्तरी को रोकने के लिये आर्थिक नियंत्रण लगाकर तथा आवश्यक वस्तुओं के उपभोग को कम करके।

(घ) ऋण के विस्तार तथा उसके सट्टे की ओर जाने पर मौद्रिक नियन्त्रण लगाकर;

(ङ) आयात किये हुए उपभोक्ता वस्तुओं तथा पूँजीगत साधनों की पूर्ति में तेजी लाने के लिये, विदेशी सहायता प्राप्त करने का हर संभव प्रयास करके;

(च) करों, प्राविडेन्ट फण्ड, बीमा, अनिवार्य बचतों, सार्वजनिक ऋण योजनाओं आदि के द्वारा जनता की अतिरिक्त क्रय-शक्ति को लेकर;

(छ) अनिवार्य बचतों के रूप में भुगतान आदि के द्वारा, औद्योगिक श्रमिकों के वेतनों को अनावश्यक रूप से बढ़ने से रोक कर तथा औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनाये रखकर;

(ज) देश की जनता के मन में यह बात बैठाकर कि वे अपनी आय को बचत के रूप में जमा करें और वर्तमान उपभोग के विषयों पर अधिक व्यय न करें। तथा;

(झ) प्रशासन व्यवस्था में इस प्रकार की कुशलता लाकर जिससे व्यर्थ के खर्चों से बचा जा सके।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि यदि नियंत्रित दशाओं में तथा सीमित मात्रा में हीनार्थ-प्रबन्ध किया जाय तो इससे कम हानि की संभावना रहेगी, बल्कि वास्तव में, इसका प्रभाव बिलकुल विपरीत होगा। उत्पादन वृद्धि होने से बचतों में वृद्धि हो सकेगी और आगे विनियोजन भी बढ़ सकेगा। परन्तु हीनार्थ प्रबन्धन की कोई निश्चित एवं सुरक्षित सीमा रेखा खींचना संभव नहीं है। एक निश्चित समय पर अर्थ-व्यवस्था एक निश्चित मात्रा में हीनार्थ-प्रबन्धन को सहन कर सकती है तथा इस सीमा के बाद हीनार्थ-प्रबन्धन से स्फीतिकारक शक्तियों का उदय होना अवश्यम्भावी है। यद्यपि मुद्रा की चलन-गति, उपभोग की प्रवृत्ति, राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर, कीमतों का वर्तमान स्तर तथा अर्थव्यवस्था की परिवर्तित प्रकृति आदि कारणों से किसी अर्थ-व्यवस्था के लिये किसी समय विशेष पर हीनार्थ-प्रबन्धन की कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हीनार्थ-प्रबन्धन उसी सीमा तक किया जाना चाहिये जब तक अर्थव्यवस्था स्थिर रहे। जब हीनार्थ प्रबन्धन ऐसी स्थिति को पहुँच जाता है। जहाँ जनता का चलन पर से विश्वास उठ जाता है, बचत करने के प्रोत्साहन में कमी हो जाती है, उत्पादकों में विनियोजन करने की इच्छा कम हो जाती है तथा जब इससे जनता के अधिकांश भाग को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तो यह समझना चाहिये कि इसने सुरक्षित सीमा-रेखा पार कर ली है और मुद्रा स्फीति कारक अर्थ-व्यवस्था प्रारम्भ हो गई है। इन परिस्थितियों में, इससे न तो पूँजी निर्माण ही होता है और न आर्थिक विकास ही होता है। अतएव, उचित संरक्षण में ही घाटे की वित्त व्यवस्था का सहारा लेना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

३. विदेशी सहायता :

ऐसी अर्थवव्यस्था में, जो अर्ध-विकसित या अविकसित हो तथा जिसमें विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये प्रयास किये जा रहे हों, विदेशी सहायता का महत्व कम नहीं होता है। किसी देश को मिलने वाली विदेशी सहायता दो रूप में हो सकती है : (i) अनुदान (grant) के रूप में या (ii) ऋण (Loan) के रूप में। अनुदान अधिकतर विदेशी सरकारों से प्राप्त किया जाता है जब कि ऋण सरकारों, संस्थाओं एवं व्यक्तियों से प्राप्त किये जा सकते हैं। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, अर्ध-विकसित अथवा अविकसित अर्थव्यवस्थाओं में आय एवं

बचतों की कमी के कारण पूँजी का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास के लिये इन अर्थ-व्यवस्थाओं को पूँजीगत-माल तथा वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं यांत्रिक तकनीकी सेवाओं की भी आवश्यकता पड़ती है जो विदेशों से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यद्यपि विदेशी व्यक्तियों से प्राप्त ऋणों का अर्ध-विकसित देशों के विकास कार्य-क्रम में महत्वपूर्ण स्थान होता है, परन्तु आजकल विदेशी-**व्यक्तिगत पूँजी** का महत्व घटता जा रहा है। इसके तीन कारण हैं: एक तो विदेशी-व्यक्तिगत पूँजी देशों की राजनैतिक-आर्थिक दशाओं की अनिश्चितता और जोखिम के कारण हतोत्साहित हो रही है; दूसरे इस पूँजी के लिये औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशों में विनियोजन का आकर्षण बढ़ता जा रहा है तथा तीसरे ऐसी पूँजी के प्रति अधिकतर देश विरोधी नीति अपनाते हैं। अर्ध-विकसित देशों के लिये **विदेशी सरकारों से मिलने वाली सहायता** (अनुदान एवं ऋण) का यद्यपि महत्व काफी होता है, परन्तु यह भय सदा बना रहता है कि कहीं विदेशी सरकारों का गुट मिलकर इन पिछड़े हुये देशों से कुछ राजनैतिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न न करे। साधारणतया विदेशी ऋणों की तुलना में विदेशी अनुदान अधिक भारपूर्ण होते हैं, क्योंकि अनुदान नियमिततापूर्वक प्राप्त नहीं होते तथा इनके साथ राजनैतिक शर्तें लगी रहती हैं। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि संस्थायें इस दिशा में काफी सहयोग प्रदान करती हैं। इनसे जो ऋण एवं अनुदान प्राप्त होते हैं उनमें प्राय: किसी प्रकार की शर्तें नहीं होतीं, पर ये विशेष कार्यों के लिये ही होते हैं।

इस सन्दर्भ में दो प्रश्न सामने आते हैं: प्रथम, क्या विकास कार्यों के लिये, पर्याप्त घरेलू साधनों के अभाव में किसी पिछड़े देश को विदेशी सहायता पर निर्भर करना उचित है? दूसरे, विकसित अर्थव्यवस्थाओं से पिछड़े देशों को कितने साधन प्राप्त होंगे? प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक विकास के लिये विदेशी सहायता स्वीकार करने में कोई मूलभूत दोष नहीं है। आज के लगभग सभी विकसित देशों ने, अपने विकास में सहायतार्थ, विदेशी सहायता का उपयोग किया है। इंग्लैण्ड ने १७ वीं एवं १८ वीं शताब्दियों में हालैण्ड से ऋण लिया था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने, जो अब संसार का सर्वाधिक समृद्धिशाली देश है, १९ वीं शताब्दी में, न केवल विकास के व्यय के लिये बल्कि सेवाओं और ऋणों के लिये भी, बहुत अधिक विदेशी ऋण लिया था। यही कनाडा एवं अन्य अनेक देशों ने भी किया था।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि एक देश को विदेशों से मिलने वाली सहायता की मात्रा अनेक बातों पर निर्भर करती है। सर्वप्रथम यह (विशेषकर अनुदान) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावनाओं एवं उसकी स्थिति पर निर्भर करती है। दूसरे, ऐसे देश में ही विदेशी पूँजी का विनियोजन अधिक संभव

होता है जहाँ असाधारण रूप से अधिक लाभ की आशा होती है। तीसरे, इसको निर्धारित करने में न केवल ब्याज की दर या पूँजी पर लाभांश का ही महत्व होता है, परन्तु राजनैतिक एवं मौद्रिक स्थिरता का भी काफी प्रभाव पड़ता है।

अन्य पहलू से भी इस विचार को भली प्रकार देखा जा सकता है। इसका कारण यह है कि जितने ही अधिक देश अविकसित होंगे उतने ही अधिक कम-आय के संसार में लोग होंगे। कम आय के कारण कुल सामूहिक माँग कम होगी जिससे विकसित देशों को अधिक उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहन न मिलेगा। विकसित देशों का, अर्द्ध-विकसित देशों के प्रति कुछ उत्तरदायित्व होता है। इन देशों को यह अनुभव करना चाहिये कि जब तक संसार में अविकसित देश हैं तब तक उनकी लाभ-दर काफी ऊँची नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त पिछड़े देशों के प्रति उनका यह उत्तरदायित्व है जिन्होंने भूतकाल में उनकी आर्थिक प्रगति के भार को चुपचाप सहा है। विकसित देशों के लिये यह आवश्यक है कि वे ऐसी व्यवस्था करें जिससे विदेशी पूँजी की सेवायें पिछड़े देशों में आसानी से प्राप्त हो सकें। परन्तु अन्त में यह फिर कहा जा सकता है कि अर्द्धविकसित क्षेत्रों में विकास की विभिन्न योजनाओं में धन लगाने के लिये विशेष अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सियों की सफलता तभी संभव है जब एक दूसरे के प्रति सौहार्द्र एवं सहयोग की भावना हो।

इस प्रकार विदेशी सहायता के आवश्यक कोष, पूंजीगत माल, विदेशी विनिमय के साधन एवं तकनीकी सेवायें प्रदान करके पिछड़े देशों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। पर इसके साथ-साथ यह आवश्यक है कि विदेशी सहायता से केवल उसी प्रकार काम लेना चाहिये जैसे मशीन में तेल काम देता है।

(ग) भुगतान अवशेषों की कठिनाइयाँ :

किसी विकास शील अर्थ-व्यवस्था में, आर्थिक विकास के अनेक पहलुओं का तीसरा भाग भुगतान अवशेषों के सम्बन्ध में कठिनाइयाँ होती हैं। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, भुगतान अवशेषों की कठिनाइयां केवल विदेशी पूंजी के निर्माण के कारण ही नहीं होतीं, बल्कि पूंजीगत सामग्री तथा कुशल टेकनिकल व्यक्तियों को प्राप्त करने के कारण भी होती हैं। इस कारण होने वाले भुगतान शेष के असन्तुलनों का समायोजन तभी किया जा सकता है जब वह उन देशों को अधिक वस्तुओं और सेवाओं को बेचे। विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, अर्थव्यवस्था के विकसित हो रहे क्षेत्र के निवासियों द्वारा घरेलू वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढ़ती जाती है। इसलिये, कम उत्पादन के कारण, एक ओर तो निर्यात के लिये वस्तुओं व सेवाओं की कमी रहती है और दूसरी ओर उनकी लागत ऊँची रहती है जिससे उनकी खपत विदेशों में नहीं हो पाती। अतएव भुगतान अवशेषों का समायोजन कठिन हो जाता है। यह समस्या तब और कठिन हो जाती है जब पूंजीगत पदार्थ-सामग्री (Capital

goods equipment) तथा कुशल टेकनिकल व्यक्ति प्राप्त करना औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक हो जाते हैं। यदि विकासशील देशों को विदेशी मुद्रा के रूप में विदेशी सहायता प्राप्त हो जाती है, तो इन आयातों के कारण होने वाले भुगतान शेष के असन्तुलन को ठीक किया जा सकता है। इसीलिये यह भी जरूरी होता है कि विदेशी पूँजी तथा टेकनिकल विशेषज्ञों की सेवाओं को न्यायपूर्ण तरीके से इस्तेमाल किया जाय जिससे कि विकास कार्यक्रमों द्वारा अनेक पहलुओं की ओर उचित ध्यान दिया जा सके।

जब हम इन सब बातों पर विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्द्ध-विकसित क्षेत्रों के विकास से पूर्व पर्याप्त एवं ठीक 'आयोजन' होना आवश्यक होता है।

आयोजन (Planning) :

आर्थिक दृष्टि से आयोजन राज्य द्वारा प्रारम्भ, चेतन एवं अच्छी तरह सोच कर बनाई हुई एक ऐसी प्रणाली होती है जिसका उद्देश्य देश की उत्पादक (potential) सम्पत्ति का अनुमान लगाना तथा उपलब्ध साधनों का अधिकाधिक कुशलता से उपयोग करना होता है, जिससे किसी निश्चित दीर्घकालीन लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। आयोजन संगठन (Planning body) का मुख्य कर्तव्य, योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के लिये सबसे सस्ते साधनों को ढूँढ निकालना होता है। दूसरे शब्दों में, आयोजन का लक्ष्य राष्ट्र के सर्वोपरि हित की दृष्टि से, राष्ट्रीय साधनों का उपयोग करना होता है।

अपनाये जाने वाले तरीकों की दृष्टि से, 'आयोजन' विभिन्न प्रकार का हो सकता है। पहले प्रकार की 'सामान्य आयोजन' कहलाती है जिसे सोवियट रूस ने अपनाया था। सोवियट रूस की आयोजित अर्थ व्यवस्था का मौलिक लक्षण निर्दयता एवं कठोर श्रम (Ruthlessness and regimentation) है। दूसरे प्रकार की आयोजन, जनतांत्रिक आयोजन' कहलाती है जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे देशों ने अपने विकास के लिये अपनाया। इस प्रकार की आयोजन का सहारा इन देशों द्वारा इस लिये लिया गया क्योंकि इससे, बिना किसी तीव्र सामाजिक उलझाव या सार्वजनिक असन्तोष के, जनता की स्थिति में सुधार किया जा सकता था। परन्तु कुछ देशों में एक नवीन प्रकार की जनतांत्रिक आयोजन के कठोर व दबावपूर्ण तरीको और जनतांत्रिक आयोजन के कल्याणकारी नम्र (milo) तरीकों के बीच मध्य मार्ग अपनाया है। भारत में इसी प्रकार की आयोजन को १९५० से किया गया जिसे 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' के नाम से जाना जाता है। इसमें 'निजी साहस के साथ-साथ 'राज्य' के भी कारखानें आदि होते हैं।

अर्द्ध-विकसित देशों में आयोजन के तरीके :

आयोजन का अध्ययन तब तक पूर्ण न होगा जब तक कि हम अर्द्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं द्वारा अपनाये जाने वाली आयोजन की प्रणाली का सामान्य अध्ययनन कर लें। अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं में आय का स्तर बहुत नीचा होता है और उत्पादकता का स्तर भी निम्न होता है। इन अर्थ-व्यवस्थाओं की यह स्थिति होती है कि छोटी मात्राओं में विनियोजन, आर्थिक विकास की गति में तीव्रता लाने के लिये, न तो प्रभावशाली होते हैं और न लाभप्रद। अतएव, इस तरीके की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह है कि विकासशील आयोजन का सम्बन्ध सरकार द्वारा भारी उद्योगों, यातायात सुविधाओं तथा विद्युत उत्पादन केन्द्रों के तीव्रगति से विस्तार से होना चाहिये। विकास की गति निम्न बातों पर निर्भर करनी है:—

(क) आर्थिक विकास तथा जनता के आर्थिक कल्याण की वृद्धि के लिये राज्य द्वारा किये जाने वाले व्यय की मात्रा;

(ख) पूंजी निर्माण की दर (या नवीन विनियोजन में धन का आना);

(ग) जनता के सहयोग, चेतनता तथा सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन से मुख्य रूप से सम्बन्धित सामाजिक-राजनैतिक कारक।

प्रथम कारण—राज्य के व्यय की मात्रा—विकास की गति को प्रभावित करता है, तथा इसमें विकास की विभिन्न योजनाओं पर उचित मात्रा में निर्धारण का भी समावेश रहता है। केवल इसी के द्वारा आर्थिक कल्याण में अधिकतम वृद्धि तथा जनता की खुशहाली के लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। तीसरे कारण—जन-सहयोग, का जनतांत्रिक आयोजन में बहुत अधिक महत्व होता है। वास्तव में, सामूहिक चेतना एवं जनता के सहयोग से ही सामाजिक-आर्थिक कारकों को चालना मिलती है और उसके द्वारा आर्थिक विकास की गति तीव्र होती है। इस प्रकार किसी अर्ध-विकसित क्षेत्र में आयोजन के तरीकों का प्रारम्भिक लक्ष्य ठीक प्रकार की योजनाओं पर राज्य का अधिक व्यय द्वारा आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना, सुनियोजित सामाजिक ढाँचा तथा सामूहिक चेतना की वृद्धि होना चाहिए। इसको प्रथमतः कृषि तथा हस्तशिल्प एवं कुटीर उद्योगों के क्षेत्रों में पाये जाने वाले अतिरिक्त व्यक्तियों का प्रभावशाली ढंग से उपयोग करके तथा दूसरे, विकसित हो रही अर्थव्यवस्थाओं में कृषि एवं उद्योग के आपसी निर्भरता (link) के महत्व को समझ कर किया जा सकता है।

निर्देश पुस्तकें

Alak Ghosh : Indian Economy
Agarwal and Singh : The Economics of underdevelopment
Bhattacharya : Planning in India.

अध्याय २१

भारत में विकास-वित्त की व्यवस्था

पिछले अध्याय में हमने 'विकास-वित्त' के विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया है। यद्यपि स्वतन्त्रता के बाद से ही सही रूप में भारत में आर्थिक विकास का आयोजन प्रारम्भ हुआ, परन्तु इसके बहुत पहले से देश में, अत्यन्त प्रत्यक्ष रूप में, अर्द्ध-विकसित अर्थ-व्यवस्था के अधिकांश मूल-भूत लक्षण विद्यमान थे। अंग्रेजों के आगमन के समय देश की अर्थ-व्यवस्था 'गतिहीन' हो चली थी और बहुत तेजी से अर्द्ध-स्थिर साम्यावस्था की स्थिति की ओंर जा रही थी। उस समय आय में असमानतायें बहुत अधिक हो गई थीं और सम्पन्न वर्ग द्वारा आमोद-प्रमोद की वस्तुओं का उपभोग काफी होने लगा था। इस कारण अँग्रेजों के आगमन के काफी समय बाद तक, आर्थिक विकास में बाधायें पड़ती रहीं। अंग्रेज भारत में दो उद्देश्यों से आये थे: प्रथम भारत का इस प्रकार विकास करने के लिये कि वह ब्रिटिश अर्थ-व्यवस्था के पूरक का कार्य कर सके, तथा दूसरे राजनैतिक नियन्त्रण बनाये रखने के लिये। अंग्रेजी शासन काल में, भूमि पर जन-संख्या के बढ़ते हुए दबाव के बावजूद, कृषि उत्पादन की प्रणाली तथा प्रक्रिया में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। इसके परिणाम स्वरूप प्रति व्यक्ति उत्पादन तथा आय गिरती गई। परन्तु, औद्योगिक क्षेत्र में कुछ सुधार अवश्य हुआ। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों की अवधि में, युद्ध सामग्री की आवश्यक पूर्ति के कारण, देश में एक छोटा आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र विकसित हुआ। पर इसके साथ ही औद्योगिक विकास में देशी विनियोजन नहीं हुआ। इसका कारण एक ओर तो यह था कि 'सुविधा प्राप्त वर्ग' द्वारा 'अतिरिक्त' आय का उपभोग होता था जो अधिकतर विलास की वस्तुओं के उपभोग पर अपनी आय खर्च करता था और दूसरा कारण साहसी राष्ट्रीय उद्योगपतियों का अभाव था। दूसरी ओर, 'मैनेजिंग एजेन्सी' प्रथा द्वारा ब्रिटिश विनियोजन के क्षेत्र के बाहर भी, औद्योगिक क्षेत्र में अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। जिन भारतीय साहसियों ने औद्योगिक कार्य प्रारम्भ भी किये, उन्होंने अंग्रेजों की मैनेजिंग एजेन्सी प्रथा का अनुसरण किया, जिसके अन्तर्गत एजेन्ट विदेशी राष्ट्र के हित में कार्य करते थे। इस प्रकार, ब्रिटिश-भारत औद्योगिक ढाँचा एकांगी (Lopsided) था; 'वस्त्र', 'बाग' आदि, से सम्बन्धित गद्योगों पर अधिक जोर दिया गया तथा भारी उद्योगों को उपेक्षा की गई।

भारत में आर्थिक विकास के प्रयास :

भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश के लिये विकास का महत्व समझकर एक व्यवस्थित 'योजना' (Plan) बनाने का प्रथम-प्रयास, प्रसिद्ध इंजीनियर तथा राजनीतिज्ञ, श्री एम० विश्वेश्वरैया द्वारा किया गया। उन्होंने १९३४ में अपनी पुस्तक 'भारत की नियोजित अर्थव्यवस्था' में एक योजना प्रस्तुत की। बाद में सन् १९३८ में, देश के विकास के लिये, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी एक योजना तैयार की और राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना की। परन्तु इन प्रयासों के कोई सफल परिणाम न निकले। प्राप्ति के लिये एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित करने तथा उसे प्राप्त करने के तरीकों को बताने का श्रेय आठ उद्योगपतियों को है जिन्होंने १९४३ में 'भारत में औद्योगिक विकास के लिये एक योजना' नामक पुस्तक, प्रकाशित की। इसे ही प्रचलित भाषा में बम्बई योजना का नाम दिया गया। यह एक '१५ वर्षीय योजना' थी। जिस पर १०,००० करोड़ रु० खर्च का निर्धारण किया गया था, तथा जिसके तीन लक्ष्य थे : कृषि उत्पादन को १३०% बढ़ाना, औद्योगिक उत्पादन को ५००% बढ़ाना और प्रति व्यक्ति आय में १००% (६५ रु० से १३० रु०) वृद्धि करना। इसी समय श्री एम० एन० राय ने देश के लिये अपनी 'जनता की योजना' घोषित की। यह एक १० वर्षीय योजना थी एवं इस पर १५००० करोड़ रुपये खर्च किये जाने का निर्धारण था। इस योजना के अनुसार, कृषि एवं उपभोक्ता, वस्तु उद्योगों को विकास में सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी थी। परन्तु इन योजनाओं, के विपरीत एक आदर्शवादी योजना, जिसे गाँधीवादी योजना भी कहते हैं, १९४४ में घोषित की गई। इस योजना के तीन लक्ष्य थे : आत्म निर्भर गाँवों से युक्त एक विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था की स्थापना करना, कृषि में सुधार करना तथा पुनर्वास एवं कुटीर उद्योगों का विकास करना।

जनता की चेतना से प्रभावित होकर, भारत सरकार ने, १९४४ में एक 'योजना विभाग' की स्थापना की और युद्धोत्तरकाल में देश के विकास की योजनायें बनाने के लिये विभिन्न समितियाँ बनाईं। सम्बन्धित क्षेत्रों में विकास के लिये विभिन्न विभागीय समितियों ने योजनायें तैयार कीं, जो केवल कागज पर ही रह गईं।

'योजना आयोग' की स्थापना :

अगस्त १९४७ से, राज्य सरकारें एवं केन्द्रीय सरकार, दोनों ही, देश के अधिक आर्थिक पुर्ननिर्माण में अत्यधिक एवं सक्रिय रुचि लेने लगीं। शक्ति के साधन कृषि उद्योग, संवादवाहन, वैज्ञानिक अनुसन्धान, आवास, परिवहन आदि से सम्बन्धित योजनायें बनाई गईं और उनका कार्यान्वियन प्रारम्भ किया गया। परन्तु १९५० तक के प्रयासों से यह अनुभव किया गया कि विभिन्न योजनाओं के कार्यान्वियन के परिणाम संतोषजनक न थे। यह भी अनुभव किया गया कि विभिन्न मंत्रालयों द्वारा इन योजनाओं के बनाने में समन्वय, जो कि आयोजन

की रीढ़ है, का अभाव था। इसके बिना राष्ट्रीय साधनों, उत्पादन के तत्व जैसे पूँजी की पूर्ति, प्राविधिक ज्ञान तथा कुशल श्रम शक्ति के पूर्ण अनुमान नहीं लगाये जा सके थे। विभाजन के कारण अर्थ-व्यवस्था में हुए परिवर्तनों से समन्वय पर और अधिक बल देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतएव, विभिन्न मंत्रालयों द्वारा बनाई गई विविध योजनाओं के समन्वय के लिये १९५० में एक **राष्ट्रीय योजना आयोग** बनाया गया। इसके अतिरिक्त इस आयोग का उद्देश्य आयोजन के प्रत्येक चरण में विभिन्न कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त एवं आवश्यक साधनों का पता लगाना, समय-समय पर योजना की प्रगति की समालोचना करना, तथा देश के संसाधनों का संतुलित एवं प्रभावपूर्ण उपयोग करने के लिये सरकारी नीतियों एवं तरीकों में सुधार करने की सलाह देना है। यही 'योजना आयोग' देश में योजनाबद्ध विकास कार्यक्रमों का कार्यान्वयन देखती है।

मार्च १९५१ तक विकास पर व्यय :

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस देश में विकास व्यय की दिशा में पहला कदम १९४५ में उठाया गया। इस वर्ष वायसराय की कार्यकारी परिषद की पुनर्निर्माण समिति ने देश में विकास कार्यों के लिये १००० करोड़ रु० उपलब्ध करने का निश्चय किया। इस राशि का लगभग आधा भाग कर-आय के बचतों द्वारा प्राप्त करने का निश्चय किया गया जिसे ऐसे विकास कार्यक्रमों पर खर्च किया जाना था जिन्हें अनुदान अथवा ऋण के रूप में धन नहीं मिलता था। शेष, पाँच वर्ष की अवधि में, केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों द्वारा ऋणों से आय द्वारा पूरा करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार प्रान्तों को सूचित किया गया और उनसे कहा गया कि युद्धोत्तर विकास के लिये वे ऐसी योजनायें तैयार करें जो १९४७-४८ से प्रारम्भ हों तथा इस सम्भावना पर आधारित हों कि उन्हें अनुदान के रूप में २५० करोड़ रुपये तक मिल सकेगा। इसे जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाना था। परन्तु, ये सम्भावनायें सफल न हो सकीं। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्धोत्तर काल में सम्भावित बजट 'लाभ' (Surplus) में कार्यान्वित न हो सके। अविभाजित भारत के १९४७-४८ के बजट में, विकास व्यय के लिये १०० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी, जिसमें अनुदान के रूप में प्रान्तों को देने के लिये ४५ करोड़ रुपये की रकम भी शामिल थी। १५ अगस्त १९४७ तक केन्द्रीय सरकार ने, स्वीकृत योजनाओं के व्यय के लिये, बजट-अनुदानों के अनुपात की अधिकतम सीमा का ध्यान रखते हुए, अग्रिम भुगतान किये। १५ अगस्त १९४७ के बाद प्रान्तों को मूल आयोजना के अनुसार ही अनुदान उपलब्ध किये गये, परन्तु इसमें पंजाब एवं बंगाल के विभाजन के परिणामस्वरूप आनुपातिक समायोजन किया गया। १९४८-४९ के बजट में, विकास योजनाओं के लिये १००·२७ करोड़ रुपये (चालू

एवं पूंजी खातों) की व्यवस्था की गई और इस राशि में से ३० करोड़ रुपये प्रान्तों को अनुदानों के लिये तथा ३४ करोड़ रुपये (अधिक अन्न उपजाओं योजना के अन्तर्गत २ करोड़ रुपये सहित) ऋण देने के लिये निश्चित किये गये। १९४९-५० में अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारक अधिक मुद्रा दबाव के कारण, यद्यपि सरकार ने अपने सम्पूर्ण कार्यक्रम का सिंहावलोकन किया तथा चालू एवं पूंजीगत-खातों के बजटों के निर्धारण में कटौती की, परन्तु विकास के लिये किसी प्रकार कुल ११३·१७ करोड़ रुपये की व्यवस्था की। इसमें से २६·८१ करोड़ रुपये राज्यों को अनुदान देने तथा ४२·२५ करोड़ रुपये उन्हें ऋण देने के लिये निश्चित किया गया। सितम्बर, १९४९ में, रुपये के अवमूल्यन (devaluation) के बाद, राजकीय खर्चों में ४० करोड़ रुपये की कमी करने के लिये, सरकार ने, मितव्ययिता के अनेक कार्यक्रमों को अपनाया। अतएव १९५०-५१ में, विकास-योजनाओं के लिये केवल ७०·५८ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई। इसमें से राज्यों को अनुदान के लिये ९·५९ करोड़ तथा उन्हें ऋण देने के लिये २४·१५ करोड़ रुपये निश्चित किये गये। विभाजन के बाद विकास-व्यय की अधिकतर व्यवस्थायें नदियों के पानी के अधिक आर्थिक-उपयोग की दिशा में प्रगति करने के लिए थीं।

इस अवधि में विकास-वित्त के साधनों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सरकार अधिकतर आन्तरिक साधनों-अर्थात् करारोपण, ऋण तथा घाटे की वित्त व्यवस्था—पर निर्भर रही। बाहरी साधन केवल 'पौण्ड पावनों' तक सीमित रहे। निम्नलिखित आँकड़े भारत सरकार के कर एवं पूंजी खातों में १९४६-४७ से घाटों अथवा बचतों को दर्शाते हैं:—

	करोड़ रुपयों में	
	आय खाता	पूंजी खाता
१९४६-४७	— ०·६०	— ६१·५२
१९४७-४८		
(अगस्त से मार्च तक)	+ ४४·४८	— १३३·४१
१९४८-४९	+ ५०·८४	— १६७·४८
१९४९-५०	— ३·७४	— १२०·३०
१०५०-५१	— ०·७१	— २३·९४

इस अवधि में करारोपण की नीति का प्रमुख लक्षण यह रहा कि, पूंजी निर्माण के हित में, व्यापार एवं निजी साधनों पर करों के भार में कमी रखी जाय। आय-कर की दरें युद्ध के बाद भी वही बनी रहीं जो युद्ध के वर्षों में थीं। १९४६-४७ में आय-कर एवं सुपर टैक्स पर 'सरचार्ज' को मिला दिया गया और अधिकतम दर ३० पैसे (४ आना ९ पाई) को बढ़ाकर ३१ पैसे (५ आना) प्रति रुपया

कर दिया गया। १९४७-४८ में ऊँची आयों एवं निगमों पर न केवल कर-दरें बढ़ाई गईं बल्कि व्यापारिक लाभ तथा पूंजीगत लाभ जैसी आयों पर नये कर भी लगाये गये। १९४८-४९ के बजट में निजी आय-करों पर कर से मुक्ति की व्यवस्था की गई एवं अनार्जित आय पर कर की अधिकतम दर भी घटा दी गई। १९४९-५० में १०,००० तक की आय पर आय-कर को २ पैसे (३ पाई) घटा दिया गया तथा १९५०-५१ में १०,००० से १५,००० रु० के बीच आय के विभिन्न स्तरों पर देय-कर को ३ पैसे (१/२ आना) कम कर दिया गया। कम्पनी करारोपण के क्षेत्र में भी, १९४७-४८ के बाद के वर्षों में उल्लेखनीय छूटें दी गयीं। व्यापार लाभ-कर तथा पूंजी लाभ-करों को हटा दिया गया। इन छूटों से १९४६-४७ की अपेक्षा केन्द्रीय सरकार की करारोपण से मिली कुल आय में आय-कर द्वारा मिली आय के अनुपात में कमी हो गई। पूँजी-लाभ-कर एवं व्यापार लाभ-कर के उन्मूलन तथा आय के ऊपरी स्तरों पर आय-कर में कमी का उद्देश्य एक ऐसा वातवरण तैयार करना था जिससे निजी साहसिक अधिक मात्रा में सक्रिय होने का निर्णय ले सकें। परन्तु इन कटौतियों के कारण वस्तु करों (अप्रत्यक्ष कर) पर निर्भरता अधिक बढ़ गई। सब में से उत्पादन कर (Excise duties) और ज्यादा लगाये गये। इस क्षेत्र में न केवल वर्तमान दरों में वृद्धि की गई बल्कि वस्तुओं के नये समूहों पर भी कर लगाये गये। इसके साथ-साथ निर्यात कर भी बढ़ाये गये। कस्टम एवं एक्साइज से मिलने वाली आय, जो १९४५-४६ में ११९·९८ करोड़ रुपये थी, बढ़कर१९४६-४७ में १३२·२५ करोड़ रुपया, १९४८-४९ में १७६·७९ करोड़ रु० तथा १९४९-५० में १८९·९२ करोड़ रु० हो गई। इस अवधि में ऋणों से अधिक लाभ न उठाया जा सका। रहन-सहन के व्यय के अधिक हो जाने तथा करारोपण के ऊँचे स्तर के कारण, युद्ध के बाद के वर्षों में लोगों में बचत करने की शक्ति कम हो गई थी। परन्तु ऊँची निजी-आयों पर छूट दिये जाने के कारण बचत एवं ऋणों की मात्रा बढ़ गई थी, यद्यपि इसमें उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हो पाई थी। इस अवधि में देश में, १९४६-४७ से घाटे की वित्त-व्यवस्था का सहारा लिया गया क्योंकि पूँजीगत-बजट के घाटे को वर्तमान बचतों से पूरा न कर सकने के कारण एकत्रित अवशेषों से पूरा करना पड़ा। ऐसा इसलिये किया गया क्योंकि प्रतिवर्ष के नये ऋण अपर्याप्त थे। विदेशी सहायता के क्षेत्र में, व्यापार के प्रतिकूल (unfavourable) होने तथा ब्रिटिश सरकार से पूँजीगत प्रकृति के लेन-देनों के कारण, भारत को अपने स्थाई भुगतान शेषों से बहुत भारी मात्रा में पौंड-पावनों को निकालना पड़ा। ५ अप्रैल १९४६ को पौंड पावनों का मात्रा १७८३ करोड़ रुपये थी। मार्च, १९४७ के अन्त में यह १६१२ करोड़ रुपये थी। १९४७-४८ के वर्ष में पावनों में ६७ करोड़ रुपये की कमी हुई। जनवरी १९४९ के अन्त में वह ९८८ करोड़ रुपये थी। जनवरी १९५० में पौण्ड-पावनों की राशि घट कर ८३३ करोड़ रुपये रह गई।

प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं उसके लिये धन की व्यवस्था

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सम्पूर्ण देश के विकास के लिये एक समन्वित (Co-ordinated) तथा विस्तृत योजना तैयार करने के लिये मार्च १९५० में **'भारतीय योजना आयोग'** की नियुक्ति की गई। जुलाई, १९५१ में आयोग ने रूप-रेखा का एक प्रारूप तैयार किया। दिसम्बर १९५२ में राष्ट्र के सम्मुख, अप्रैल १९५१ से मार्च १९५६ तक की (पाँच वर्ष की) अवधि के लिये एक योजना प्रस्तुत की गई योजना में उन विकास कार्यक्रमों का भी ध्यान रखा गया जो पहले से ही कार्यान्वित हो रही थीं।

'प्रथम पंचवर्षीय योजना' का उद्देश्य, जनता के रहन-सहन के स्तर को उठाना और उन्हें अच्छे एवं सुखी जीवन की सुविधायें प्रदान करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये योजना का लक्ष्य उत्पादकता को बढ़ाना और राष्ट्रीय आय के वितरण की असमानताओं में कमी करना था। योजना आयोग ने देश में ऐसे 'मिश्रित अर्थ-व्यवस्था' को स्थापित करने की बात कही जो कल्याणकारी आदर्शों पर आधारित हो। योजना में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों को एक ही शरीर के दो अंगों के रूप में साथ-साथ कार्य करने की व्यवस्था की गई। जनतांत्रिक प्रकार की आयोजना की सफलता के लिये, निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा सौहार्द्र पूर्ण कार्य करने के महत्व के आयोग ने भली प्रकार समझा। इस पंचवर्षीय योजना में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए २०६९ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई। इस अनुमान में सन् १९५३ में १८० करोड़ रुपये की वृद्धि करके २२४९ करोड़ रुपये कर दिया गया। विशेष रूप से देश में बेरोजगारी को कम करने की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय के लिये प्रस्तावित रकम को शीघ्र बढ़ा कर २३५६ करोड़ रुपये कर दिया गया। व्यय के लक्ष्यों को निर्धारित करते समय योजना आयोग ने जिन बातों पर विशेष ध्यान दिया वे ये थे: (१) विकास की एक ऐसी प्रणाली प्रारम्भ करने की आवश्यकता, जो भविष्य में आवश्यक वृहत् प्रयासों के आधार का कार्य कर सकें; (२) विकास के कार्य के लिये देश को उपलब्ध हो सकने वाले कुल साधन; (३) सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों में विकास की गति तथा साधनों की आवश्यकताओं के बीच घनिष्ट सम्बन्ध; (४) योजना के प्रारम्भ होने से पूर्व केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों द्वारा प्रारम्भ की गई विकास योजनाओं को पूर्ण करने की आवश्यकता, तथा (५) युद्ध एवं देश-विभाजन के कारण अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न हुई विषमताओं को ठीक करने की आवश्यकता।

विकास के विभिन्न कार्यक्रमों में सर्वोच्च प्राथमिकता (i) कृषि को दी गई, और उसके बाद क्रमशः (ii) परिवहन एवं संदेशवाहन, (iii) सामाजिक सेवाओं तथा (iv) उद्योगों को स्थान मिला। कृषि, सिंचाई एवं शक्ति पर कुल प्रस्तावित

रकम का ४३·२% निर्धारण (allocation) किया गया जब कि परिवहन एवं संवाद वाहन पर २३·६%, सामाजिक सेवाओं पर २२·६% तथा उद्योगों पर ७·६% निर्धारण किया गया। प्रथम योजना में कृषि विकास पर जोर देने का प्रमुख कारण यह था कि "तीव्र औद्योगीकरण की ओर उन्मुख एक विकसित हो रही अर्थ-व्यवस्था में खाद्यान्नों एवं कच्चे माल की अधिक पूर्ति के लिये कृषि क्षेत्र का विस्तार एवं पुर्नसंगठन की हमेशा आवश्यकता रहती है।" कृषि के बाद परिवहन, सिंचाई एवं शक्ति को प्राथमिकता देने का कारण यह था कि वे देश में आवश्यक सामाजिक पूँजी के महत्वपूर्ण अंग हैं, और आर्थिक विकास की गति को बढ़ाने के लिये ऐसे कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना जरूरी होता है। कुल प्रस्तावित रकम के २२% से भी अधिक को सामाजिक एवं कल्याणकारी सेवाओं के लिये निर्धारित करने का कारण यही था कि शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास एवं अन्य सामाजिक विकास सम्बन्धी कार्यक्रम किसी भी कल्याणकारी राज्य के विकास के लिये तैयार किये गये योजना के मूल तत्व होते हैं। औद्योगिक क्षेत्र में जिन आधारों पर प्राथमिकतायें निश्चित की गई वे यह हैं: "(१) उत्पादक वस्तु उद्योग, जैसे जूट एवं प्लाइवुड तथा उपभोक्ता वस्तु उद्योग जैसे सूती कपड़ा, में **वर्तमान क्षमता का और उपयोग**; (२) पूँजी एवं उत्पादक वस्तु उद्योग, जैसे लोहा, में **क्षमता की वृद्धि**; (३) औद्योगिक ढलाई घरों (mints) को **पूरा करना** जिन पर पर्याप्त पूँजीगत-व्यय पहले ही हो चुका है; तथा (४) कुछ उद्योगों के लिये नवीन **मशीनों की स्थापना**।" प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४२ उद्योगों का लक्ष्य रखा गया और इसमें कुल २३० करोड़ रु० पूँजीगत-विनि-योजन तथा १५० करोड़ रुपया विनियोजन का अनुमान लगाया गया। इसी अवधि में निजी क्षेत्र में उद्योगों के विकास के लिये ७५० करोड़ रुपये से कुछ अधिक राशि का अनुमान लगाया गया।

योजना आयोग ने पूँजी निर्माण के प्रश्न पर भी विचार किया। १९५०-५१ में, देश की अनुमानित राष्ट्रीय आय ९,००० करोड़ रुपये थी और बचत की औसत दर अनुमानतः राष्ट्रीय आय की ५% थी। आयोग का अनुमान था कि योजना की अवधि में पूँजी निर्माण में प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय का २०% लगाया जायेगा और योजना के अन्त में वास्तविक (Net) बचत ६५५ करोड़ रुपये होगी।

योजना के लिये धन की व्यवस्था :

प्रथम पंचवर्षीय योजना मुख्य रूप से, विकास कार्यों के लिये, सार्वजनिक व्यय की एक योजना थी। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि योजना काल के लिये २३५६ करोड़ रुपये 'सार्वजनिक क्षेत्र' में व्यय करने को निर्धारित किये गये, जब कि 'निजी क्षेत्र' के लिये केवल १२०० करोड़ रुपयों का अनुमान लगाया गया। जहाँ तक आय के साधनों का प्रश्न है, योजना केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की वर्तमान आय से

बचतों, भारतीय रेलवे, भारत के लोगों से ऋण तथा उनकी बचतों तथा विदेशी पूँजी पर निर्भर थी। व्यय के एक भाग को पूरा करने के लिये भारत के पौण्ड-पावनों तथा विदेशी ऋणों एवं सहायता का सहारा लेने का निश्चय किया गया था। योजना में 'न पूरी की गई कमी' (Uncovered gap) की व्यवस्था इस आशा से की गई थी कि अधिक करारोपण के द्वारा अतिरिक्त आय होगी या बाजार में बड़े ऋण ले लिये जायेंगे। प्रथम आयोजना के लिये, सार्वजनिक क्षेत्र में धन की व्यवस्था हेतु साधनों को नीचे की तालिका में दिखाया गया है :—

(करोड़ रुपयों में)

मद	संशोधित अनुमान			मूल अनुमान (योग)
	केन्द्रीय सरकार	राज्य सरकार	योग	
(क) वर्तमान आय से बचत	१६०·०	४३९·०	५९९·०	५६९·७
(ख) रेलवे का अंशदान	१७०·०	—	१७०·०	१७०·०
(ग) जनता से ऋण	३६·९	७९·०	११५·०	११५·९
(घ) अल्प बचतें इत्यादि	२७०·०	—	२७०·०	२७०·०
(ङ) जमाकोष तथा अन्य विविध साधन	९०·०	४२·८	१३२·८	१३२·८
१. कुल बजट साधन			१२८६·८	१२५७·५
२. घाटे की वित्त-व्यवस्था			२९०·०	२९०·०
३. न पूरी की गई कमी (Uncovered gap)			७७९·६	५२१·०
योग			२३५६·४	२०६८·७

जैसा कि इस तालिका से ज्ञात होता है, आयोजना का कुल निर्धारण २०६९ करोड़ रुपये से बढ़कर २३५६ करोड़ रुपये हो जाने से ५२१ करोड़ रुपये की मूल कमी बढ़ कर ७७९·६ करोड़ रुपये हो गई। परन्तु योजनावधि में, सार्वजनिक क्षेत्र में, वास्तविक व्यय लगभग १९६० करोड़ रुपया (या संशोधित लक्ष्य से १७% कम) था। इस व्यय के लिये धन की व्यवस्था के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति इस प्रकार थी :—

आन्तरिक साधन :

आन्तरिक बजट साधनों, (बजट साधनों) को केवल लक्ष्यों तक निश्चित नहीं

रखा जा सकता। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में वित्त के आन्तरिक साधनों से प्राप्त आय का योग १३४८ करोड़ रुपया था। इन साधनों में, देशवासियों से लिया गया ऋण और उन पर लगाये गये करों की आय सम्मिलित हैं। इस अवधि में आन्तरिक साधनों की महत्वपूर्ण विशेषता, जनता से ऋण लेने के लिये अपनाये गये अनेक कार्यक्रमों की उत्साहवर्धक सफलता है। आन्तरिक **ऋणों** द्वारा कुल प्राप्ति २०३ करोड़ रुपया (केन्द्र के ५० करोड़ रु०) हुई, जब कि योजना का लक्ष्य केवल ११५ करोड़ रुपये था। अल्प **बचतों** तथा **अकोषित ऋणों** का योग ३०० करोड़ रुपये था जब कि योजना में इन मदों का लक्ष्य २७० करोड़ रुपये था। योजना की अवधि में, केन्द्र एवं राज्य सरकारों को मिलाकर कुल कर-प्राप्तियों (Tax receipts) का विस्तार कम रहा। १९५०-५१ में अनेक प्रकार के करों से आय देश की कुल राष्ट्रीय आय की ६·६% थी, जो योजना के अन्त में केवल ७% तक बढ़ी। योजना की अवधि में **चालू खाते** (Current A/c.) के अनेक उपलब्ध साधनों, जिसमें रेलवे का अंशदान भी सम्मिलित है, द्वारा प्राप्त कुल आय ७४५ करोड़ रुपये थी। इनके अतिरिक्त, **पूँजी खाते** (Capital A/c.) में अन्य विविध साधनों की प्राप्तियाँ १०० करोड़ रुपये रहीं। इस प्रकार, प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में, सार्वजनिक क्षेत्र में, आन्तरिक बजट साधनों से कुल १३४८ करोड़ रुपये (२०३ + ३०० + ७४५ + १००) प्राप्त किये जा सके।

घाटे की वित्त-व्यवस्था—प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में, घाटे की वित्त-व्यवस्था का अभिप्राय बजट की कमी के फलस्वरूप होने वाले राष्ट्रीय व्यय में अतिरेक था। सरकार बजट के इस प्रकार के घाटों को, प्रत्येक वर्ष, एकत्रित-अवशेषों (Saved balances) को निकालकर या सरकार द्वारा कुल सामान्य आय से किये गये अतिरिक्त व्यय की राशि के बराबर, रिज़र्व बैंक से उधार लेकर, पूरा करती रही। योजना-अवधि में भारत सरकार की घाटे की वित्त-व्यवस्था के द्वारा लगभग ४१५ करोड़ रुपये की आय प्राप्त की गई। इसमें से, योजना के व्यवस्था के अनुसार, पौण्ड-पावनों (Sterling balances) से लगभग २९० करोड़ रुपये निकाल कर पूरे किये गये। योजना की 'न पूरी की गई कमी' (Uncovered gap) को पूरा करने के लिये, जिससे कि बजट के अतिरिक्त घाटे की पूर्ति हो सके, रिज़र्व बैंक के नये नोटों का सहारा लिया गया।

विदेशी सहायता :

प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में अनुमानतः कुल १९७ करोड़ रुपये की विदेशी सहायता को प्राप्त किया गया। विभिन्न देशों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से सामग्री एवं वस्तुओं के रूप में से सहायता तथा विशेषज्ञों को भेजने एवं प्रशिक्षण सुविधाओं के द्वारा प्राविधिक सहायता प्राप्त हुई। इस सहायता में, संयुक्त राज्य

अमेरिका से ऋण एवं सहायता, आस्ट्रेलिया, कनाडा एवं न्यूजीलैण्ड से सहायता, इंग्लैण्ड एवं रूस से ऋण एवं सहायता नार्वे से सहायता, आदि सम्मिलित है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से प्राप्त ऋण तथा फोर्ड प्रतिष्ठान से प्राप्त सहायता भी सम्मिलित हैं। प्रथम योजना की अवधि में विभिन्न देशों से प्राप्त राशि इस प्रकार थी :—

(करोड़ रुपयों में)

संयुक्त राज्य अमेरिका	१५०·६८
आस्ट्रेलिया	५·१६
कनाडा	१९·६६
न्यूजीलैण्ड	०·३३
नार्वे	०·२७
ब्रिटेन	०·३
फोर्ड प्रतिष्ठान	२·२८
अन्तर्राष्ट्रीय बैंक	७·६०
विविध	१·९९
योग	१९७·००

इस प्रकार, प्रथम, पंचवर्षीय योजनाकाल में (सार्वजनिक क्षेत्र) कुल १९६० करोड़ रुपये के व्यय के लिये साधनों की सम्पूर्ण स्थिति इस प्रकार थी :—

प्रथम योजना के आर्थिक साधन

(सार्वजनिक क्षेत्र) (करोड़ रु० में)

साधन	प्राप्ति	
	वास्तविक	अनुमानित
१—आन्तरिक साधन :		
(क) कर-खाते से उपलब्ध-रकम (रेलवे द्वारा दिया गया अंश लेकर)	७४५	७६९
(ख) जनता से ऋण	२०३	११५
(ग) छोटी बचतें एवं अकोषित ऋण	३००	२७०
(घ) अन्य विविध प्राप्तियाँ	१००	१३२
(ङ) आन्तरिक बजट-साधनों से कुल प्राप्तियाँ	१३४८	१२८७
(२) हीनार्थ-प्रबन्धन द्वारा उपलब्ध आय	४१५	२९०
(३) विदेशी सहायता	१९७	—
(४) न पूरी की नई कमी	—	७७९
योग	१९६०	२३५६

योजना-अवधि में किये गये व्यय का वार्षिक विवरण इस प्रकार है :—

१९५१-५२	रु०	२५९	करोड़ रु०
५२-५३		२७३	,,
५३-५४		३४०	,,
५४-५५		४७६	,,
५५-५६		६१२	,,
		१९६०	,,

प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलतायें :

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में लक्ष्यों की तुलना में प्रमुख सफलताओं के विवरण नीचे की तालिका में दिये गये हैं :—

विषय	१९५०-५१ में	१९५५-५६ तक आयोजित वृद्धि	१९५५-५६ तक उपलब्धियाँ	उपलब्धियाँ लक्ष्य % के रूप में
१. कृषि उत्पादन (लाख में)।				
(क) खाद्यान्न (टन)	५४०·०	७६·०	६३५·०	१२५ %
(ख) कपास (गाँठ)	२९·१	१२·९	४०·०	८४ ,,
(ग) जूट (गाँठ)	३२·८	२१·२	४१·६	४१ ,,
(घ) गन्ना (टन)	५६·२	६·८	५८·६	३२ ,,
(ङ) तिलहन (टन)	५१·०	३·६	५६·०	१३० ,,
२. विद्युत (ला० किलोवाट)	२३·०	१३·०	४३·०	७५ ,,
३. सिंचाई (लाख एकड़)	५१०·०	१९७·०	६७८·०	८५ ,,
४. औद्योगिक उत्पादन	—	—	—	८५.७ ,,

प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में, राष्ट्रीय आय में (स्थिर कीमतों के आधार पर) लगभग १८% की वृद्धि हुई। १९५०-५१ में देश की राष्ट्रीय आय लगभग ९,११० करोड़ रुपये थी, जो १९५५-५६ में बढ़कर १०,८०० करोड़ रुपये हो गई। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में मूल अनुमान से अधिक वृद्धि हुई। इसी अवधि में 'प्रति-व्यक्ति आय' (income per capita) में लगभग ११% की वृद्धि हुई। १९५०-५१ में यह २५३ रुपया आँकी गई थी जो १९५५-५६ में बढ़कर २८१ रु० हो गई। इसके साथ-साथ इसी काल में प्रति-व्यक्ति उपभोग (per capita consumption) में लगभग ९% की वृद्धि हुई। अर्थव्यवस्था में, राष्ट्रीय आय की वृद्धि के तुलना में, विनियोजन की दर (जो १९५०-५१ में ५% से कुछ कम थी) प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल के अन्त में बढ़कर ७% से कुछ अधिक हो गई।

योजना काल के अन्त में सामान्य कीमत-स्तर, १९५०-५१ के आधार से, १५% कम थी। इस प्रकार, देश की शीघ्र-विकास के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में किये गये प्रयास 'आधार शिला' की भाँति सिद्ध हुये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना एवं उसके लिये धन की व्यवस्था :

१ अप्रैल १९५६ से, जब कि प्रथम योजना की अवधि पूरी हुई, द्वितीय पंचवर्षीय योजना, जो पहली योजना से अधिक आशावादी एवं दृढ़ थी, प्रारम्भ हुई। इस योजना का उद्देश्य उस समय तक हुई प्रगति को आगे बढ़ाना और उसके पहले प्रारम्भ किये गये कार्यों को पूरा करना था। द्वितीय योजना का लक्ष्य 'समाजवादी समाज की व्यवस्था' के अन्तर्गत तीव्र औद्योगिक विकास करना था। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रगति का आधार 'निजी लाभ' (self-interest) के स्थान पर 'सामाजिक लाभ' (social-benefit) बनाया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार निश्चित किये गये :—

(क) राष्ट्रीय आय में २५% की वृद्धि करना, जिससे कि देश के लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठ सके;

(ख) मूल एवं भारी उद्योगों (basic and heavy industries) के विकास पर विशेष बल देने के साथ-साथ तीव्र औद्योगीकरण करना;

(ग) अर्थव्यवस्था में रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करना;

(घ) आय एवं सम्पत्ति की असमानताओं में कमी और आर्थिक शक्ति का अधिक सम-वितरण करना।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में देश की राष्ट्रीय आय में लगभग १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई (१९५०-५१ में यह ९११० करोड़ रु० थी जो १९५५-५६ में १०८०० करोड़ रु० हो गई); विनियोजन की दर १९५०-५१ में ५ प्रतिशत थी जो १९५५-५६ में बढ़ कर ७·३ प्रतिशत हो गई तथा सार्वजनिक एवं निजी, दोनों ही क्षेत्र में, विनियोजन की कुल राशि लगभग ३१००० करोड़ रु० थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में, यह अनुमान लगाया गया कि राष्ट्रीय बचत में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप विनियोजन, जो १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय का ७·३ प्रतिशत आंका गया था, बढ़ कर १९६०-६१ में राष्ट्रीय आय का लगभग १०·३ प्रतिशत हो जायेगा। देश की राष्ट्रीय आय में लगभग २५ प्रतिशत की वृद्धि अनुमानित की गई। यह १९५५-५६ में १०८०० करोड़ रु० आंकी गई थी, जिसे १९६०-६१ में बढ़कर १३४८० करोड़ रु० हो जाने का अनुमान लगाया गया। यह भी अनुमान लगाया गया कि योजना के अन्त में (१९६०-६१ में) प्रति-व्यक्ति आय ३३१ रु० हो जायेगी, जो १९५५-५६ में २८१ रु० आँकी गई थी। योजना आयोग ने यह भी अनुमान लगाया कि विकास के सभी पहलुओं का ध्यान रखने पर ५ वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त में (१९७५-७६ में)

विनियोजन की दर राष्ट्रीय आय की १७% हो जायेगी, कुल राष्ट्रीय आय २७२७० करोड़ रुपये होगी और प्रति व्यक्ति आय ५४६ रुपये हो जायेगी।

द्वितीय योजना में विकास-कार्यक्रमों की प्राथमिकताओं को बदल दिया गया। प्रथम योजना में, कृषि सिंचाई एवं विद्युत शक्ति के विकास पर विशेष जोर दिया गया था। उस योजना में इन पर कुल निर्धारण का ४·३२ प्रतिशत व्यय किए जाने को निश्चित किया गया था। इसके विपरीत, द्वितीय योजना में 'उद्योग एवं खदान' पर विशेष बल दिया गया। निम्न तालिका से ज्ञात होगा, कि सार्वजनिक क्षेत्र में, विभिन्न विकास कार्यक्रमों के लिए किस अनुपात में कुल ४८०० करोड़ रुपये निर्धारित किए गये थे। इनसे अनेक प्रकार के कार्यक्रमों की प्राथमिकता का भी ज्ञान हो सकेगा :—

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कोषों का वितरण

	प्रथम योजना (अनुमानित)	द्वितीय योजना (अनुमानित)
कुल निर्धारण	२३५६ करोड़	४८०० करोड़
कृषि एवं सामुदायिक विकास	१५·१%	११·८%
सिंचाई एवं शक्ति	२८·१%	१९·०%
परिवहन एवं संवादवाहन	२३·६%	२८·९%
उद्योग एवं खनिज	७·६%	१८·५%
निर्माण एवं सामाजिक सेवाएँ	२२·६%	१८·७%
विविध	३·० %	२·१%

द्वितीय योजना काल के लिए कुल ४८०० करोड़ रुपये के निर्धारण में से २२५९ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा २५४१ करोड़ रु० राज्य सरकारों द्वारा व्यय किया जाना था। मई १९५८ में किए गये पुनः विचार के आधार पर कुल व्यय को दो श्रेणियों में विभक्त करने का निर्णय लिया गया। प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च प्राथमिकता की योजनायें रखी गई, जो ४५०० करोड़ रु० की थीं। दूसरी श्रेणी में कम महत्व की योजनायें शामिल की गईं, जो ३०० करोड़ रु० की थी। द्वितीय श्रेणी की योजनाओं का क्रियान्वयन संभावित ३०० करोड़ रुपये की कमी के पूरा होने की सम्भावनाओं पर निर्भर रखा गया। देश में साधनों का दशाओं का ध्यान रखते हुये १९५९ में **द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए कुल व्यय ४६०० करोड़ रुपया निश्चित किया गया।** इसमें से मोटे तौर पर लगभग ३७०० करोड़ रुपये विनियोजन तथा ९०० करोड़ रुपये वर्तमान विकास व्यय के लिए रखे गये। इसके अतिरिक्त २४०० करोड़ रुपये के विनियोजन का अनुमान निजी क्षेत्र में किया गया। द्वितीय योजना को विशेष आधार इस प्रकार थे : (क) मूल एवं प्रमुख उद्योग, जैसे इस्पात,

मशीन, निर्माण आदि पर जितना अधिक विनियोजन संभव हो सके करना और यथासंभव उपभोक्ता वस्तु-उद्योगों पर पर विनियोजन करना; तथा (ख) यदि आवश्यकता पड़े तो बड़े प्रमाण के संयुक्त पूँजी प्रतिष्ठानों की जगह छोटे प्रमाण के और कुटीर उद्योगों के विकास को बढ़ावा देना द्वितीय योजना के लिए निजी क्षेत्र में अनुमानित निर्धारण २४०० करोड़ रुपये का किया गया, जब कि प्रथम योजना में इस क्षेत्र के लिए ७५० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई थी। निजी क्षेत्र में प्रस्तावित विनियोजन के वितरण को इस प्रकार निश्चित किया गया :—

१.	संगठित उद्योग एवं उत्खनन	५७५ करोड़ रु०
२.	बाग, विद्युत, परिवहन इत्यादि	१२५ ,,
३.	निर्माण	१००० ,,
४.	कृषि एवं ग्रामीण उद्योग	३०० ,,
५.	स्टाक	४०० ,,
	कुल	२४०० ,,

रोजगार के क्षेत्र में, सीधे तौर पर बेरोजगारी की समस्या को हल करने की दिशा में प्रथम पंचवर्षीय योजना-काल में बहुत कम सफलता मिल सकी। इससे केवल देश की अर्थ-व्यवस्था को पर्याप्त स्थिरता मिलने में सहायता प्राप्त हुई। यह स्थिरता इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त हुई कि द्वितीय योजना के प्रारम्भ होते ही सरकार इस स्थिति में हो गई कि वह रोजगार तथा वृद्धि की समस्या की ओर और अधिक ध्यान दे सके। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में कृषि को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में ८० लाख-पूर्ण कालीन रोज़गार के अवसरों के उपलब्ध होने का अनुमान था। इसके अलावा, यह आशा थी कि विकास की सिंचाई सरीखी योजनाओं से अपूर्ण-रोजगार (Underemployment) की कमी होगी और इससे कुछ सीमा तक रोजगार के नये अवसर उपलब्ध होंगे। कुल मिलाकर, योजना-काल में श्रमिकों की माँग की पर्याप्त वृद्धि की व्यवस्था की गई थी जिससे कि द्वितीय योजना-काल में श्रम शक्ति की १०० लाख की अनुमानित वृद्धि की तुलना में यह ठीक हो।

योजना-व्यय के लिये आय के स्रोत :

मुख्य रूप से यह आशा की गई थी कि निजी एवं सार्वजनिक, दोनों ही क्षेत्रों के लिए, घरेलू साधनों से साधन प्राप्त हो सकेंगे। जब कि निजी क्षेत्र को मुख्य रूप से संयुक्त एवं व्यक्तिगत पूँजी पर निर्भर करना था, सार्वजनिक क्षेत्र के लिए कोषों की पूर्ति निम्न प्रकार से करने के लिये निश्चित किया गया :—

द्वितीय योजना के लिये आय के स्रोत

(सार्वजनिक क्षेत्र)

	अनुमानित (करोड़ रु०)	
	मूल	संशोधित
१—आन्तरिक साधन :	२४००	२५६२
अ—करारोपण द्वारा :	८००	१००२
(i) प्रचलित दरों द्वारा	३५०	—५०
(ii) अतिरिक्त दरों द्वारा	४५०	१०५२
ब—जनता से ऋण :	१२००	११८०
(i) बाजार के ऋण	७००	७८०
(ii) अल्प बचतें	५००	४००
स—बजट के अन्य साधन :	४००	३८०
(i) रेल्वे का अंशदान	१५०	१५०
(ii) प्रा० फण्ड की जमा आदि	२५०	२३०
२—घाटे की वित्त-व्यवस्था	१२००	९४८
३—विदेशी सहायता	८००	१०९०
४—न पूरी की गई कमी	४००	—
कुल योग	४८००	४६००

इनकी संक्षिप्त विवेचना नीचे की जा रही है :—

आन्तरिक साधन :

योजना के अनुमानों के अनुसार आन्तरिक साधनों से २५६२ करोड़ रु० मिलने थे। इसके विपरीत इन साधनों से वास्तविक रूप से २४४३ करोड़ रु० की राशि एकत्रित की गई। इन साधनों में मुख्य रूप से करारोपण, ऋणों, बचतों एवं विविध प्राप्तियों को शामिल किया जाता है।

करारोपण : यह आशा की गई कि करारोपण का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव, न केवल साधनों के एक भाग को एकत्रित करने, बल्कि योजना के दूसरे लक्ष्यों की प्राप्ति पर भी पड़ेगा। यह अनुमान किया गया कि करारोपण की वर्तमान दर पर ३५० करोड़ रु० तथा अतिरिक्त करारोपण द्वारा ४५० करोड़ रु० प्राप्त किए जा सकेंगे। अक्सर ऐसा कहा जाता है कि सीमित साधनों को देखते हुए, भारत एक ऐसा देश है जिसमें कर भार सर्वाधिक है और हम टैक्स देने की क्षमता की अधिकतम सीमा तक पहुँच चुके हैं। इस साधन से आय का अनुमान लगाने से पूर्व, योजना आयोग ने, भारत

सरकार द्वारा १९५३ में नियुक्त करारोपण जाँच आयोग (Taxation Enquiry Commission) की रिपोर्ट के आधार पर इस विचार का पर्याप्त अध्ययन किया। जाँच-आयोग की रिपोर्ट में, जो कि नवम्बर १९५४ में प्रकाशित हुई थी, यह कहा गया था कि 'भारत में कर भार बहुत अधिक है।' इस कथन में सत्य का अंश बहुत कम है। मोटे तौर पर, राष्ट्रीय आय के अनुपात में टैक्स से आय ७ प्रतिशत से कुछ अधिक है। जनता पर यह कर भार न केवल इंग्लैण्ड तथा अमेरिका सरीखे देशों से, जहाँ यह ३० से ४० प्रतिशत के बीच है, बहुत कम है बल्कि तुलनात्मक रूप से एशिया के कुछ अर्द्ध-विकसित देशों से भी कम है। फिर, १९३८ से १९५३ की अवधि में टैक्स दरों तथा टैक्सों में पर्याप्त वृद्धि के होते हुए राष्ट्रीय आय के अनुपात में करों से आय का स्तर लगभग वही रहा है। इस आयोग ने यह भी बताया था कि "कर देने की क्षमता का अर्थ करारोपण की सीमा से है जिसके उपरान्त उत्पादक प्रयासों और कार्य कुशलता पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि करों की आय का उपयोग सामाजिक सेवाओं के विस्तार और आर्थिक विकास की दिशा में किया जाता है और यदि इसकी स्पष्ट मान्यता है तो कर देने की क्षमता अधिक होगी। इसका अर्थ यह है कि कर देने की क्षमता की सीमा उसके उद्देश्यों से सम्बन्धित रहती है जिनके लिए अतिरिक्त कर लगाये जाते हैं।" इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारत में सार्वजनिक व्यय क्रमशः लाभ पूर्ण व्यय की दिशा में बढ़ता जा रहा है। इससे कर देने की क्षमता की सीमा में वृद्धि होने में सहायता मिल रही है। अतएव यह कहना कि भारतीय करारोपण ने, वर्तमान ढाँचे तथा दरों के आधार पर, देश की कर देने की क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं किया है, अनुमान पर आधारित है। जब इस पर अतिरिक्त साधनों की पर्याप्त आवश्यकता के सन्दर्भ में विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि करारोपण में कुछ वृद्धि करने का औचित्य विद्यमान है। आयोग ने, न केवल द्वितीय योजना के लिए साधनों के वृद्धि करने के उद्देश्य से बल्कि योजना में दिए गये अन्य उद्देश्यों तथा आय, सम्पत्ति एवंआर्थिक क्षमता में वर्तमान असमानताओं को दूर करने जिससे कि समाजवादीसमाज की स्थापना हो सके, की पूर्ति के लिए भी, करारोपण के विभिन्न तरीकों की सिफारिश की। इसने खेती से आय पर आय-कर लगाने; अनेक नवीन वस्तुओं जैसे मशीनें, ऊनी वस्त्र, बिस्कुट, कागज, बैटरियाँ, बिजली के लैम्प, पंखे, रंग एवं वार्निश, शीशा, एवं शीशे के सामान आदि पर उत्पादन कर (Excise duty) लगाने; मिट्टी के तेल, शक्कर, दियासलाई, कपड़ा, चाय, खाद्य तेल आदि पर उत्पादन कर में वृद्धि करने तथा बिक्री कर एवं अनेक प्रान्तीय करों में पुनरीक्षण करने (revision) की सिफारिश की। उसने ध्यानपूर्वक ऐसे उपाय भी सुझाये जो बचतों को हतोत्साहित न करके उन्हें और आगे विनियोजन के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, योजना आयोग ने यह अनुमान लगाया कि करों की आय से बचत के द्वारा ८०० करोड़ रु० की राशि उपलब्ध हो सकेगी। यह अनुमान, वर्तमान दरों तथा करारोपण की अतिरिक्त दरों की 'बचतों' के विस्तृत जाँच पर आधारित था १९५५–५६ में **प्रचलित करों की दरों पर,** द्वितीय योजना की अवधि के लिये केन्द्रीय व राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये करों से कुल आय का अनुमान १००० करोड़ रु० लगाया गया। इसमें से साधारण अनायोजित व्यय का अनुमान लगभग ६५० करोड़ रु० लगाया गया। इस प्रकार, **आयोजित-व्यय के लिये ३५० करोड़ रु० का अनुमान किया गया।** यह संख्या इस अनुमान पर आधारित थी कि केन्द्र या राज्य सरकारों के गैर-विकास सम्बन्धी व्ययों में कोई असाधारण वृद्धि न होगी और योजना की अवधि में सामाजिक-सुधार के उपायों को करने के कारण उनकी आय में कोई कमी न होगी। परन्तु, करारोपण के नये कानूनों से, जिनके कारण प्रशासन का कार्य अत्यन्त बढ़ गया एवं प्रशासन व्यय भी बहुत अधिक हो गया, आय में वृद्धि न हो सकी। वर्तमान-कर-प्रयासों के उपलब्ध अवशेषों से योजना के लिये साधन न प्राप्त हो सके। यह इस कारण हुआ क्योंकि उसकी आय अन्य माँगों जैसे प्रतिरक्षा, गैर-विकास सम्बन्धी व्यय तथा आयोजना के बाहर विकास-व्ययों में चली गई। ३५० करोड़ रु० की बचत के स्थान पर, **करारोपण की वर्तमान दरों के कारण योजना अवधि में करों की आय में १०० करोड़ का घाटा रहा।** आयोग ने यह भी अनुमान लगाया था कि केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा और **अधिक कर लगा कर ४५० करोड़ की अतिरिक्त राशि एकत्रित की जा सकेगी।** इस राशि को समान अनुपात में केन्द्र एवं राज्यों द्वारा एकत्रित करने के लिये राज्यों से कहा गया कि अनुमानित वृद्धि का ५० प्रतिशत वे बिक्री कर से प्राप्त करें। सुझाये गये दूसरे साधन भूमिकर, कृषि आयकर, सुधारकर, सिंचाई दरें, विद्युत कर, मोटर वाहन एवं सम्पत्ति कर थे। दिसम्बर, १९५६ में नई दिल्ली में हुई राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में अतिरिक्त करारोपण के लक्ष्य को ४५० करोड़ रु० से बढ़ाकर ८५० करोड़ रु० कर दिया गया। इतने सब प्रयासों के फलस्वरूप **अतिरिक्त करारोपण से कुल प्राप्ति,** जिसमें योजना काल में निजी उद्योगों से अतिरिक्त धन की प्राप्ति में वृद्धि के उपाय भी शामिल थे, **केवल १००० करोड़ रुपये** हुई।

ऋण और बचतें:—योजना आयोग ने इस बात का भली प्रकार अनुभव किया कि समाजवादी समाज में, जिसे हम आयोजना के द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं, लोगों द्वारा अपनी इच्छा से बचत करने का महत्व बढ़ता रहना चाहिये। एक सीमा के बाहर करारोपण के द्वारा लोगों के रहन-सहन के स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है क्योंकि इससे बचतों को प्रोत्साहन नहीं मिलता। अतएव, द्वितीय पंचवर्षीय

योजना में 'ऋण एवं बचतों' को धन की व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। यह अनुमान लगाया गया कि योजना के सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत विकास की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये, **'सार्वजनिक ऋण' के रूप में ७०० करोड़ रु०** की राशि (औसतन १४० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष) मिल सकेगी। यह उल्लेखनीय है, कि **'छोटी बचतों'** के द्वारा भी जो ५०० करोड़ रु० (१०० करोड़ रु० प्रति वर्ष) एकत्रित कर लेने का अनुमान लगाया गया था वह इसके अतिरिक्त था। इस प्रकार, इन साधनों से (ऋण व बचत) लगभग १२०० करोड़ रु० प्राप्त करने का निर्णय लिया गया था। यह २५० करोड़ रु० के उस राशि के अलावा था, जिसको उसी अवधि में, प्राविडेन्ट फण्ड तथा अन्य जमा शीर्षकों से प्राप्त होने की आशा की गई थी। योजना आयोग का विश्वास था कि सार्वजनिक ऋणों के प्रति जनता के बढ़ते हुए झुकाव के कारण (प्रथम योजना-काल में बाजार के ऋण १७५ करोड़ रु० प्राप्त हुए, जब कि उसका लक्ष्य ११५ करोड़ रु० का ही था) यह आशावादिता उपयुक्त थी। परन्तु इस तथ्य को भी ध्यान में रखते हुये कि उसी अवधि में ४३० करोड़ रु० के ऋणों की वापसी का भुगतान करना था, कुल 'सार्वजनिक ऋण' का लक्ष्य १,१३० करोड़ रुपये रखा गया। योजना आयोग को आशा थी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के विस्तार से भी कुछ ठोस सहायता प्राप्त हो सकेगी। इसलिये आयोग ने ऐसी योजनाओं पर विशेष बल दिया। 'सार्वजनिक ऋणों' में लोगों द्वारा धन लगाने के लिये प्रोत्साहित करने को ये प्रमुख साधन थे। इन अनुमानों की तुलना में द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल की अवधि में **८०० करोड़ रुपये सार्वजनिक ऋणों के रूप में प्राप्त हुए।**

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, द्वितीय योजना के लिये कोषों को उपलब्ध करने वाले साधनों में, नियोजकों ने, अल्प बचत को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया। प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में, अल्प बचतों द्वारा कुल २३७·२ करोड़ रु० प्राप्त हुए जब कि उसका अनुमान २२५ करोड़ रु० किया गया था। इस अनुभव के आधार पर नियोजकों ने यह समझा कि, इस आन्दोलन में जनता के सक्रिय और एकनिष्ठ सहयोग के द्वारा, द्वितीय योजना-काल में प्रतिवर्ष १०० करोड़ रु० की राशि एकत्रित करना कठिन न होगा। परन्तु, द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में **अल्प बचतों के द्वारा कुल ३८० करोड़ रु० की आय हुई।** इसमें सन्देह नहीं कि देश में यदि प्रत्येक पुरुष, स्त्री एवं बच्चा हर वर्ष २½ रु० भी बचाता तो देश में ५०० करोड़ रुपये योजना अवधि में आसानी से एकत्रित किये जा सकते थे। गाँवों में 'अल्प बचत आन्दोलन' को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से अनेक उपाय भी अपनाये गये, जिनमें ब्याज की दर की वृद्धि भी शामिल है। परन्तु इसके लाभकारी परिणाम न निकल सके।

बजट के अन्य साधन : इसमें रेलवे का अंशदान तथा प्राविडेन्ट फण्ड, सुधार कर तथा विविध विषयों से आय को सम्मिलित किया जा सकता है। यह अनुमान लगाया गया कि द्वितीय योजना के लिये दरों एवं भाड़ों में कुछ समायोजन कर तथा वर्तमान दरों पर ही परिवहन की सेवाओं में वृद्धि के द्वारा **रेलवे से अंशदान के रूप में १५० करोड़ रु० लिया जा सकता था।** यह आशा के अनुकूल हुआ और रेलवे ने अर्थव्यवस्था के विकास के लिये योजनावधि में १५० करोड़ रु० का अंशदान दिया। इसके अलावा, योजना की अवधि में रेलवे ने पूँजीगत वस्तुओं के वर्तमान घिसावट (depreciation) को पूरा करने के लिये २२५ करोड़ रुपये का और अंशदान दिया जो योजना में सम्मिलित नहीं था। इस प्रकार **रेलवे द्वारा** देश के योजनाबद्ध विकास के लिये द्वितीय पंचवर्षीय **योजना-काल में ३७५ करोड़ रुपया वास्तविक रूप में प्राप्त हुये।** इस मद के अन्तर्गत, योजना की अवधि में, **प्राविडेन्ट फण्ड तथा अन्य जमा खातों से** भी विकास व्यय के लिये **लगभग २५० करोड़ रु०** प्राप्त किये जा सकने का अनुमान लगाया गया था। परन्तु **इनसे (प्राविडेन्ट फण्ड एवं अन्य जमा खातों) केवल २१३ करोड़ रु० प्राप्त हो सके।**

इस प्रकार आन्तरिक स्रोतों में से प्रचलित दरों पर कर आय द्वारा—१०० करोड़ रुपया (अनुमानित–५० करोड़), अतिरिक्त करों अथवा दरों द्वारा १००० करोड़ रुपया (अनुमानित १०५२ करोड़), जनता से ऋणों द्वारा ८०० करोड़ रुपया, (अनुमानित ७८० करोड़) अल्प बचतों द्वारा ३८० करोड़ रुपया (अनुमानित ४०० करोड़), रेल्वे के अंशदान द्वारा १५० करोड़ रुपया (अनुमानित १५० करोड़) तथा प्राविडेन्ट फण्ड की जमा आदि से २१३ करोड़ रुपया (अनुमानित २३० करोड़) द्वितीय योजना-काल में सार्वजनिक व्यय के लिये प्राप्त हुये। अर्थात् इन साधनों द्वारा २५६२ करोड़ रुपये के संशोधित अनुमान (मूल अनुमान २४०० करोड़) की तुलना में २४४३ करोड़ रुपये इकट्ठे किये जा सके :—

योजना और घाटे की वित्त-व्यवस्था :

भारत की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को महत्व-पूर्ण स्थान (मूल अनुमान १२०० करोड़; संशोधित अनुमान ९४८ करोड़) प्रदान किया गया। यह निश्चित रूप से अनुभव किया गया कि आर्थिक साधनों के विस्तार के लिये 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' अपरिहार्य है। परन्तु इसके साथ यह भी विशेष रूप से विश्वास किया गया कि इसे एक सुरक्षित सीमा के भीतर रखा जाय जिससे अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारक तत्व विकसित न हो सकें तथा इसके रोकने के लिये हर संभव प्रयास किये जाने चाहिये। इस सम्बन्ध में दो बातों पर विचार किया गया : प्रथम, क्या देश इतने अधिक 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को सहन करने में समर्थ

है ? दूसरे, क्या योजना में अनुमानित 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' की यह ऊपरी सीमा होगी या अपरिहार्य (inevitable) न्यूनतम सीमा होगी ?

भारत में, अन्य सभी अर्द्ध-विकसित देशों की तरह, साधारणतः उत्पादन स्थिर स्थिति में है और उपभोग वस्तुओं की अत्यधिक माँग के कारण वास्तव में उपभोग के बाद, बचतों एवं पूंजी निर्माण के लिये बहुत कम अतिरिक्त बचत उपलब्ध हो पाती है। इस तथ्य के होते हुए कि उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to consume) अधिक है और पूँजी बहुत कठिनाई से उपलब्ध होती है, बढ़ रही जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये नई पूँजी-निर्माण के द्वारा देश के वर्तमान पूँजी सामग्री में वृद्धि की समस्या ऐसी है जिस पर तुरन्त ध्यान देना आवश्यक समझा गया। इसीलिये भारत सरीखे अर्द्ध-विकसित देश में, घाटे की वित्त-व्यवस्था को विकास-साधनों का एक आवश्यक अंग (desi deratium) समझा गया क्योंकि इसके द्वारा सरकार विकास की नीति पर चलकर देश की उत्पादक पूँजी में शीघ्र वृद्धि कर सकती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के लिए निर्धारित धन की व्यवस्था के स्रोतों में 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' की राशि २९० करोड़ रु० प्रस्तावित की गई थी, जो बहुत कुछ योजना की अवधि में निकाले जाने वाले पौंड-पावनों के अनुपात में थी। पर घाटे की वित्त-व्यवस्था की अपरिहार्य वास्तविक राशि इस सीमा को पार गई। यह राशि प्रथम तीन वर्षों में १४८ करोड़ रु०, चौथे वर्ष में ९३ करोड़ रु० और पाँचवें वर्ष में लगभग १८० करोड़ रु० थी। इस प्रकार योजना-अवधि में कुल ४२० करोड़ रु० की 'घाटे की वित्त-व्यवस्था, की गई। दूसरे शब्दों में प्रथम योजना काल में, सार्वजनिक क्षेत्र में वास्तविक (actual) १९६० करोड़ रु० के व्यय यह का लगभग २० प्रतिशत था। पर इस 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' का अर्थव्यवस्था पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ा। वास्तव में, १९५५-५६ में सामान्य कीमत-स्तर, योजना के प्रारम्भ के कीमत-स्तर से लगभग १५ प्रतिशत नीचे था।[1]

इन परिणामों से उत्साहित होकर 'योजना आयोग' ने १९५६ से १९६१ की अविध (द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल) में १२०० करोड़ रुपये तक की 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' की सिफारिश की। इसके क्षतिपूरक के रूप में पौण्ड-पावनों की राशि में २०० करोड़ रुपये की कमी होने का अनुमान लगाया गया। शेष १००० करोड़ रुपये के घाटे को, सरकार के बजट-कार्य के अनुसार मुद्रा में वास्तविक वृद्धि द्वारा पूरा किया जाना था। अर्थव्यवस्था पर स्फीतिकारी प्रभावों को कम करने के

१—१९५२-५३ के आधार पर (निर्देशांक १००) कीमतों का निर्देशांक १९५५-५६ में ९८·१ रह गया, जब कि इसी काल में लगभग १०% मुद्रा की पूर्ति बढ़ी १९३९ के आधार पर निर्देशांक ३९१ हो गया।

उद्देश्य से नियोजकों ने १२०० करोड़ रुपये के अनुमान को कम करके ९४८ करोड़ रुपया कर दिया। पर कठिन नियन्त्रण के बावजूद भी द्वितीय योजना-काल में **'घाटे की वित्त-व्यवस्था' की राशि ११७५ करोड़ रु० रही।**

'घाटे की वित्त-व्यवस्था' के सम्बन्ध में किसी विचार-विनिमय से बहुचर्चित मुद्रा-स्फीति का प्रश्न सामने आ जाता है। यह सभी जानते हैं कि जब एक बार मुद्रा-स्फीति प्रारम्भ हो जाती है तो वह बढ़ती जाती है, जिससे समस्त मौद्रिकहिसाब-किताब गड़बड़ हो जाता है, योजनाओं का व्यय बढ़ जाता है तथा आर्थिक क्रियायें अव्यवस्थित हो जाती हैं। अतएव, जो विचारक विकास योजनाओं के लिए 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को धन के स्रोत के रूप में स्वीकार करने से सहमत हैं, वे इस बात से भी सहमत हैं कि धन की व्यवस्था की इस प्रणाली में कठोर नियन्त्रण होना चाहिए, ताकि मुद्रा-स्फीति की तीव्र गति को रोका जा सके। इस सन्दर्भ में यदि हम देश की मूल्य-गति को देखें तो हमें पता चलेगा कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भिक वर्षों में मूल्यों में तेज़ी से वृद्धि हुई। कीमतों का सूचकांक, जो मार्च १९५६ में ३८७·४ था, मार्च १९५७ के अन्त में बढ़कर ४२१·३हो गया। कीमतों के बढ़ने का यह क्रम बराबर चलता ही गया। मार्च १९६०में कीमतों का सूचकांक ४२३ तथा अप्रैल १९६१ में ४२५ हो गया। १९५२-५३ के कीमतों के आधार पर मार्च, १९६१ में कीमतों का निर्देशांक १२५ हो गया जो मार्च १९५६ में ९८·१ था। इस प्रकार द्वितीय-योजना की अवधि में मूल्यों में लगभग ३०% की वृद्धि हुई। द्वितीय योजना-काल के प्रारम्भिक वर्षों में कीमतों के तेज़ी से बढ़ने के कारण यह मूलभूत प्रश्न सामने आया कि क्या 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' के लिए द्वितीय योजना-काल में निर्धारित रकम एक उचित परिणाम है? भारत सरकार ने बढ़ते हुए मूल्यों को रोकने के लिए मुद्रा-स्फीति विरोधी अनेक कदम उठाए, जिसमें ऋण की नीति, खाद्यान्नों के निर्यात पर प्रतिबन्ध वस्तुओं के आवागमन पर रोक इत्यादि शामिल हैं। इसके अलावा सरकार ने घाटे की वित्त-व्यवस्था को कम से कम करने तथा तृतीय योजना-काल में अतिरिक्त करारोपण एवं ऋणों पर अधिकाधिक रूप से निर्भर करने की घोषणा की। अर्थव्यवस्था के ऊपर पड़े दबाओं एवं कठिनाइयों ने अप्रतिबन्धित घाटे की वित्त-व्यवस्था के विरुद्ध चेतावनी देने का प्रयास किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि घाटे की वित्त-व्यवस्था से विकास होता है। परन्तु यह उस दवा की भाँति है जिसे कम मात्रा में लेना ही लाभकर होता है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के अध्ययन द्वारा लिखे गये एक पत्र का, जिसमें द्वितीय योजना में प्रस्तावित असंतुलित घाटे की वित्त-व्यवस्था की ओर अर्थ-मन्त्री का ध्यान आकृष्ट किया गया था, उत्तर देते हुये मन्त्री ने कहा था कि "हम मुद्रा-स्फीति के खतरों के प्रति पूर्णरूप से जागरूक हैं और पहले की ही तरह, भविष्य में भी उसके बचने के लिए कृत संकल्प हैं।"

इन्हीं सब कारणों से द्वितीय योजना की अवधि में १२०० करोड़ रु० की मूल रूप से प्रस्तावित 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' के स्थान पर ९४८ करोड़ रु० की रकम निश्चित की गई। फिर भी लोक सभा में भाषण देते हुये वित्त मन्त्री ने इस सीमा तक 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को बनाये रखने में इसलिये सन्देह प्रकट किया कि योजना के प्रथम दो वर्षों में ही ७०२ करोड़ रुपये की घाटे की वित्त-व्यवस्था हुई, जब कि अनुमानानुसार केवल ६०० करोड़ रुपये का यह होना चाहिये था। जैसा कि बतलाया जा चुका है, सरकार द्वारा किये गये अनेक प्रयासों के फलस्वरूप **द्वितीय योजना काल में ११७५ करोड़ रुपये की 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' हुई।**

द्वितीय योजना एवं विदेशी सहायता :

सभी अर्द्ध-विकसित देशों में 'विदेशी पूंजी' के रूप में विदेशी सहायता ने उनके आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। विभिन्न देशों के विनियोजन-कार्यक्रमों में मित्र देशों से विदेशी ऋणों, अनुदानों तथा अन्य रूप में सहायता पर निर्भरता का हमेशा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। विदेशी सहायता के औचित्य के सम्बन्ध में यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आर्थिक विकास के लिये विदेशी सहायता स्वीकार करने में कोई मूलभूत दोष नहीं है। देश की द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, 'विदेशी सहायता' के महत्व का इस बात से पता चलता है कि योजना आयोग को पहले यह आशा थी कि योजना की अवधि में विदेशी सहायता के रूप में ८०० करोड़ रु० प्राप्त होंगे। परन्तु आशानुकूल परिस्थितियों के कारण इस संख्या में परिवर्तन करके इसको १०९० करोड़ रु० कर दिया गया।

प्रथम योजना की अवधि में सामग्री एवं वस्तुओं के रूप में आर्थिक सहायता तथा विशेषज्ञों एवं प्रशिक्षण सुविधाओं के रूप में प्राविधिक सहायता, दोनों ही, अनेक देशों व अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से प्राप्त हुई। ऐसी सहायता में संयुक्त राज्य से अनुदान एवं ऋण, आस्ट्रेलिया, कनाडा एवं न्यूज़ीलैण्ड से अनुदान, ब्रिटेन एवं रूस से ऋण एवं अनुदान तथा नार्वे से अनुदान सम्मिलित हैं। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण तथा फोर्ड-फाउन्डेशन से अनुदान भी सम्मिलित हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में कुल २९६ करोड़ रु० की विदेशी सहायता प्राप्त हुई। इसमें से, केवल १९७ करोड़ रु० का उपयोग किया गया। शेष राशि (९९ करोड़ रु०) द्वितीय योजना-काल के लिये रख ली गई। द्वितीय योजना की अवधि में कुल विदेशी सहायता १३६२ करोड़ रुपये की प्राप्त हुई। इस प्रकार, द्वितीय योजना के लिये कुल उपलब्ध विदेशी सहायता १४६१ करोड़ रुपये की थी। इसमें से, ९८२ करोड़ रु० का उपयोग द्वितीय योजना की अवधि में किया गया। शेष सहायता (४७९ करोड़ रु०) तृतीय योजना-काल में उपयोग के लिए सुरक्षित कर दी गई।

इस प्रकार, सार्वजनिक क्षेत्र में, प्रथम पंचवर्षीय योजना काल की तुलना में द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में विकास-वित्त की व्यवस्था की स्थिति निम्न-तालिका में दिखलाई गई है :

विकास-वित्त के स्रोत (करोड़ रु० में)

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	अनुमान (संशोधित)	वास्तविक	अनुमान (संशोधित)	वास्तविक
१. आन्तरिक साधन	१२८७	१३४८	२५६२	२४४३
(क) आयखाता (रेलवे सहित)	७६९	७४५	११५२	१०५०
(ख) सार्वजनिक ऋण	११५	२०३	७८०	८००
(ग) अल्प बचत	२७०	३००	४००	३८०
(घ) अन्य विविध-प्राप्तियाँ	१३२	१००	२३०	२१३
२. घाटे की वित्त-व्यवस्था	२९०	४१५	९४८	११७५
३. विदेशी सहायता	—	१९७	१०९०	९८२
४. न पूरी की गई कमी	७७९	—	—	—
योग	२३५६	१९६०	४६००	४६००

निजी क्षेत्र :

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस क्षेत्र में अनुमानित निर्धारण २४०० करोड़ रु० का किया गया था। परन्तु, अन्तिम अनुमानों के अनुसार, इस क्षेत्र में कुल ३३०० करोड़ रुपये का व्यय हुआ। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र से सहायता के रूप में हस्तांतरित २०० करोड़ रु० भी सम्मिलित हैं। कार्यक्रमों के विभिन्न मदों पर कुल व्यय का वितरण इस प्रकार हुआ है :—

निजी क्षेत्र में व्यय का वितरण (करोड़ रु० में)

	अनुमान	वास्तविक
कृषि	२००	६७५
परिवहन, ग्रामीण एवं लघु उद्योग, मध्यम उद्योग	६००	१०६०
आवास एवं अन्य	१६००	१५६५
योग	२४००	३३००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियाँ :

भारत में आयोजना के प्रथम दस वर्षों का वर्णन साधारण रूप से उत्साहजनक कहा जा सकता है। १९५१ से १९५६ तक **राष्ट्रीय आय में** १८% की वृद्धि हुई। द्वितीय योजना की अवधि में यह वृद्धि २५% हुई। आयोजना के १० वर्षों में राष्ट्रीय आय में ४३% की वृद्धि का अनुमान लगाया गया। १९५०-५१ में, वर्तमान मूल्यों के आधार पर, राष्ट्रीय आय ९५३० करोड़ रु० थी, जो १९५५-५६ में १०००० तथा १९६०-६१ में बढ़कर १४१४० करोड़ रु० हो गई। प्रथम योजना के प्रारम्भ की तुलना में **प्रति व्यक्ति आय** १८% अधिक बढ़ी। १९५०-५१ में यह २८४ रु०, १९५५-५६ में २८५ रु० तथा १९६०-६१ में ३३० रु० थी। इसी अवधि में, **प्रति व्यक्ति उपभोग** में १६% की वृद्धि हुई है। दोनों योजनाओं में कुल **विनियोजन** १०,००० करोड़ रुपये से भी अधिक हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र में कुल व्यय ६५६०० करोड़ रु० (१९६०+४६००) तथा निजी क्षेत्र में कुल व्यय ५३०० करोड़ रुपया (२०००+३३०) हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र में अनुमानित विनियोजन ५२१० करोड़ रु० (१५६०+३६५०) तथा निजी क्षेत्र में ४९०० करोड़ रु० (१८००+३१००) हुआ। इस प्रकार कुल १०११० करोड़ रुपये के विनियोजन में से प्रथम योजना की अवधि में ३३६० करोड़ रु० एवं द्वितीय योजना की अवधि में ६७५० करोड़ रु० का विनियोजन हुआ। द्वितीय योजना के अन्त में कुल विनियोजन राष्ट्रीय आय का ११% था, जब कि प्रथम योजना के अन्त में यह ७·३% था। इसी प्रकार, द्वितीय योजना के अन्त में देश की कुल **बचत** राष्ट्रीय आय की ८% हुई, जब कि प्रथम योजना के अन्त में यह ५०% थी। द्वितीय योजना के अन्त में भारत में **करारोपण** द्वारा आय राष्ट्रीय आय की ८·५ प्रतिशत पाई गई जब कि प्रथम योजना के अन्त में यह ६.५ प्रतिशत थी। उत्पादन के क्षेत्र में, १० वर्षों में कृषि उत्पादन में ४०% की वृद्धि (प्रथम योजना काल में १६·८% तथा द्वितीय योजना काल में २३% की वृद्धि, तथा औद्योगिक उत्पादन में १२% की वृद्धि (प्रथम योजना काल में ३९% तथा द्वितीय योजना काल में ८१% की वृद्धि) हुई। १९४९-५० के आधार पर **खाद्यान्नों के उत्पादन** का सूचनांक १९५५-५६ में ११५·३ तथा १९६०-६१ में १३१ हो गया। अन्य फसलों के सूचनांक क्रमशः १२०·१ एवं १४३ थे।

परन्तु इन सफलताओं की दूसरी ओर, सर्वप्रथम, खाद्यान्नों, कृषि के कच्चे माल तथा औद्योगिक वस्तुओं की **बढ़ती हुई कीमतें** रही हैं। १९५२-५३ के आधार पर, मूल्यों का सामान्य सूचनांक १९५५-५६ में ९८·१ था, जो १९६०-६१ में १२५ हो गया। इस प्रकार, द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि में मूल्यों में लगभग ३०% की वृद्धि के साथ-साथ **रोजगार के अवसरों** में वृद्धि नहीं हुई। यह आशा थी कि विकास कार्यक्रमों से द्वितीय योजना की अवधि में, कृषि के बाहर लगभग ८० लाख

लोगों को रोजगार के अवसर उपलब्ध हो सकेंगे। परन्तु वास्तविक रूप में ६५ लाख लोगों को ही रोजगार को अवसर प्राप्त हो सके। अनुमान एवं उपलब्धि में यह अन्तर दुःख का विषय बन गया, क्योंकि 'रोजगार' ही एक ऐसा माप होता है जिससे साधारण व्यक्ति आयोजना की सफलताओं को आँकता है।

तृतीय योजना एवं उसके लिये वित्त-व्यवस्था :

प्रथम दो योजनाओं में प्राप्त अनुभवों को ध्यान में रखते हुए, तृतीय पंचवर्षीय योजना का निर्धारण निम्न उद्देश्यों से किया गया और जिसे कार्यान्वित किया जा रहा है :—

(क) ५% प्रतिवर्ष की दर से राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना;

(ख) खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर बनना तथा उद्योग एवं निर्यात की माँगों को पूरा करने के लिये कृषि उत्पादन में वृद्धि करना;

(ग) मूल-उद्योगों—जैसे इस्पात, ईंधन एवं शक्ति तथा मशीन-निर्माण की क्षमता बढ़ाना तथा उनका विस्तार करना, जिससे आगे के १० वर्ष, या ऐसी ही अवधि में, मुख्य रूप से देश के आन्तरिक साधनों से ही और अधिक औद्योगीकरण की आवश्यकतायें पूरी हो सकें;

(घ) देश की जनशक्ति का अधिकाधिक उपयोग एवं रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करना;

(ङ) आय एवं सम्पत्ति की असमानताओं में कमी करना एवं आर्थिक शक्ति का अधिक सम-वितरण करना।

निर्धारण एवं प्राथमिकतायें—तृतीय पंचवर्षीय योजनाकाल में कुल १०,४०० करोड़ रुपये के विनियोजन का अनुमान किया गया, जिसमें से ६३०० करोड़ रु० का सार्वजनिक क्षेत्र में एवं ४१०० करोड़ रु० का निजी क्षेत्र में विनियोजन किये जाने की सम्भावना है। सार्वजनिक क्षेत्र में १२०० करोड़ रु० का चालू व्यय (कर्मचारियों को सहायता आदि) का भी अनुमान है। इस प्रकार, तृतीय योजना-काल में सार्वजनिक क्षेत्र में ७५०० करोड़ रु० एवं निजी क्षेत्र में ४१०० करोड़ रु० के व्यय का अनुमान किया गया है। योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय का अनुमानित वितरण इस प्रकार है :—

सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय का वितरण (करोड़ रु० में)

मद	द्वितीय योजना		तृतीय योजना	
	राशि	प्रतिशत	राशि	प्रतिशत
१. कृषि एवं लघु-सिंचाई	३२०	६·९	६४५	८·६
२. सामुदायिक विकास एवं सहकारिता	२१०	४·६	४२३	५·५
३. बड़ी एवं मध्यम सिंचाई योजनायें	४५०	९·८	६५०	९·०

४.	शक्ति	४१०	८·९	१०१२	१३·०
५.	ग्रामीण एवं लघु उद्योग	१८०	३·९	२६४	४·०
६.	उद्योग एवं खनिज	८८०	१९·१	१५२०	२०·०
७.	परिवहन एवं संवादवाहन	१२९०	२८·१	१४८६	२०·०
८.	सामाजिक सेवाएँ	८६०	१८·७	१३००	१७·०
९.	शोध (Inventories)	—	—	२००	३·०
	योग	४६००	१००·०	७५००	१००·०

निजी क्षेत्र में होने वाले ४१०० करोड़ रुपये का व्यय का अनुमानित वितरण इस प्रकार है :—

१.	कृषि एवं सामुदायिक विकास	८०० करोड़ रु०
२.	विद्युत	५० ,, ,,
३.	परिवहन एवं संचार	२५० ,, ,,
४.	ग्रामीण एवं लघु-उद्योग	२७५ ,, ,,
५.	बेड़ एवं मध्यम-उद्योग	१०५० ,, ,,
६.	समाज सेवा एवं फुटकर	१०७५ ,, ,,
७.	अन्य	६०० ,, ,,
		४१००

तृतीय योजना की वित्तीय-व्यवस्था :

तृतीय योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में होने वाले व्यय को पूरा करने के लिये निम्न स्रोतों को आधार बनाया जा रहा है :—

तृतीय योजना की वित्तीय-व्यवस्था

(करोड़ रुपये में)

आय के साधन	पहली योजना (वास्तविक)	द्वितीय योजना (वास्तविक)	तृतीय योजना (निर्धारण)
१—वर्तमान करों से आय	६३७	– १००	५५०
२—अतिरिक्त करारोपण	—	१०००	१७१०
३—रेलों का अंशदान	११५	१५०	१००
४—सार्वजनिक उद्यमों से बचत	—	—	४५०
५—जनता से ऋण	२०४	८००	८००

६—छोटी बचतें	२४३	३८०	६००
७—प्राविडेन्ट फण्ड आदि	२३९	२१३	५४०
८—घाटे की वित्त-व्यवस्था	३३३	११७५	५५०
९—विदेशी सहायता	१९७	९८२	२२००
कुल	१९६०	४६००	७५००

तीसरी योजना में, सरकारी क्षेत्र में जो ७,५०० करोड़ रु० की व्यवस्था है, इसमें ६,०३८ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार इकट्ठा करेंगी और शेष के लिये राज्यों का उत्तरदायित्व है। उपरोक्त तालिका को देखने से पता चलता है कि यह राशि प्रमुख रूप से राजस्व की बचत (५५० करोड़ रु०) के अलावा रेलवे से (१०० करोड़ रु०), सार्वजनिक ऋण से (८०० करोड़ रु०) एवं अल्प बचत से (६०० करोड़ रु०) प्राप्त होगा। आन्तरिक स्रोतों में अतिरिक्त आय के लिए दो पर भरोसा किया गया है—सरकारी उद्योगों के लाभ की बचत (४५० करोड़ रु०) तथा अतिरिक्त करों की आय (९७१० करोड़ रु०)। साथ ही 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को सीमित रखने के उद्देश्य से इसके अन्तर्गत ५५० करोड़ रुपया प्राप्त करने का अनुमान लगाया गया है, जब कि द्वितीय योजना-काल में ११७५ करोड़ रु० इसके द्वारा प्राप्त किए गए थे। आवश्यक रकम प्राप्त करने के उद्देश्य से २२०० करोड़ रुपये के विदेशी सहायता का अनुमान लगाया गया है। इन साधनों के बारे में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान करों के आय से बचत को कम आँका गया है पर दूसरी ओर अल्प बचत एवं सार्वजनिक ऋण से प्राप्त की जाने वाली आय का अधिक अनुमान लगाया गया है। योजना आयोग के अनुमानों के अनुसार, वर्तमान आय का रुख वृद्धि की ओर है। द्वितीय योजना में अल्प-बचत के साधन द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई। इसके अन्तर्गत ५०० करोड़ रु० का लक्ष्य रखा गया था, परन्तु प्राप्ति ३८० करोड़ रु० से अधिक की नहीं हुई। इसीलिए आलोचकों ने इस स्रोत से ६०० करोड़ रु० की प्राप्ति की आशा में सन्देह प्रकट किया। द्वितीय योजना-काल में सार्वजनिक ऋण से ८०० करोड़ रु० तो मिले, लेकिन इसमें स्टेट बैंक आफ इण्डिया द्वारा दी गयी पी० एल० ४८० के मद की रकम भी शामिल है। वास्तव में इसे तो 'विदेशी सहायता' में सम्मिलित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक ने भी बहुत से ऋण-पत्र खरीदे हैं। यदि इन रकमों को निकाल दिया जाय, तो हम देखते हैं कि जनता द्वारा दिया गया ऋण केवल ३०० करोड़ था। अतः यह आशा करना कि यह रकम अगले पाँच वर्षों में ८०० करोड़ रु० तक बढ़ाई जा सकेगी, सन्देहपूर्ण है। जहाँ तक सरकारी उद्योगों के लाभ से प्राप्त की जा सकने वाली आय का प्रश्न है, सरकारी उद्योगों—जैसे लोहा एवं स्पात, उर्वरक, तेल-शोधक कारखाने, डाक-तार सेवाएँ आदि—को

ऐसे दर निश्चित करने होंगे जिससे अगले पाँच वर्षों में ४५० करोड़ रु० की आय प्राप्त की जा सके। यह भी सन्देहजनक प्रतीत होता है कि सरकारी उद्योग इतनी उन्नति कर लेंगे कि आवश्यक पूंजी जुटा सकें। अभी कुछ उद्योग तो लाभ कमाने की स्थिति में नहीं पहुँचे और कुछ ने तो अभी उत्पादन ही नहीं शुरू किया है। जिन थोड़ों ने उत्पादन शुरू भी किया है, वे भी कई कारणों से अपनी पूरी क्षमता पर कार्य नहीं कर पा रहे हैं। इसलिए इनसे कितनी आय हो सकेगी, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अतिरिक्त-कर लगाने की सम्भावनाओं के विषय में यह ध्यान रखना होगा कि द्वितीय योजना-काल में काफी नए कर लगाए जा चुके हैं। नए प्रत्यक्ष करों को, विशेषतया आय-कर जिसकी दरें १९६०-६१ में भी काफी ऊँची थीं, लगाना उचित नहीं समझा गया; लेकिन मध्यवर्गीय आय पर कर की दरों में वृद्धि की सम्भावनायें पाई गईं। तो भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि इससे कुछ विशेष आय न हो सकेगी। इसीलिए सरकारों को अप्रत्यक्ष करों पर अधिक निर्भर करना पड़ रहा है। इससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ती जा रही हैं जिसका प्रभाव गरीब व मध्य-वर्ग के लोगों पर ऊँची-आय वाले लोगों की अपेक्षा अधिक पड़ रहा है। इस अवस्था से बचने का कोई उपाय भी नहीं दिखलाई पड़ता। साधनों के जुटाने का अन्य स्रोत 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' है। पिछले अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस साधन का अधिक सहारा लेने से स्फीतिकारी दशायें और प्रबल हो सकती हैं जिससे गरीब और मध्य-वर्ग के लोगों पर और भार बढ़ेगा। इसलिए भारत ऐसे अर्ध-विकसित देश में, जिसमें गरीबी बहुत हो, बिना सभी वर्गों के लोगों द्वारा कुछ न कुछ त्याग किये पूंजी जुटाना कठिन है। अब तक किये गये प्रयास सरकार की, इस दिशा में, सफलता की ओर संकेत करते हैं। तृतीय योजना-काल में केन्द्रीय सरकार को अतिरिक्त करों व सरकारी उद्योगों के अतिरिक्त लाभ से ११०० करोड़ रु० की पूंजी जुटानी थी। सन् १९६१-६२ के बजट में जो नए कर लगाए गए उनसे योजना-काल में ४५० करोड़ रु० प्राप्त किये जाने का अनुमान लगाया गया है। सन् १९६२-६३ में जो और कर लगाए गए हैं उनसे शेष चार वर्षों में ४०० करोड़ रु० और प्राप्त होने की सम्भावना है। इस प्रकार योजना के द्वितीय वर्ष में ११०० करोड़ रु० में से ८५० करोड़ रु० जुटाने का बन्दोबस्त हो गया। इसलिए इस आधार पर कहा जा सकता है कि देश में योजना-अनुमानुसार पूंजी इकट्ठी कर ली जायेगी।

तीसरी योजना-काल की सबसे बड़ी समस्या कीमतों की वृद्धि समझी गई। द्वितीय योजना-काल में कीमतों ने जो बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाई उससे योजना-आयोग अप्रभावित न रह सका। आयोग ने इस बात को स्वीकार किया कि यदि कीमतों में वांछनीय स्थिरता न रही और उसमें मनमाने ढंग से वृद्धि होती रही, तो योजना की

पूर्ति में तो बाधा पड़ेगी ही पर साथ में जनता को अधिक कष्ट उठाना पड़ेगा। कीमतों के बढ़ जाने के कारण लोगों की वास्तविक आय कम हो जाती है, वे अधिक मज़दूरी की माँग करने लगते हैं जिसको पूरा करने से योजनाओं के कार्यान्वियन की लागत बढ़ जाती है, जिसको फिर पूरा करने के लिये सरकारों को अधिक धन व उनके साधन जुटाना पड़ता है। इस प्रकार आयोजना का आकार ही कमजोर पड़ जाता है। योजना आयोग ने इस बात के महत्व को समझकर तीसरी योजना-सम्बन्धी रिपोर्ट में कीमतों की स्थिरता पर अधिक जोर दिया और आय के स्रोतों में 'घाटे की वित्त-व्यवस्था' को नियन्त्रित स्थान प्रदान किया। कठिन प्रयासों के पश्चात् द्वितीय योजना-काल में ११७५ करोड़ रुपये का 'हीनार्थ-प्रबन्धन' हुआ जब इसका अनुमान (संशोधित) ९४८ करोड़ रुपये (मूल अनुमान १२०० करोड़ रु०) का था। तृतीय योजना काल में इस 'प्रबन्धन' को ५५० करोड़ रु० तक सीमित रखने का निर्णय किया गया है। इतना होते हुये भी तीसरी योजना-काल में कीमतों में अब तक जो वृद्धि हुई है और जनता को जो कष्ट हो रहा है उसको सभी अनुभव कर रहे हैं। १९६१-६२ में तो कीमतों में स्थिरता रही पर उसके पश्चात् १९६२-६३ में कीमतें ३.७% बढ़ गई। १९६३-६४ में वृद्धि की तीव्रता और अधिक बढ़ गई और कीमतें ९.३% बढ़ीं। ऐसी ही प्रवृत्ति १९६४-६५ में दिखलाई पड़ी। यद्यपि तृतीय योजना की भावी सफलता अथवा असफलता का अनुमान अभी पूर्वकालिक है, पर सरकारों द्वारा इस दिशा में विशेष रूप से ध्यान देने की बड़ी आवश्यकता है। योजना आयोग का कार्य, उपलब्ध आँकड़ों एवं सरकारी नियमन के अश्वासनों के अन्तर्गत, केवल योजनायें तैयार करना है। उनका सफल कार्यान्वियन सरकारों द्वारा अपनाये गये प्रयासों पर निर्भर करता है।

तीसरी योजना-काल में, सार्वजनिक व्यय के लिये, विदेशी सहायता पर काफी बल दिया गया है। दूसरी योजना-काल में विदेशी सहायता प्राप्त करने में जो कठिनाई हुई थी, उसके आधार पर ऐसा समझा गया कि तृतीय योजना के लिये २२०० करोड़ रुपये की सहायता की आशा करना उचित नहीं है। तृतीय योजना-काल के लिये काफी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया। ऐसा अनुमान लगाया गया कि योजना-काल में ३२०० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की कमी होगी, जिसमें ५०० करोड़ रुपया ऋण व ब्याज के, २१०० करोड़ रुपया योजना के सहायतार्थ तथा ६०० करोड़ रुपये पी० एल० ४८० के अन्तर्गत प्राप्त वस्तुओं के भुगतान के लिये देने होंगे। दूसरी योजना-काल में विदेशी सहायता मिलने की कठिनाइयों के कारण ही योजना को लचीला रखा गया था। अनुभव ने यह बतलाया है कि वर्तमान योजना के सम्बन्ध में विदेशी सहायता प्राप्त करने में उतनी कठिनाई नहीं हुई, जितनी दूसरी योजना के सम्बन्ध में हुई थी। अब तक विदेशों से

२६०६ करोड़ रुपये की सहायता का अश्वासन मिल चुका है, जिसमें से २०११ करोड़ रुपये के समझौते किये जा चुके हैं। इसमें से १५३० करोड़ रुपये के माल के आर्डर दिये जा चुके हैं। इस दिशा में वास्तविक कठिनाई यह है कि देश द्वारा अर्जित विदेशी मुद्रा का अधिकांश भाग खाद्यान्नों के आयात पर खर्च किया जा रहा है।

चीनी व पाकिस्तानी आक्रमणों का प्रभाव :

तीसरी योजना मुश्किल से डेढ़ वर्ष चल पाई थी, जब अक्टूबर-नवम्बर १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के फलस्वरूप योजना में कुछ मौलिक परिवर्तन करने पड़े। देश की प्रतिरक्षा पर जो व्यय होता था वह बढ़कर दुगुने से अधिक हो गया। इस प्रकार राष्ट्र की आय का काफी बड़ा भाग प्रतिरक्षा पर खर्च होने लगा। उसी अनुपात में विकास-कार्यों पर निर्धारित व्यय में कटौती करनी पड़ी। साथ ही प्रतिरक्षा-सम्बन्धी-उद्योगों को योजना-बद्ध विकास में प्राथमिकता दी गयी। देश में युद्ध सामग्री बनाने के नए-नए कारखाने और केन्द्र स्थापित हुए, जिन पर काफी व्यय हो रहा है। अगस्त-सितम्बर १९६५ में भारत को पाकिस्तानी आक्रमण एवं चीनी धमकी का सामना करना पड़ा, जिसने सरकार एवं नियोजकों को प्रतिरक्षा के विषय में पुनः विचार करने को विवश कर दिया। अतएव इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि सुरक्षा तैयारी के लिए देश का बहुमुखी-विकास अत्याज्य है। आर्थिक विकास और सुरक्षा एक ही समस्या के दो पहलू हैं। एक के बिना दूसरे की प्रगति नहीं हो सकती। यह निश्चित है कि इन दोनों मदों पर व्यय बढ़ता ही जायेगा। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रतिरक्षा पर वार्षिक व्यय १००० करोड़ रु० से भी अधिक होगा। फिर भी ऐसी आशा है कि विकास कार्यों के लिये जो रकम निर्धारित की गयी है उसे यथावत् रखा जायगा।

अर्ध-सामयिक सर्वेक्षण (Mid-Term Appraisal of the Third Plan) :

तीसरी योजना के तीन वर्ष समाप्त होने पर कई संसद सदस्यों तथा देश के अन्य विद्वानों ने योजना की धीमी प्रगति के बारे में असन्तोष प्रकट किया। स्वयं योजना आयोग विकास कार्यों की प्रगति से सन्तुष्ट नहीं था। इसलिये आयोग ने तृतीय योजना की प्रगति का एक सर्वेक्षण कराया और उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया गया कि प्रथम तीन वर्षों में **योजना की प्रगति निर्धारित लक्ष्यों की अपेक्षा कम रही है।** योजना का लक्ष्य वार्षिक आय में ५ प्रतिशत अधिक वृद्धि करना है, लेकिन यह वृद्धि लगभग २·५ प्रतिशत ही रही। देश में जनसंख्या भी २·५ प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ रही है। अतः इस आय-वृद्धि की दर से लोगों का जीवन स्तर बढ़ना असम्भव दिखलाई पड़ रहा है। आय में कम वृद्धि का मुख्य **कारण कृषि उत्पादन में कमी होना ही है।** कृषि उत्पादन का सूचकांक १९६०-६१ में

१३९·७ से बढ़कर १९६१-६२ में १४१·४ और फिर १९६२-६३ में घट कर १३६·८ रह गया, यद्यपि यह १९६३-६४ में फिर बढ़कर १४०·५ हो गया। इसी प्रकार प्रथम दो वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में क्रमशः ६·५% तथा ८·०% वृद्धि हुई, जब कि लक्ष्य ११% वार्षिक वृद्धि का था। आपतकालीन स्थिति के उत्पन्न हो जाने से परिवहन व संचार के विकास-कार्यक्रम का विस्तार अवश्य किया गया है। शिथिल आर्थिक प्रगति के साथ-साथ रोजगार की समस्या वैसी की वैसी ही बनी रही। १९६१-६२ से १९६३-६४ तक लगभग ४१९८ करोड़ रुपये व्यय हुये पर अधिकतर क्षेत्रों के लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके।

इतना सब होते हुये भी योजना की सफलता एवं असफलताओं का अनुमान लगाना पूर्वकालिक ही होगा।

चौथी पंचवर्षीय योजना एवं उसकी वित्त-व्यवस्था :

योजना आयोग ने चौथी पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में एक स्मृति-पत्र को तैयार किया है और उसे चौथी योजना का आधार माना है। उस स्मृति-पत्र को राष्ट्रीय विकास परिषद् ने स्वीकार कर लिया है और उसी के आधार पर योजना की रूप-रेखा तैयार की जा रही है। उस स्मृतिपत्र का सारांश इस प्रकार है :—

उद्देश्य : १. कृषि उत्पादन में ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि करना, खाद्यान्नों की उपलब्धि बढ़ाना और ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों की आय में वृद्धि करना; २. कृषि में विनियोग की वस्तुओं की उपलब्धि में वृद्धि करना; ३. उपभोग की वस्तुओं की उपलब्धि में वृद्धि करना; ४. मकान बनाने के सामानों की वृद्धि करना; ५. धातुओं, रासायनिक द्रव्यों, मशीनों, खान (Mining) बिजली तथा यातायात की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना; ६. मनुष्यों के श्रम का अधिक उपयोग करके उत्पादन में वृद्धि करना; ७. अधिक रोजगारी और अधिक सामाजिक न्याय उपलब्ध करना।

विनियोग : चौथी योजना के विभिन्न कार्यक्रमों पर २१,५०० से लेकर २२,५०० रु० तक की रकम खर्च होगी। इस रकम में से १४,५००—१५,५०० रु० की रकम सरकारी क्षेत्र में खर्च होगी और बाकी ७,००० करोड़ रु० की रकम निजी क्षेत्र में खर्च होगी।

प्रत्येक क्षेत्र में कुछ स्कीमें या कार्यक्रम ऐसे होंगे जो आधी योजना-काल समाप्त होने के बाद लिए जायेंगे और इनमें विनियोग की मात्रा १,००० करोड़ से अधिक की न रहेगी, अर्थात् यह खर्च साधनों की उपलब्धि पर निर्भर करेगा। योजना के प्रारम्भ ही से तेजी से काम करने की कोशिश की जायगी जिससे अतिरिक्त साधन, अर्थात् पूंजी, प्राप्त हो सके। तेजी के साथ काम करने के प्रयत्नों में ये बातें शामिल होंगी : ऐसे कार्यक्रमों का चुनाव करना जिनके नतीजे शीघ्र प्राप्त

हो सकें, किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में पहले से तैयारी करना, उस सम्बन्ध में प्रशासकीय कदम उठाना तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों की नियुक्ति करना।

व्यय का विभाजन : पूंजी के विनियोग का हिसाब इस दृष्टि से लगाया गया है कि सरकारी क्षेत्र में विनियोग की मात्रा १५,६२० करोड़ रु० रहेगी। इसमें से ७,५२५ करोड़ रु० केन्द्रीय सरकार खर्च करेगी, ७,६६० करोड़ रु० राज्य सरकारें और ४३५ करोड़ रु० केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्र खर्च करेंगे। कुल व्यय के बटवारे का अनुमान इस प्रकार किया गया है :—

चौथी योजना में प्रस्तावित रकमें (करोड़ रुपयों में)

मद	रकम (प्रस्तावित)
कृषि	२४००
सिंचाई	१०००
बिजली	१९५०
संगठित उद्योग	३२००
लघु उद्योग	४५०
परिवहन व संचार	३०००
शिक्षा	१४००
स्वास्थ्य	१०९०
अनुसंधान	१७५
मकानात व निर्माण	४००
पिछड़े वर्ग	२०५
कल्याण	३५०
कुल	१५६२०

सरकारी क्षेत्र में जो १५,६२० करोड़ रु० खर्च करने का प्रस्ताव है उसमें से १२,९९५ करोड़ रु० नए कार्यों पर खर्च होगा और २,६२५ करोड़ रु० चालू कार्यों पर।

निजी क्षेत्र में खर्च का अनुमान ६,९८० करोड़ रु० है। इसको और सरकारी क्षेत्र को मिला कर विनियोग की मात्रा १९,९७५ करोड़ रु० हो जायगी जब कि पूरी योजना २२,६०० करोड़ रु० की है। निजी क्षेत्र में विनियोग की रूपरेखा का विवरण इस प्रकार है :—

	(करोड़ रुपयों में)
कृषि	७००
बिजली	५००
लघु-उद्योग	४००

संगठित-उद्योग	२४००
परिवहन और संचार	६५०
शिक्षा	१००
मकानात और निर्माण	१४७०
समाज कल्याण	१०
विविध	१२००
	६९८०

मोटे तौर पर ऐसा अनुमान लगाया गया है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-काल (अप्रैल १९५६ से मार्च १९७१) में खाद्यान्न उत्पादन १ करोड़ टन, तेलहन उत्पादन २५ लाख टन, जूट उत्पादन १८ लाख गाँठ, विद्युत उत्पादन १ करोड़ किलोवाट, सिंचित क्षेत्र १·३ करोड़ एकड़, लौह-धातु उत्पादन २·८ करोड़ टन, रासायनिक खाद उत्पादन २७ लाख टन बढ़ जायेगा। यह भी अनुमान किया गया है कि अप्रैल १९६६ में बेकार लोगों की संख्या १·२० करोड़ होगी तथा योजना-काल में २·५ करोड़ लोग और रोजगार पाने के योग्य हो जायेंगे। योजना काल में लगभग २·५ लोगों को रोजगार मिल सकेगा। योजना आयोग ने योजना-काल में कीमतों में स्थिरता लाने के लिये सतर्कता बरतने पर काफी जोर दिया है। आयोग ने उत्पादन लागत में कमी करने, उपभोग-वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने, वितरण व्यवस्था पर सरकारी नियन्त्रण रखने, बचत की दर में वृद्धि करने, आय विषमताओं में कमी करने तथा प्रशासकीय व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ करने पर काफी महत्व देने की बात कही है। जनसंख्या को नियन्त्रित रखने के उद्देश्य से परिवार-नियोजन को योजना में विशेष स्थान दिया जा रहा है।

निर्देशक पुस्तकें :

Planning Commission : Five Year Plans
Reserve Bank of India : Annual Reports
Govt. of India : India 1960 to India 1964.

अध्याय २२

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International of Monetary Fund)

कोई भी देश, दूसरे देशों के ऋणों को तीन प्रकार से अदा कर सकता है। वह ऋण-दाता देश को अपने देश का चलन-मुद्रा (Currency) दे सकता है, परन्तु यह उसी सीमा तक संभव हो सकता है जिस सीमा तक वह देश इसे स्वीकार करने को तैयार हो या उस चलन-मुद्रा को एकत्रित करने के लिए तत्पर हो। यह ऋण-दाता देश के पास ऋणी देश के उपलब्ध स्वर्ण या विदेशी मुद्राओं को निकालकर भी किया जा सकता है। इसका एक तरीका यह भी है कि ऐसा देश ऋण दाता देश में ऋण ले या ऋणी देश उसे ऋण स्वीकृत कर दे। वह इसे अनुदान के रूप में भी प्राप्त कर सकता है। स्वतन्त्र विनिमय की प्रणाली में, बहुपक्षीय आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय ऋण-ग्रस्तता को तय करने के लिए आवश्यक सुविधायें, (विनिमय बाजार द्वारा) प्राप्त होती हैं। विनिमय-नियंत्रण की आस्था में, इसके लिए प्रयत्नपूर्वक व्यवस्था करनी होती है। भुगतान सन्तुलनों में अन्तर्राष्ट्रीय गैर-साम्यावस्था अथवा असंतुलन (dis-equilibrium) को समाप्त करने के लिए, जब तक कि वे पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो जाते, **'अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग'** अत्यन्त आवश्यक है। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर, अन्तर्राष्ट्रीय तरलता (liquidity) के साधन के रूप में चलन-मुद्राओं के स्थानान्तरण के एक संतोषजनक विकल्प (alternative) की तरह, एक प्रकार की एकत्रीकरण (Pooling) व्यवस्था के रूप में **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** की स्थापना की गई। यह अत्यन्त सन्तोषजनक रूप से कार्य कर रहा है तथा समस्त देशों में आर्थिक गतिविधि एवं रोजगार के उच्चतम स्तर को प्राप्त करने में सहायता प्रदान कर रहा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

युद्धकाल में मुद्रा के विकास के सम्बन्ध में हुए अनुभवों के परिणामस्वरूप युद्ध के बाद, अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्णमान की व्यवस्था का एकमात्र उद्देश्य विनिमय दरों को स्थिरता प्रदान करना था, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास हो सके और राष्ट्रों के बीच पूंजी के आवागमन में कोई कठिनाई न हो। घरेलू क्षेत्र में, इससे मूल्य का एक

उचित स्थित-स्तर प्राप्त करने में सहायता मिलती थी। परन्तु, बीसवीं शताब्दी में हुए नवीन विकासों से इस बात को समझा जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता, आन्तरिक स्थिरता के समरूप, नहीं हो सकती। फिर, स्वर्णमान को बनाये रखना भी कठिन एवं असम्भव हो गया था। सन् १९३१ तथा उसके आठ वर्ष बाद, युद्ध प्रारम्भ होने के बीच की अवधि में, संसार के अधिकांश भाग में अपरिवर्तनशील तथा उच्चावचनयुक्त मुद्रा-प्रणालियां थीं। स्वर्णमान की कठिनाइयाँ असह्य होने पर, एक देश के बाद दूसरा देश, स्वर्णमान का त्याग करता गया और १९३६ के पश्चात् कोई भी देश स्वर्णमान पर नहीं रह गया। इंगलैण्ड द्वारा स्वर्णमान के त्याग तथा पौण्ड के अवमूल्यन का परिणाम यह हुआ कि सभी राष्ट्र चौकन्ने हो गये और विभिन्न देशों के बीच चलन-मुद्राओं के अवमूल्यन में स्पर्धा सी लग गयी। १९२९ की तुल्यता में मार्च १९३२ में प्रमुख देशों की चलन-मुद्राओं के मूल्यों का प्रतिशत इस प्रकार था :— कनाडा ३९·५, चीन ५६·२, भारत ७४·८, ईरान ६०·५, डेनमार्क ७४·७, स्पेन ५१·८, नार्वे ७३·१, पुर्तगाल ७४·२, यू० के० ७४·८, स्वीडन ७४·१, आस्ट्रेलिया ५९·७ तथा न्यूजीलैण्ड ६८·३। अधिकांश देशों ने ऐसा इसलिए किया कि उनके विनिमयों का पौण्ड, अमेरिकी डालर या किसी अन्य चलन-मुद्रा से, वास्तविक रूप से स्थिर सम्बन्ध बना रह सके। स्वर्णमान के त्याग तथा पौण्ड के अवमूल्यन के कारण ब्रिटेन के लाभकारी परिणामों से अपरिवर्तनशील चलनों को व्यावहारिक बल मिला, जिनका बाद में मुद्रा-ह्रास (depreciate) किया गया। जिस प्रकार ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान के त्याग के परिणामस्वरूप अनेक अन्य देशों ने अपने चलन-मुद्राओं का अवमूल्यन किया, उसी प्रकार डालर के अर्वमूल्यन के कारण भी, जिसका कारण अपरिवर्तनशीलता के लाभों को प्राप्त करने की इच्छा कहा जा सकता है, अनेक देशों ने विनिमय-अवमूल्यन का सहारा लिया। इनमें अर्जेन्टाइना, ब्राजील, कनाडा आदि उल्लेखनीय हैं। इन देशों में कुछ अवमूल्यन पहले भी हो चुका था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि विभिन्न देशों की विनिमय दरों तथा आर्थिक गतिविधियों में उच्चावचन होने लगे। यदि विनिमय दरों के परिवर्तनों को सीमा के भीतर ही रहने दिया जाता, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की बाधायें बहुत कम हो जातीं। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें देशों ने व्यापारिक लाभ के लिए अपने चलन-मुद्राओं को जान-बूझकर कम किया। इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक ही था। कुछ देशों को न केवल अस्थायी बल्कि दूरगामी लाभ प्राप्त हो गये। इस अनुभव के पाँच वर्षों के बाद, अधिकांश देशों की इस सम्बन्ध में तत्कालीन राय को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है; "जब कि आन्तरिक विकास को प्रारम्भ करने में मुद्रा-ह्रास (depeiciation) की सफलतायें इतनी व्यापक एवं विस्तृत समझी जाने लगीं थी कि

स्वर्णमान पर पुनः वापसी की बात सोची भी नहीं जा सकती थी, विनिमय दरों में अत्यधिक उच्चावचनों और विशेषकर स्पर्धात्मक अवमूल्यन (devaluation) की हानियों का पूरी तरह अनुभव किया जा रहा था। विनिमय दरों में सट्टे और असाधारण कारणों से होने वाले उच्चावचनों को रोकने के लिए 'समझौते' के द्वारा एक विशेष कोष की, जिसे 'विनिमय समता कोष' (Exchange Equalisation Fund) कहते हैं, सहायता से प्रयास किया गया। इसकी कार्य प्रणाली को इस पुस्तक में अन्य स्थान पर बतलाया जा चुका है।[1] यह कहना उपयुक्त होगा कि यह समझौता एक तरंगमयी (netulous) अभिलेख था, परन्तु इसके प्रमुख लक्ष्य यह थे कि "(i) अत्यधिक उच्चावचनों को रोकने में देश सहयोग करें, (ii) सम्बन्धित देश अपने चलन-मुद्राओं के तुलनात्मक मूल्यों में कोई बड़ा परिवर्तन होने देने के पूर्व राय लें तथा (iii) वे किसी भी दशा में प्रत्योत्तर के रूप में स्पर्धात्मक अवमूल्यन (devaluation) या अत्यधिक अनु-मूल्यन (undervaluation) का सहारा न लें।" यह समझौता स्थायी स्थिरता लाने की दिशा में कोई पुनः प्रयास नहीं था, बल्कि इसके द्वारा विनिमय दरों में ऐसे परिवर्तन लाना था जिनकी आवश्यकता थी। यह समझौता सितम्बर, १९३९ तक (महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक) चलता रहा। महायुद्ध प्रारंभ होते ही सभी देश विनिमय नियन्त्रण की कठोर नीति अपनाने लगे। यहाँ तक कि इस समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य सदस्य देशों ने दूरगामी विनिमय नियंत्रणों की प्रणाली को लागू किया, यद्यपि उन्होंने इस समझौते की व्यवस्थाओं का औपचारिक रूप से खण्डन नहीं किया। इस प्रकार, इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्वितीय युद्धकाल में चलन-व्यवस्थायें निश्चित रूप से समझौते से भिन्न थीं।

परन्तु ऐसी स्थिति अधिक दिनों तक, विशेषकर शान्ति स्थापित होने के बाद, नहीं चल सकती थी। यह अनुभव किया गया कि प्रत्येक राष्ट्रीय-अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिये, युद्धोत्तर काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा बढ़नी चाहिये। इस विषय पर विचार-विनिमय के साथ-साथ युद्धोत्तर काल में भी विनिमय स्थिरीकरण के उपायों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय आवश्यक था। विनिमय-स्थिरता को बढ़ावा देने के लिये विभिन्न देशों में आर्थिक सहयोग एवं सहकार्य के महत्व को एवं उसके द्वारा सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लक्ष्य को (स्पर्धात्मक विनिमय ह्रास तथा विनिमय नियंत्रणों से बचाकर प्राप्त करने) तथा उसके द्वारा देशों में पूर्ण रोजगार की स्थिति को लाने के महत्व को समझा गया। १९४४ में अमरीका के ब्रेटेनउड नामक स्थान पर अनेक देशों द्वारा भविष्य की अन्तर्राष्ट्रीय चलन-व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया और अनेक योजनाओं पर विचार हुआ। इन सब विचार-विनिमयों के परिणाम स्वरूप अन्त में

१—देखिये अध्याय ५ पृष्ठ ८६।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा **अन्तर्राष्ट्रीय बैंक** की स्थापना हुई, जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संगठन के दो सगे भाई कहा जा सकता है। इन संगठनों का अध्ययन करने से पूर्व उन विभिन्न प्रस्तावों पर विचार करना उपयुक्त होगा जिनको उस समय प्रस्तुत किया गया। इनमें अमेरिकी व ब्रिटिश प्रस्ताव मुख्य थे।

अमेरिकी प्रस्ताव : अमेरिकी प्रस्ताव, जिसे 'व्हाइट प्लान ऑफ ट्रेजरी ऑफ यूनाइटेड स्टेट्स' के नाम से जाना गया, डा० हैरी व्हाइट द्वारा तैयार किया गया था। इस प्रस्ताव में 'यूनाइटेड एण्ड ऐसोसियेटेड नेशन्स स्टैबलाइजेशन फण्ड' नामक एक अन्तर्राष्ट्रीय कोष के निर्माण की सिफारिश थी। इसमें भाग लेने वाले देशों का अंशदान होता ,जिसका उपयोग भुगतान शेष के समायोजन के लिये विदेशी विनिमय के संरक्षित कोष के रूप में किया जाना था। कोष के उद्देश्य इस प्रकार बताये गये थे—(१) संयुक्त राष्ट्र तथा उससे सम्बन्धित अन्य राष्ट्रों की मुद्राओं की विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता लाना, (२) सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान शेष के असंतुलन की मात्रा और उसकी अवधि को कम करना, (३) ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायता पहुँचाना, जिनमें सदस्य देशों में विदेशी व्यापार तथा उत्पादक-पूँजी के बिना रुकावट के आवागमन में वृद्धि हो सके, (४) युद्ध के परिणामस्वरूप कुछ देशों में असाधारण रूप से अधिक जमा विदेशी विनिमय के प्रभावशाली ढंग से उपयोग को संभव बनाना, (५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उत्पादक-पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में बाधा पहुँचाने वाले विनिमय-नियन्त्रण के उपयोग को कम करना, (६) द्विदेशीय विनिमय निकासी समझौतों, विविध मुद्रा उपायों तथा भेदभावात्मक विदेशी विनिमय तरीकों की समाप्ति में सहायता पहुँचाना। कोष के प्रस्तावित अधिकारों में एक देश की मुद्रा के बदले में दूसरे देश की मुद्राओं के क्रय-विक्रय की दरों को निर्धारित करने और सोने की क्रय-विक्रय की स्थानीय मुद्रा में दरों के निर्धारण के अधिकार भी सम्मिलित थे। ऐसी दरों के निर्धारण का उद्देश्य विनिमय सम्बन्धों में स्थिरता लाना था। इन दरों में परिवर्तन उसी दशा में संभव था जब कि ऐसा करना मौलिक असन्तुलन को दूर करने के लिये आवश्यक हो और इसकी स्वीकृत ४/५ सदस्यों के बहुमत से ही संभव थी। इस योजना में कोष के लिये 'यूनिटास' नामक एक लेखे की इकाई की व्यवस्था थी।

ब्रिटिश प्रस्ताव : दूसरी ओर, भुगतान-शेष की समस्याओं को तय करने के लिए ब्रिटेन द्वारा एक दूसरा प्रस्ताव पेश किया गया। यह प्रस्ताव कीन्स द्वारा तैयार किया गया था और इसमें 'युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की एक समस्या के हल की दिशा में प्रारम्भिक उपाय' के रूप में 'अन्तर्राष्ट्रीय निकासी संघ' (International Clearing Union) के स्थापित किये जाने का

सुझाव था। 'कीन्स' योजना, बैंकिंग के महत्वपूर्ण सिद्धान्त—देने और लेने की समानता का सिद्धान्त—को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने का एक प्रयत्न मात्र था। इस प्रस्ताव में इस बात की व्यवस्था थी कि प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय निकासी संघ के प्रत्येक सदस्य राज्य को एक निश्चित राशि तक अधिविकर्ष (over draft) की सुविधायें प्रदान की जायँ। इस प्रकार प्रत्येक देश को साधनों की कुछ छूट और कुछ अवधि दी जानी थी जिससे कि उस अवधि में वह संसार के अन्य देशों से अपने आर्थिक सम्बन्धों को सन्तुलित कर ले। इस योजना में इस बात की भी व्यवस्था थी कि संघ, जो एक केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करता, की अपनी मुद्रा हो जिसे 'बैंकोर' (Bancor) कहा जाय और इसके निकासी के लिए चेकों को इस मुद्रा में व्यक्त किया जाय तथा 'बैंकोर' एवं अन्य मुद्राओं के बीच सम्बन्ध स्वर्ण में घोषित मूल्यों के समानीकरण द्वारा निश्चित किया जाय। 'बैंकोर' की इकाई को सोनेके औंस में परिभाषित किया जाना था। 'बैंकोर' शब्द का प्रयोग केवल संघ की हिसाब-किताब की पुस्तकों में किया जाना था। योजना के अनुसार, खातों में अत्यधिक 'बैंकोर' की जमा अथवा अधिविकर्ष न होने से साम्यावस्था एवं सन्तुलन की स्थिति संभव थी। परन्तु, प्रणाली में ऋण की कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं की गई थी जहाँ तक कोई देश बिना विनिमय-नियंत्रण का सहारा लिए या विदेशों में दीर्घकालीन ऋण अथवा आयात बढ़ाकर एकत्रित कर सकता है। प्रस्तुत योजना में ऐसी व्यवस्था थी कि यदि किसी देश के ऋण के बकाये उसके अभ्यंश के आधे से अधिक हो जाते तो ऐसी दशा में देश के आयातों के विस्तार करने तथा दीर्घकालीन विदेशी ऋण उपलब्ध कराने के लिए, उपयुक्त वातावरण बनाने की दृष्टि से, संघ के संचालक मण्डल में विचार-विनिमय किया जा सकता था। परन्तु, इसमें दबाव के लिए कोई गुंजाइश न थी।

कनेडियन योजना : कनाडा ने एक तीसरी योजना प्रस्तुत की, जो अनेक दृष्टियों से, ब्रिटिश एवं अमेरिकी योजना से अच्छी थी। इसकी अच्छाई का एकमात्र कारण यह था कि कनाडा के विशेषज्ञों को, अपनी योजना बनाने से पूर्व ब्रिटिश एवं अमेरिकी योजनायें देखने का अवसर मिल गया था, और एक संतोष-जनक नई योजना बनाने की अपेक्षा एक तैयार योजना के प्रारूप में संशोधन के सुझाव देना कहीं अधिक सरल होता है।

ब्रेटेनवुड्स सम्मेलन :

सन् १९४४ में एक ब्रेटनवुड्स सम्मेलन में इन अनेक योजनाओं पर विचार किया गया। इन सभी योजनाओं का उद्देश्य स्थिर विनिमय दरों की व्यवस्था का निर्माण करना था, क्योंकि इससे संसार में अनावश्यक कष्टों के होने की संभावना को कम किया जा सकता था। साथ ही अपने कार्यान्वयन के दबाव से इसके

समाप्त होने का भय नहीं था। ब्रिटेन, जो अमेरिका का पुराना ऋणी था, की योजना अमेरिका को पसन्द नहीं थी। इसके अतिरिक्त, इस योजना का सम्बन्ध तीव्र उच्चावचनों से नहीं था। अगर कोई देश इसके सुझावों के अनुसार कार्य करने से इनकार कर देता तो इसमें उसके ऊपर दबाव डालने की कोई व्यवस्था नहीं थी, सिवाय इसके कि उसे सदस्यता से हटा दिया जाय। यह बात बहुत सन्देहास्पद थी कि इसकी व्यवस्था के अनुसार अर्थ दण्ड तथा अन्य उपाय, संतुलन को फिर से बनाने में पर्याप्त सिद्ध होंगे। ऐसा विशेषकर ऐसी परिस्थितियों में था जब कि आन्तरिक कारक, जैसे रोजगार का स्तर या परिवर्तनशील परिस्थितियों में आर्थिक ढाँचे के समायोजन की योग्यता, बहुत शक्तिशाली मालूम हो। अन्त में, अत्यधिक भुगतान शेषों के असंतुलन से होने वाले उच्चावचनों को रोकने का उत्तर-दायित्व सदस्य राज्यों को सौंपा गया था। दूसरी ओर, अमेरिकी प्रस्ताव में, युद्ध के पूर्व की 'समता कोष' की प्रथा का समावेश था। इस प्रस्ताव में एक लेखे की इकाई—'यूनिटास'— की भी व्यवस्था थी। सम्मेलन में इन सब बातों पर हुए विचार-विनिमयों के परिणामस्वरूप—**'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष'** तथा **'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक'** की स्थापना का निर्णय लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश और अमेरिकी दृष्टिकोणों में कोई समानता न थी परन्तु फिर भी एक बीच का रास्ता निकालना था। संयुक्त राज्य अमेरिका को, पूर्ण रूप से नियंत्रण-विहीन संसार की कल्पना में संशोधन करना पड़ा। ब्रिटेन को बड़ी मात्रा में अमेरिकी ऋण की आवश्यकता थी और उसे अपनी माँग में आंशिक रूप से झुकना पड़ा। इस बात में कोई संदेह नहीं कि बिना ऋण के प्रलोभन के ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सदस्यता न स्वीकार करता।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना जुलाई, १९४४ में हुई और इससे सम्बन्धित समझौते पर दिसम्बर, १९४५ में, वाशिंगटन में हस्ताक्षर हुए। यह समझौता, कुछ अर्थों में, पहले के ब्रिटिश और अमेरिकी प्रस्तावों से भिन्न है। मुद्रा-कोष एवं उन प्रस्तावोंके बीच तीन प्रमुख भेदों की ओर संकेत किया जा सकता है :—

(१) कोष की स्थापना का प्रारम्भिक उद्देश्य चलन मुद्राओं के मूल्यों में स्थिरता लाना था। ब्रिटिश योजना के 'अन्तर्राष्ट्रीय निकासी संघ' (International Clearing Union) के लक्ष्य भी भिन्न थे। ऐसा बतलाया गया था कि 'संघ' (Union) 'संसार की भविष्य की आर्थिक सरकार का केन्द्र बिन्दु' होता। इसके अतिरिक्त, और अधिक महत्वपूर्ण कार्य, जो 'संघ' कर सकता वे इस प्रकार थे:—

(अ) युद्धोत्तर काल की सहायता, पुनर्वास (rehabilitation) तथा पुनर्निर्माण की व्यवस्था करना;

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को बनाये रखना;

(स) वस्तु नियंत्रण प्रदान करना;
(द) अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग का नियमन करना;
(य) मूल्यों को स्थिर रखना तथा व्यापार चक्रों को नियंत्रित करना।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सम्बन्ध इन दिखावटी (grandiose) योजनाओं से नहीं है।

(२) प्रस्तुत योजनाओं की लेखे की इकाइयों 'बैंकोर' तथा 'यूनिटास' का अस्तित्व समाप्त हो गया। 'मुद्रा कोष' का यह कार्य नहीं है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक इकाई के रूप में, विभिन्न देशों के बीच भुगतान का सर्वमान्य साधन प्रदान करे, जिससे विभिन्न देशों की चलन-मुद्रायें सम्बन्धित हैं।

(३) प्रस्तुत योजनाओं के अनुसार विनिमय दरों में एकपक्षीय कार्यवाही सम्भव न थी, जब कि ऐसी व्यवस्था 'कोष' में की गई। 'कोष' के नियमानुसार, नवम्बर, १९४५ की प्रचलित विनिमय की दरों को प्रारम्भिक समता मूल्य माना गया। परन्तु कोई भी देश, निर्धारित अवधि के भीतर, उस दर (प्रारम्भिक सम-मूल्य) को असन्तोषजनक अब भी घोषित कर सकता है और दूसरी प्रारंभिक विनिमय दर चुन सकता है। कोष, समता-दर में ऊपर या नीचे की ओर घोषित अधिक से अधिक १०% का परिवर्तन सदैव स्वीकार करता है। इसके आगे १०% तक किया गया परिवर्तन कोष की स्वीकृति पर निर्भर करता है, जो सामान्यत: दे दी जाती है। इस प्रकार कोष, स्थायी रूप से, निश्चित विनिमय दरों से कार्यारम्भ नहीं करता। वह उसको लोच प्रदान करता है। इसका अंतिम लक्ष्य स्पर्धात्मक मौद्रिक अवमूल्यन को रोकना है, जिसके बारे में उपर्युक्त प्रस्तावों में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी।

(४) ब्रिटिश और अमेरिकी, दोनों ही, प्रस्तावों में किसी भी स्थिति में विनिमय नियंत्रण को स्वीकार नहीं किया गया था। परन्तु नवीन व्यवस्था (मुद्रा कोष) में, अन्तरिम अवधि में, विनिमय नियंत्रण की व्यवस्था की गई।

(५) 'कोष' का संगठन ऐच्छिक आधार पर और सहयोग की भावनाओं पर हुआ है। सदस्यों को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वे जब चाहें कोष की सदस्यता त्याग दें। पहले के प्रस्तावों में ऐसी व्यवस्था नहीं थी।

इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की स्थापना का उद्देश्य उन देशों को, जिनके पास विदेशी मुद्राओं की कमी है (अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्माण के बिना जैसी कीन्स की योजना में व्यवस्था थी) पूरा करना है। इस समझौते के अन्तर्गत, प्रत्येक सदस्य देश का अभ्यंश (quota) निर्धारित होता है, जो उसे कोष के पास आंशिक रूप से स्वर्ण तथा आंशिक रूप से अपनी मुद्रा में जमा करना होता है तथा जिसका हिसाब डालरों में किया जाता है। कोष के पास विभिन्न देशों के विभिन्न

चलन-मुद्राओं की राशि होती है जो विभिन्न देशों के केन्द्रीय बैंकों में ही 'कोष' के नाम जमा रहती है। जब किसी देश को, अपने भुगतान शेष के सन्तुलन के लिये, विदेशी-मुद्रा की आवश्यकता होती है तो वह कोष से अपनी इच्छित चलन को क्रय करता है और उसके बदले में, अपने द्वारा दिये राशि से और अधिक, अपनी मुद्रा, कोष को प्रदान करता है। इसलिये कि इस सुविधा का उपयोग सीमित मात्रा में किया जाय, जो देश कोष द्वारा प्रदत्त सुविधाओं से लाभ उठाते हैं, उनसे ब्याज की दरों के रूप में विभिन्न शुल्क लिये जाते हैं। यदि माँग की अधिकता के कारण कोष के पास की किसी मुद्रा की राशि समाप्त होने लगती है, तो कोष उसे दुर्लभ (scarce) मुद्रा घोषित कर अनेक उपाय अपनाता है। भुगतान शेषों की स्थायी असंतुलन (disequilibrium) को ठीक करने के लिये कोष ने यह व्यवस्था की है कि कोई देश अपने द्वारा घोषित विनिमय दर में (अमेरिकी डालर एवं स्वर्ण के सामान्य माध्यम के रूप में) परिवर्तन कर सकता है। इस समझौते में 'चलन मुद्राओं के सद्व्यवहार' के सम्बन्ध में भी अनेक व्यवस्थायें हैं जिसके अनुसार सदस्य देशों को, सहकारिता और सहायता की भावना से, कुछ नियमों तथा बन्धनों का पालन करना होता है। इस प्रकार, **'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' अन्तर्राष्ट्रीय चलन व्यवस्था की आवश्यकताओं को पूरा करने का एक प्रयास है।**

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य :

उपरोक्त सन्दर्भ में तथा वैधानिक व्यवस्था के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' के निम्नलिखित उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं —

(क) एक स्थायी संस्था के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग, जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक समस्याओं को हल करने के लिये विचार-विनिमय एवं सहयोग की व्यवस्था प्रदान करती है, की वृद्धि करना;

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एवं उसके संतुलित विकास को सुविधाजनक बनाना और वास्तविक आय तथा रोजगार के ऊँचे स्तर को स्थापित करना एवं उसे बनाये रखना, तथा आर्थिक नीति के प्रमुख लक्ष्य के रूप में सभी सदस्य देशों के उत्पादन के साधनों के विकास में सहायता पहुँचाना;

(ग) विनिमय-स्थिरता को बढ़ावा देना सदस्य देशों के बीच नियमित विनिमय अवस्थाओं को बनाये रखना तथा प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन को रोकना;

(घ) सदस्यों के बीच वर्तमान लेन-देनों के लिये भुगतान की बहुविधि व्यवस्था की स्थापना में सहायता पहुँचाना तथा विदेशी-विनिमय प्रतिबन्धों को, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि में बाधा पहुँचाते हैं, समाप्त करने की दिशा में सहायता पहुँचाना;

(ङ) समुचित सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य देशों के लिये कोष के साधनों को

उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें, ऐसे उपायों को किये बिना, जो राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट करते हैं, अपने भुगतान शेष की त्रुटियों को दूर करने का अवसर देना;

(च) उपरोक्त व्यवस्थाओं के अनुसार सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान शेषों के असंतुलन की अवधि और उसके अंश को कम करना;

इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की स्थापना का मुख्य उद्देश्य विनिमय स्थिरता प्रदान करना, विदेशी-विनिमय की कमी वाले देशों को अस्थायी सहायता प्रदान करना तथा प्रतिस्पर्धी विनिमय अवमूल्यन से बचकर और राष्ट्रीय मुद्राओं को परस्पर बदल कर असन्तुलन के मूल कारणों को दूर करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय उपायों को करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के कार्य :

अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये कोष को निम्नलिखित कार्य करने होते हैं:—

(क) **यह अल्पकालीन साख संस्था के रूप में कार्य करता है :** सदस्य देशों को उनके भुगतान-शेषों के अस्थायी असंतुलन को दूर करने के लिये कोष साख की गारण्टी देता है। किसी देश के लिये आवश्यक समस्त विदेशी-विनिमय की पूर्ति का कार्य यह नहीं करता। अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रत्येक देश को अपना स्वयं का मौद्रिक और विदेशी विनिमय कोष, रखना होता है। कोष केवल संकट काल में, द्वितीय सुरक्षा पंक्ति के रूप में, सहायता पहुँचाने का कार्य करता है। इस कार्य के लिये प्रत्येक सदस्य निम्नलिखित शर्तों के साथ, कोष से अपनी मुद्रा के बदले विदेशी विनिमय क्रय कर सकता है : (क) इसका उद्देश्य कोष के उद्देश्यों के अनुरूप हो—अत्यन्त आवश्यक वर्तमान लेन-देन के भुगतान के लिये, न कि पूंजीगत लेन-देनों के लिये इससे ऋण लिये जा सकते हैं; (ख) सदस्य देश किसी भी समय कोष से अपने अभ्यंश (quota) की २००% से अधिक मुद्रा नहीं ले सकता—दूसरे शब्दों में कोई देश अपने अभ्यंश के ज्यादा से ज्यादा १२५% तक विदेशी मुद्रा क्रय कर सकता है, तथा : (ग) १२ माह की किसी भी अवधि में क्रय की अधिकतम सीमा उसके अभ्यंश से २५% से अधिक न हो, परन्तु शर्त यह है कि क्रय की जाने वाली 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce currency) न घोषित कर दी गई हो। इन शर्तों को एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। यदि किसी सदस्य देश का अभ्यंश २० करोड़ (२०० मिलियन) डालर है और उसका २५% अंशदान सोने के रूप में दिया गया है तो कोष के पास ऐसे सदस्य देश की प्रारम्भिक मुद्रा १५ करोड़ डालर के बराबर होगी। किसी भी समय कोष के पास **ऐसी मुद्रा** की मात्रा २००% अथवा ४० करोड़ डालर से अधिक नहीं होनी चाहिये। अतएव कोई सदस्य अपनी मुद्रा के बदले अधिक से अधिक २५ करोड़ डालर का विदेशी विनिमय

(अपने अभ्यंश का १२५%) क्रय कर सकता है। इसके साथ ही वह १२ मास की किसी भी अवधि में कोष से ५ करोड़ डालर से अधिक की विदेशी मुद्रा क्रय नहीं कर सकता। ऐसा देश 'कमी' (deficit) वाला कहा जाता है यदि कोष में उस सदस्य देश की अपनी मुद्रा, उसके अंश से, बढ़ जाती है; और यदि वह उससे कम हो जाती है तो सदस्य देश को 'अधिकता' (surplus) वाला देश कहा जाता है। ऐसी स्थिति में 'अधिकता' (surplus) वाले देश से अपनी मुद्रा को सोने के बदले कोष को बेचने के लिये कहा जा सकता है या कोष सदस्य-देश से उसकी मुद्रा ऋण के रूप में ले सकता है अथवा दूसरे साधनों से लेने की आज्ञा माँग सकता है। परन्तु किसी सदस्य देश के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि वह कोष को ऐसे ऋण दे या कोष द्वारा किसी अन्य साधन से उसकी मुद्रा को ऋण लेने की स्वीकृति प्रदान करे। यदि माँग में लगातार वृद्धि होने के कारण 'कोष' में किसी सदस्य-देश की मुद्रा की पूर्ति में कमी हो जाती है, तो कोष ऐसी मुद्रा को 'दुर्लभ-मुद्रा' घोषित कर देता है और उसके पश्चात् सदस्य-देशों के तुलनात्मक आवश्यकताओं, सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक दशा तथा सम्बन्धित बातों को ध्यान में रखते हुए अपनी वर्तमान एवं भविष्य की पूर्ति को निश्चित करता है। इस प्रकार 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित करने के पश्चात् 'मुद्रा कोष' को उस मुद्रा के राशनिंग का अधिकार मिल जाता है। ऐसी परिस्थितियों में, कोष की स्वीकृति से, 'दुर्लभ-मुद्रा' वाला देश अस्थायी तौर पर विनिमय नियन्त्रण को लागू कर सकता है। परन्तु कोष की व्यवस्थाओं के अनुसार, ऐसा नियन्त्रण इस कार्य के लिये आवश्यकता से अधिक प्रतिबन्धक नहीं होता और औपचारिक रूप से यह घोषित होने पर कि वह मुद्रा अब दुर्लभ नहीं है, कोष की इसके लिये स्वीकृति समाप्त समझी जाती है।

परन्तु इस तथ्य के होते हुये भी कि मुद्रा कोष दीर्घकालीन ऋण की सुविधायें प्रदान नहीं करता है, कोष की सुविधाओं का उपयोग करने वाले देशों से शुल्क लिया जाता है। ऐसा कोष के साधनों को दुरुपयोग से बचाने और साम्यावस्था की दशा लाने की दिशा में प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से किया जाता है। ये शुल्क सम्बन्धित राशि के अनुसार (अभ्यंश के तुलनात्मक रूप में और समय की अवधि) होता है। लिये जाने वाले ऋण की मात्रा (वर्तमान संदर्भ में) में वृद्धि के साथ ही साथ शुल्क की दर भी बढ़ती जाती है और अल्प अवधि के लिये ऋण लिये जाने पर कम दर पर वसूली की जाती है। यह शुल्क (जिसे साधारणतया ब्याज कहा जाता है) सोने में देय होता है। यदि कोई देश 'कोष' से विदेशी मुद्रा को बड़े परिमाण में बराबर निकालता रहता है और उसे लम्बी अवधि तक रखता है तो 'कोष' उस पर ब्याज (शुल्क) की दण्ड दरें लागू कर सकता है। यदि ब्याज की दर साधारण दर से, जो कि $\frac{3}{4}$% है, बढ़कर २$\frac{1}{2}$ और फिर ४% तक पहुँच जाती है तो 'कोष' तथा सदस्यों को

ऐसे उपाय निकालने होते हैं जिससे कोष में उस देश की मुद्रा को कम किया जा सके।

(ख) यह विनिमय की दरों में समायोजन की सुविधा प्रदान करता है : भुगतान शेषों की दीर्घकालीन स्थिति में सुधार के लिये 'कोष' एक व्यवस्था प्रदान करता है। इसके लिये 'कोष' विनिमय दरों के उचित समायोजन की व्यवस्था करता है। गैर-जिम्मेदार और प्रति योगी अवमूल्यन करने से सदस्य देशों को मना किया गया है। विनिमय दरों को केवल निर्धारित तरीकों के अन्तर्गत बदला जा सकता है। प्रारम्भ में, सदस्य देशों को स्वर्ण या अमेरिकी डालर के सामान्य माध्यम के रूप में अपने चलन-मुद्रा की सम-मूल्य दर (Par-value) घोषित करनी होती है। दीर्घकालीन असंतुलित भुगतान शेषों में सुधार करने की दृष्टि से ऐसे घोषित मूल्यों में परिवर्तन किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में इस प्रकार व्यवस्थाएँ हैं :—

(i) कोई भी सदस्य-देश मूलभूत असाम्यावस्था को ठीक करने के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश्य से अपनी मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन का प्रस्ताव नहीं रख सकता, और वह ऐसा कोष की सलाह लेने के बाद ही कर सकता है; (ii) जो प्रस्तावित परिवर्तन प्रारम्भिक सम-मूल्य दर से १०% से अधिक नहीं होते उनके परिवर्तन करने में 'कोष' आपत्ति नहीं उठाता; (iii) यदि प्रस्तावित परिवर्तन प्रारम्भिक सम-मूल्य से १०% से अधिक परन्तु २०% से कम होते हैं, तो ऐसे परिवर्तन के लिये 'कोष' सहमत हो सकता अथवा आपत्ति उठा सकता है; परन्तु इसके सम्बन्ध में उसे अपना दृष्टिकोण ७२ घण्टे के अन्दर प्रकट करना होता है; (iv) यदि प्रस्तावित परिवर्तन २०% से अधिक होते हैं तो 'कोष', बिना किसी अवधि के, अपनी सहमति अथवा आपत्ति प्रकट कर सकता है; (v) यदि 'कोष' इस बात से संतुष्ट है कि मूल-भूत साम्यावस्था को ठीक करने के लिये प्रस्तावित परिवर्तन आवश्यक है तो उसे अपनी सहमति देनी होती है। इसे तय करने समय कि मूलभूत असाम्यावस्था (Fundamental disequilibrium) क्या है, 'कोष' प्रस्ताव करने वाले सदस्य की घरेलू तथा सामाजिक या राजनैतिक नीतियों के सम्बन्ध में आपत्ति नहीं उठाता। उदाहरणार्थ, वह ऐसी राय नहीं दे सकता कि 'वेतनों को बहुत जल्द बढ़ा दिया गया है और उन्हें कम किया जाना चाहिये'। इस प्रकार यह व्यवस्थाएँ सदस्य देशों को अपनी मुद्राओं के विनिमय मूल्यों में परिवर्तन करने की पर्याप्त छूट प्रदान करती हैं। वास्तव में कोष ने 'अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों के क्षेत्र में निशस्त्रीकरण के तरीकों को प्रारम्भ किया है।'

विनिमय दरों में लोच की एक व्यवस्था बनाये रखने की दिशा में इन व्यवस्थाओं के अनेक लाभ हैं, प्रथम ऐसी व्यवस्था सदस्य देशों को घरेलू आर्थिक नीति के सम्बन्ध में वह स्वतन्त्रता प्रदान करती है जो सभी देशों को बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली के क्षेत्र में लाने का मूलभूत लक्ष्य होता है। द्वितीय, बड़ी मात्रा में अभ्यंशों

को आवश्यक बनाये बिना यह घरेलू क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्रदान करती है। कमी (deficit) वाले देशों में ऋण के विस्तार तथा विनिमय नियंत्रण से अधिकता (surplus) वाले देशों को बाध्य होकर अतिरिक्त अथवा अधिक सुदृढ़ ऋण प्रसार की स्वीकृति देनी होगी। तीसरे, कमी वाले (deficit) देशों में मुद्रा संकुचन, बढ़ते हुये संरक्षण अथवा विनिमय नियन्त्रण आदि से विनिमय अवमूल्यन अधिक अच्छा होता है। अन्त में, विनिमय नियन्त्रणों से युक्त संसार को बहुपक्षीय-अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संसार में परिवर्तित करने के लिये ऐसी व्यवस्था जो नियंत्रित समायोजनों के द्वारा विनिमय दरों में लोच प्रदान करती है, अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि 'कोष' का एक उद्देश्य विदेशी विनिमय नियंत्रणों को हटाना है पर भुगतान शेषों में दीर्घकालीन साम्यावस्था (Adjustment) की स्थिति लाने के लिये 'कोष' विनिमय नियन्त्रण के अनेक उपायों की अनुमति भी देता है। इन उपायों को 'मुद्राओं का अच्छा आचरण' भी कहा जा सकता है। इसके पालन के लिये प्रत्येक सदस्य देश इस बात से सहमत होता है कि वह अपने क्षेत्र के भीतर अपनी मुद्रा और अन्य मुद्राओं के किसी विनिमय दर को अधिकारिक विनिमय दर से एक प्रतिशत से अधिक भिन्न होने से रोकेगा। परन्तु ऐसा कुछ दशाओं के अन्तर्गत ही होता है। विनिमय नियन्त्रण की अनुमति जिन दशाओं में मिल सकती है वे यह हैं: (i) युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था से शान्ति-कालीन अर्थ-व्यवस्था में आने की अवधि में; (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी के आवागमन के नियमन हेतु; (iii) एक दुर्लभ मुद्रा के विरुद्ध (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है); (iv) 'मूलभूत असाम्यावस्था' को ठीक करने के लिये।

(ग) यह अन्तर्राष्ट्रीय विचार विनिमय की सुविधा प्रदान करता है: 'कोष' संसार के प्रमुख देशों के प्रतिनिधियों को निकट लाता है और उनके परस्पर विरोधी दावों पर आपसी समझौता करने का सुवर्ण अवसर प्रदान करता है। ऐसा विश्वास किया गया था कि "यह सृजनात्मक तरीके और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के इस उपाय से न केवल विश्व की अर्थ व्यवस्थाओं पर एक स्थायी प्रभाव पड़ेगा, बल्कि इससे संसार के व्यापार एवं संसार के उत्पादन का विस्तार एवं संतुलित विकास भी होगा।" इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये 'कोष' संसार की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं तुरन्त ध्यान देने योग्य आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित अध्ययन एवं अनुसंधान में लगा रहता है।

'कोष' की व्यवस्था:

१. सदस्यता: कोष के मूल सदस्य वे देश हैं जिनके प्रतिनिधि सम्मेलन में उपस्थित थे और जिनकी सरकारों ने निर्धारित तिथि (३१ दिसम्बर १९४५) से

पूर्व कोष की सदस्यता स्वीकार कर ली थी। कुल अभ्यंश का ६५% रखने वाली सरकारों द्वारा समझौते पर हस्ताक्षर के बाद ही कोष की स्थापना होनी थी। इस समझौते के अन्तर्गत नए सदस्यों के प्रवेश की भी व्यवस्था की गई। आरम्भ में समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले ४४ राष्ट्र इसके सदस्य बन गए किन्तु इसके पश्चात् सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही है। ३० अप्रैल १९६२ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्यों की संख्या ७६ थी। इस समय इनकी संख्या ८५ है।

२. अभ्यंश (Quotas): अक्टूबर १९५९ के पूर्व कोष की कुल पूँजी १० बिलियन (१००० करोड़) डालर थी और प्रत्येक सदस्य देश को उसके अभ्यंश का एक अंश निर्धारित था। उनमें से संयुक्त राज्य अमेरिका का अंश २७५० मि० डालर, इंगलैण्ड का १३०० मि० डालर, चीन (तेवान) का ५५० मि० डालर, फ्रांस का ४५० मि० डालर तथा भारत का ४०० मि० डालर का अंश था। मूल सदस्यों में से सोवियट रूस इसमें शामिल नहीं हुआ। प्रत्येक देश को अपने अभ्यंश को स्वर्ण तथा अपनी मुद्रा में जमा करना पड़ा। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है अभ्यंश का २५% (या अपने कुल अधिकृत स्वर्ण तथा अमेरिकी डालर, जो भी कम हो, का १०%) स्वर्ण में और शेष अपने देश की चलन मुद्रा में जमा करना होता है। प्रत्येक सदस्य के अभ्यंश का निर्धारण अनेक बातों को ध्यान में रखते हुए किया गया जैसे भुगतान सन्तुलन के उच्चावचनों की मात्रा, राष्ट्रीय आय, विदेशी-विनिमय तथा देश के स्वर्ण कोष इत्यादि। परन्तु इन अभ्यंशों पर कोष समय-समय पर विचार कर सकता है और इनमें सदस्यों की अनुमति तथा ४/५ की बहुमति से परिवर्तन किया जा सकता है। अक्टूबर १९५९ में संचालक मण्डल की बैठक नई दिल्ली में हुई थी। इस बैठक में (क) कोष की पूँजी में वृद्धि करने तथा (ख) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की स्थापना करने के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए।

प्रथम निर्णय के अन्तर्गत कार्यकारी संचालकों (Executive Directors) को यह अधिकार दिया गया था कि वे सदस्य देशों की अंश पूँजी (अभ्यंश) में वृद्धि करें तथा संचालकों ने अभ्यंशों में ५०% की वृद्धि कर दी। पश्चिमी जर्मनी, कनाडा तथा जापान जैसे देशों ने अपने हिस्से से ज्यादा अंशदान देने का वचन दिया। इस प्रकार, कोष की कुल पूँजी १० बिलियन डालर से बढ़कर १५ बिलियन डालर हो गई और स्वर्ण कोष २·३ बिलियन डालर से बढ़कर ४.६ बिलियन डालर के मूल्य के हो गये। अंश पूँजी के बढ़ जाने के फलस्वरूप अमेरिका का अंश ४१२५ मि० डालर, ब्रिटेन का १९५० मि० डालर, चीन का ५५० मि० डालर, फ्रांस का ७८७·५ मि० डालर और भारत का ६०० मि० डालर हो गया। जर्मनी का अंश ७८७·५ (पहले ३३०) मि० डालर, जापान का ५०० (पहले २५०) मि० डालर तथा कनाडा का ५५० (पहले ३००) मि० डालर हो गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब कोष ने मार्च

१९४७ में अपना कार्य प्रारम्भ किया उस समय, कोष का सदस्य बनने के लिये सहमत सदस्यों का कुल अंशदान ८५ बिलियन डालर (जिसमें स्वर्ण, डालर तथा अन्य सदस्य चलन सम्मिलित थे) था।

३. **सम-मूल्य दरें : (Par-Values) :** प्रत्येक सदस्य देश की सम-मूल्य दरें सोने में या १ जुलाई १९४४ को प्रचलित अमेरिकी डालर के सम्बन्ध में विनिमय-दर में व्यक्त की गईं। सम-मूल्य दरों का यह प्रारम्भिक निर्धारण वास्तव में एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। 'कोष' सदस्यों को वह समय सूचित कर देता है जब वह विनिमय व्यवहारों को प्रारम्भ कर सकने की स्थिति में होता है। सदस्यों को अपनी चलन मुद्राओं की सम-मूल्य दरों को तीस दिन के अन्दर सूचित करना होता है, जो कि समझौते के लागू होने के पूर्व के ६० वें दिन वर्तमान विनिमय दर पर आधारित होती है। इस प्रकार, कोष को यदि विनिमय व्यवहार १-१०-१९४६ को प्रारम्भ करना था तो उसने सदस्यों से कहा कि वे १-८-१९४६ को प्रचलित अपनी चलनों की प्रारम्भिक सम-मूल्य दरों को १-९-१९४६ तक सूचित कर दें। यदि घोषित सम-मूल्य दर असन्तोषजनक पाई जाती है तो बाद में समझौते के द्वारा उचित सम-मूल्य दर निर्धारित कर दी जाती है। ऐसा न होने पर सदस्य देश को कोष से अलग समझा जाता है। जब किसी सदस्य-देश की चलन-मुद्रा की सम-मूल्य दर निर्धारित हो जाती है तो विभिन्न चलन मुद्राओं के बीच विनिमय दरों का निर्धारण, उन सम-मूल्य दरों को समान करके, किया जाता है। सदस्य-देशों द्वारा स्वर्ण तथा विदेशी विनिमयों का क्रय-विक्रय ऐसी सम-मूल्य दरों की निर्धारित सीमाओं के भीतर ही किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, सदस्य-देशों के बीच विनिमय-दरें उनकी सम-मूल्य दरों के अनुपात से प्रभावित होती हैं और उच्चावचन एक निर्धारित सीमा के भीतर ही होते हैं। 'कोष' की भारत सरकार द्वारा घोषित अमेरिकी डालर में रुपये की सम-मूल्य दर ३०.२५ सेन्ट या ३ रुपया ५ आना प्रति डालर थी। १९४९ के अवमूल्यन के बाद यह सम-मूल्य दर १ रुपया प्रति २१.०० सेन्ट या ४ रुपया १२ आना (४.७५ रु०) प्रति डालर हो गयी।

४. **प्रबन्ध :** 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' का प्रबन्ध गर्वनर मण्डल, संचालकों की कार्यकारिणी, एक प्रबन्ध-संचालक तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। गवर्नर मण्डल में, जो कोष के समस्त अधिकारों का संरक्षक है, सदस्य-देशों द्वारा नामजद एक गर्वनर तथा प्रत्येक सदस्य-देश द्वारा नियुक्त एक वैकल्पिक सदस्य होता है। कुछ विशेष मामलों को छोड़कर शेष सभी मामलों पर 'कोष' द्वारा निर्णय मतों के बहुमत से किये जाते हैं। कार्यकारिणी-संचालक, जिसे मण्डल द्वारा अपने अधिकार प्रदान किये गये हैं, कोष का सामान्य कार्य चलाती है। इसमें सदस्यों की संख्या कम से कम १२ होती है, जिनमें से पाँच की नियुक्ति सबसे अधिक अभ्यंश

वाले प्रथम पाँच सदस्य-देशों द्वारा की जाती है। भारत भी इनमें से एक है। शेष सात सदस्यों का चुनाव होता है जिसमें से २ का लैटिन अमेरिका के देशों का होना अनिवार्य है। प्रबन्ध-संचालक, जो गवर्नर या कार्यकारिणी संचालक नहीं, होता कार्यकारिणी के संचालकों द्वारा चुना जाता है। प्रबन्ध-संचालक को मतदान का अधिकार नहीं होता है। कर्मचारियों की नियुक्ति करते समय प्रबन्ध-संचालक कार्य कुशलता को बनाये रखने की दृष्टि से, भौगोलिक वितरण को भी ध्यान में रखना होता है। 'कोष' का प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में है।

५. **सदस्य द्वारा अपने चलन का पुनः क्रय :** प्रत्येक सदस्य-देश को 'कोष' से निर्धारित अभ्यंश से अधिक अपनी चलन मुद्रा को पुनः क्रय करना पड़ता है। समझौते में इसकी व्यवस्था इस प्रकार है : "(क) कोष के प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अन्त में सदस्य देश कुछ स्थितियों में, परिवर्तनशील विदेशी मुद्राओं के बदले, अपनी चलन मुद्रा को पुनः खरीदेगा; (ख-१) प्रत्येक सदस्य 'कोष' से अपनी चलन-मुद्रा के पुनः क्रय में अपने मौद्रिक कोष की उस राशि का उपयोग करेगा जो, (i) 'कोष' के पास उसके चलन मुद्रा में वर्ष में हुई वृद्धि के आधे मूल्य के बराबर होगा तथा (ii) उस वर्ष में मौद्रिक कोष में हुई वृद्धि या कमी का आधा होगा। यह नियम उस स्थिति में लागू नहीं होता यदि उस वर्ष में सदस्य के मौद्रिक कोष, 'कोष' के पास उसकी चलन मुद्रा की वृद्धि होते हुये भी कम हो गये हों; (ख-२) यदि इस पुनः क्रय के बाद यह पाया जाता है की दूसरे सदस्य-देशों या उस क्षेत्र के व्यक्तियों के साथ उस चलन-मुद्रा में क्रय-विक्रय के कारण किसी सदस्य के पास दूसरे सदस्य की चलन मुद्रा की (या उस सदस्य से प्राप्त स्वर्ण की) मात्रा बढ़ गई है, तो ऐसी दशा में वह सदस्य जिसके पास ऐसी चलन-मुद्रा (या स्वर्ण) की मात्रा बढ़ गई है, इस वृद्धि का प्रयोग कोष से अपनी चलन मुद्रा का पुनः क्रय करने में करेगा; (ग) भाग ख में वर्णित कोई भी समायोजन निम्न स्थिति में नहीं किया जा सकता : (१) यदि सदस्य के मौद्रिक कोष उसके अभ्यंश से कम हैं, (२) यदि कोष के पास उसकी चलन-मुद्रा उसके अभ्यंश के ७५% से कम है, (३) यदि कोष के पास प्रयोग के लिये आवश्यक किसी चलन मुद्रा की मात्रा, सम्बन्धित सदस्य के अभ्यंश के ७५% से अधिक है।"

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एक विशिष्ट केन्द्रीय बैंक है : 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की कार्य प्रणाली को देखते हुये इस बात पर कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यह एक 'विशिष्ट प्रकार का केन्द्रीय बैंक' है। जिस प्रकार केन्द्रीय बैंक किसी देश के व्यावसायिक बैंकों के साधनों का केन्द्रीयकरण करता है, उसी प्रकार 'अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' सदस्य देशों के केन्द्रीय बैंकों के साधनों को एकत्रित करता है। परन्तु अन्तर यह है कि केन्द्रीय बैंक के साधनों में एक ही प्रकार की मुद्रा होती है, जब कि 'कोष'

के साधनों में विभिन्न देशों की चलन-मुद्रायें होती हैं। इसके अतिरिक्त, साधनों के सीमित होने के कारण 'मुद्रा कोष' किसी सदस्य देश के केन्द्रीय बैंक को अधिक ऋण देने के लिये अतिरिक्त मुद्रा का 'सृजन' नहीं कर सकता। जिस प्रकार केन्द्रीय बैंकों को सम्बन्धित देशों के शासकीय अधिकार मिले रहते हैं, (जैसे प्रत्येक केन्द्रीय बैंक का यह कर्त्तव्य होता है कि वह सदस्य बैंकों की ऋण-नीतियों को नियन्त्रित रखे तथा उनमें समन्वय स्थापित करे) उसी प्रकार 'कोष' का यह कर्त्तव्य है कि वह सदस्य-देशों की मौद्रिक तथा आर्थिक नीतियों में समन्वय स्थापित करे तथा उनमें आपसी सहयोग की भावना उत्पन्न करे। यह ठीक ही कहा गया था कि "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष केन्द्रीय बैंकों का बैंक है तथा संसार की मौद्रिक व्यवस्था की यह धुरी सिद्ध होगा।" परन्तु यह न भूलना चाहिये कि जब कि केन्द्रीय बैंक एक राष्ट्रीय संस्था के रूप में कार्य करते हुए किसी देश के हितों को आगे बढ़ाने की नीति का अनुसरण करता है, 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और इसका उद्देश्य सदस्य-देशों की परस्पर विरोधी नीतियों में समन्वय स्थापित करना होता है। 'कोष' सदस्य-देशों की घरेलू आर्थिक नीतियों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वह केवल विनिमय-दरों के उचित समायोजन के द्वारा बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली को बनाये रखने का काम करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा स्वर्ण :

'कोष' के स्वर्ण के साथ सम्बन्ध के विषय में विचारकों में काफी मतभेद है। कुछ लोग तो कीन्स के इस मत से सहमत हैं कि **यह नई व्यवस्था स्वर्णमान के बिलकुल विपरीत है** पर अन्य लोगों के मतानुसार **यह निश्चित रूप से स्वर्ण-मान के अनुरूप योजना है।**

जो लोग यह समझते हैं कि 'कोष' की व्यवस्था स्वर्णमान के बिलकुल विपरीत है, अपने विचार की पुष्टि में अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं: **प्रथम** नई ('मुद्रा कोष') व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों का यह उत्तरदायित्व होता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में, उचित अंश में, साम्यावस्था बनाये रखें या एक व्यवस्थित तरीके से अपने विनिमय दरों का समायोजन करें। स्वचालित स्वर्णमान की प्रणाली में इसकी आवश्यकता नहीं थी। दूसरे शब्दों में, स्वर्णमान के अन्तर्गत कोई चेतन अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रबन्ध नहीं था, जब कि 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' अपने सदस्य देशों पर दबाव डालता है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों में एक उचित साम्यावस्था बनाये रखें और आवश्यकता पड़ने पर विनिमय दरों का व्यवस्थित समायोजन करें। **दूसरे,** स्वर्णमान की स्वचालित प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण के स्वतन्त्र आयात-निर्यात के कारण उत्पादन एवं रोजगार पर पड़ने वाले प्रभावों से बचा नहीं जा सकता। प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन की स्थिति में स्वर्ण का निर्यात होने लगता है, जिसके परिणाम-

स्वरूप स्वर्ण कोषों के कम हो जाने के कारण चलन एवं साख का संकुचन होने लगता है और फिर अन्त में मन्दी व बेरोजगारी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' की व्यवस्था में ऐसे कुप्रभावों से बचा जा सकता है, क्योंकि सदस्य देशों के प्रतिकूल भुगतान-सन्तुलन के स्थायी होने की दशा में 'कोष' उनकी आर्थिक सहायता करता है। अन्त में, स्वर्णमान के अन्तर्गत देश की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य 'विनिमय-स्थिरता' को बनाये रखना था जो स्वर्ण के स्वतंत्र आयात-निर्यात की दशा में ही सम्भव था। परन्तु अब देशों की मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य 'मूल्य-स्थिरता' बनाये रखना हो गया है, जिससे कि देश में इच्छित अनुपात में बचतें और विनियोजन हों सकें और पूर्ण रोजगार की स्थिति लाई जा सके। विनिमय दरों के उच्चावचनों को ठीक करने की दिशा में स्वर्ण का स्वतंत्र आवागमन सफलतापूर्वक कार्य करता था, वेतन-दरें व लागतें लोचदार बनी रहतीं थीं और परिवर्तित मूल्यों के अनुसार उनका समायोजन सम्भव था। परन्तु अब वे बहुत बेलोचदार (rigid) हो गये हैं और इसलिये मूल्यों के परिवर्तनों के साथ-साथ उनका समायोजन नहीं हो पाता। 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' इस लोचहीनता को दूर करता है और इस बात की व्यवस्था करता है कि 'मूलभूत असाम्यावस्था की स्थिति में' विनिमय-दरों में आवश्यक परिवर्तन हो सकें।

फिर भी यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष 'स्वर्ण मान की व्यवस्था के ठीक विपरीत है।' जिन बातों में यह स्वर्णमान के अनुरूप है वे इस प्रकार हैं: **प्रथम**, दोनों ही प्रकार की व्यवस्थाओं में बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली उपस्थित रहती है। स्वर्णमान के अन्तर्गत, प्रत्येक देश अन्य देशों की चलन मुद्राओं के अनुरूप अपनी चलनमुद्रा के विनिमय मूल्य को निश्चित कर सकता है। 'कोष' भी निश्चित तुल्यता (parity) पर चलन मुद्राओं की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता को प्रोत्साहन देता है। **दूसरे**, जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत 'कमी वाला देश' (deficit country) अपनी कमी को स्वर्ण या ड्राफ्टों के निर्यात द्वारा पूरा कर सकता था, उसी प्रकार 'कोष' व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपने अभ्यंश के ७५% तक तथा प्रति वर्ष अपने अभ्यंश के २०० प्रतिशत की अधिकतम सीमा तक भुगतान शेष के सन्तुलन के लिये विदेशी विनिमय की अतिरिक्त सहायता प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता पड़ने पर इन शर्तों में परिवर्तन भी किये जा सकते हैं। **तीसरे**, कोष के माध्यम से किये गये लेन-देन बैंक कोषों को लगभग उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आवागमन के प्रभाव पड़ते थे। इसको उदाहरण द्वारा आसानी से बतलाया जा सकता है। मान लीजिये, विदेशी-विनिमय बाजार में डालर की कमी के कारण, भारत 'कोष' से डालर खरीदना चाहता है। ऐसी दशा में 'रिज़र्व बैंक' को यह अनुमति दी जायेगी की वह 'फेडरेल बैंक ऑफ

न्यूयार्क के 'कोष' के डालर खाते से डालर निकाले। कोष के डालर खाते में कमी हो जायेगी तथा उसका क्रय-मूल्य रिज़र्व बैंक के पास कोष के रुपये के खाते में जमा (Credited) कर दिया जायेगा। रिज़र्व बैंक विदेशी विनिमय व्यापार का काम करने वाले लाइसेन्स युक्त अनुसूचित बैंकों को यह डालर बेच देगा और ये बैंक उन्हें सरकार द्वारा आज्ञा प्राप्त लोगों को बेच देंगे। इसके परिणामस्वरूप चालू खातों में तब तक कमी होती रहेगी जब तक कि बैंक के पास अतिरिक्त कोष हैं या जब तक कि रिज़र्व बैंक अतिरिक्त कोष उपलब्ध करना चाहता है। ऐसी दशा में कोष के साथ लेन-देन के परिणाम स्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था पर संकुचनकारी प्रभाव पड़ेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके ठीक विपरीत प्रभाव पड़ेगा। अन्त में जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत, अभ्यंशों तथा अन्य विनिमय प्रतिबन्धों के रूप में वस्तुओं के आवागमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता था। उसी प्रकार 'कोष' भी ऐसे प्रतिबन्धों के विरुद्ध है और इनके यथाशीघ्र उन्मूलन तथा स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील चलन मुद्राओं के आधार पर बहुपक्षीय व्यापार की स्थापना के लिये कृत संकल्प है।

ऊपर दिये गये तर्कों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'स्वर्णमान' एवं 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष' में समानता तो है, पर वह बहुत अधिक नहीं है। सभी बातों पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'कोष' 'स्वर्णमान' की सुविधायें तो सभी प्रदान करता है, पर उस पर स्वर्णमान के दोषों का प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि 'स्वर्ण' का पूर्णरूप से उन्मूलन हो चुका है। यह अब भी बहुत महत्वपूर्ण कार्य करता है: **प्रथम**, यद्यपि सदस्य द्वारा चलन मुद्रा के मूल्य के निर्धारण का कार्य पूर्णरूप से उसी देश के विवेक (discretion) पर छोड़ दिया गया है, पर 'कोष' की व्यवस्था के अनुसार उस देश को सामान्य मूल्यांकन (denominator) के रूप में स्वर्ण में अपने चलन मुद्रा की सम-मूल्य दर को व्यक्त करना होता है, तथा इस बात का आश्वासन देना होता है कि वह देश उपर्युक्त सम-मूल्य दर से अधिक कीमत पर स्वर्ण न खरीदेगा और न बेचेगा। इस प्रकार, कोष के साधनों को तरल बनाने में स्वर्ण न केवल महत्वपूर्ण कार्य करता है, बल्कि वास्तव में सदस्य मुद्राओं के सामान्य मूल्यांकन के रूप में भी कार्य करता है। **दूसरे, भुगतान** शेषों के अस्थायी असन्तुलन की दशा में स्वर्ण विदेशी मुद्रा की कमी को पूरा करने का काम किया करता है। **अन्त में**, जब स्वर्ण के सम-मूल्य दर में परिवर्तन किया जाता है, तो वह विनिमय दरों को स्थिर रखने में सहायता पहुँचाता है।

अतएव इस बात में कोई सत्यता नहीं है कि 'मुद्रा कोष' की व्यवस्था 'स्वर्णमान की वापसी है' या 'यह उसका नवीन अथवा अधिक उपयुक्त रूप है।'

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का कार्यवाहन :

'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' ने अपना कार्य १ मार्च १९४७ से प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में सदस्य देश युद्ध के कारण हुए अपनी अस्तव्यस्त अर्थ-व्यवस्था के पुनर्निर्माण में लगे रहे। 'कोष' ने अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की समस्या को ठोस एवं स्थायी आधार पर लाने के पूर्व अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के महत्व को स्वीकार किया। मार्च १९४८ में 'कोष' ने सदस्य देशों को यह सुझाव दिया कि वे अपने भुगतान-शेषों की समस्या को हल करने के लिए कुछ आवश्यक कदम उठावें, जिनमें 'आवश्यक विनिमय समायोजन' का भी सुझाव दिया गया। 'कोष' ने यह अनुभव किया कि विनिमय दरों में शीघ्र और व्यवस्थित ढंग से परिवर्तन होना चाहिए क्योंकि ऐसे परिवर्तन परिवर्तित संसार में नये आर्थिक सन्तुलन को लाने के लिए आवश्यक हैं। इसी उद्देश्य से, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिए सम-मूल्य दरों में आवश्यक परिवर्तन की स्वीकृत देने के लिए, कोष ने अपनी सहमति व्यक्त की।

पौण्ड एवं अन्य मुद्राओं का अवमूल्यन :

१८ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटेन की सरकार ने पौण्ड के ३० प्रतिशत अवमूल्यन की घोषणा की। सरकारी सूत्रों के अनुसार इस अवमूल्यन के औचित्य के दो कारण थे : प्रथम, ब्रिटेन के भुगतान शेष का लगातार प्रतिकूल होना तथा द्वितीय, डालर अर्जित करने की आवश्यकता का होना। मार्शल योजना के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली सहायता के होते हुए भी ब्रिटेन के 'स्वर्ण कोष' तेजी से घट रहे थे। ब्रिटेन और राष्ट्रमंडल के अन्य देश, जैसे आस्ट्रेलिया, भारत आदि, डालर क्षेत्र से पर्याप्त व्यापार करते थे और अपनी डालर आय का एकत्रीकरण करते थे। डालर-देशों के लिए यह जरूरी था कि वे ऐसी सहायता पहुँचावें जिससे कि गैर-डालर वाले क्षेत्र के देश अधिक डालर अर्जित कर सकें। इसका यही उपाय था कि प्रतिकूल भुगतान शेष वाले देश अपनी मुद्राओं के विनिमय दरों को घटा दें जिससे देशों से स्वर्ण का बाहर जाना रुक सके। यही नहीं, ब्रिटेन द्वारा डालर अर्जित करने की शक्ति का बढ़ाया जाना जरूरी था : जो निर्यातों के डालर मूल्य में बिना अधिक कटौती किये, सम्भव न था। पर इसके साथ-साथ अपने निर्यातों को अवमूल्यन द्वारा प्रोत्साहन देकर ब्रिटेन ने एक बड़ी जोखिम ली और वह यह कि पर्याप्त आयातों को बनाये रखने के लिए, जो उत्पादन एवं रहन-सहन के स्तर को बनाये रखने के लिए आवश्यक थे, ब्रिटेन की डालर आय पहले से ही काफी नहीं थी तथा अवमूल्यन के कारण आयातों के मूल्य बढ़ जाने की सम्भावना थी।

पौण्ड के अवमूल्यन की घोषणा होते ही संसार के विनिमय बाजारों में एक

तहलका सा मच गया, पर शीघ्र ही वे नई दरों पर स्थिर हो गये। आस्ट्रेलिया, बर्मा, सीलोन, हालैण्ड, भारत, दक्षिणी अफ्रीका तथा स्वीडन ने, ब्रिटेन का अनुसरण कर, अपनी मुद्राओं का उसी अनुपात में (अर्थात् ३० प्रतिशत) अवमूल्यन कर दिया। बेलजियम एवं कनाडा ने अपनी मुद्राओं का क्रमश: १२ एवं १० प्रतिशत अवमूल्यन किया। अवमूल्यन न करने वाले देशों में जापान एवं पाकिस्तान के नाम उल्लेखनीय हैं और उन्होंने डालर के साथ अपनी पुरानी समता-दर को बनाये रखा, यद्यपि आर्थिक कारणों के दबाव से बाद में उन्हें भी अपना पहले का निर्णय बदलने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अनेक मुद्राओं के अवमूल्यन के बाद अपनाये जाने वाले उपाय अधिकतर 'कोष' द्वारा सुझाये गये निश्चित विनिमय-दरों की नीति के विरुद्ध थे। १९५० में फ्रांस एवं इटली ने निश्चय किया कि वे, तत्कालीन अनिश्चत स्थिति के कारण, अपनी मुद्राओं के आधिकारिक विनिमय-दरों की सूचना न देंगे, तथा उन्होंने बाजारों में उन्हें स्वतंत्ररूप से निश्चित होने दिया। इसके तुरन्त बाद कनाडा ने अपने डालर की स्वर्ण में निश्चित समता-दर त्याग कर, उसे स्वतंत्र छोड़ दिया। बेल्जियम जैसे अन्य देशों ने 'मुद्रा कोष' को सूचित किये गये दरों से १ प्रतिशत कम या अधिक तक विनिमय दरों के उच्चावचनों को सीमित रखा।

पर इसके पश्चात् सन् १९५१ से अनेक देशों की प्रवृत्ति, विनिमय दरों में स्थिरता बनाये रखने की रही है। अत: 'कोष' ने सदस्य देशों में मौद्रिक स्थिरता को प्रभावशाली ढंग से बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को सुलभ बनाने के लिये 'बहुपक्षीय प्रणाली' को बनाये रखने का सफल प्रयास किया है। १९५२ से ५७ तक किये गये सर्वेक्षणों से पता चला है कि निजी व्यापार एवं विनियोजन के द्वारा समृद्धि की दशायें लगातार प्रभावित होती रही हैं। सभी स्थानों पर पूँजी की माँग में वृद्धि हुई है, जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक गतिविधियों में तेजी आयी है। पूँजी की अधिक माँग के कारण यह बतलाये जाते हैं: (i) उत्पादन की नवीन प्रक्रियाओं का ज्ञान; (ii) सतत् आदर्शवादी भावना (जिसके कारण व्यापारिक जगत में नवीन व्यावसायिक विनियोजन के कार्यक्रम बने); (iii) जन संख्या की वृद्धि (जिससे श्रम शक्ति का भी विस्तार हुआ), (vi) सामाजिक सेवाओं में सार्वजनिक एवं निजी विनियोजन की वृद्धि की सतत माँग), तथा (v) अर्द्ध विकसित देशों में पूँजी की तुरन्त आवश्यकता (जो बड़ी और तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के वर्तमान रहन-सहन के निम्न स्तर को ऊँचा उठाने की योजनाओं के लिये आवश्यक थी) परन्तु दूसरी ओर पूँजी की पूर्ति उतनी तेजी से नहीं बढ़ रही थी। इसके परिणामस्वरूप मुद्रा-स्फीति का दबाव बढ़ता गया और इसको रोकने के लिये किये गये उपाय अधिकतर अपर्याप्त सिद्ध हुए। यह सब होते हुये

भी 'कोष' का यह विश्वास रहा है कि "एक पूर्णरूपेण बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रणाली बहुत शीघ्र ही और गति प्राप्त करेगी ।" तो भी 'मुद्रा कोष' ने सदस्य देशों को यह चेतावनी दी कि "यदि स्फीतिकारी विकास वित्त-व्यवस्था के परिणाम स्वरूप मौद्रिक कोष से बहुत अधिक धन निकाला जाता है तो विकास की प्रगति को, चाहे वह अस्थायी रूप से ही क्यों न हो, कम करना होगा ।" इस कमी को सीमित करने तथा यदि संभव हो तो आन्तरिक आवश्यकताओं के लिये अधिक पूंजी उपलब्ध कराने (एवं कुछ देशों में विदेशी विनियोजन के लिये पूंजी उपलब्ध कराने) के उद्देश्य से 'कोष' ने इस बात पर जोर दिया है कि सरकारों को वर्तमान खर्चों के लिये निर्धारित राष्ट्रीय आय में कटौती करना तथा उपभोग में धीमी गति से वृद्धि होने देना चाहिये । 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' ने उन सभी समस्याओं को हल करने के महत्व पर भी जोर दिया है जिनके कारण एक सुदृढ़ भुगतान-सन्तुलन की स्थिति लाने के लिये देशों के प्रयासों में बाधा पहुँचती है । ये समस्यायें (i) ब्याज की ऊँची दर-प्रणाली को स्वीकार करने की अनिच्छा, (ii) कृषि के अतिरिक्त उत्पादन से होने वाली समस्याओं को हल करने के असन्तोषजनक तरीके तथा (iii) अन्तर्देशीय व्यापार की रुकावटों (tariff barriers) को कम करने-जिनके कारण निर्यातों से आय की सम्भावनायें-सीमित हो जाती है—के लिये प्रभावशाली व्यवस्था का अभाव हैं-'कोष' ने इस बात पर भी जोर दिया है कि जिन देशों के भुगतान सन्तुलन काफी अनुकूल हैं उनका यह कर्तव्य है कि वे सामान्य मौद्रिक साम्यावस्था को बनाये रखने में सक्रिय सहयोग प्रदान करें । ऐसे देशों में अपनाई गई आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक स्थिरता को बनाये रखना रहा है, जिसके कारण माँग बढ़ने के बजाय नियंत्रित होती रही है । अमेरिका में तुलनात्मक रूप में ब्याज की कम दरों के होने के कारण ही उस देश की निजी पूँजी सरलता से दूसरे देशों में जाने लगी और संसार के अधिकतर देशों को डालर प्राप्त होने लगे ।

कोष ने जनवरी १, १९४७ से ३१ दिसम्बर १९५३ तक ११२६ मिलियन डालर की और जनवरी १, १९५४ से ३१ दिसम्बर १९५६ तक ७८३ मिलियन डालर की अनेक मुद्राओं की बिक्री की । इसमें से, इसी काल में, पुर्नभुगतान की कुल राशि १०८५ मिलियन डालर की अनेक मुद्रायें थीं । केवल १९५६ में कोष ने ६९२ मिलियन डालर की अनेक मुद्रायें बेचीं और १५३·७ मिलियन डालर की अनेक मुद्रायें प्राप्त कीं । जनवरी १, १९५७ से ३१ दिसम्बर १९६२ तक कोष ने ४३५६ मिलियन डालर की अनेक मुद्रायें बेचीं और ३०१३ मिलियन डालर की मुद्राओं का पुनः क्रय किया । इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपने १६ वर्षों के जीवन-काल में (१९६२ तक) ६२६५ मिलियन डालर की अनेक मुद्रायें बेची

और इसमें से ४०९८ मिलियन डालर की मुद्रायें पुनः प्राप्त की। इस काल में 'मुद्रा कोष' से जून १९५७ से पहले खरीदी गई सारी राशि वापस लौटाई जा चुकी है। कुल ४४ देशों ने विदेशी मुद्रायें खरीदीं तथा ३ देशों ने मुद्रा-विक्रय-बचतों का लाभ उठाया किन्तु कोष से क्रम नहीं किया। लाभ उठाने वाले देशों में १९ देश लेटिन अमेरिका, १२ यूरोप, ५ मध्यपूर्व, ७ सुदूर पूर्व तथा ४ अफ्रीका में हैं। ३० अप्रैल १९५८ तक कोष से जितनी विदेशी मुद्रा खरीद गई उसकी ९१·७% डालर (अमेरिकी) में थी। पर उसके पश्चात् डालर की माँगी में धीरे-धीरे कमी होती गई तथा येन (जापान), क्रोनर (स्वेडन), लीरा (इटली) एवं मार्क (जर्मनी) की माँग में वृद्धि होती गई। १९६१-६२ में कुल माँग का ३४·७% डालर में थी।

'मुद्रा कोष' के कार्यवाहन सम्बन्धी विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'मुद्रा कोष' ने :

(१) विनिमय दरों में प्रतियोगितात्मक परिवर्तन की सम्भावनाओं को कम करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सेवायें प्रदान करने का प्रयास किया है;

(२) विनिमय-नियन्त्रण को हतोत्साहित करके सन्तुलित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन दिया है;

(३) पूर्ण रोजगार एवं विकास की दशा को प्राप्त करने के लिये विनिमय-स्थिरता को परिवर्तनशील बनाये रखने की प्रणाली प्रदान की है।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष की आलोचना :

'मुद्रा कोष' द्वारा महत्वपूर्ण कार्यों को करते रहने के साथ भी 'कोष' की आलोचना की गई है। इन आलोचकों में से कुछ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का रूप अत्यन्त संकुचित है, कुछ अन्य के अनुसार यह अत्यन्त उदार है और शेष के अनुसार इसके संगठन में अनेक प्रकार की त्रुटियाँ हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन हम इस प्रकार करेंगे :—

जो यह समझते हैं कि 'कोष' का रूप अत्यन्त संकुचित है, सम्भवतः उन्हें इस बात पर पूरा विश्वास नहीं है कि आन्तरिक आर्थिक समस्याओं के हल करने में निश्चित बहुपक्षीय-विनिमय-दर-प्रणाली का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे विनिमय नियंत्रण के उपयोगों के अपनाये जाने के पक्ष में हैं, क्योंकि वे 'मन्दी के प्रभाव से अपने को बचाने के अधिकार को बनाये रखना' चाहते हैं। इन आलोचकों के अनुसार **विनिमय स्थिरता के सम्बन्ध में 'कोष' की कार्य-प्रणाली स्वर्णमान से अधिक कठोर है,** क्योंकि यह सदस्य देशों को अपनी इच्छा से अपनी मुद्रा के अवमूल्यन का अधिकार नहीं देता। परन्तु, इस आलोचना के उत्तर में यह स्पष्ट किया जा सकता है कि 'कोष' के अन्तर्गत लगायी गयी प्रतिबन्धक शर्तों का उद्देश्य केवल स्पर्धात्मक विनिमय दरों के उच्चावचनों से बचाना है।

दूसरे आलोचक 'कोष-व्यवस्था' को उदार मानते हैं और **इसकी तुलना में स्वर्णमान-व्यवस्था को अधिक उपयुक्त समझते हैं।** उनका विश्वास है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक संगठन के सहयोग के स्थान पर विभिन्न देश अपनी आन्तरिक स्थिति को, अपने बजटों को संतुलित करके तथा अपनी चलन-मुद्राओं के आन्तरिक मूल्य को स्थिर रख कर सुधार सकते हैं। उनके अनुसार इससे अपने आप एवं राष्ट्रीय अधिकारों के बिना हनन के विनिमय स्थिरता आ जायेगी। परन्तु, यहाँ यह बतलाना उपयुक्त होगा कि कोष, अपने साधनों के उपयोग को सावधानीपूर्वक नियमित करके तथा उससे खरीदे गये विदेशी विनिमय पर दण्ड रूपी ब्याज वसूल करके, सदस्य देशों को आन्तरिक स्थिति ठीक करने के लिये बाध्य कर सकता है।

प्रोफेसर विलियम्स ने 'मुद्रा कोष' की आलोचना करते हुये यह बतलाया कि लेन-देन की समस्याओं को, विशेष रूप से **सहायता के लिये किये गये पुर्नानर्माण के तथा अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समझौतों के फलस्वरूप होने वाले भुगतानों को कोष के क्षेत्र से बाहर रखा गया है।** इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कीन्स तथा ह्वाइट की योजनाओं में 'सहायता व्यय' और 'युद्धकालीन के असाधारण-व्यय' के भुगतान शेषों को क्रमशः समाप्त करने की व्यवस्थायें थीं; परन्तु कोष में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई। उन्होंने यह कहा कि ऐसी दशाओं में विदेशी विनिमय की पूर्ति कुछ देशों के लिये तो अनावश्यक और भयानक हो सकती है तथा कुछ के लिये नितान्त अपर्याप्त हो सकती है। वास्तव में प्रोफेसर विलियम्स के यह तर्क इस भ्रम पर, कि सदस्य देशों को कोष से स्वाभाविक-अधिकार के रूप में विदेशी विनिमय प्राप्त होगा, आधारित थे। जैसा कि उसके कार्यों से विदित है, कोष सभी प्रार्थियों की आर्थिक दशाओं पर विचार किये बिना सदस्य देशों के ऋण-अधिकारों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये बाध्य नहीं है। इसके साथ-साथ 'कोष' केवल भुगतान शेषों में सन्तुलन बनाने के उद्देश्य से अल्पकालीन ऋण की सुविधायें प्रदान करता है। प्रोफेसर विलियम्स ने कोष में डालर की कमी एवं ऐसे सदस्य देशों, जो कोष की सुविधाओं से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहेंगे, की मुद्राओं की अधिकता के सदैव बने रहने की ओर सचेत किया। उनके अनुसार 'कोष-योजना' की मुख्य कठिनाई **'कोष के पास डालरों की सम्भावित माँग और उसकी सम्भावित पूर्ति की असमानता है।'** पर ऐसी बात नहीं है कि **कोष-व्यवस्था** में डालरों की अत्यधिक कमी की सम्भावनाओं पर ध्यान न दिया गया हो। वास्तव में इस समस्या की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, जैसा कि आगे के वर्षों में अनुभव किया गया। ऐसी स्थिति का सामना करने के लिये कोष में एकमात्र एवं प्रभावशाली व्यवस्था 'दुर्लभ मुद्रा' एवं 'मुद्राओं के पुनः क्रय' की है जिससे किसी विशेष मुद्रा की कमी के कारण बहु-पक्षीय भुगतान प्रणाली समाप्त नहीं होने पाती।

'कोष' की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि **यह व्यवस्था अत्यधिक लोचदार एवं स्वतन्त्र है**। आलोचकों के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय बहुपक्षीय-स्थिर विनिमय प्रणाली (जिसकी 'कोष' के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है) अत्यन्त आवश्यक तो है, पर क्या इस व्यवस्था में उन दशाओं में सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए पर्याप्त लोच है जिनमें स्वर्णमान असफल रहा है ? उत्तर में यह बताया जा सकता है कि इस व्यवस्था में इसके लिये पर्याप्त लोच है कि यह 'महान् मन्दी' जैसी आर्थिक कठिनाइयों से अर्थ-व्यवस्थाओं को बचा सकता है। साथ ही, यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये स्वतन्त्र एवं सहकारिता पर आधारित प्रणाली के निर्माण का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार कोष को अत्यधिक लोचदार होने की आलोचना ठीक नहीं है।

फिर भी कोष की अपनी सीमायें हैं। सदस्यों के सहयोग के अभाव में यह बहुत कम उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह समझना त्रुटिपूर्ण होगा कि 'कोष' अपने आप संसार की वर्तमान आर्थिक समस्याओं को हल कर सकेगा। कोष का कार्य तो केवल इतना है कि वह अपने सदस्यों को ऐसी व्यवस्था बनाये रखने में सहायता प्रदान करे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संतुलित विस्तार तथा विनियोजन इस प्रकार हो सके कि सभी देशों में रोजगार तथा वास्तविक आय के उच्चतम-स्तर प्राप्त किए जा सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और भारत :

'कोष' की प्रारम्भिक सदस्यता का लाभ उठाने के लिए भारत सरकार को २४ दिसम्बर १९४७ को एक अध्यादेश द्वारा समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए आवश्यक अधिकार प्राप्त हुए। बाद में, संसद ने, भारत को कोष का सदस्य बने रहने की स्वीकृति दे दी। अपनी सदस्यता के फलस्वरूप, भारत को कोष में अपने ४०० मिलियन डालर का अंशदान मार्च १, १९४७ तक जमा करना आवश्यक हो गया, तथा कोष-व्यवस्था के अनुसार अंश के १०% के मूल्य के बराबर डालर एवं स्वर्ण-कोषों को 'कोष' के नाम स्थानान्तरित कर दिया गया। भारत ने अपने अंश में से ४० हजार डालर अमेरिकी डालर में, २७·४८ मि० डालर स्वर्ण में तथा ३७२·४ मि० डालर रुपयों एवं माँग में रुपयों में अपरिवर्तनशील बिना-ब्याज वाले व बिना-व्यवहार वाले (non-negotiable) माँग पत्रों के रूप में दिये। भारतीय रुपये की स्वर्ण में सम-मूल्य ०·२६८९१ ग्राम प्रति रुपये घोषित की गई। यह घोषणा तत्कालीन विनिमय-दर १ शि० ६ पें० प्रति रुपया तथा ४·०३ डालर प्रति पौण्ड के आधार पर की गई। इस प्रकार प्रति १०० डालर=३५०·८५२ रु० की विनिमय दर घोषित की गई। परन्तु, सितम्बर १९४९ में, अनेक अन्य मुद्राओं के समान, अमेरिकी-डालर की तुलना में रुपये का ३०% अवमूल्यन किया गया। इससे स्वर्ण

में रुपये का सम-मूल्य घटकर ०·१८६६२१ ग्राम प्रति रुपया या ४७५·०० प्रति १०० डालर का विनिमय-दर हो गया। अवमूल्यन के बाद पौण्ड की सम-मूल्य दर डालर में घट कर २·८० डालर प्रति पौण्ड हो गयी। रुपये की पौण्ड में दर उसी पर, अर्थात् १ शि० ६ पे० पर, बनी रही।

रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप भारत पर संयुक्त राष्ट्र के दोनों संगठनों-अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं अन्तर्राष्ट्रीय बैंक-का ७९ करोड़ रुपये शेष हो गया, जिसे भारत ने अपरिवर्तनशील (non-negotiable) व बिना-ब्याज वाली-प्रतिभूतियों के रूप में भुगतान किया। कोष की सदस्यता के फलस्वरूप सरकार के ऊपर एक उत्तरदायित्व आ गया जिसके निभाने के लिए रिज़र्व बैंक आफ इन्डिया १९३४ के नियम में संशोधन करना अनिवार्य हो गया। १९४८ में रिज़र्व बैंक के विधान में संशोधन के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता को बनाने के लिये 'पौण्ड प्रतिभूतियों' को 'विदेशी प्रतिभूतियों' से बदला जा सकता है तथा यह भी परिभाषित किया गया कि निकासी विभाग की सम्पत्ति के रूप में रखी जाने वाली प्रतिभूतियाँ, किसी भी दूसरे देश जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य है, की मुद्रा में देय-प्रतिभूतियाँ समझी जायेंगी। रिज़र्व बैंक नियम की उस धारा को भी हटा दिया गया है जिसके द्वारा रुपये का पौण्ड से सीधा वैधानिक सम्बन्ध रखा गया था। रिज़र्व बैंक के लिये यह आवश्यक कर दिया गया कि वह समय-समय पर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित दर पर, किसी अधिकृत व्यक्ति को, माँग पर, विदेशी विनिमय का क्रय या विक्रय करे। परन्तु मुद्रा कोष के प्रति उत्तरदायित्वों का ध्यान रखते हुए यह व्यवस्था की गई है कि खरीदे या बेचे गये विदेशी विनिमय का मूल्य प्रत्येक दशा में, २ लाख रुपये से कम न होना चाहिए। रिज़र्व बैंक की बेचने व क्रय करने की न्यूनतम व अधिकतम नई दरों से अधिकृत व्यापारियों को, सम-मूल्य दर से १ प्रतिशत नीचे व ऊपर पर, जनता से लेन-देन करने में सुविधा हो गई है। इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक भारत के बाहर के किसी देश द्वारा, जो मुद्रा कोष का सदस्य है, जारी की गई प्रतिभूतियों तथा विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय कर सकता है। इन उपायों के परिणामस्वरूप रुपया अब एक स्वतन्त्र मुद्रा-इकाई हो गया है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं के मध्य अब इसका अपना स्थान हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता से भारत को बहुत लाभ पहुँचा है। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पूर्व, जब कि भारत प्रतिकूल भुगतान शेषों की कठि-नाइयों का सामना कर रहा था, भारत ने कोष से लगभग ९२ मिलियन डालर प्राप्त किया। अप्रैल १९४९ तक, उसने अपनी अधिकृत डालर-साख प्राप्त कर ली और उसने 'कोष' से निवेदन किया कि वह भारत के भुगतान-शेषों की प्रतिकूलता को

देखते हुए ऋण की सुविधाओं को बढ़ाये। कोष ने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली। १९५२ में, जब व्यापार-शेष की कमी बहुत अधिक बढ़ गई, तो भारत ने फिर 'कोष' से सहायता प्राप्त की। कोष से अपने चलन के पुनः क्रय के लिये भारत ने सन् १९५४ में ४७ मिलियन डालर तथा १९५५ में २५ मिलियन डालर का भुगतान किया। द्वितीय योजना-काल के प्रथम वर्ष में हमारे विदेशी विनिमय में बहुत कमी हो गई। हमें अस्थायी सहायता के रूप में ९५ करोड़ रुपये का ऋण प्राप्त हुआ। इस प्रकार १९५७-५८ के अन्त तक, भारत को 'कोष' से कुल ३०० मिलियन डालर की सहायता प्राप्त हुई, जिसमें से १०० मिलियन डालर का पुनः भुगतान किया गया। १९५८-५९ तथा १९५९-६० में भारत ने 'कोष' से कुछ भी सहायता प्राप्त नहीं की। १९६१-६२ में इसने 'मुद्रा कोष' २५० मिलियन डालर फिर उधार लिया जिसमें जापानी एवं जर्मनी की मुद्रायें भी सम्मिलित थीं। अप्रैल १९६२ तक भारत ने पाँच बार विदेशी मुद्रा खरीदी थी और अन्तिम ऋण (२५० मिलियन डालर) को छोड़कर सब का पुनः भुगतान भी कर दिया था। दिसम्बर १९६३ तक भारत ने कुल २७४ करोड़ रुपये (५७८ मिलियन डालर की विदेशी मुद्रायें खरीदीं जिसमें से १५५ करोड़ रुपये (३२४ मिलियन डालर) की मुद्रायें वापस कीं।

इस प्रकार 'कोष' की सदस्यता से भारत को विदेशी मुद्रा मिलने में काफी सुविधा हुई है जिससे देश में हो रहे आर्थिक विकास से सम्बन्धित असन्तुलित भुगतान-शेष की समस्या को हल किया जा सका है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजारों में रुपये का क्रय-विक्रय अब स्वतंत्र रूप से होता है। इसके अतिरिक्त 'कोष' के प्रारम्भिक प्रथम-पाँच सदस्य-देशों में होने के कारण, भारत के अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता में वृद्धि हुई है। अन्त में यह भी कहा जा सकता है कि 'कोष' की सदस्यता के फलस्वरूप भारत को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त हो सकी है, जिसकी सहायता से विनियोजन के लिये दीर्घकालीन विदेशी पूँजी प्राप्त की जा सकी है।

यूरोपियन भुगतान संघ एवं यूरोपियन मौद्रिक समझौता (European Payment Union and European Monetary Agreement) :

यद्यपि 'मुद्रा कोष' व्यवस्था के अन्तर्गत इस बात के प्रयास किये जा रहे थे कि राष्ट्रों के असंतुलित भुगतान-शेषों के असमानताओं को कम करके विनमय-दरों को उच्चावचनों से बचाया जा सके, फिर भी काफी लोगों को (विशेषकर यूरोपीय देशों के) इसके पर्याप्तता पर विश्वास नहीं था। स्वर्णमान के टूट जाने के पश्चात् तथा द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली एवं भुगतानों की संगठित व्यवस्था का ऐसा अभाव हो रहा था कि देशों को विदेशों से आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई हो रही थी। कुछ देशों के पास तो ऐसी वस्तुयें पर्याप्त मात्रा में थी, पर उनकी माँग करने वाले देशों के पास ऐसी निर्यात की जा

सकने वाली वस्तुओं की कमी थी जिनको आवश्यक-वस्तुओं वाले देश चाहते थे। आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से यूरोपियन देशों ने द्विपक्षीय समझौते करने प्रारम्भ तो किये, पर वे एक 'बहुमुखी-भुगतान-व्यवस्था' (multilateral-payment system) अपनाने के लिये उत्सुक थे, जिससे जिस देश से सस्ती वस्तुयें मिलें उसी में अपनी आवश्यकता को वे पूरी कर सकें। ऐसी व्यवस्था के अपनाये जाने के उद्देश्य से १९५० में उन १८ यूरोपीय देशों ने, जिन्होंने पहले 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन'[1] की स्थापना के लिये समझौता किया था, यूरोपीय-व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों को धीरे-धीरे समाप्त करने तथा **'यूरोपियन भुगतान संघ'** के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों की व्यवस्था करने का निर्णय किया।

'संघ'-व्यवस्था के अन्तर्गत यह महत्वपूर्ण नहीं रहा कि किन्हीं दो देशों के बीच भुगतान का कितना (net balance) है, पर इसका महत्व हो गया कि 'संघ' के प्रति किसी देश का कितना (net balance) लेना-देना है। 'संघ' के सदस्यों का यह उत्तरदायित्व हो गया कि वे अन्य देशों के साथ अपने चालू खाते के भुगतान सम्बन्धी net balances (लेना-देना) का ब्योरा भेजें। इन ब्योरों के आधार पर 'संघ' अधिकारी सदस्य-देशों के कुल-लेन या कुल-देन (cumulative net-balances) मालूम कर लेते थे। यह कुल-लेन या कुल-देन 'संघ' के विरुद्ध माने जाते थे। उदाहरणार्थ यदि किसी एक देश का ३ देशों से ४०० मिलियन डालर का आधिक्य-शेष (surplus balance) है और शेष ३ देशों से २०० मिलियन डालर का घाटा-शेष (deficit balance) है, तो उसका कुल आधिक्य-शेष (४००-२००) = २०० मि० डालर होगा, जिसके भुगतान का उत्तरदायित्व 'संघ' पर होगा। 'संघ' एवं सदस्यों के बीच लेन-देन निबटाने के लिये एक साख-प्रणाली अपनाई गई जिसमें सदस्यों के कोटे निश्चित किये गये। इस प्रणाली के अन्तर्गत कुल-आधिक्य-शेष वाला सदस्य-देश 'संघ' को अपने कोटे के २०% तक साख देने के लिये वचन-बद्ध हुआ। इस प्रतिशत से अधिक अधिक्य-शेष होने पर (पर कोटे से अधिक नहीं) अतिरिक्त आधिक्य के आधे भाग का निपटारा स्वर्ण या डालरों में होना था और शेष आधे भाग को ऋण के रूप में

१—पेरिस में हुये 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' (Organisation for European Economic Cooperation—O. E. E. C.) सम्बन्धी समझौते के अन्तर्गत इसका मुख्य कार्य वाशिंगटन स्थिति 'यूरोपियन सहयोग प्रशासन' Economic Cooperation Administration—E. C. A.), जिसे अमेरिकन-सहायता-कार्यक्रम (American Loan Programme and European Recovery Plan) को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से स्थापित किया गया था, के सहायतार्थ काम करना तथा यूरोपियन सहयोग का एक स्थायी केन्द्र बनना था।

संघ को दे देना था। कुल-घाटा-शेष वाले देश को, सहायतार्थ, उसके कोटे के २० % तक साख दी जाती थी। २० % से अधिक पर तथा १००% से म घाटे के लिये एक भाग का भुगतान स्वर्ण एवं डालरों में करना होता था और अन्य भाग के बराबर साख दी जाती थी। १०० % से अधिक के घाटे का निपटारा स्वर्ण या डालरों में करना होता था। इस प्रकार 'संघ'-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रतिकूल भुगतान-शेष वाले सदस्य-देशों के लिये आवश्यक वस्तुयें खरीदना सम्भव हो गया, यद्धपि उनके स्वर्ण एवं डालर कोष इसके लिये अपर्याप्त थे। इससे एक ओर अन्तर-यूरोपीय-व्यापार समन्वित होता गया और दूसरी ओर सामूहिक-ऋणता की गणना किये जाने से सदस्यों के बीच बहुमुखी-भुगतान-प्रणाली स्थापित हो गई।

काफी अंशों में 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' से मिलती-जुलती इस व्यवस्था में सबसे बड़ी कठिनाई यह रही कि स्वर्ण एवं डालरों का अभाव बना रहा। देनदार देश अपने दायित्वों को सोने में निबटाने में असमर्थ रहते और लेन-दार देश अपने आधिक्य को सोने में पाने में असमर्थ रहते, जिसके वे अधिकारी थे। फिर भी सदस्यों की भुगतान-शेष सम्बन्धी स्थिति में काफी सुधार हुआ। कुछ देशों में लगातार घाटा रहने के कारण, उनको दिये गये अल्पकालीन ऋणों को १९५४ में दीर्घकालीन ऋणों में बदल दिया गया। प्रमुख यूरोपियन चलन मुद्राओं की परिवर्तनशीलता पुन: स्थापित होने के फलस्वरूप सामान्य सौदों का विदेशी विनिमय बाजारों के माध्यम से सम्पादन होने के कारण 'संघ' अनावश्यक समझा जाने लगा। अत: १९५९ में इसके स्थान पर 'यूरोपियन मौद्रिक समझौता' किया गया।

E. P. U. के स्थान पर १९५९ में किये गये **'यूरोपियन मौद्रिक समझौते'** के अन्तर्गत एक 'यूरोपियन कोष' की स्थापना की गई जिससे 'यूरोपियन भुगतान संघ' से मिले स्वर्ण व डालर के कोष सम्मिलित किये गये। समझौते के अन्तर्गत इस कोष से सदस्य-देशों को उनकी भुगतान-संतुलन सम्बन्धी कठिनाइयों के दूर करने के लिये दो वर्षीय साख देने की व्यवस्था की गई। यह उल्लेखनीय है कि E. M. A. का उद्देश्य केवल कठिनाइयों के उत्पन्न होने पर ही अथवा जब सामान्य विनिमय-व्यवस्था टूट जाती है सदस्य-देशों को सहायता प्रदान करना है। 'कोष' में ६०० मि० डालर की पूंजी जमा की गई थी। समझौते के अन्तर्गत 'कोष' द्वारा सभी भुगतान स्वर्ण या डालर में किये जाते हैं। भुगतान डालर (अमरीकी) के समता-दर पर नहीं किये जाते। यह भुगतान अधिकृत क्रय एवं विक्रय दरों पर किये जाते हैं जो समता-दर से ऊँची होती है। इसके फलस्वरूप विदेशी विनिमय बाजारों द्वारा भुगतानों का निबटारा करना सदस्यों के लिये सस्ता पड़ता है।

इस प्रकार E. M. A. के अन्तर्गत E. P. U. की भाँति बहुमुखी भुगतान प्रणाली का आयोजन होता है। पर भेद केवल इतना है कि E. P. U. की व्यवस्था

में net balances का निबटारा स्वर्ण एवं लेनदार देशों से प्राप्त साख से डालर के समता-दर पर किया जाता था; E. M. A. के अन्तर्गत सभी निबटारे स्वर्ण अथवा डालर में, अधिकृत क्रय-विक्रय दर पर, किये जाते हैं।

निर्देश पुस्तकें :

J. H. Williams : Post-war Monetary Plans and other Essays.
I. M. F. : Annual Reports.
Halm, G. N. : Monetary Theory.
De Kock : Central Banking.

अध्याय २३

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पिछड़े एवं जर्जरित क्षेत्रों का आर्थिक विकास न केवल इसलिये आवश्यक होता है कि उस क्षेत्र के लोगों के रहन-सहन का स्तर ऊपर उठे, परन्तु इसकी आवश्यकता संसार की अर्थव्यवस्थाओं में एक प्रकार का सन्तुलन लाने के लिये भी होता है। द्वितीय महायुद्ध-काल में ही संसार के प्रमुख विचारकों ने इस ओर ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया था कि युद्धोत्तर काल में अविकसित एवं युद्ध-जर्जरित क्षेत्रों का विकास एवं पुनर्निर्माण किस प्रकार किया जाये और इसमें अन्त-र्राष्ट्रीय सहयोग का क्या स्थान हो सकता है। विकास की दृष्टि से, जोखिम का उचित ध्यान रखते हुये राष्ट्रीय सीमाओं से बाहर यदि उन क्षेत्रों में जहाँ विनियोगों पर सबसे अधिक शुद्ध आय प्राप्त होती है कोष लगाये जाते हैं तो ऋणदाता एवं ऋणी दोनों ही लाभान्वित होते हैं, क्योंकि ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विनियोजन से प्रसाधनों का समुचित वितरण हो जाता है तथा विश्व की वास्तविक आय बढ़ जाती है। विश्व शांति के लिये आय तथा रहन-सहन के स्तरों की विषमताओं को ही कम करना आवश्यक नहीं था, पर यह भी जरूरी था कि युद्ध में सक्रिय भाग लेने वाले राष्ट्रों (जैसे जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, पोलैंड आदि) की टूटी-फूटी अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण पर अविलम्ब ध्यान दिया जाय। इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये, युद्ध के समाप्त होने पर, अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों के प्रोत्साहन हेतु, अनेक समझौते हुये एवं संस्थायें स्थापित की गईं। इनमें 'विश्व बैंक' का प्रमुख स्थान है। इसके अतिरिक्त इस दिशा में 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम,' 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद,' 'मार्शल योजना', 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन,' 'व्यापार एवं प्रशुल्क-विषयक सामान्य समझौते', 'यूरोपियन साझा बाजार', 'अफ्रीकी-एशियाई कामन मार्केट', 'कोलम्बो योजना' आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनका संक्षिप्त अध्ययन हम इस अध्याय में करेंगे।

१. अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक

ब्रेटनवुड्स में हुये मौद्रिक सम्मेलन में भाग लेने वाले सदस्य-देशों का विश्वास था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् युद्ध के कारण नष्ट हुई उत्पादन क्षमता के पुनर्निर्माण तथा विश्व के अविकसित क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ा कर जीवन-स्तर में

उत्थान हेतु अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी की भारी माँग होगी। उनका यह भी अनुमान था कि, भविष्य की असम्भावनाओं के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग की सुविधायें बिना किसी प्रकार की सरकार की गारन्टी के उपलब्ध हो पाना असम्भव था। अतएव उन्होंने एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय विनियोग संस्था की आवश्यकता अनुभव की जो न केवल सदस्य राष्ट्रों के पुनर्निर्माण तथा आर्थिक विकास हेतु अपने पास से ऋण दे अपितु व्यक्तिगत पूँजी को अपनी गारन्टी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता प्रदान करे। काफी विचार-विमर्श के पश्चात् किये गये समझौते के अन्तर्गत 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' के साथ-साथ देशों के पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास के लिये इस 'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' अथवा 'विश्व बैंक' की स्थापना करने का भी निर्णय लिया गया। 'बैंक' का मुख्य उद्देश्य सदस्य-देशों के पुनर्निर्माण एवं आर्थिक विकास के लिये दीर्घकालीन पूँजी की व्यवस्था करना है तथा दीर्घकालीन विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित एवं विस्तृत करने को प्रयत्नशील होना है।

मौद्रिक सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों में से ४४ देशों ने (जिसमें भारत भी था) २७ दिसम्बर १९४५ तक इसकी प्रारम्भिक सदस्यता प्राप्त कर ली और 'बैंक' ने २५ जून १९४६ से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य:

'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक' के प्रमुख उद्देश्य निम्न रूप में बतलाये जा सकते हैं :—

(१) युद्ध-जर्जरित अर्थव्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण (Reconstruction) में सहायता करना तथा अल्पविकसित (under-developed) देशों को अपने प्राकृतिक साधनों के अधिकतम शोषण तथा विकास के लिये आर्थिक सहायता प्रदान करना;

(२) संसार के विभिन्न देशों में पूँजी के विनियोग के लिये सुविधायें प्रदान करना, व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी (Guarantee) देकर अथवा उनमें सम्मिलित होकर पिछड़े हुये देशों में उत्पादन कार्यों के लिये विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहन देना और यदि व्यक्तिगत ऋण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हों तो उत्पादन कार्यों के लिये समुचित शर्तों पर अपने पास से ऋण देना;

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन सन्तुलित विकास की व्यवस्था करना जिससे सदस्य-देशों में उत्पत्ति, जीवन-स्तर तथा श्रमिकों की कार्य-दशाओं को उन्नत किया जा सके;

(४) सदस्य-देशों की युद्धकालीन अर्थव्यवस्थाओं को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में परिवर्तित करने की सुविधायें देना।

उपर्युक्त उद्देश्यों से पता चलता है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' तथा 'अंतर्राष्ट्रीय बैंक' के उद्देश्य एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों की

राष्ट्रीय आय तथा वहाँ के निवासियों के जीवन-स्तर को ऊँचा करना है। दोनों ही संस्थायें सदस्य-देशों को ऋण देती हैं; पर जब कि 'मुद्रा कोष' भुगतान शेष में संतुलन लाने के लिये अल्पकालीन ऋण देती है, 'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक' विकास के लिये दीर्घकालीन ऋण की व्यवस्था करता है। 'मुद्रा कोष' विभिन्न देशों के बीच होने वाले व्यापार की बाधाओं को दूर करता है और 'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक' दीर्घकाल में संतुलित विदेशी व्यापार स्थापित करने का प्रयास करता है। यद्यपि दोनों संस्थाएँ पूरक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं, किन्तु दोनों का कार्य क्षेत्र अलग-अलग है।

विश्व बैंक के कार्य :

विश्व बैंक के द्वारा दी जाने वाली सहायता मुख्यतया तीन प्रकार की होती है : (अ) व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी करना, (ब) अपनी पूँजी में से प्रत्यक्ष ऋण देना तथा (स) उधार ली गई पूँजी में से ऋण देना।

(अ) गारन्टी करना : 'विश्व-बैंक' व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी देकर विदेशी पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहित करता है। 'बैंक' किसी की ऋण की गारंटी तब ही कर सकता है, जब कि उस देश की स्वीकृति प्राप्त करली गई हो जिसके मुद्रा बाजार में वह ऋण लिया जाना है अथवा जिस देश की मुद्रा में वह ऋण दिया जा रहा है। ऋणों की गारन्टी करने से पहले बैंक यह देखता है कि ऋण लेने वाले देश की आवश्यकता कहाँ तक वास्तविक है और ऋण देने वाले की शर्तें कहाँ तक उचित हैं। 'बैंक' स्वयं ऋण देने की अपेक्षा गारन्टी करके व्यक्तिगत ऋणों को प्रोत्साहित करना अधिक अच्छा समझता है। 'बैंक' अपने पास से ऋण तब ही देता है जब कि किसी देश को उचित शर्तों पर व्यक्तिगत ऋण प्राप्त नहीं हो रहे होते। व्यक्तिगत ऋणों की गारन्टी देने के लिये बैंक सदस्य देशों से कमीशन लेता है, जिसकी दर पहले १० वर्षों के लिये १% से लेकर १½% तक होती है।

(ब) अपनी पूँजी से प्रत्यक्ष ऋण देना : 'बैंक' सदस्य देशों की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये अपनी पँजी में से भी ऋण दे सकता है। यदि बैंक यह देखता है कि किसी देश को उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में व्यक्तिगत ऋण प्राप्त नहीं हो रहे हैं तो बैंक उसे अपने पास से ऋण दे सकता है। इस कार्य के लिये बैंक अपनी बेची हुई पूँजी के २०% भाग का प्रयोग कर सकता है। बैंक के द्वारा अपने पास से दिये गये ऋणों की मात्रा सीमित ही रहती है, क्योंकि वह इस प्रकार के ऋणों को प्रोत्साहित नहीं करता है। बैंक का उद्देश्य स्वयं ऋण देना नहीं है बल्कि जहाँ तक हो सके सदस्य-राष्ट्रों को व्यक्तिगत ऋण दिलाना है।

(स) उधार ली गई पूँजी में से ऋण देना : 'बैंक' सदस्य देशों को ऋण देने के लिये अन्य राष्ट्रों से ऋण भी ले सकता है। इस प्रकार के ऋण देने से पूर्व 'बैंक' को उस देश की स्वीकृति लेनी पड़ती है जिसकी मुद्रा बाजार से वह ऋण लिया

जाना होता है। यदि ऋण देने वाले देश की मुद्रा के अतिरिक्त किसी अन्य देश की मुद्रा में ऋण लिया जाता है तो उस देश की स्वीकृति भी लेनी होती है जिस देश की मुद्रा में वह ऋण लिया जा रहा है।

उपर्युक्त तीनों विधियों से 'बैंक' आर्थिक विकास तथा पुनर्निर्माण के लिये विदेशी विनियोगों को प्रोत्साहित करता है। ऋणों को देने में बैंक सामान्य जोखिम उठाने के लिये तैयार रहता है, किन्तु इस बात पर जोर देता है कि उसके द्वारा दिये गये ऋणों का प्रयोग केवल देश की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिये ही किया जाय। ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्र की जाँच करने के लिये एक ऋण समिति (Loan Committee) नियुक्त की जाती है जिसमें बैंक के विशेषज्ञ होते हैं तथा एक प्रतिनिधि ऋण लेने वाले देश का होता है।

ऋण देने की विधि : 'बैंक' के द्वारा किसी सदस्य देश को ऋण देने की विधि को चार अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है :—

(१) 'बैंक' प्रार्थी देश की एक प्रारम्भिक जाँच करता है तथा उससे ऋण के सम्बन्ध में बातचीत करता है। इस अवस्था में बैंक के अधिकारी ऋण के लिये प्रार्थी देश की भुगतान क्षमता की जाँच करते हैं।

(२) दूसरी अवस्था में 'बैंक' का मिशन उस प्रोजेक्ट की जाँच करता है जिसके लिये ऋण लिया जा रहा है। इस बात की जाँच की जाती है कि प्रोजेक्ट योजना ठीक प्रकार बनी है अथवा नहीं? क्या उसके लिये आवश्यक स्थानीय पूंजी पर्याप्त मात्रा में मिल सकेगी, क्या प्रोजेक्ट का उचित प्रबन्ध एवं निरीक्षण किया जा सकेगा? इत्यादि।

(३) तीसरी अवस्था में ऋण सम्बन्धी शर्तों के बारे में बातचीत प्रारम्भ होती है। इसके अन्तर्गत कुल विनियोग का 'बैंक' के द्वारा दिया जाने वाला भाग, ब्याज की दर, ऋण का समय तथा जमानत इत्यादि के सम्बन्ध में निर्णय लिये जाते हैं।

(४) अन्तिम अवस्था ऋण के सम्बन्ध की होती है जो 'बैंक' के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों की एक विशेषता है। बैंक के प्रतिनिधि ऋणी देश में जाते हैं और इस बात की जाँच करते हैं कि ऋण की रकम का प्रयोग किस उद्देश्य के लिये किया जा रहा है और वह कहाँ तक ऋण सम्बन्धी समझौते के अनुसार है।

अन्य आवश्यक बातें :

'विश्व बैंक' द्वारा ऋण प्रदान करने अथवा गारन्टी पर ऋण दिलाने के सम्बन्ध में कुछ अन्य आवश्यक बातें इस प्रकार बतलाई जा सकती हैं :—

(क) 'विश्व बैंक' सदस्य राष्ट्रों से केवल उनके केन्द्रीय बैंकों या सरकारों के माध्यम से ही ऋण-व्यवसाय करता है। यह 'बैंक' किन्हीं व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-

गत संस्थाओं के साथ भी ऋण व्यवसाय कर सकता है। परन्तु इस दशा में इन व्यक्तियों या व्यक्तिगत संस्थाओं के देश की सरकार को या केन्द्रीय बैंक को ऋण तथा ब्याज की वापसी की गारन्टी देनी होती है।

(ख) 'विश्व बैंक' किसी सदस्य राष्ट्र को ऋण केवल उसी समय देता है जब कि उसे यह सन्तुष्टि हो जाती है कि ऋणी को अमुक शर्तों पर किसी दूसरे सूत्र से ऋण मिलने की सम्भावना नहीं है।

(ग) ऋण प्रदान करने अथवा ऋण के भुगतान की गारन्टी देने से पूर्व 'विश्व 'बैंक' अपनी ऋण समिति (Loan Committee) द्वारा यह जाँच करा लेता है कि जिस कार्य के हेतु राशि उधार माँगी जा रही है वह ठोस है या नहीं और ऋणी इस राशि को भुगतान करने की परिस्थिति में है या नहीं।

(घ) ऋण की रकम उधारकर्ता देश के केन्द्रीय बैंक में जमा कर दी जाती है जहाँ से इसे आवश्यकतानुसार निकाला जा सकता है।

(ङ) ऋण प्रदान करते समय या ऋण के भुगतान की गारन्टी देते समय 'बैंक' ऋणदाता एवं उधारकर्ता देशों के हितों को दृष्टिगत करता हुआ स्वयं कुछ शर्तें निश्चित करता है।

(च) 'विश्व बैंक' किसी भी सदस्य-राष्ट्र को उसकी स्थानीय आवश्यकताओं के हेतु ऋण प्रदान नहीं करता वरन् वह केवल पुनर्निर्माण एवं विकास योजनाओं के हेतु ही ऋण प्रदान करता है।

(छ) 'बैंक' द्वारा दिये गये ऋण या गारन्टी दिलाये गये ऋणों की रकम बैंक की स्वीकृति पूँजी (Subsrcibed Capital) और संचित रक्षित कोष (Reserve Fund) से अधिक नहीं हो सकती, अर्थात् बैंक के कुल दायित्व (Liabilities) इसके कुल साधनों (Resources) से अधिक नहीं हो सकते।

(ज) जिस सदस्य राष्ट्र ने 'बैंक' से ऋण लिया है वह ऋण की रकम व ब्याज का भुगतान स्वर्ण में अथवा उधार ली गई मुद्रा में ही कर सकता है।

उपर्युक्त बातों का उद्देश्य बैंक के द्वारा ऋण देने की गलतियों की सम्भावनाओं को कम करना है। बैंक ने सर्व प्रथम ऋण योरुप के उन देशों को दिये जिनकी अर्थ-व्यवस्थायें द्वितीय युद्ध के कारण बर्बाद हो गई थीं। ये ऋण मुख्यतया पुनर्निर्माण की आवश्यक सामग्री खरीदने के लिये दिये गये। बैंक ने इस उद्देश्य को कुल मिलाकर ५०० मिलियन डालर कर ऋण दिया। दिसम्बर १९६१ तक बैंक ने ५० से अधिक देशों को ३०० से भी अधिक ऋण दिये जिनकी रकम ६,००० मिलियन डालर से अधिक थी। बैंक के द्वारा विकास के लिये तथा दूसरी तिहाई भाग यातायात एवं संदेशवाहन के सुधार के लिये दिया गया। शेष एक तिहाई भाग उद्योग, कृषि तथा सिंचाई इत्यादि के विकास के लिये दिया गया।

तकनीकी सहायता (Technical Assistance) : ऋणों के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य देशों को विभिन्न प्रकार को तकनीकी सहायता भी देता है। इसके अन्तर्गत 'बैंक' विकास योजनाओं के सम्पूर्ण आर्थिक सर्वेक्षण, क्षेत्रीय जाँच तथा विशेष प्रोजेक्ट सम्बन्धी परामर्श आदि की सुविधायें देता है। 'बैंक' ने अभी हाल में एक 'विकास सम्बन्धी परामर्श सेवा' स्थापित करने का निश्चय किया है जिसमें अर्थशास्त्री परामर्शदाता, प्रबन्धक आदि रक्खे जायेंगे जो सदस्य देशों की सरकारों को विभिन्न योजनाओं में उचित चुनाव करने में सहायता देंगे। इससे केवल अधिक प्राथमिकता वाली योजनाओं को ही प्रारम्भ किया जा सके। इसके अतिरिक्त बैंक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने में भी योगदान देता है। भारत और पाकिस्तान के बीच सिन्ध नदी के पानी के बटवारे की समस्या को सुलझाने, तथा मिश्र के द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के लिये दिये जाने, वाले मुआवजों की रकम निश्चित करने में बैंक ने बड़ी सहायता दी है।

'विश्व बैंक' का संगठन :

'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक' का संगठन लगभग उसी तरह का है जैसा 'मुद्रा कोष' का है।

सदस्यता : समझौते के अनुसार कोई भी देश जो 'बैंक' के विधान को स्वीकार करता है तथा जो 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष' का सदस्य होता है, इस बैंक का सदस्य बन सकता है। 'मुद्रा कोष' की सदस्यता त्याग देने पर साधारणतया इस 'बैंक' की भी सदस्यता समाप्त हो जाती है, पर अपने पक्ष में ७५% मत होने पर कोई देश 'मुद्रा कोष' की सदस्यता त्याग देने पर 'विश्व बैंक' का सदस्य बना रह सकता है। वह राष्ट्र जो बैंक के नियमों एवं शर्तों का पूरी तरह से पालन नहीं करता 'बैंक' की सदस्यता से त्यागा हुआ समझा जाता है। जिन देशों ने दिसम्बर १९४५ तक इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली थी, इसके 'प्रारम्भिक सदस्य' बन गये। इनकी संख्या ४४ थी और भारत का इनमें ५ वाँ स्थान है। विधान में व्यवस्था है कि कोई देश बाद में भी 'बैंक' का सदस्य बन सकता है, या उसकी सदस्यता त्याग सकता है। इस समय 'बैंक' के १०३ सदस्य हैं।

प्रशासन : 'अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष' की भाँति ही 'विश्व बैंक' के संचालन के लिये भी एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors) तथा एक संचालक मण्डल (Board of Executive Directors) होता है। गवर्नर मण्डल बैंक की सामान्य नीति का निर्धारण करता है पर बैंक का दैनिक संचालन कार्य संचालक मण्डल के द्वारा किया जाता है। गवर्नर मण्डल के प्रत्येक सदस्य देश के द्वारा नियुक्त एक गवर्नर तथा एक यथाक्रम गवर्नर (Alternate Governor) होते हैं जिनकी नियुक्ति ५ वर्ष के लिये की जाती है। इस मण्डल की वर्ष में एक बार बैठक होनी आवश्यक होती है जिसमें बैंक की प्रगति रिपोर्ट पर विचार किया जाता है तथा उसकी

सामान्य नीति सम्बन्धी प्रश्नों को निश्चित किया जाता है। बैंक के संचालक मण्डल (Board of Executive Directors) में १२ सदस्य होते हैं, जिनमें से ५ स्थायी डाइरेक्टर्स पाँच बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं तथा शेष ७ डाइरेक्टर्स अन्य सदस्य देशों के द्वारा चुने जाते हैं। इनके अतिरिक्त बैंक की एक सलाहकार समिति (Advisory Council) होती है जिसमें कम से कम ७ सदस्य होते हैं। यह समिति संचालक मण्डल द्वारा निर्वाचित की जाती है और इसके सदस्य, बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग, कृषि तथा श्रम आदि विषयों के विशेषज्ञ होते हैं और इनका निर्वाचन अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर किया जाता है। यह समिति बैंक को उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में सलाह देती है। बैंक की एक ऋण समिति (Loan Committee) भी होती है जो ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जाँच करती है। इस समिति की सिफारिस पर ही बैंक के द्वारा ऋण दिये जाते हैं।

पूँजी: अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी १०,००० मिलियन डालर है जो १ लाख डालर वाले एक लाख हिस्सों में बँटी हुई है। इन एक लाख अंशों (Shares) में से ९१,००० अंश मूल सदस्यों द्वारा खरीदे गये और शेष ९००० अन्य सदस्यों के लिये छोड़ दिये गये हैं। बैंक की पूँजी में सदस्यों के $\frac{३}{४}$ मताधिक्य (Majority) से वृद्धि की जा सकती है। सन् १९६४ में इस बैंक के सदस्यों की संख्या १०२ थी। बैंक की पूँजी में सदस्य देशों के अभ्यंश (Quotas) निश्चित किये गये हैं और इनके अनुसार ही विभिन्न राष्ट्रों ने बैंक के अंश खरीदे हैं। कुछ सदस्य-देशों के अभ्यंश, मिलियन डालर में, इस प्रकार थे: अमेरिका २४३५, इंगलैंड १०००, चीन ६००, भारत ४००, फ्रांस ४५० मि०। बैंक की पूँजी का केवल $\frac{१}{५}$ भाग ही एकत्रित किया गया है जिसमें से बैंक सदस्य-राष्ट्रों को स्वयं ऋण दे सकता है तथा पूँजी के $\frac{४}{५}$ भाग से, जो अनएकत्रित (uncalled) है, बैंक के द्वारा ऋणों की गारण्टी करने के लिये प्रयोग किया जाता है। सदस्य देशों को अपने अंशों का २०% अदा करना होता है तथा शेष ८०% बैंक के द्वारा माँग करने पर देना पड़ेगा। इस २०% माँग में से १८% सदस्य-देश को अपनी मुद्रा में तथा २% सोने में अथवा अमेरिकन डालर में देना होता है। बैंक के सदस्यों का दायित्व सीमित रखा गया है। सन् १९५९-६० में बैंक की अधिकृत पूँजी को बढ़ाकर २१,००० मिलियन डालर कर दिया गया है और उसी अनुपात में सदस्य देशों के अभ्यंशों में भी वृद्धि कर दी गई है।

ऋण देने के लिये बैंक के साधनों के तीन स्रोत हैं: बैंक की चुकता पूँजी (Paid-up capital) जो सदस्य देशों के अभ्यंशों का २०% है, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी बाजारों में बैंक के द्वारा लिये जाने वाले ऋण तथा बैंक की अपनी शुद्ध आय। इन तीनों में से बैंक के ऋण उसका सबसे बड़ा साधन है। बैंक अपने ऋण-पत्रों

(Bonds) को बेचकर विभिन्न देशों में ऋण प्राप्त करता है। इसके लिये उसे उस सदस्य से पूर्ण स्वीकृति लेनी होती है, जहाँ वह अपने ऋण-पत्र बेचना चाहता है। बैंक ने मुख्यतया संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्वीटजरलैंड में अपने ऋण-पत्र बेचकर साधन प्राप्त किये हैं।

विश्व बैंक की सफलतायें :

'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' की स्थापना के समय लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने कहा था : "इस महान् योजना से संसार को मिलने वाले लाभों को मुश्किल से ही बढ़ा कर कहा जा सकता है। स्वतन्त्र किये गये क्षेत्रों को इसके द्वारा निर्माण के लिये साधन उपलब्ध हो सकेंगे। प्रत्येक देश में उत्पादकों के सामान के लिये क्रय-शक्ति उपलब्ध होगी। यह संस्था ऋणी तथा ऋणदाता देशों के बीच भुगतान में संतुलन बनाये रखने के लिये एक शक्तिशाली साधन हो सकेगी। रोजगार की व्यवस्था करने तथा भविष्य में उत्पादन बढ़ाने के लिए इतने बड़े पैमाने पर इतना महान् प्रस्ताव कभी नहीं रक्खा गया है"। यह जानने के लिये कि कीन्स द्वारा कही गई यह बातें कहाँ तक सच हुई हैं निम्न कार्य-विवरण को समझा जा सकता है।

१. **सदस्य-देशों को विकास के लिए अधिक ऋण :** विश्व बैंक के ऋण-व्यापार का प्रारम्भ ९ मई १९४७ को, फ्रान्स को २५० मि० डालर ऋण प्रदान करने के साथ, हुआ। प्रारम्भ में विश्व बैंक का कार्य-क्षेत्र काफी संकुचित रहा, परन्तु अब वह काफी विस्तृत हो गया है। 'बैंक' सदस्य-राष्ट्रों को, पुनर्निर्माण एवं विकास कार्यों के हेतु बड़ी मात्रा में दीर्घकालीन एवं मध्यकालीन ऋण प्रदान कर रहा है तथा उसके लिये उन्हें परोक्ष रूप से तकनीकी सहायता भी दे रहा है। ३० जून १९६४ तक 'बैंक' द्वारा दिये गये बचन-बद्धताओं (commitments) की कुल मात्रा लगभग ८०६ करोड़ डालर रही है, जो ६० सदस्य-देशों के बीच लगभग ४०० ऋणों के रूप में फैली हुई है। 'बैंक' की ऋण नीति में विश्व के अविकसित एवं अर्ध-विकसित क्षेत्रों को विशेष स्थान प्राप्त है और बड़ी मात्रा में ऋण देकर बैंक ने उनके आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह इस बात से स्पष्ट है कि ३० जून १९५८ तक एशिया तथा अफ्रीका के सदस्य-देशों को विभिन्न विकास-योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये 'विश्व-बैंक' ने १४०० मि० डालर के ऋण दिये थे। सन् १९५८-५९ में इस 'बैंक' ने ७०३·१२ मि० डालर के ऋण सदस्य देशों को विकास के लिए प्रदान किये, जिसमें से एशिया और मध्यपूर्वी-देशों को ३५४ मि० डालर तथा अफ्रीकी देशों को ११०·६० मि० डालर प्राप्त हुए। १९५९-६० में 'बैंक' ने ६५८·६० मि० डालर के २८ ऋण प्रदान किये, जिनमें एशिया और मध्यपूर्वी-देशों को २७२·६० मि० डालर और अफ्रीकी देशों को १८२·१० मि० डालर के ऋण प्राप्त हुए। इसी प्रकार, १९६०-६१ में 'बैंक' ने २४ सदस्य-राष्ट्रों को ७१७ मि० डालर

की रकम के ३४ विभिन्न ऋण प्रदान किये। १९६१-६२ में 'विश्व बैंक' ने ८८९ मि० डालर के २९ ऋण स्वीकृत किये जिसमें से एशिया व मध्यपूर्वी-देशों को २५३ मि० डालर, दक्षिणी अमेरिका को ४१२ मि० डालर, अफ्रीका को ८१ मि० डालर तथा यूरोप व आस्ट्रेलिया को १३२ मि० डालर प्राप्त हुए। १९६२-६३ में ७८८ मिलियन डालर के ३८ ऋण दिये गये जिनमें १० ऋण (२६४ मिलियन डालर) एशिया-मध्यपूर्व के देशों के लिये थे। ११६३-६४ में ७२७·८ मिलियन डालर के ऋण दिये गये जिनमें १० ऋण (२०७ मिलियन डालर) अफ्रीका तथा ११ ऋण (२११ मिलियन डालर) एशिया-मध्यपूर्व देशों के लिये थे।

इस प्रकार 'विश्व बैंक' द्वारा जून १९६४ तक दिये गये ऋणों में १४·६% अफ्रीका के, ३५·२६% एशिया एवं मध्य-पूर्व के, ६·१% आस्ट्रेलिया के, १७·४% यूरोप के एवं २६·७% लैटिन अमिरिका के सदस्य-देशों को प्राप्त हुआ। दिये गये ८०६१ मिलियन डालर की कुल रकम में से ७५६·४ करोड़ डालर विकास के लिये तथा ४९·७ करोड़ डालर पुर्ननिर्माण के लिये दिये गये। सहायता पाने वाले विकसित सदस्य-देशों में भारत, बर्मा, पीरू, ब्राजील, चिली, पाकिस्तान, लंका, सूडान, ईरान, जापान, मलाया, मेक्सिको के नाम प्रमुख हैं। भारत की पंचवर्षीय योजनाओं को सफल बनाने के उद्देश्य से विश्व बैंक ने पाँच देशों की एक 'Aid-India-club' स्थापित किया है जिसने योजनाओं को सफल बनाने में भारी योगदान किया है। ऐसा ही प्रयास पाकिस्तान के लिये किया गया है। यद्यपि 'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक' ऐसे देशों की पूरी वित्तीय-आवश्यकता को पूरा नहीं कर सका है, फिर भी बैंक ने इन देशों के कठिन-आर्थिक-विकास कार्यों में मौद्रिक एवं तकनीकी सहायता देकर अपूर्व सहयोग प्रदान किया है।

२. ऋणों का सदुपयोग : 'विश्व बैंक' द्वारा सदस्य-देशों को दिये गये ऋणों के सदुपयोग के सम्बन्ध में 'बैंक' का एकमात्र उद्देश्य यह रहा है कि देशों को इस प्रकार से सहायता देना है जिससे वे अपने आर्थिक विकास के लिए एक दृढ़ आधार प्राप्त कर सकें। यही कारण है कि बैंक ने ऋणी देशों को परिवहन, विद्युत शक्ति, उद्योग एवं कृषि के विकास के लिये ही ऋण प्रदान किये हैं। पिछले ४ वर्षों में १०४२ मिलियन डालर परिवहन-विकास के लिये, ११०८ मिलियन डालर विद्युत विकास के लिये, तथा ४७४ मिलियन डालर उद्योग-विकास के लिये दिये गये। जून १९६२ तक इसने बिजली-विकास के लिए २२१४ मिलियन डालर, यातायात-विकास के लिये २०७८ मिलियन डालर, सम्बादवाहन-विकास के लिये २७ मिलियन डालर, कृषि-विकास के लिये ३०५ मिलियन डालर, उद्योग-विकास के लिये १०१९ मिलियन डालर तथा अन्य कार्यों के लिये २०५ मिलियन डालर दे रखे थे।

३. तकनीकी सहायता : ऋण-सहायता प्रदान करने के अतिरिक्त 'विश्व बैंक'

ने अविकसित एवं अर्ध-विकसित देशों को तकनीकी सहायता भी प्रदान किया है। योजनाओं के कार्यक्रमों की प्राथमिकता, उनके कुशल एवं मितव्ययितापूर्ण संचालन कार्यक्रमों का संगठन एवं प्रशासन, स्थानीय वित्त-प्रबन्ध आदि के विषय में वह विशेष रूप से सहायक हुआ है। भारत तथा दूसरे देशों में 'बैंक' ने अपने विशेषज्ञों की टोलियाँ भेज कर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन करके इन्हें तकनीकी परामर्श दिया है। प्रार्थना करने पर बैंक ने अविकसित देशों को वित्तीय अथवा आर्थिक विशेषज्ञों की सेवायें भी उधार दी हैं। 'राकफेलर' तथा 'फोर्ड फाउन्डेशन' की सहायता से बैंक ने एक इकनामिक डेवलपमेन्ट इन्स्टीच्यूट, वाशिंगटन, में खोला है जिसका उद्देश्य अविकसित देशों के अधिकारियों को ट्रेनिंग के सुअवसर प्रदान करना है। १९६१-६२ में बैंक ने एक नई परामर्शदात्री सेवा योजना का प्रारम्भ किया है, जिसके अन्तर्गत अविकसित देशों की सरकारों को आर्थिक एवं तकनीकी मामलों पर परामर्श देने की सेवायें प्रदान करेगा। अप्रैल १९६२ में 'विश्व बैंक' द्वारा अफ्रीकी मामलों से सम्बन्धित एक अलग विभाग के स्थापित किये जाने के पश्चात् यह आशा की जा सकती है कि अब अफ्रीकी देशों को विश्व बैंक से अधिक वित्तीय एवं तकनीकी सहायता प्राप्त हो सकेगी।

४. **शान्ति व्यवस्था में सहयोग :** विश्व बैंक ने विश्व शान्ति के हितों को सुरक्षित रखने में भी भारी योगदान किया है। यह समझकर कि सदस्य-देशों के पारस्परिक झगड़े उनके आर्थिक विकास में बाधा डालते हैं, इन झगड़ों में मध्यस्थता करके उन्हें निपटाने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ १९५६ में संयुक्त अरब गणराज्य एवं ब्रिटेन के बीच स्वेज़ नहर के प्रश्न पर जो झगड़ा खड़ा हो गया था, उसे बैंक ने सुलझाया। इसी प्रकार भारत एवं पाकिस्तान के बीच चल रहे नहर-पानी सम्बन्धी पुराने विवाद को बैंक ने सफलतापूर्वक समाप्त किया। इसके लिये न केवल 'बैंक' ने अपने साधनों से 'सिन्धु घाटी विकास कोष' की स्थापना के लिये ऋण दिया है वरन् अनेक देशों से भी ऋण देने की सिफारिश की है।

५. **वित्तीय साधनों का विस्तार :** अपने कार्य क्षेत्र में पर्याप्त विस्तार हो जाने के फलस्वरूप 'विश्व बैंक' के लिये निर्धारित साधनों से ऋण की पूर्ति करना असम्भव हो गया तथा बैंक के वित्तीय-साधनों में विस्तार करना आवश्यक हो गया। जुलाई १९४७ में इसने अमेरिकन-मुद्रा-बाजार में अपनी १०० मि० डालर की प्रतिभूतियाँ बेचकर डालर प्राप्त किये। स्विटज़रलैण्ड में भी इसने ५० मिलियन स्विस-फ्रैंक की और कनाडा में १५ मि० डालर की प्रतिभूतियाँ बेचीं। १९५० में बैंक पर इस प्रकार का कुल ऋण-भार २५० मि० डालर का था। १९५९ के पश्चात् (दिल्ली की वार्षिक बैठक के पश्चात्) बैंक की अधिकृत पूँजी को १० बिलियन डालर से बढ़ाकर २१ बिलियन डालर कर दिया गया। कुछ देशों ने तो इसके लिये विशेष चन्दे दिये।

बैंक के साधनों में वृद्धि होने से बैंक की ऋण-दायक शक्ति बहुत बढ़ गई है और इसका लाभ अधिकांश अविकसित देशों को ही मिल रहा है। पर इसके साथ-साथ ऋणों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के उद्देश्य से बैंक का ऋण-भार बढ़ता गया। १९६२ तक बैंक का दीर्घकालीन ऋण-भार बढ़कर २५५१ मि० डालर हो गया है। यह ऋण देने वाले देश बेल्जियम, कनाडा, जर्मनी, नेदरलैण्ड, स्विटज़रलैण्ड, इंगलैण्ड, अमेरिका आदि हैं।

६. **अन्य साधनों द्वारा ऋण दिये जाने के लिये प्रोत्साहन :** प्रत्यक्ष रूप में सहायता देने के अतिरिक्त 'विश्व बैंक' ने अन्य वैयक्तिक एवं संस्थागत विनियोजकों को भी गारन्टी प्रदान कर, ऋणी देशों में, उत्पादक कार्यों में पूँजी के विनियोजन को बढ़ावा दिया है। 'एड इण्डिया क्लब' (Aid India Club), 'एड पाकिस्तान क्लब' (Aid Pakistan Club), अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (International Finance Corporation), अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद् (International Development Association) आदि जैसी संस्थायें इन्हीं प्रयासों के फल हैं।

विश्व बैंक की आलोचनायें :

आर्थिक विकास के लिये यद्यपि 'विश्व बैंक' एक अत्यन्त उपयोगी संस्था सिद्ध हो रही रही है, किन्तु फिर भी उसके द्वारा किये गये कार्यों में कुछ दोष पाये जाते हैं। बैंक की आलोचना मुख्यतया निम्नलिखित आधारों पर की जा सकती है:—

(१) **अपर्याप्त पूँजी का होना :** अनेक प्रकार के पूँजी बढ़ाने के प्रयास किये जाने के पश्चात् भी 'बैंक' के साधन वास्तव में विनियोगों की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम हैं। अविकसित देशों में विकास के लिये ऋणों की माँग इतनी अधिक है कि 'बैंक' उसे अपने सीमित साधनों से पूरा करने में असमर्थ है। 'बैंक' की यह आलोचना प्रारम्भिक वर्षों में अधिक उपयुक्त थी। पर वर्तमान समय में इस आलोचना का कोई विशेष महत्व नहीं है। १९५९ के पश्चात् 'बैंक' के साधनों में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। बैंक की पूँजी १० बिलियन $ से बढ़कर २१ बिलियन $ हो गई है और सदस्य देशों के अभ्यंश उसी अनुपात में बढ़ गए हैं। इसके अतिरिक्त बैंक केवल अत्यन्त आवश्यक एवं उत्पादक योजनाओं के लिये ही ऋण देता है और वह भी विदेशी-विनिमय की आवश्यकता तक ही सीमित होता है। इसके साथ ही बैंक का प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत विनियोग को प्रोत्साहित करना है। इसलिये बैंक के निजी साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती जितनी आलोचकों ने समझा है।

(२) **अविकसित देशों के विकास के लिये महत्वपूर्ण कार्य न किया जाना :** आलोचकों का यह भी मत है कि आर्थिक विकास के क्षेत्र में 'विश्व बैंक' से जो आशायें की गईं थीं, उन्हें वह अधिकाँश रूप से पूरा नहीं कर सका है। पहले पाँच वर्षों में बैंक ने केवल ८७६ मिलियन (अनेक मुद्राओं में) के ऋण प्रदान किये, जो आर्थिक विकास

के लिये पूँजी की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम थे। इस आलोचना का भी अब कोई विशेष महत्व नहीं है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है १९५३ के पश्चात् बैंक के अधिकाधिक साधन अविकसित देशों के विकास के लिये प्रयोग किये जा रहे हैं और आर्थिक विकास के लिये किये जाने वाले ऋणों की मात्रा तेजी के साथ बढ़ रही है। जून १९६२ तक ६०४८ मिलियन के ऋण इसी उद्देश्य के लिये दिये गये। इससे स्पष्ट है कि बैंक अब आर्थिक विकास के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसके अतिरिक्त अविकसित देशों के आर्थिक विकास के क्षेत्र में विश्व बैंक के महत्व को केवल उसके द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता के आधार पर नहीं आँका जा सकता है। उसके द्वारा दी जाने वाली तकनीकी सहायता का भी उनके विकास में काफी महत्वपूर्ण स्थान है।

(३) **भेदभावपूर्ण नीति (policy) का होना :** अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की आलोचना इसलिये भी की गई है कि वह अमेरिकन तथा यूरोपीय देशों को ऋण देने में अधिक उदार रहा है। आरम्भ में बैंक के द्वारा जितने भी ऋण दिये गए, वे अधिकतर यूरोपीय देशों के लिये ही थे। आलोचकों के अनुसार यद्यपि बैंक ने एशिया और अफ्रीका के देशों को अधिक मात्रा में ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है, फिर भी पश्चिमी राष्ट्रों को दिये जाने वाले ऋणों का अनुपात अधिक है। 'बैंक' की यह आलोचना भी महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ती, क्योंकि जहाँ तक विशेषज्ञों का मत है वह राजनीति की दृष्टि में तटस्थ रहा है और संसार के सभी भागों में ऋण देता रहा है। इस कथन की पुष्टि के लिये निम्न आँकड़े प्रस्तुत हैं :—

'विश्व बैंक' द्वारा विकास के लिये दिये गये ऋण
(जून १९६४ तक)

क्षेत्र	मात्रा (मि० डालर में)	प्रतिशत
अफ्रीका	११०३·०	१४·६
एशिया एवं मध्यपूर्व	२६६०·०	३५·२
आस्ट्रेलिया	४५८·५	६·१
यूरोप	१३११·५	१७·४
लैटिन-अमेरिका	२०२०·०	२६·७
कुल	७५६४·०	

उपर्युक्त आँकड़ों से पता चलता है कि 'बैंक' से सभी क्षेत्रों को ऋण मिलता रहा है। विश्व बैंक से ऋण लेने वाले देशों की संख्या ६० से भी अधिक है।

इसके अतिरिक्त पिछले १० वर्षों से संसार के अविकसित सदस्य देशों की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है।

(४) **बैंक की ऋण देने की नीति का अत्यन्त जटिल होना :** बहुत से आलोचकों के अनुसार 'विश्व बैंक' की ऋण देने की नीति इस प्रकार की है कि अविकसित सदस्य देशों को उससे सहायता प्राप्त करने में काफी कठिनाई होती है। नियमों के अन्तर्गत अत्यन्त-आवश्यक एवं उत्पादक योजनाओं के लिये ऋण प्राप्त करने में भी योजनाओं की प्राथमिकता एवं उत्पादकता को प्रमाणित करवाना इन देशों के लिये कठिन हो जाता है। कभी-कभी तो सामान्य-विकास के कार्यक्रमों (जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, गृह निर्माण, आदि) के लिये भी साधनों की आवश्यकता होती है, किन्तु 'बैंक' इस प्रकार के ऋण देने में असमर्थ रहता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत-उद्योगों को ऋण देने के लिये 'बैंक' सम्बन्धित देश के सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक की गारन्टी चाहता है, जिसके कभी-कभी न मिलने पर इस प्रकार के ऋणों के प्राप्त करने में बड़ी बाधा पड़ती है। 'बैंक' इस बात पर भी जोर देता है कि उसके द्वारा दिये गये ऋणों का भुगतान उसी मुद्रा में होना चाहिये जिसमें ऋण दिया जाता है। इसके फलस्वरूप बहुत से अविकसित सदस्य-देशों के लिये 'दुर्लभ मुद्राओं' में ऋण का पुनः लौटाना काफी कठिन हो जाता है। यद्यपि 'बैंक' पर लगाये गये इन आरोपों में काफी सत्यता है किन्तु फिर भी यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि नियमों की सीमाओं में रहते हुए बैंक जो कुछ भी अविकसित देशों के लिये कर सकता है बराबर कर रहा है। सदस्य-देशों की इन कठिनाइयों को कम करने के उद्देश्य से ही 'बैंक' ने 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' (International Finance Corporation), 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद्' (International Development Association), आदि जैसी संस्थाओं को स्थापित करने में प्रोत्साहन दिया है। ऐसी आशा की जा रही है कि इनके द्वारा 'बैंक' अविकसित देशों की आवश्यकताओं को अधिक सीमा तक पूरा कर सकेगा।

(५) **बैंक की ब्याज की दर का ऊँचा होना :** 'बैंक' की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि उसके द्वारा ऋणों पर लिये जाने वाले ब्याज की दर काफी ऊँची रहती है। आलोचकों ने कहा है कि "पूँजी बाजार से जितने ब्याज पर ऋण मिलते हैं उसकी तुलना में बैंक की ब्याज की दर विशेष कम नहीं है, तथा इसमें बैंक-कमीशन सम्मिलित हो जाने से प्राप्त किये जाने वाले ऋण की लागत काफी अधिक हो जाती है"। यह भी कहा जाता है कि "इस रूप में बैंक ने काफी मात्रा में कोष जमा कर लिया है, जो जून १९६१ में ६०० मिलियन डालर थी। इसके अतिरिक्त बैंक के लिये अब हानि की कोई विशेष सम्भावना भी नहीं है। अतः बैंक को अपनी ब्याज की दर कम कर देनी चाहिये।" यद्यपि 'बैंक'

द्वारा ब्याज की दर को कम करने के पक्ष में यह महत्वपूर्ण तर्क हैं, किन्तु इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि 'बैंक' द्वारा ली जाने ब्याज की दर उन दरों से सम्बन्धित है जिन पर स्वयं बैंक को ऋण प्राप्त होते हैं।

अतः बैंक की कार्य-प्रणाली में चाहे कितने भी दोष हों, इसमें सन्देह नहीं कि पिछले १८ वर्षों में बैंक ने अविकसित देशों के विकास के लिये काफी सहायता प्रदान किया है। इस दृष्टिकोण से, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में से 'मुद्रा कोष' की सफलताओं की तुलना में 'विश्व बैंक' अधिक सफल रहा है। यह अविकसित देशों में, योरोप व अमेरिका से व्यक्तिगत विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहित करने में विशेष रूप से सफल रहा है। बैंक की स्थापना के पश्चात् काफी मात्रा में विदेशी पूँजी अर्ध-विकसित सदस्य-देशों में लगाई जा सकी है, और इस प्रकार पूँजी को विनियोग के लाभकारी क्षेत्र मिल सके हैं। निःसन्देह 'बैंक' ने 'पुनर्निर्माण' एवं 'आर्थिक विकास' के लिये, जिसके लिये इसको स्थापित करने का निर्णय लिया गया था, महत्वपूर्ण कार्य किया है और यहसंसार में उपयोगी एवं उत्पादक योजनाओं के कार्यान्वियन के लिये वित्तीय सहायता तथा टेक्निकल परामर्श देने में काफी सफल रहा है।

भारत एवं 'विश्व बैंक' :

१९ ९ में भारत ने 'विश्व बैंक' की मौलिक सदस्यता प्राप्त की। भारत का बैंक में ८०० मिलियन डालर्स का अभ्यंश है, और यह बैंक की कार्यकारणी का स्थायी सदस्य है। भारत ने 'विश्व बैंक' की सदस्यता से पर्याप्त लाभ उठाया है और १९५८ के पश्चात् यह 'बैंक' से सबसे अधिक ऋण लेने वाला देश हो गया है। मार्च १९६४ के अन्त तक भारत को 'अन्तर्राष्ट्रीय बैंक' से ४०३·५ करोड़ रुपये के ऋण प्राप्त हुये। 'विश्व बैंक' से भारत को मिलने वाली सहायता (ऋण) को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

विश्व बैंक द्वारा भारत को दिये गये ऋणों का सामूहिक विवरण

(३० जून १९६२ तक)

मद	संख्या	रकम (मिलियन डालर में)
यातायात	१३	४४७·४
उद्योग	१०	२७१·२
शक्ति	५	८१·२
कृषि	१	७·२
बहुमुखी योजनाएँ	१	१०·५
कुल	३०	८१७·४

विश्व बैंक द्वारा भारत को दिये गये ३१-१२-१९६३ तक विभिन्न ऋणों के विषय में आवश्यक बातें निम्नतालिका में दिये गये विवरण से जानी जा सकती हैं :—

मद		वर्ष	संस्था	मात्रा	ब्याज दर	अवधि	अन्य
रेलवे विकास	(i)	अगस्त १९४९	सार्वजनिक	१५·६ करोड़ रु०	४ प्रतिशत	१५ वर्ष	
	(ii)	जुलाई १९५७	,,	४२·८ ,,	५ ५/८ ,,	१५ ,,	
	(iii)	सितम्बर १९५८	,,	४०·५ ,,	५ ३/४ ,,	२० ,,	
	(iv)	अगस्त १९५९	,,	२३·८ ,,	५ ३/४ ,,	२० ,,	
	(v)	जुलाई १९६०	,,	३३·३ ,,	५ ३/४ ,,	२० ,,	
	(vi)	अक्टूबर १९६१	,,	२३·८ ,,	५ ३/४ ,,	२० ,,	
विद्युत विकास	(i)	अप्रैल १९५०	,,	८·० ,,	४ ,,	२० ,,	दामोदर योजना
	(ii)	जनवरी १९५६	,,	५·० ,,	४ ७/८ ,,	२५ ,,	,,
	(iii)	जुलाई १९५८	,,	१०·५ ,,	५ ३/८ ,,	२० ,,	,,
	(iv)	नवम्बर १९५४	टाटा ग्रुप, ट्राम्बे	६·६ ,,	४ ३/४ ,,	२० ,,	
	(v)	मई १९५७	,,	४·६ ,,	५ ५/८ ,,	१८ ,,	
	(vi)		सार्वजनिक	८·९ ,,			कोयना योजना
औद्योगिक विकास (लौह)	(i)	दिसम्बर १९५२	इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी	१३·९ ,,	४ ३/४ ,,	१५ ,,	
	(ii)	,, १९५६	,,	९·५ ,,	५ ,,	११ ,,	
	(iii)	,, १९६२	,,	९·३ ,,			

के लिए काफी ऊँची है। अतः बैंक को अपनी ब्याज की दर कम करनी चाहिये। 'विश्व बैंक' ने इस सम्बन्ध में कोई भी कमी करने से मना कर दिया है।

(स) **'बैंक' निजी क्षेत्र के लिये ऋण देने में तत्परता से काम करता है:** ऐसा प्रायः अनुभव किया जाता है कि 'विश्व बैंक' निजी उद्योगों को ऋण देना अधिक पसन्द करता है और इस प्रकार देश में समाजवाद की स्थापना के रास्ते में बाधायें उत्पन्न करता है। लोगों का यह भी मत है कि बैंक सरकार की औद्योगिक नीति की आलोचना करके देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करता है, जो आपत्तिजनक है।

२. अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

'अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक' सदस्य-देशों की सरकारों को या उनके द्वारा दिये गये गारन्टी पर व्यक्तिगत संस्थानों को सहायता प्रदान करता रहा है। इस नीति से निजी-क्षेत्र के व्यवसायी 'विश्व बैंक' से सहायता लेने के लिये हतोत्साहित होते रहे हैं, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें सरकारी हस्तक्षेप का भय बना रहता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत व्यवसायों के स्थापित एवं विस्तार करने के लिये स्थिर पूँजी की बहुत आवश्यकता होती है, जो 'विश्व बैंक' प्रदान नहीं कर पाता। 'विश्व बैंक' की इन कमियों को पूरा करने के उद्देश्य से इस बैंक के सम्बद्ध-संस्था के रूप में जुलाई १९५५ में 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' की स्थापना की गई।

'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' के उद्देश्य:

'अन्तर्राष्ट्रीय वित निगम' का मुख्य उद्देश्य अविकसित क्षेत्रों में उत्पादक-उद्योगों को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास की गति को बढ़ाना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यह निम्न कार्य करता है:—

(अ) बिना सरकार की गारन्टी के व्यक्तिगत उत्पादक उपक्रमों में पूँजी का विनियोग करना;

(ब) मध्यवर्ती संस्था के रूप में विनियोजकों, विनियोगों के अवसरों, राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत पूँजी तथा अनुभवी व्यवस्थापकों को मिलाने का कार्य करना;

(स) राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यक्तिगत पूँजी के विनियोग को प्रोत्साहित करना।

'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' सदस्य-देशों में ऐसे व्यक्तिगत उपक्रमों (विशेषकर औद्योगिक उपक्रमों) को सहायता प्रदान करता है जिनकी स्थापना, विस्तार एवं सुधार उस देश के आर्थिक विकास के लिये आवश्यक होता है, जिनका प्रबन्ध कुशल एवं अनुभवी होता है तथा जिन पर व्यक्तिगत-विनियोगों के (कम से कम १:५ के अनुपात में) किये जाने का आश्वासन होता है।

'वित्त-निगम' का संगठन :

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' 'विश्व बैंक' की एक सम्बद्ध-संस्था के रूप में स्थापित किया गया है, पर दोनों की सदस्यता अलग-अलग है। 'विश्व बैंक' के सदस्यों को इसकी सदस्यता अनिवार्य नहीं है। दिसम्बर १९६४ में 'निगम' की सदस्यों की संख्या ७८ थी। 'विश्व बैंक' का संचालक मण्डल ही 'वित्त निगम' के संचालन-कार्य को देखता है यद्यपि इसका 'प्रधान' अलग होता है जो निगम के व्यवसाय के प्रति उत्तरदायी होता है। इसकी पूँजी विश्व बैंक से अलग है तथा यह एक स्वतंत्र संस्था है। 'नियम' की वर्तमान अधिकृत पूँजी ११० मिलियन डालर है जो सदस्य-देशों से, उनके 'विश्व बैंक' की पूँजी के अभ्यंश के अनुपात में, स्वर्ण या डालर में इकट्ठी की गई है। इसमें यू० एस० ए० का अभ्यंश ३५ मि० डालर (३६·४%), यू० के० का १·४४ मि० डालर (१४·९%), फ्रांस का ५·८ मि० डालर (६%) तथा भारत का अभ्यंश ४·४ मि० डालर (४·६%) है।

'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' का कार्य-वाहन :

प्रारम्भ में 'वित्त-निगम' ने उपक्रमों को ऋण देना ही उपयुक्त समझा, यद्यपि स्थापना के पूर्व 'विश्व बैंक' का यह मत था कि इस संस्था का प्रमुख कार्य ऋण देना नहीं वरन् उपक्रमों के शेयर खरीदना होना चाहिये। १९६१ से 'वित्त निगम' को पूंजी खरीदने का प्रत्यक्ष अधिकार मिल गया और इस प्रकार अब यह स्वयं पूँजी में भाग लेकर प्राइवेट उद्योगों को बढ़ाता है। अपने समस्त विनियोगों पर 'वित्त-निगम' समान दर से ब्याज नहीं लेता वरन् प्रत्येक दशा में यह दर वार्ता द्वारा निश्चित की जाती है। ऋण के लौटाने के लिये अवधि नियत करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि उपक्रम कितने समय में पूरी क्षमता से उत्पादन करने लगेगा तथा कितने समय बाद एक निश्चित लाभ कमाने लगेगा।

अपने ९ वर्ष के जीवन-काल में (दिसम्बर १९६४ तक) 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' ने लगभग १२७ मि० डालर के ८६ ऋण एवं विनियोग-पत्र स्वीकृत किये हैं, जो ३० सदस्य-देशों में फैले हुये हैं। १९६३ में १४·४६ मि० डालर एवं १९६४ में २५·३८ मि० डालर का विनियोग किया गया। 'वित्त निगम' द्वारा दी गई सहायता में से ब्राजील को सबसे अधिक सहायता दी गई है। कुल सहायता का ७०% भाग दक्षिणी एवं केन्द्रीय अमेरिका में केन्द्रिन हैं। निगम ने अपने ऋणों पर ५ से १०% तक ब्याज लिया है तथा उसने ३८ विनियोगों के सम्बन्ध में ब्याज के अतिरिक्त लाभांश प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त किया है। १९६१ से 'वित्त-निगम' ने शेयर खरीदने के साथ-साथ अभिगोपन-कार्य का भी श्री गणेश किया है।

भारत एवं 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम':

भारत ने अक्तूबर १९५५ में 'वित्त निगम' सम्बन्धी समझौते पर हस्ताक्षर किये और उसके पश्चात् अपने भाग का ४·४३ मि० डालर अंशदान चुकाया। प्रथम ५ सदस्यों में होने के कारण इसने 'निगम' के 'संचालक परिषद' में स्थान प्राप्त कर लिया है।

जहाँ तक 'निगम' द्वारा दिये गये सहायता का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय उद्योगपतियों का ध्यान वित्त निगम की पूँजी को प्रयोग करने की दिशा में कम गया है। भारत को १९६२ तक केवल दो ऋण (१५·७५ लाख$) प्राप्त हुये, जब कि ब्राजील को ६ (१०० लाख$), चिली को ५ (५८ लाख$), कोलम्बिया को ७ (६९ लाख$) पीरू को ५ (७३ लाख$) तथा मेक्सिको को ४ (२५ लाख$) ऋण प्राप्त हुये। भारत को 'वित्त निगम' से जो ऋण प्राप्त हुये हैं उनके विषय में जानकारी निम्न तालिका में दिये गये विवरणों से की जा सकती है:—

वर्ष	फर्म का नाम	राशि	ब्याज-दर	अवधि	विशेष
जनवरी १९५९	रिपब्लिक फोर्ज कम्पनी	१५ लाख $	७%	१२ वर्ष	(ऋण नहीं उठाया)
अप्रैल १९५९	किर्लोस्कर आयल इंजन कं०	८·५ ,, ,,	७%	१२ ,,	,,
अप्रैल १९६०	आसाम सिलेमेनाइट	१३·६५ ,, ,,	७%	१४ ,,	(लाभांश पर अधिकार)
जनवरी १९६१	के. एस. ब्री. पम्प लि०	२·१० ,, ,,	६·५%	१० ,,	,,

आलोचनायें

'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' को अपने उद्देश्यों की पूर्ति में उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी इससे आशा लगाई गई थी। 'निगम' के द्वारा किये जाने वाले विनियोगों की मात्रा बहुत कम है। यह कितना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकी है, इस बात से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सब सदस्य-देशों ने इसकी सदस्यता प्राप्त करना आवश्यक नहीं समझा है। इसके विरुद्ध दिये गये तर्कों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:—

(१) **'निगम' की ऋण-सम्बन्धी शर्तें बहुत कठोर हैं:** अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम जिन शर्तों पर आर्थिक सहायता देता है वे इतनी कठोर हैं कि बहुत से उपक्रमी उन्हें पूरा नहीं कर पाते हैं। उदाहरणार्थ, निगम की यह शर्त रहती है कि मूलधन व ब्याज का भुगतान अमेरिकन डालर्स में ही लिया जायेगा। इसीलिये अविकसित देशों

द्वारा, जहाँ डालर प्राप्त करना काफी कठिन होता है, निगम की सुविधाओं से लाभ नहीं उठाया जा सका है।

(२) **'निगम' की ब्याज-दर अधिक है :** 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम' अपने ऋणों दर ६% से ७% तक का ब्याज लेती है, जो काफी ऊँची-दर है। यद्यपि यह ब्याज की दर बाजार में प्रचलित दर से अधिक ऊँची नहीं है, किन्तु फिर भी यदि निगम का उद्देश्य अविकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायता करना है तो उसे कम ब्याज पर ऋणों की व्यवस्था करना आवश्यक है।

(३) **'निगम' की नीति भेदभाव-पूर्ण है :** ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' अमेरिकन तथा उसके गुट में सम्मिलित देशों को ऋण देने में अधिक उदार रहती है और एशिया तथा अफ्रीका के देशों को इस सम्बन्ध में काफी निराशा हुई है। इसके द्वारा स्वीकृति ऋणों का ७१% भाग लैटिन अमेरिकन देशों को मिला है।

३. अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद

'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' (International Development Association) की स्थापना भी 'विश्व बैंक' की एक सम्बद्ध संस्था के रूप में, १९५९ में हुए 'मुद्रा-कोष' की दिल्ली बैठक के निर्णय के अनुसार, सितम्बर १९६० में की गई थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य अर्ध-विकसित देशों के विकास के लिए ऐसी शर्तों पर वित्त-व्यवस्था करना होता है, जिससे इन देशों के भुगतान-शेष की दशाओं पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ऐसा अनुभव किया गया कि 'विश्व-बैंक' के द्वारा प्रदान की जाने वाले सहायतायें अविकसित देशों के लिए अधिक अनुकूल नहीं होतीं। तथा सहायता प्राप्त करने वाले देशों के भुगतान संतुलन पर प्रायः इनका बुरा प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर अविकसित देशों में सामाजिक पूंजी के निर्माण (जैसे सड़कों का निर्माण, गन्दी बस्तियों की सफाई, शिक्षा स्वास्थ्य से सम्बन्धित कार्यक्रम इत्यादि) की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इनसे आर्थिक विकास में बड़ी सहायता मिलती है, किन्तु ऐसे कार्यों के लिये 'विश्व बैंक' ऋण नहीं देता। अतः एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो अविकसित देशों को विकास के लिये आसान शर्तों पर ऋण दे सके।

'विकास परिषद' की सहायता-नीति :

'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' की ऋण सम्बन्धी नीति काफी सरल है और उसका ऋण देश के भुगतान-शेष पर प्रभाव नहीं पड़ता। 'विकास-परिषद' द्वारा दी जाने वाली सहायता की तीन मुख्य विशेषतायें हैं, जो उसे अन्य प्रकार के विकास सम्बन्धी ऋणों से अलग करता हैं। प्रथम, 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' के द्वारा दिये जाने वाले ऋणों पर, केवल ¾% वार्षिक सेवा शुल्क को छोड़कर, कोई ब्याज नहीं

लिया जाता; द्वितीय, ऋणों के भुगतान का समय प्राय: ५० वर्ष रहता है जो निसन्देह काफी लम्बा है; तृतीय, पहले दस वर्षों तक ऋण-किस्त की वापसी नहीं होती तथा फिर उसके बाद दस वर्ष तक प्रति वर्ष ऋण का १% ही लौटाना होता है। इस प्रकार 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' काफी सरल शर्तों पर सदस्य-देशों को ऋण की सुविधायें प्रदान करता है। पर इसके साथ-साथ 'परिषद' ऐसे ही उद्देश्यों के लिये ऋण दे सकता है जो सम्बन्धित क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास की दृष्टि से अनिवार्य होते हैं। 'विकास परिषद' को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी किसी भी योजना के लिए ऋण दे सकता है।

'विकास परिषद' की सदस्यता एवं पूंजी :

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद की सदस्यता 'विश्व बैंक' के सभी सदस्यों के लिये की गई है। सदस्य-देशों के अभ्यंश 'विश्व बैंक' के उनके अभ्यंशों के अनुपात में निश्चित किये गए हैं। दिसम्बर १९६४ तक इस परिषद के सदस्य-देशों की संख्या ९४ हो गई थी। 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' की पूंजी १००० मिलियन डालर निश्चित की गई थी, जो सदस्य-देशों से अभ्यंशों के रूप में प्राप्त की गई है। १९६४ के अन्त तक 'विकास परिषद' के साधन बढ़कर १५९५·६ मिलियन डालर्स के हो गए थे, जो परिवर्तनशील मुद्राओं में हैं। परिषद की पूंजी में अमेरिका का अभ्यंश ३२० मिलियन डालर, इंग्लैण्ड का १३१ मिलियन डालर तथा भारत का अभ्यंश ४० मिलियन डालर निश्चित किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद का कार्यवाहन :

'विकास परिषद' ने अपना कार्य नवम्बर १९६१ से प्रारम्भ किया और दिसम्बर १९६४ तक की अवधि में इसने २७ सदस्य देशों को १००२ मिलियन डालर के ७० विकास ऋण दिये हैं। इसमें से ७७७·६ मिलियन डालर्स एशियाई देशों को प्राप्त हुये हैं। सबसे अधिक ऋण (४३५·९ मिलियन डालर) यातायात के विकास के लिये दिये गये हैं। उद्देश्यों के अनुसार 'विकास परिषद' द्वारा दिए गए ऋण इस प्रकार हैं :—

उद्देश्य	राशि
१. यातायात विकास के लिये	४३५·९ मिलियन डालर
२. औद्योगिक-विकास के लिये	१११·५ ,,
३. विद्युत-विकास के लिये	९६.७ ,,
४. सम्वादवाहन-विकास के लिये	७५·० ,,
५. जल पूर्ति की वृद्धि के लिये	६२·९ ,,
६. शिक्षा-विकास के लिये	२६·१ ,,

भारत एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद :

भारत 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' के द्वितीय वर्ग के सदस्यों में से पहला सदस्य-देश है और इसने परिषद की पूँजी में ४०·३५ मि० डालर का अंशदान दिया है। परिषद की सदस्यता से इसको काफी लाभ हुआ है। दिसम्बर १९६४ तक परिषद द्वारा अनेक देशों को दिये गये कुल ऋण की लगभग १००२ मि० डालर की राशि में से ४८% सहायता भारत को प्राप्त हुई है। भारत द्वारा प्राप्त ऋण ४८५ मिलियन डालर के लगभग हैं। इन ऋणों के मिलने से देश में खाद्यानों एवं व्यापारिक फसलों का अभाव दूर हो रहा है, शक्ति की पूर्ति बढ़ रही है तथा व्यापार एवं आवागमन के साधनों में अधिक सुविधा हो रही है। दिसम्बर १९६३ तक दिये गये १४३ करोड़ के१३ ऋणों का संक्षिप्त विवरण निम्न तालिका से प्राप्त किया जा सकता है :—

रेलवे विकास के किये	३२·१ करोड़ रु०
दुर्गापुर विद्युत गृह	८·८ ,,
कोयना ,, ,,	८·३ ,,
काठगोदाम विद्युत केन्द्र	९·५ ,,
बम्बई बन्दरगाह के विकासार्थ	८·६ ,,
सड़कों के विकास के लिये	२८·६ ,,
पी. टी. टी. के विकास के लिये	२०·० ,,
उत्तर-प्रदेश में नल-कूप कुँओं के लिये	२·९ ,,
सालन्दी सिंचाई योजना	३·८ ,,
शेतुरंजी सिंचाई योजना	२·१ ,,
पंजाब जल-निकास योजना	४·८ ,,
सोन सिंचाई योजना	७·१ ,,
पूरना सिंचाई योजना	६·२ ,,

यद्यपि 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद' संसार के अविकसित क्षेत्रों के विकास के लिये वित्तीय सहायता देकर काफी सहयोग प्रदान कर रहा है, पर इसके कार्य-प्रणाली में कुछ सुधार की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। सर्वप्रथम, आवश्यकताओं को देखते हुये 'परिषद' की पूँजी बहुत कम है जिसमें वृद्धि करना बहुत जरूरी है। द्वितीय, 'उदार-ऋणों' की इस संस्था को कठिन-ऋणों वाले 'विश्व बैंक' के सम्बद्ध-संस्था के रूप में न होना चाहिये, क्योंकि दोनों की नीति में महान अन्तर है। तृतीय, ऋणी देशों को मुद्रा-प्रसार से, जो उदार ऋणों के फलस्वरूप हो सकता है, सदा सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। अन्त में, इसके द्वारा बितरित ऋणों में काफी सूझ-बूझ से काम लेना चाहिये, नहीं तो सदस्य देश 'विश्व बैंक' के स्थान पर इसी से सहायता लेने पर जोर देंगे।

४. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अन्य प्रयत्न

अभी तक हमने 'संयुक्त राष्ट्र' के उन संस्थाओं का उल्लेख किया है जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया गया है तथा जिनमें संसार का कोई भी देश सदस्यता प्राप्त कर सकता है। अब हम उन संस्थाओं का विवेचन करेंगे जो समझौते के आधार पर अनेक देशों के बीच आपसी सहयोग प्रदान करने के उद्देश्य से स्थापित किये गये हैं, यद्यपि इनमें कुछ का केवल ऐतिहासिक महत्व ही है।

(अ) अमेरिकन ऋण कार्यक्रम :

यूरोपियन देशों की अर्थव्यवस्थायें, युद्ध के कारण, इतनी जर्जरित हो गई थीं कि इनके पुनर्निर्माण के लिये भारी मात्रा में खाद्यान्न, कच्चा माल एवं पूँजीगत माल की आवश्यकता थी। अमेरिका से इन्हें प्राप्त तो किया जा सकता था पर डालरों एवं स्वर्ण के अभाव के कारण ऐसा सम्भव न था। इस समस्या को हल करने के लिये अमेरिका से ऋण प्राप्त करने का एक कार्यक्रम बनाया गया जिसके अन्तर्गत अमेरिका तथा इंगलैंड एवं अन्य यूरोपीय देशों के बीच ऋण-समझौते किये गये। इन समझौतों द्वारा साख की वे सीमायें निश्चित कर दी गईं जिन तक साख की आवश्यकता वाले देश उधार ले सकते थे।

(ब) यूरोपियन पुनर्वास योजना अथवा मार्शल सहायता योजना :

अमेरिकन ऋण कार्यक्रम के अन्तर्गत किये गये समझौतों से सम्बन्धित देशों को सहायता तो मिली, पर इससे समस्या का दीर्घकालीन उपाय नहीं निकल सकता था। अतः १९४७ में जार्ज मार्शल (अमेरिका के सेक्रेटरी आफ स्टेट) ने, इस विश्वास पर कि यूरोपियन देश अपनी समस्याओं को हल करने में परस्पर सहयोग करेंगे, आर्थिक पुर्नवास के लिये सहायता देने का वचन दिया। यह सहायता ऋणों एवं अनुदान (भेंट) के रूप में दी जानी थी। यह कार्यक्रम १९४८ से प्रारम्भ हुआ। इस 'सहायता कार्यक्रम' को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व वाशिंगटन स्थित 'यूरोपियन सहयोग प्रशासन (European Cooperation Administration-E. C. A.) को सौंपा गया। लोगों का विश्वास है कि यदि यह सहायता और देर से प्रारम्भ हुई होती तो योरोप में एक गम्भीर संकट उत्पन्न हो गया होता।

(स) यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन (O. E. E. C.) :

अपनी जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण के उद्देश्य से यूरोप के १८ देशों ने मिलकर पेरिस में एक समझौता किया जिसके अन्तर्गत 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' की स्थापना हुई। कनाडा व अमेरिका इस संगठन के प्रेक्षक मात्र थे। इस संगठन का प्रमुख कार्य E. C. A. (जो अमेरिकन-सहायता-कार्यक्रम के क्रियान्वित करने के लिये अमेरिका में स्थापित किया गया था) के लिये आवश्यक सूचनाओं का इकट्ठा करना, सम्बन्धित देशों के सहायता-कार्यक्रमों की रूप रेखा बनाना तथा सहायता

पाने वाले देशों को मिलने वाले लाभों की मूल्यांकन रिपोर्टें प्रकाशित करना था। इस संगठन ने अपने उत्तरदायित्वों को भली प्रकार से निभाया और सदस्य-देशों के बीच आपसी सहयोग बढ़ाकर उनकी अर्थ-व्यवस्थाओं में आशानुकूल सुधार करने में सक्रिय सहायता प्रदान की।

(द) आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (O. E. C. D.) :

O. E. E. C. एक मात्र क्षैत्रिक संगठन था, जिसका स्थान बाद में 'आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन' O. E. C. D. ने ले लिया। इस संगठन में अमेरिका, कनाडा, जापान आदि भी सदस्य बन गये। इस संगठन का प्रमुख उद्देश्य विकासोन्मुख देशों को, उनकी आर्थिक क्षमताओं के अनुसार, वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इसके प्रबन्ध-समिति का मुख्य कार्य अविकसित देशों के लिये सहायता सम्बन्धी सम्भावनाओं का अध्ययन करना है। यह कमेटी, जिसमें दस पूँजी देने वाले राष्ट्र,[१] सदस्य हैं, 'विकास सहायता समूह' (DAG) के नाम से जानी जाती है। सहायता देते समय दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

इन प्रयासों के फलस्वरूप एटालान्टिक विश्व के सभी देशों को पहले से भी अधिक पारस्परिक सहयोग करने की आवश्यकता का विश्वास हो गया है।

(इ) व्यापार एवं प्रशुल्क-विषयक सामान्य समझौते (गैट) GATT :

विश्व व्यापार के विकास के लिये यह आवश्यक है कि उन सब प्रतिबन्धात्मक नीतियों को समाप्त कर दिया जाये, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में बाधक होती हैं। इसी उद्देश्य से यह (GATT) समझौता मूल रूप से २३ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा किया गया और १९४८ से व्यवहार में लाया गया। इसके पश्चात् इसके सदस्यों की संख्या बढ़ती गई। इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद-भाव पूर्ण व्यवहार को समाप्त कराना है। यह एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा (Contract) होता है, जिसकी शर्तें इसके विभिन्न-अनुच्छेदों (Articles) में दी हुई होती हैं और यह व्यवस्था भी की जाती है कि आन्तरिक करों के दृष्टिकोण से विदेशी एवं घरेलू माल में समान व्यवहार बरता जाय। समय-समय पर इस समझौते में सम्मिलित देशों के सम्मेलन होते रहते हैं, जिनके अब दो सेशन प्रतिवर्ष होते हैं। इनमें उन मदों पर विचार होता रहता है जिनके सम्बन्ध में सम्मिलित कार्यवाही अपेक्षित होती है। संशोधित समझौते के अनुसार अविकसित देशों को यह अनुमति मिल गई है कि वे कुछ परिस्थितियों में, उन रियायतों को, जो उन्होंने पहले दी थी। किन्तु अब जिन्हें आर्थिक विकास में बाधक समझा जा रहा है, वापस ले लें।

१—अमेरिका, कनाडा, ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, प० जर्मनी, इटली, जापान, नेदरलैंड एवं पुर्तगाल।

जी. ए. टी. टी. समझौतों के अन्तर्गत भारत कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित माल पर तथा वैसी ही वस्तुओं से प्रतिद्वन्दिता करने वाली वस्तुओं पर एवं लघु-उद्योग की वस्तुओं पर रियायतें पाने और उत्पादक माल, मशीनरी एवं कच्चे माल पर रियायतें देने की निरन्तर चेष्टा कर रहा है। ऐसी ही नीति के आधार पर अविकसित देशों को, पश्चिमी-देशों को, अपनी अधिक वस्तुयें निर्यात करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है।

(ई) यूरोपियन साझा बाजार (European Common Market) :

२५ मार्च १९५७ को हुये रोम संधि पर बेल्जियम, फ्रान्स, इटली, लक्जमवर्ग, नेदरलैण्ड एवं प० जर्मनी के बीच सामझौते के फलस्वरूप यूरोपियन आर्थिक समुदाय (E. E. C.) या यूरोपियन साझा बाजार (E. C. M.) की स्थापना हुई। १९५१ में सम्मिलित हुये यूरोपियन कोल एण्ड स्टील कम्यूनिटी (European Coal and Steel Community) (जिसके फलस्वरूप इन देशों में कोयला एवं इस्पात-उत्पादन की कुशलता में सुधार एवं विवेकीकरण हुआ) से प्रोत्साहित होकर इन देशों ने जो 'साझा-बाजार' स्थापित किया उसका उद्देश्य बढ़े हुये विशिष्टीकरण के लाभों को प्राप्त करने की दिशा में किया जाने वाला एक प्रयास है। सम्मिलित देशों का विश्वास है कि पृथक-पृथक देशों में बाजार इतने छोटे हैं कि उद्योगों का आर्थिक संचालन संभव नहीं हो सकता, लेकिन साझा बाजार की योजना से इतना समुचित बाजार उपलब्ध हो जायेगा कि उत्पादन आर्थिक लागत पर किया जा सकेगा। देशों को यह आशा है कि इससे सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक स्थायित्व आ जायेगा, जीवन स्तर उन्नत हो जायेगा तथा देशों के बीच सहयोग की सम्भावना बनी रहेगी। इसका प्रमुख प्रशासन-सत्ता 'यूरोपियन इकनामिक काउन्सिल' है जो ६ देशों की आर्थिक कैबिनेट के समान है जो दैनिक निर्णय लेती है, व्यवहार के नियमों का निर्माण करती है, नये संनियम बनाती है तथा उनके पालन के लिये सरकारों पर दबाव डालती है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये समुदाय ने एक ऐसा कार्य-क्रम बनाया है कि १२ वर्षों में तट-करों को समाप्त करके बिना किसी प्रतिबन्ध के देशों के बीच व्यापार होने लगे। सामूहिक रूप में विदेशों के साथ भी एक तटकर नीति अपना लेने का निश्चय किया गया है। उद्देश्य के अनुसार साझा बाजार क्षेत्र में श्रम और पूंजी की गतिशीलता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। स्वतन्त्र व्यापार हो जाने के फलस्वरूप होने वाले बुरे प्रभावों को रोकने के लिये एक कोष (European Social Fund) की व्यवस्था की गई है जिससे श्रमिकों को नई स्थितियों के लिये ट्रेन्ड करने का आधा व्यय चुकाया जाता है। औद्योगिक-मालिकों को वित्तीय सहायता देने के लिये एक अन्य कोष (European Investment Fund) स्थापित करने का निर्णय लिया गया था जिससे सदस्य-देशों के अविकसित क्षेत्रों में श्रमिकों की दशायें सुधारने के

लिये सहायता दी जाती है। सदस्य-देशों के समुद्र पार के क्षेत्रों में विनियोगों की वृद्धि के लिये एक और कोष (४८१ मि० $ का) स्थापित किया गया है। सन्धि के अन्तर्गत सदस्य-देशों ने ऐसी आर्थिक नीतियों को अपनाना स्वीकार किया है जो समुदाय के सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को साम्यावस्था की स्थिति में बनाये रखें और साथ ही साथ रोजगार एवं कीमत-स्थिरता को बढ़ावें। इसकी पूर्ति के लिये एक परामर्शदाता मौद्रिक समिति बनाई गई है, जो भुगतान सन्तुलन की अवस्थाओं को देखती है और कठिनाई होने पर इनके कारण व उपचार बतलाती है।

जहाँ तक समझौते के कार्यवाहन का प्रश्न है, इस दिशा में काफी प्रगति हुई है। औद्योगिक पदार्थों के तटकरों में ३०% और कृषि पदार्थों के तटकरों में २५% की कमी हो गई है। साझा-बाजार का औद्योगिक उत्पादन ४४·७%, राष्ट्रीय उत्पादन २६·४%, आयात ५३% तथा निर्यात ३५% बढ़ा है, जब कि इसी काल में अमेरिका में क्रमशः ३३%, २२·५%, ३३%, २५% तथा इंगलैण्ड में क्रमशः १६%, १४%, २५%, २५% की वृद्धि हुई है।

(फ) कोलम्बो प्लान :

सहकारी आर्थिक विकास के क्षेत्रीय कार्यक्रमों में कोलम्बो प्लान सबसे महत्वपूर्ण है। इस योजना (सदस्य-देशों की विकास योजनाओं के लिये एक रूप-रेखा) को दक्षिण व दक्षिण-पूर्वी एशिया के सदस्य (आस्ट्रेलिया, कनाडा, लंका, भारत, मलेसिया, न्यूज़ीलैण्ड, पाकिस्तान, ब्रिटेन, बर्मा, नेपाल, वियतनाम, कम्बोडिया, लाओस, इंडोनेशिया, जापान एवं थाइलैण्ड) की कामनवैल्थ कन्सलटेटिव कमेटी ने नवम्बर १९५० में बनाई थी। इस प्लान के अन्तर्गत सदस्यों द्वारा अन्य सदस्यों को (जिनको आवश्यकता होती है) वित्तीय एवं टेक्नीकल सहायता दी जाती है। टेक्नीकल सहयोग में टेक्नीकल विशेषज्ञों के विनिमय की व्यवस्था है। प्लान के प्रारम्भ होने के दिसम्बर १९६३ तक भारत का योगदान २० करोड़ रु० (£ १५ मि०) हुआ है और समय से इसने २५७२ लोगों को शिक्षण दिया है। कुछ अन्य प्रमुख देशों का योगदान इस प्रकार रहा है: ४० मि० £ आस्ट्रेलिया; २९४·९९ मि० $ (१४०·५० करोड़ रु०) कनाडा; २·६ मि० £ (३·४ करोड़ रु०) न्यूजीलैण्ड; ६४ हजार £ (८६ लाख रु०) यू. के.।

(ज) अफ्रीकी-एशियाई साझा बाजार :

दिसम्बर १९६१ में दिल्ली में हुये अफ्रीका-एशिया के देशों के सम्मेलन में सदस्यों का ध्यान इस प्रकार के समझौते की ओर उस समय गया जब वे यूरोप के साझा बाजार पर विचार-विमर्श कर रहे थे। उस समय तो अफ्रीकी-एशियाई साझा बाजार जैसे किसी प्रकार के समझौते होने पर तो कठिनाई दिखलाई पड़ी, पर १९६४ में मनीला में ECAFE के सदस्य देशों के सम्मेलन में एशियाई देशों में उद्योग

की स्थापना और व्यापार के काम में सहयोग बढ़ाने का निश्चय किया गया। इसके लिये संयुक्त राष्ट्र संघ एक विस्तृत योजना तैयार कर रहा है। इसके पश्चात् एशिया व अफ्रीका के देश एक दूसरे की समस्याओं को अच्छी प्रकार से समझने लगे हैं और आशा की जा सकती है कि शीघ्र-भविष्य में ऐसा कोई साझा बाजार स्थापित हो जायेगा।

निर्देश पुस्तकें :

World Bank : The International Bank for Reconstruction and Development—1946—53.

World Bank : Annual Reports.

De Cock : Central Banking.

Annual Reports of International Finance Corporation and International Development Association.

Commerce ; Annual Number 1964.

THE END

मौद्रिक अर्थशास्त्र

(Monetary Economics)

लेखक :

कालकाप्रसाद भटनागर

एम. ए., डी. लिट्., एल-एल. बी.

भूतपूर्व उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय

एवं

जगदीशप्रताप सिंह

एम. ए., पी. एच-डी.

सहायक प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग

दयानन्द महाविद्यालय

कानपुर

प्रकाशक :

किशोर पब्लिशिंग हाउस

परेड, कानपुर

मूल्य १० रुपया